सम्पादकीय

इस पृथ्वी पर ऐसे व्यक्ति बहुत कम पैदा होते है जिनको लोग श्रद्धा की नजर से देखते हो, सुनते हो और हृदय मे गुनते हो। अरबो-खरबो इन्सान आज तक इस धरती पर पैदा हो चुके है, भविष्य मे होगे भी—लेकिन हम कितनो को जानते है, कितनो का नाम आज तक इतिहास मे सुरक्षित है ? मुश्किल से दस-बीस-पचास नाम हम गिना सकते है।

वि० संवत् १९७७ टमकोर (राजस्थान) मे एक बालक का जन्म होता है। जैसे और बालक होते है वैसे ही यह भी है। आम आदमी को उस बालक मे कोई ऐसी बात नही नजर आती जिसे असामान्य कहा जा सके। कुल-पुरोहित ने जन्मांक की दृष्टि से नाम निकाला—इन्द्रचन्द। लेकिन परिवार मे कोई बालक जीवित बचता नहीं था इसलिए माता-पिता ने नाक-छेद कर नाम दे दिया—"नथमल"।

बालक नथमल धीरे-धीरे बढते है और इस सामान्य बालक पर, विक्रम संवत् १९८७ मे आचार्य कालूगणी की पैनी नजर पडती है और उन्हें इस बालक मे बहुत-सी सम्भावनाएँ छिपी हुई नजर आती है जिन सम्भावनाओ को आम आदमी देख नहीं पाता, समझ नही पाता। लेकिन विधाता ने तो अपना लेख पहले से ही लिख रखा था, चाहिए था उस लेख को पढनेवाला, उस भाषा को समझनेवाला। वह भाषा इस संसार को रचनेवाले ने बालक नथमल के मस्तक पर, छठी के लेख मे ही लिख दी थी। विधि के उस विधान पर पर्दा पडा हुआ था। उस पर्दे को हटानेवाला कोई कुशल पारदर्शी चाहिए था। मूर्ति तो पर्दे के पीछे ढँकी हुई रखी थी—

"तू क्या समझेगा बुतसाज ये पर्दे की बातें हैं
तराशा जिसको, थी पहले से वो तस्वीर पत्थर में"

और यह तस्वीर जिसे हम नथमल कहते थे—आचार्य कालूगणी के हाथो मुनि नथमल बन जाते है। मुनि नथमल को, मुनि तुलसी के पास (आचार्य श्री तुलसी) अध्ययन के लिए सौप दिया गया। मुनि नथमल पढते गए, बढते गए। व्यक्ति को पहचानने का, अनजान-लिपि को पढने का जो गुर था, विधि थी, उस विधि को पढना आचार्य तुलसी ने भी अपने गुरु से सीख रखा था। आचार्य तुलसी की दृष्टि पारदर्शी है। उन्होने अपने मन मे तय कर रखा था कि मुनि नथमल, एक सामान्य मुनि नहीं, इस मुनि मे बहुत कुछ सम्भावनाएँ, विचित्रताएँ छिपी हुई है।

१२ नवम्बर १९७८ को मुनि नथमल का नया नामकरण होता है—"महाप्रज्ञ"। लोगो को कुछ समझ मे नहीं आया कि ६० वर्षों से चलनेवाला नाम "मुनि नथमल" बदलकर हठात् ही "मुनि महाप्रज्ञ" क्यों हो गया ? लेकिन इस बात को तो आचार्य तुलसी जानते थे कि क्या होनेवाला है ?

३ फरवरी १९७९ को आचार्य तुलसी ने अपना उत्तराधिकारी घोषित कर "मुनि नथमल" को "युवाचार्य महाप्रज्ञ" बना दिया।

महाप्रज्ञ का जीवन निर्मल, निश्छल, माँ के दूध की तरह पवित्र है। न कोई दिखावा, न कोई छिपावा। साफ, गंगा के जल की तरह एकदम साफ। कोई भी उनकी तस्वीर को देख ले, पास जाकर या दूर रहकर।

हमारे देश का दुर्भाग्य है कि हम बड़े आदमियो की, महान लोगो की पूजा करते है। किताबो मे, दीवारो मे बंद कर देते है हम उन्हें। उनके कहे हुए को, उनके लिखे हुए को अपने जीवन मे उतारते नहीं।

विश्व मे भारत का नाम इसलिए नहीं है कि यह बहुत बडा धनाढ्य देश है और न इसलिए कि इसने विज्ञान-सम्बन्धी उपकरणों तथा कल-कारखानों मे कोई बहुत बडी तरक्की कर ली हो—लेकिन फिर भी कुछ बात तो है कि हजारों वर्षो से भारत को लोग श्रद्धा की नजर से देखते है। इस देश की मिट्टी को चन्दन समझकर मस्तक से लगाते है। क्यों? क्योंकि यह देश महावीर और बुद्ध का है, गाँधी और विवेकानन्द का है, सूर, तुलसी, कबीर का है, मीराँ, दादू, नरसी का है, सन्तो और सयानो का है, दिव्यात्माओ और पुण्यात्माओ का है। इसी दिव्य सन्त-मुनि-परम्परा मे आचार्य तुलसी भी है और युवाचार्य महाप्रज्ञ भी।

महाप्रज्ञ ने बहुत कुछ लिखा है, बहुत कुछ कहा है। काश! हम उसे देखते और पढते। "मित्र-परिषद्", कलकत्ता ने "महाप्रज्ञ व्यक्तित्व एवं कृतित्व" ग्रन्थ का प्रकाशन किया है। इसमे महाप्रज्ञ के साहित्य पर शोधपूर्ण लेख, अछूते संस्मरण और महाप्रज्ञ की चुनी हुई रचनाएँ सग्रहीत की गयी है। कुछ पृष्ठों मे महाप्रज्ञ को समेटना बहुत ही मुश्किल कार्य है। फिर भी प्रयास किया गया है कि हर तरह की सामग्री इसमे सकलित हो सके। यह ग्रन्थ पाँच खण्डो मे विभाजित है—(१) श्रद्धा एवं सस्मरण (२) मूल्यांकन (३) महाप्रज्ञ-चित्रावली (४) महाप्रज्ञ की कविताएँ (५) मेरी दृष्टि मेरी सृष्टि—(चिन्तन के अश, महाप्रज्ञ के लेख एव भाषण)।

प्रथम खण्ड को सम्पन्न करने मे कुछ सामग्री "जैन-विश्व-भारती" द्वारा प्रकाशित "तुलसी-प्रज्ञा" के "युवाचार्य" अंक से ली गई है, इसके लिए हम संस्था के आभारी है। देश के जाने-माने विद्वानों ने अपनी व्यस्तता के बावजूद अपनी अमूल्य रचनाएँ भिजवायीं, तदर्थ मैं उनका हृदय से आभारी हूँ। उन्होंने लिख दिया, लिख ही नहीं दिया, बहुत बढिया लिख दिया—यह उनकी मुझ पर विशेष अनुकम्पा ही कहलायेगी। मूल्याकन-खण्ड के समस्त लेखक शिक्षण-संस्थाओ से सम्बन्धित है, अपने-अपने विषयो के अधिकारी विद्वान है और इन्होने महाप्रज्ञ की पुस्तकों की निष्पक्ष समीक्षाएँ लिखी हैं।

सबसे मुश्किल जो काम था—वह था मुद्रण का। मैं यह तो नहीं कह सकता कि इस ग्रन्थ मे प्रूफ-संबन्धी भूलें पूर्णतया ही नहीं है। कलकत्ते मे वर्तमान मे जो लोग मुद्रण-सम्बन्धी कार्य करते है अथवा उसकी व्यवस्था कराते है, वे ही जानते है कि उन पर क्या बीतती है? १०-१२ घंटों तक अन्धकार। घोर अन्धकार! प्रकाश का नामो-निशान नहीं। मोमबत्ती अथवा लालटेन (हरिकेन) के प्रकाश मे प्रूफ देखना, अपने-आप मे कितना कष्टप्रद है—जो भोगे, सो जाने। इन सब बाधाओ के बावजूद काफी सतर्कता और सावधानी बरती गई है। प्रूफ के कार्य मे मेरे सहयोगी रहे है—एशियाटिक सोसाइटी के राजस्थानी स्कॉलर एवं हिन्दी के शिक्षक-कवि श्री अम्बूशर्मा, संस्कृताध्यापक पंडितप्रवर श्री रामानन्द उपाध्याय एवं प्राणवाण कवि श्री छविनाथ मिश्र।

"आदर्श-साहित्य-संघ" के मन्त्री, सौम्यता की प्रतिमूर्ति श्री विजयसिंह सुराना ने महाप्रज्ञजी का प्रकाशित साहित्य मुझे इस कार्य हेतु उपलब्ध कराया—उसके लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूँ।

बन्धुवर श्री कमलेश चतुर्वेदी गत एक वर्ष से मेरे साथ, दूर बैठे हुए भी जुड़े हुए है मन से, प्राण से। इस एक वर्ष के दर्मियान मैंने उनको पचासो पत्र लिखे है। महाप्रज्ञ के सम्बन्ध मे, उनके साहित्य के सम्बन्ध मे बहुत-कुछ जानकारी चाही है और वे, जो मेरे मन मे थीं, उसी तत्परता से, तडप से, उसी लगन से, ईमानदारी व निष्ठापूर्वक वाञ्छित-सामग्री अविलम्ब भिजवाते रहे। वे इतनी तत्परता नहीं बरतते तो मैं इस ग्रन्थ को इस रूप मे प्रस्तुत नही कर सकता था।

"साधो! सहज समाधि भली।

गुरु प्रताप जा दिन ते उपजी, दिन-दिन अधिक चली॥"

मेरे मन मे जो उत्साह था, जो लगन थी, जो निष्ठा थी, उस निष्ठा को और अधिक बढावा, और अधिक गति, और अधिक प्राण-शक्ति दी है आचार्य तुलसी ने। उन्ही के पुण्य-प्रताप से, मैं एक अदना-सा साहित्य-सेवी इतना बडा कार्य सम्पन्न कर पाया हूँ। जीवन मे गुरु का स्नेह, गुरु का आशीर्वाद मुझे मिला है और मिलता रहेगा।

"मित्र-परिषद्" के पदाधिकारियो ने मेरे सारे नाज-ओ-नखरे उठा कर यह कार्य मुझसे सम्पन्न करवा लिया, यह उनका मेरे प्रति विशेष स्नेह का द्योतक है और संघ के प्रति समर्पित भाव का एक पुष्ट प्रमाण।

यह ग्रन्थ इसी आशा और विश्वास के साथ पाठको के हाथो मे सौप रहा हूँ कि वे महाप्रज्ञ के व्यक्तित्व को समझें, कृतित्व को देखें और साहित्य को पढें।

२४ जनवरी १९८०

कन्हैयालाल फूलफगर

अनुक्रम

द्वितीय खण्ड (मूल्यांकन) १०९—२६२

तृतीय खण्ड (महाप्रज्ञ-चित्रावली)

चतुर्थ खण्ड (महाप्रज्ञ की कविताएँ)

पंचम खण्ड मेरी दृष्टि · मेरी सृष्टि

(महाप्रज्ञजी के लेख और भाषण)

प्रथम खण्ड

श्रद्धा एवं संस्मरण

चैत्य-पुरुष जग जाए ।
देव ! तुम्हारा पुण्य नाम, मेरे मन मे रम जाए ॥
ऊँ ऊँ ऊँ ऊँ ऊँ ऊँ ऊँ ऊँ, ऊँ ऊँ ऊँ उद्गाता ।
अर्हं अर्हं अर्हं अर्हं, अर्हं, अर्हं त्राता ।
ऊँ ह्रीं श्रीं जय ऊँ ह्रीं श्री जय, विजय-ध्वजा लहराए ॥
चैत्य-पुरुष जग जाए ।

ऊँ जय भिक्षु भिक्षु जय ऊँ ऊँ, ह्री श्रीं ह्रीं श्रीं ह्रीं श्रीं ।
विघ्न-शमन ऊँ व्याधि-शमन ऊँ, क्लीं क्लीं क्ली क्लीं क्लीं क्लीं ।
नाम-मन्त्र तव व्रण-संरोहण, सतत अमृत बरसाए ॥
चैत्य-पुरुष जग जाए ।

मिटे विषमता मन की, तन की, अनुभव की, चिंतन की ।
पल-पल, पग-पग मिले सफलता, तन्मयता चेतन की ।
नाम-मन्त्र तव भयहर विघ्नहर, साम्य-सिंधु गहराए ॥
चैत्य-पुरुष जग जाए !

आत्मा भिन्न शरीर भिन्न है, तुमने मन्त्र पढ़ाया ।
आत्मा अचल अरूज शिव शाश्वत, नश्वर है यह काया ।
आत्मा-आत्मा के द्वारा ही, आत्मा मे लय पाए ॥
चैत्य-पुरुष जग जाए ।

तुम निरुपद्रव हम निरुपद्रव, तुम हम सब है आत्मा ।
तव जागृत आत्मा मे हम सब, बन जायें परमात्मा ।
ऊँ ह्रीं ह्र ह्रँ ह्रीं ह्र ह्र ह्र, अन्तर्मल धुल जाए ॥
चैत्य-पुरुष जग जाए ।

युवाचार्य महाप्रज्ञ
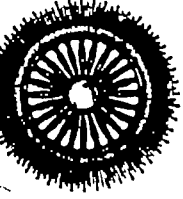
एलाचार्य श्री विद्यानन्द मुनि

पड़ाव/ बड़वानी, निमाड़, मध्यप्रदेश

श्री फूलफारजी,

मुझे यह विदित कर प्रसन्नता हुई है कि आप एक सही क्षण में सही और मूल्यवान कार्य करने जा रहे हैं। मुनिश्री नथमलजी इस समय भारत के ही नहीं अपितु संपूर्ण विश्व के शीर्षस्थ दार्शनिकों में से हैं। मैं उन्हें जैन न्याय के क्षेत्र का राधाकृष्णन् मानता हूं। उन्होंने जैन चिन्ता को एक नया मोड़ दिया है और उसके कई अजाने टापुओं पर विजय प्राप्त की है। भाषा उनकी आज्ञानुवर्तिनी है अतः वे अपने प्रतिपाद्य को सरल-सुबोध और सुसंगत शब्दों में रख सकते हैं। शब्दों की अन्तरात्मा के ऐसे पारखी कम ही होते हैं। मुझे विश्वास है आप "महाप्रज्ञ : व्यक्तित्व और कृतित्व" द्वारा उन्हें समकलीन दार्शनिक चेतनां से जोड़ेंगे और विश्व के सामने एक सुलझे हुए साधक-चिन्तक का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने में सफल होंगे। मेरे शुभाशीष आपकेसाथ सदैव-सर्वत्र है।

—एलाचार्य मुनि विद्यानन्द

कृती (विद्वान) और उसकी कृतियाँ अपने आप में महत्त्वपूर्ण होती हैं। उस महत्त्व की सत्ता में किसी अन्य साध्य की अपेक्षा नहीं रहती, पर उसे प्रसरणशील बनाने में अन्य निमित्तों का योग अपेक्षित रहता ही है। आचार्य सोमप्रभ के शब्दों में—सूते सभ कमलानि तत्परिमल वाता वितन्वतियत्—पानी कमलों को उत्पन्न करता है, पर उनकी परिमल फैलाने का काम हवा का है। इसी प्रकार विद्वान की प्रतिभा उसकी कृतियों में स्फुरित होती है पर उसे जनभोग्य बनाने का काम कृतिकार का नहीं, साहित्य-प्रेमियों का है। साहित्य-लेखन का काम जितना मूल्यवान् है, उससे भी अधिक मूल्याह है उस साहित्य को उपयोगी बनाने का प्रयत्न। इस प्रयत्न के अभाव में शताब्दियों पूर्व लिखित उत्कृष्ट कोटि का साहित्य, काल की परतों के नीचे दबा रहता है और प्रयत्न करने वाले साहित्य-सृजन के साथ ही उसे जनता के हाथों में पहुँचा देते हैं।

साहित्य की सौरभ को जन-जन तक पहुँचाने का काम व्यक्ति भी कर सकता है, पर संस्थाएँ ऐसा काम हाथ में लें तो वह सुगमता से कर सकती है। मित्र-परिषद् (कलकत्ता) ने इस काम को अपने हाथ में लिया है। वह प्रतिवर्ष एक स्मारिका प्रकाशित करती है। उसकी स्मारिका भी अपने आप में एक प्रयोग है। गत वर्ष स्मारिका का प्रतिपाद्य था 'रामधारीसिंह दिनकर'। उस स्मारिका में 'दिनकर' के बारे में महत्त्वपूर्ण सामग्री संकलित है। एक प्रकार से वह दिनकर-स्मृति-ग्रन्थ की पूर्ति करने वाली है।

इस वर्ष मित्र-परिषद की स्मारिका में हमारे युवाचार्य महाप्रज्ञ की कृतियों की समीक्षात्मक-प्रस्तुति देने का निर्णय लिया गया है। यह इस रूप में अपने ढंग का पहला प्रयत्न है और विशेष सूझ-बूझ का प्रतीक है। इसमें मित्र-परिषद् के साहित्य-मन्त्री कन्हैयालाल फूलफगर के चिन्तन, उत्साह और नियोजन-क्षमता को विस्मृत नहीं किया जा सकता जिसने इतने कम समय में अनेक विद्वानों के पास महाप्रज्ञ का साहित्य पहुँचाकर उनकी समीक्षात्मक टिप्पणियां व निबन्ध प्राप्त कर लिए।

मुझे लगता है कि स्मारिका से अन्यान्य संस्थाओं को एक प्रेरणा मिलेगी और जो लोग कृती तथा उसकी कृतियों से अपरिचित हैं, उन्हें उसके कर्तृत्व, व्यक्तित्व एवं साहित्यिक क्षमता का परिचय प्राप्त होगा। इस परिचय का वे लोग अपने जीवन-निर्माण में उपयोग करेंगे, ऐसी आशा है।

आचार्य तुलसी-कुंज **—आचार्य तुलसी**

लुधियाना

२६ सितम्बर १९७९

आचार्य तुलसी महाप्रज्ञजी को आशीर्वाद देते हुए

बागवाँ दिल से चमन को ये दुआ देता है,
मैं रहूँ या न रहूँ गुलशन तेरा आबाद रहे।

युवाचार्य महाप्रज्ञ

मौन हो गये ग्रन्थ जहां पर, तुमने दी फिर वाणी,
गूंजेगी वह दिग् दिगन्त में, बन कर के कल्याणी।
श्रद्धा और समर्पण कोई, सीखे पास तुम्हारे,
कोटि-कोटि वन्दन-अभिनन्दन, ओ जग के उजियारे।

—कन्हैयालाल फूलफगर
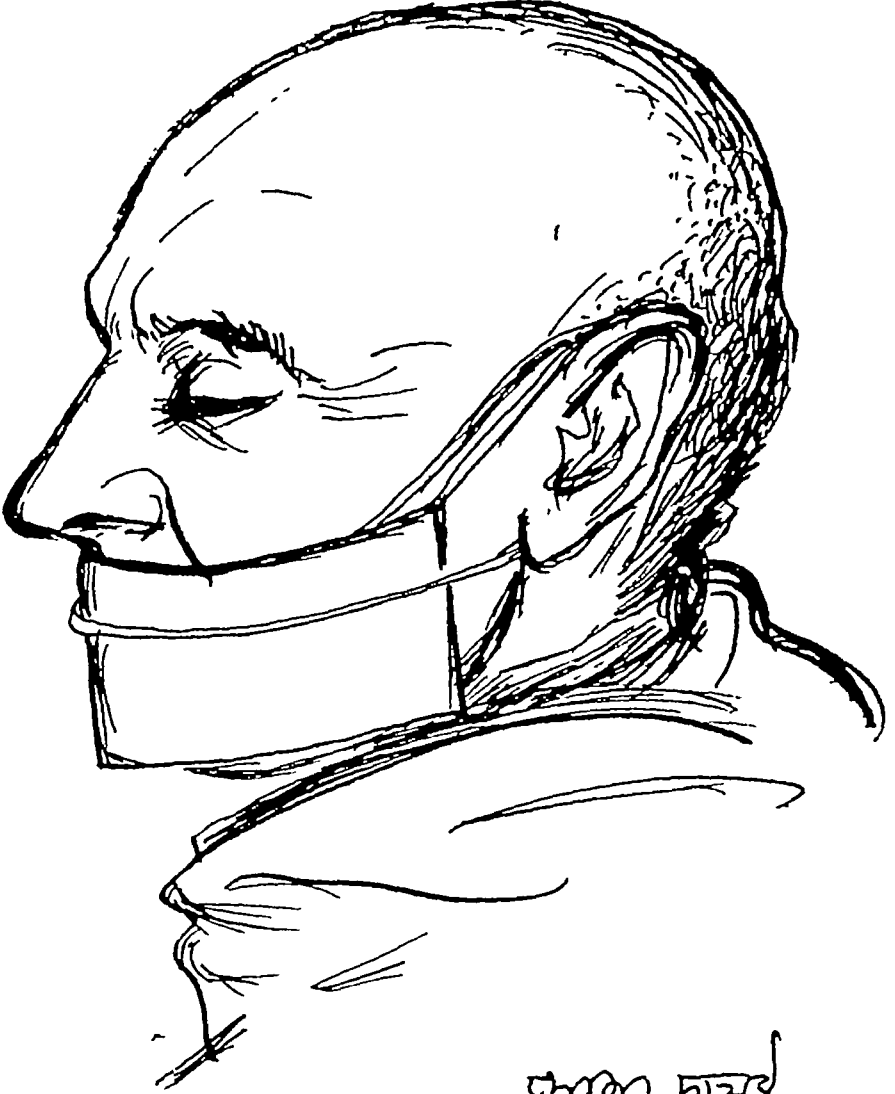
युवाचार्य महाप्रज्ञ

प्रभाकर माचवे
7/7/79

युवाचार्य महाप्रज्ञजी का यह रेखा चित्र हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान डॉ० प्रभाकर माचवे ने तैयार किया है।

हम विवेकानन्द के समय में नहीं थे। हमने
उनको नहीं देखा, केवल उनके विषय में
पढ़ा मात्र है। मुनि नथमलजी हमारे समक्ष
हैं। आप आज के विवेकानन्द हैं। आपको
पाकर हम गौरवान्वित हैं। आपकी
तीक्ष्ण और ठेठ तक पहुंचने वाली
बुद्धि से हम परिचित हैं।

स्व० राष्ट्र कवि रामधारीसिंह 'दिनकर'

वन्दन-अभिनन्दन

हद मैं तपै सो औलिया, वेहद तपै सो पीर।
हद वेहद दोन्यूँ तपै, ताको नाम फकीर॥

युवाचार्य महाप्रज्ञ : मेरी दृष्टि में

• आचार्य तुलसी

दृष्टि वह पारदर्शी स्फटिक है, जिसके सामने से गुजरने वाला हर व्यक्ति अपना प्रतिविम्व वहां छोड देता है। वार-वार छोडे गए वहुरूपी प्रतिविम्व एक रंग-विरगे गुलदस्ते के रूप मे स्थिर हो जाते हे और उनके आधार पर व्यक्ति के व्यक्तित्व का स्वाभाविक विश्लेषण होता रहता है। युवाचार्य महाप्रज्ञ का व्यक्तित्व भी मेरी दृष्टि पर इस प्रकार से अकित हो चुका है, जिससे लगभग पाँच दशकों के सस्मरण अपनी व्यापक प्रस्तुति के लिए उतावले हो रहे हैं। उन सवका व्यक्तिकरण या लिपिकरण न तो सम्भव है और न अपेक्षित ही है। फिर भी मेरे मन मे जिस स्थिति की अमिट छाप है, वह है 'अचिन्तित रूपान्तरण।' एक व्यक्ति अपने समर्पण, अपने सकल्प और अपनी साधना से कितना वदल जाता हे और कहा से कहा पहुँच जाता है, इसका प्रत्यक्ष निदर्शन हे हमारे युवाचार्य महाप्रज्ञ, जिनकी उम यात्रा का प्रारम्भ मुनि नथमल के रूप मे होता है।

मुनि की भूमिका

वि० स० १९८७, शीतकाल का समय, मर्यादा-महोत्सव का उल्लास और माघ शुक्ला दशमी का दिन। स्वर्गीय गुरुदेव पूज्य कालूगणीजी ने एक साढे दस वर्षीय वालक नथमल को दीक्षित कर मुझे सौप दिया। यह सौंपना एक शैक्ष मुनि को साधु-जीवन का प्रारम्भिक अववोध कराने या अध्ययन कराने की दृष्टि से ही नही था, इसमे निहित थी जीवन के सर्वांगीण विकास की सम्भावनाओं को उभार देने की एक व्यापक दृष्टि। उस दिन से लेकर अव तक मुनि नथमलजी एक समर्पित शिष्यके रूप मे मेरे पास रहे और मैं भी उनके सर्वात्मना समर्पित जीवन के रेखाचित्र मे अपेक्षित रंग भरता रहा। मुनि नथमलजी की ग्रहणशीलता और मेरी सृजनधर्मिता के अन्योन्याश्रित सयोग ने उनको युवाचार्य महाप्रज्ञ की भूमिका तक पहुँचा दिया, जिसकी मैंने उस समय कोई कल्पना ही नहीं की थी।

कालूगणी की कृपा

महाप्रज्ञ अपने मुनि जीवन के प्रारम्भिक वर्षो मे वहुत भोले थे। इन्होने अपने खाने-पीने, घूमने-फिरने, वैठने-सोने, पहनने-ओढने आदि के सम्वन्ध मे कभी सोचने-विचारने का प्रयत्न ही नही किया। मैं जो कुछ कहता, उसे ये सहजभाव से कर लेते। भोजन कव करना है और क्या करना है ? इस दैनदिन कार्य मे ये मेरे निर्देश की प्रतीक्षा करते रहते। वस्त्र कव सिलाने है और कब पहनने है, यह काम भी ये अपने आप नही करते थे। शीतकाल मे स्वाध्याय करते-करते विना ही वस्त्र ओढे तव तक सोते रहते, जव तक मैं इन्हे जगाकर वस्त्र ठीक ढंग से ओढाकर नही सुला देता। इनकी गति भी विलक्षण थी। कालूगणी वहुत वार इन्हे अपने सामने दस-बीस कदम चलने के लिए कहते और जव ये टेढे-मेढे कदम भरते हुए गुरुदेव के निकट से गुजरते तो आपको वडा अच्छा लगता। कालूगणी भोले-भाले मुनियों को वहुत वात्सल्य देते थे। महाप्रज्ञ भी उन भद्र मुनियो की पक्ति मे थे, जिन्हें गुरुदेव का अतिशायी स्नेह प्राप्त था। इन्हें वे वगू, शभू, वल्कलचीरी, हावू या नाथू कहकर पुकारते थे।

स्थितिपालकता

महाप्रज्ञ ने अपने सहपाठी मुनि वुधमलजी के साथ मेरे पास अध्ययन शुरू किया। इनके अध्ययन के प्रारम्भिक

क्रम मे मैं स्वयं इनके साथ बैठता और आधा-आधा घण्टा तक इनके साथ-साथ पद्यो का उच्चारण करता था। ऐसा करने का मेरा एक ही उद्देश्य था कि इनका उच्चारण अशुद्ध न रहे। याद करने की क्षमता इसमे शुरू से ही ठीक थी, पर उस समय समझ विकसित नहीं थी। बुधमलजी इनसे अच्छा समझते थे। मेरे मन मे कई बार आता था कि ये छोटी-छोटी बात को ही नही समझते है तो आगे जाकर क्या करेंगे ? मैं बहुत बार इन्हें समझाने का प्रयत्न करता पर सफलता नही मिली। तीन साल तक ये मुझे बराबर असफल करते रहे।

अप्रत्याशित बदलाव

महाप्रज्ञ की दीक्षा के तीन-चार साल बाद कालूगणी जोधपुर की यात्रा पर थे। वहा इनकी आखें बहुत अधिक खराब हो गईं। पहले भी आखो की पीडा कई बार हो जाती थी। कभी आखो मे दाने हो जाते, कभी आखें दुखने लगतीं, कभी कुछ और हो जाता। इनकी आखें ठीक करने के लिए मैंने बहुत प्रयत्न किए। कभी पिप्पली, कभी नीबू का रस, कभी शहद तो कभी कुछ, पर विशेष लाभ नहीं हुआ। उस समय गर्मी का मौसम था। कालूगणी को जसोल, बालोतरा आदि क्षेत्रो की ओर जाना था। मैंने गुरुदेव से निवेदन किया—नथमलजी की आखें बहुत दुख रही है, इन्हें यहीं छोड दिया जाए तो ठीक रहेगा। कालूगणी ने इनको वहां मुनिश्री हेमराजजी के पास छोड दिया। जोधपुर कालूगणी वापस पधारे तब तक ढाई महीनो का समय लग गया। यह समय इनके जीवन मे एक बहुत बडे रूपान्तरण का समय था। वह क्षेत्र परिपाकी क्षयोपशम था या अवस्था परिपाकी क्षयोपशम, कुछ कहा नही जा सकता। पर जब हम आए तो वे हमे सर्वथा बदले हुए मिले। यह बदलाव बाहर और भीतर दोनो ओर से घटित हुआ था। उस ढाई मास के छोटे से काल मे इनकी समझ काफी विकसित हो गई। जो कुछ पहले का सीखा हुआ था, उसे पक्का, शुद्ध और व्यवस्थित कर लिया गया। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि ये एक अबोध शिशु की भूमिका से ऊपर उठकर आत्म-बोध की भूमिका तक पहुंच गए थे।

मेरी शाला के प्रथम छात्र

नथमलजी, बुधमलजी आदि मेरी छोटी-सी पाठशाला के प्रथम छात्र थे। धीरे-धीरे छात्रों की सख्या म वृद्धि होती रही। कई मुनि उस क्रम मे आए और चले गए पर महाप्रज्ञ बराबर बने रहे। उस समय इनके बारे मे मेरी यह कल्पना नहीं थी कि इनमे कोई विलक्षणता है। उस समय न तो इनमे प्रतिभा का इतना निखार था और न ही इनके बारे मे ऐसी कोई सम्भावना थी। मेरे मन पर इनकी किसी बात का कोई प्रभाव था तो वह था इनका सहज समर्पण। मेरा यह दृढ विश्वास है कि इनके निर्माण मे इनके अपने समर्पण का स्थान सर्वोपरि रहा है। जैसा कहें वैसा करना, इस एक सूत्र ने इनको विकास की दिशा मे अग्रसर किया। जोधपुर चातुर्मास के बाद मुझे भी इनसे कुछ आशा बधी, जो उदयपुर और गंगापुर, इन दो चातुर्मासो मे फलित होती हुई सामने आई।

गगापुर-चातुर्मास के प्रारम्भ तक ये अविच्छिन्न रूप से मेरे पास रहे। उसके बाद पूज्य गुरुदेव कालूगणी का स्वर्गवास होने के बाद मेरी स्थिति बदल गई। अब ये सेवाभावी जी की देखरेख मे रहने लगे। वे इनकी सभाल पूरी करते थे, फिर भी ये अनमने-से हो गए। इन्हें अकेलापन-सा अनुभव होने लगा। इस कारण सहज ही ये उदास रहने लगे। मैंने एक दिन इनको अपने पास बुलाकर पूछा—तुम उदास क्यो हो ? ये बोले—मेरा मन नहीं लगता। मैंने इन्हें आश्वस्त करते हुए कहा कि तुम मेरे पास आया करो और अपने अध्ययन के क्रम को चालू रखो। इसके बाद मैंने इनके विकास की दृष्टि से एक

विशेष लक्ष्य बनाया और समय-समय पर उन्हें प्रेरणा देता रहा।

शिक्षा में नये आयाम

कालूगणी के स्वर्गवास के बाद बीकानेर-चातुर्मास मे मैंने दर्शन और सस्कृत काव्य-साहित्य का विशेष अध्ययन शुरू किया। हम लोग (मै, मुनि धनराजजी, मुनि नन्दन मलजी आदि) पण्डित रघुनन्दनजी शर्मा के पास अपना अध्ययन चलाते। भाषा और व्याकरण की दृष्टि से पडित जी का ज्ञान विशिष्ट था, पर सैद्धान्तिक और दार्शनिक परिभाषाओं मे व रुक जाते। वहा हम लोग अपनी जानकारी का उपयोग करते। इस प्रकार एक मिले-जुले प्रयत्न से हमारी, दर्शन के सस्कृत-ग्रन्थो (प्रमाण, नय-तत्त्व, लोकालकार आदि) की यात्रा निर्बाध रूप से चल रही थी। उस समय मैंने महाप्रज्ञ आदि से कहा कि तुम भी अध्ययन के समय साथ रहो। कुछ समझ मे आए या न आए सुनते रहो सुनते-सुनते एक क्रम बन गया।

वि० स० २००१ का हमारा चातुर्मास सुजानगढ था, उस समय मेरे मन मे आया कि हमारे धर्मसघ म इतनी साधु-साध्विया है, उनमे कोई भी उच्चकोटि का चिन्तक, लेखक और वक्ता नहीं है। काश। हमारे साधु-साध्वियां भी हिन्दी मे बोल और लिख सकते। इसी बीच शुभकरण दसानी ने मुझे बताया कि कुछ मुनि हिन्दी म बहुत अच्छा लिखते है—कविताए भी, निबन्ध भी, पर आपसे सकोच करते है, इसलिए बताते नहीं। उनमे महाप्रज्ञ भी एक थे। मैंने इनकी कविताओ को देखा, निबन्धो को पढा, प्रसन्नता हुई। उसके बाद समय-समय पर सस्कृत, हिन्दी और प्राकृत-भाषा मे बोलने, लिखने, श्लोक बनाने का अभ्यास चलता रहा। यथा-समय प्रतियोगिताओ का आयोजन, प्रोत्साहन और प्रेरणा ने थोडे समय मे अकल्पित सफलता का द्वार खोल दिया।

वि० स० २००२ राजगढ चातुर्मास मे एक विद्वान व्यक्ति सम्पर्क मे आया। उसने तेरापथ के बारे मे साहित्य देखना चाहा। उस समय तक साहित्य-लेखन की कोई बात ध्यान मे नहीं थी। छोगमलजी चोपडा द्वारा लिखित तेरापथ की शार्ट हिस्ट्री नामक छोटी-सी पुस्तक हमारे धर्मसघ का साहित्य था। मुझे एक अभाव महसूस हुआ। मैंने उसी समय उनको बुलाकर कुछ ट्रैक्ट तैयार करने के लिए कहा। उन्नीसवीं सदी का नया अविष्कार, धर्म और लोक व्यवहार, अहिंसा आदि कुछ ट्रैक्ट तैयार हुए, मन को थोडा सन्तोष मिला।

वि० स० २००३ श्रीडूगरगढ चातुर्मास मे धर्मदेव विद्यावाचस्पति दिल्ली से दर्शन करने आए थे। वे एक अच्छे वक्ता थे। उन्होने अपने वक्तव्य मे सस्कृत श्लोको का धारावाहिक और प्रभावशाली उपयोग किया, मुझे अच्छा लगा। मैंने उसी दिन महाप्रज्ञजी आदि कुछ संतो को बुलाकर वक्तृत्व-कला के विकास तथा सस्कृत मे धाराप्रवाह बोलने के लिए निरतर अभ्यास करने का सकल्प करा दिया। अभ्यास इतना व्यवस्थित और परिपक्व हुआ कि जिनकी मुझे आशा नहीं थी।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि वि० स० २००६ तक महाप्रज्ञ इस रूप मे तैयार हो गए कि हर क्षेत्र मे ये मेरे सहयोगी बन गए। एक ओर ये मेरे चिन्तन के सफल भाष्यकार थे तो दूसरी ओर ये मेरे हर स्वप्न को आधार देने के लिए कटिबद्ध हो गए। यद्यपि किसी नए कार्य को प्रारम्भ करने मे ये हिचकिचाते थे, किन्तु मेरे द्वारा प्रारब्ध-कार्य को परिसम्पन्नता तक पहुँचाना इनकी सहज प्रवृत्ति हो गई थी।

बीज का विस्तार

मेरे युग तक पहुँचते-पहुँचते अठारह-उन्नीस दशको की लम्बी अवधि पार करने पर भी तेरापथ के सिद्धान्त लोगो

के गले नही उतर रहे थे। मैंने पाया—आचार्य भिक्षु का तत्त्व-चिन्तन मौलिक है। उनकी प्ररूपणा विलक्षण है। लोगों ने अब तक भी उसकी गहराई तक पहुँचने का प्रयास नही किया है। यही कारण है कि वे तेरापथ की सैद्धान्तिक मान्यताओ का विरोध कर रहे है। यदि हम उन मान्यताओ को युगीन सन्दर्भ मे प्रस्तुत कर सकें तो विरोधी वातावरण को ठीक करने मे जो शक्ति और समय लगता है, उसका उपयोग किसी रचनात्मक काम मे हो सकता है। मैंने अपने चिन्तन के बीज महाप्रज्ञ के सामने विकीर्ण कर दिए। उसके बाद इन्होने उन बीजों को विस्तार दिया। भिक्षु-विचार-दर्शन तैयार होकर आ गया। प्रबुद्ध लोगो की धारणाएँ बदलीं। धीरे-धीरे विरोध का कुहरा छँट गया और सत्य का सूरज दुगुने तेज से दमकने लगा।

अणुव्रत आन्दोलन को लेकर भी समाज मे एक तूफान खडा हो गया था। इसकी क्या जरूरत है? अणुव्रत के नाम पर मिथ्यादृष्टि को सम्यक्दृष्टि बनाया जा रहा है, सन्त किसी आन्दोलन के प्रवर्तक नहीं हो सकते आदि अनेक मुद्दों को लेकर एक हलचल हुई थी। नए मोड को लेकर भी काफी बवडर हुआ। उस सन्दर्भ मे मैंने अपने विचार इनको बता दिए। इन्होने उन विचारो के साथ सैद्धान्तिक सामजस्य स्थापित कर उन्हें सतुलित रूप मे प्रस्तुत कर दिया। प्रसग अणुव्रत का हो या अन्य किसी सिद्धान्त का, उसे तुलनात्मक दृष्टि से, व्यावहारिक दृष्टि से और सैद्धान्तिक दृष्टि से विस्तृत विवेचन के साथ प्रतिपादित कर उसका औचित्य सिद्ध कर देते। इसके बाद हमारे धर्मसघ मे जितने परिवर्तन हुए, प्राचीन धारणाओ मे जितना परिमार्जन हुआ, उन सबमे ये मेरे पूरे सहयोगी रहे। किसी भी परिस्थिति मे मैंने इनका अपने विचारो से प्रतिकूल होते हुए नहीं देखा।

मेरे स्वप्न साकार हुए

मैं एक स्वप्नद्रष्टा हूँ। मेरे ये स्वप्न रात को नींद में नहीं आते। मैं जागृत अवस्था मे सपने देखता हूँ। दिन हो या रात, जब भी अवकाश मिलता है, मैं नई कल्पनाएँ करता हू और इन्हें साकार करने के लिए महाप्रज्ञ को आमत्रित कर लेता हू। मेरी ये कल्पनाएँ शिक्षा, साहित्य, शोध आदि अनेक विषयो से सम्बन्धित है। मैं यहां कुछ कल्पनाओ को उल्लिखित कर रहा हू

वि० स० २००७ की बात है। उस समय तक हमारे धर्म-सघ मे एक लेख-पत्र पर प्रत्येक साधु को प्रतिदिन हस्ताक्षर करने होते थे। लेखपत्र की धाराएँ बहुत उपयोगी थीं, पर वे थीं ठेठ राजस्थानी भाषा मे। भाषा युगानुरूप नहीं थी। अत उस लेखपत्र को भाषान्तरित करने की बात सूझी और वह काम इनको सौप दिया। प्रश्न उठा कि लेखपत्र को बदलने का क्या उद्देश्य है? उद्देश्य स्पष्ट था, उसे सन्तो को बताकर पहले सस्कृत-भाषा मे लेखपत्र का रूपान्तरण हुआ। बाद मे उसे हिन्दी मे कर दिया और हस्ताक्षर करने के स्थान पर प्रतिदिन प्रातःकाल उसका प्रत्यावर्तन करने का क्रम स्थिर कर दिया।

सामयिक साहित्य-सृजन के साथ मैंने सैद्धान्तिक एवं दार्शनिक साहित्य-निर्माण की अपेक्षा अनुभव की। मैंने इनके सामने अपने मन की बात रखी। इन्होने मेरी अनुभूति को अधिक तीव्रता से अनुभव किया और काम शुरू हो गया। मैं लिखाता गया और ये लिखते गए। लिखने के बाद उसे विस्तृत और व्यवस्थित कर दिया। जैन-सिद्धान्त-दीपिका और भिक्षु-न्याय-कर्णिका, ये दो ग्रन्थ तैयार हो गए।

वि० स० २००५ तक हमारे साधु-साध्वियो के अध्ययन हेतु कोई पाठ्यक्रम नहीं था। रूस की एक पत्रिका मे मैंने वहाँ का पाठ्यक्रम देखा और तत्काल इन्हें

बुलाकर कहा—अपने यहाँ भी कोई निश्चित पाठ्यक्रम होना चाहिए। मेरा सकेत इनके लिए आलम्बन था-कुछ ही समय मे व्यवस्थित पाठ्यक्रम तैयार हो गया और साधु-साध्वियो ने उसके आधार पर अध्ययन शुरु कर दिया। समय-समय पर अपेक्षित सशोधन के साथ एक स्तरीय शिक्षा का क्रम चल पडा जो अब तक चल रहा है।

महाराष्ट्र के मछर गाँव मे आहार के वाद धर्मदूत नामक पत्र के पन्ने पलट रहा था। सहसा मेरा ध्यान केन्द्रित हो गया। वहां बौद्ध-पिटको के सपादन की सूचना थी। एक क्षण का विलम्ब किए बिना मैंने इनको बुला लिया और पत्र का उल्लेख करते हुए कहा—क्या हम भी जैन-आगमो का सम्पादन नही कर सकते ? नहीं क्यो ? आपकी कृपा से सब कुछ कर सकते है। महाप्रज्ञ के एक वाक्य ने मुझे आश्वस्त कर दिया। फिर भी इनके धैर्य की थाह पाने के लिए मैंने कहा—काम तो बहुत बडा है। कैसे हो सकेगा ? बिना एक पल सोचे ये बोले—ऐसी क्या वात है ? आप जो चाहेंगे, वह काम हो जाएगा।

उस समय आगम-सम्पादन के कार्य का न तो हमे कोई अनुभव था और न ही कोई विज्ञ व्यक्ति ही हमारे सामने था। हमने सोचा पाँच वर्ष मे सारा काम हो जाएगा। उसी वर्ष काम शुरु भी कर दिया। काम करने का अनुभव जैसे-जैसे बढा, हमे लगा कि यह काम पाँच क्या पचास वर्षो मे भी पूरा नही हो सकेगा। अब तो ऐसा लगता है कि काम की कोई सीमा है ही नहीं। जितना काम करते है, उससे अधिक काम की नई सम्भावनाए खुलती रहती है। ऐसा होने पर भी इनको काम भार नहीं लग रहा है। वडी दत्तचित्तता से आगे वढ रहे है।

साधना के क्षेत्र मे भी एक अभाव-सा महसूस हो रहा था। सतरह-अठारह वर्ष पूर्व मैंने इनके सामने चर्चा की—जैनो मे कोई स्वतत्र साधना-पद्धति नही है। भगवान् महावीर का जीवन, साधना का जीवन्त प्रतीक रहा है, किन्तु वर्तमान मे कहीं भी उसका व्यवस्थित उल्लेख या प्रयोग नहीं है। क्या मैं आशा करू कि साधना की इस अवरुद्ध धारा को हम आगे बढा सकते है ? उस दिन से एक लक्ष्य बना। अध्ययन और प्रयोग—प्रयोग और अध्ययन। निष्कर्ष के रूप मे आज प्रेक्षा-ध्यान की पद्धति हमारे यहा प्रचलित हो गई।

और भी अनेक घटनाए है जो महाप्रज्ञ के समर्पण-भाव को उजागर करनेवाली है। उन सवके आधार पर यही कहा जा सकता है कि मैंने इनको जिस रूप मे ढालना चाहा, ये ढलते गए। मैंने इनसे जो अपेक्षाए कीं, ये पूरी करते गए। हमारे बीच मे शिक्षक एवं विद्यार्थी का जो सम्बन्ध था, वह आगे जाकर गुरु-शिष्य के रूप मे और फिर आगे चलकर अद्वैत रूप मे स्थापित हो गया। अव मुझे ऐसा प्रतीत नहीं होता कि ये मुझसे भिन्न कोई व्यक्ति है। जव से मैंने इनमे अपना उत्तराधिकार नियोजित किया है, मैं इनमे अपना ही रूप देखता हू। अपने ही प्रतिरूप को मैं प्रशस्ति की दृष्टि से देखु, अपेक्षित नहीं लगता क्योकि इनकी प्रशस्ति मेरा अपना आत्म-स्थापन होगा। इस दृष्टि से कुछ तथ्यो की प्रस्तुति का काम पूरा कर मैं अपने अग्रिम स्वप्न संजोने मे लग रहा हू।

●

॥ अथ जन्माङ्ग-चक्रमिदम् ॥
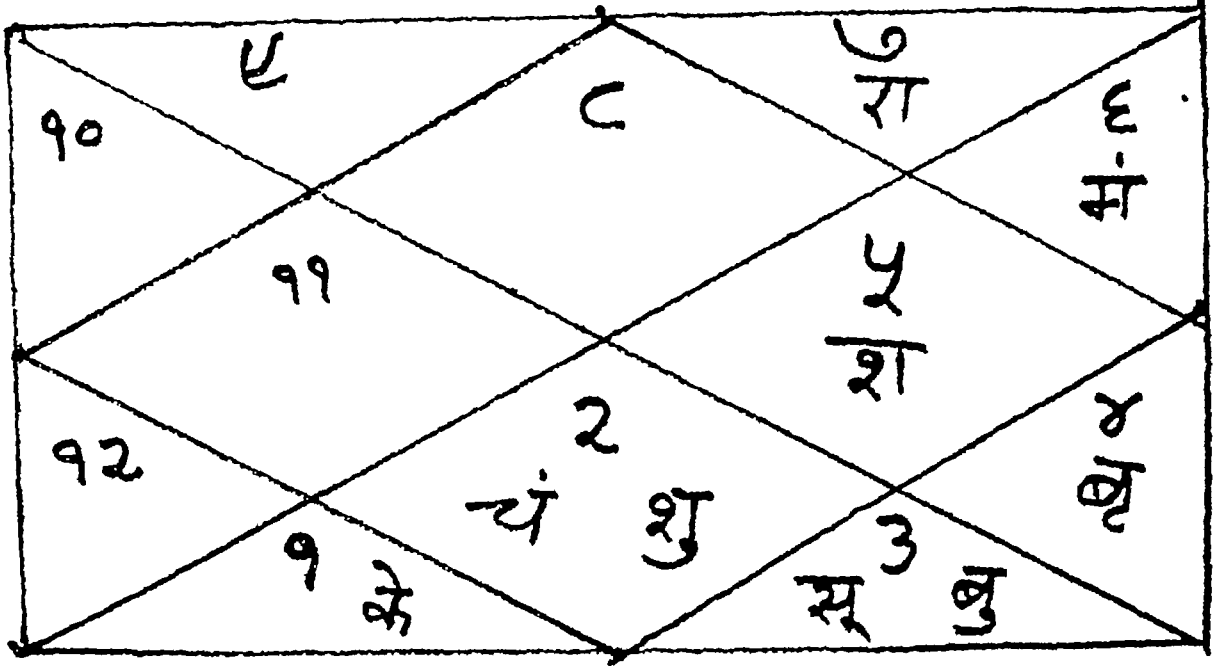
युवाचार्य महाप्रज्ञ

जन्म	:	विक्रम सवत् १९७७ आषाढ वदी तेरस, सोमवार, १४ जून १९२० ई० ।
जन्म-स्थान	:	टमकोर, राजस्थान ।
जन्म-लग्न	:	वृश्चिक, इष्ट २९/५ ।
जन्म-नाम	:	इन्द्रचन्द ।
पिता	:	तोलारामजी चोरडिया ।
माता	:	बालूजी ।
भाई	:	दो हुए थे ।
बहिन	:	साध्वी मालूजी, प्यारा बाई ।
पिता-स्वर्गवास	:	विक्रम संवत् १९७७ गगाशहर ।
दीक्षा-ग्रहण	:	आचार्य कालूगणी द्वारा सरदार शहर मे वि० स० १९८७ माघ शुक्ला दशमी । (अपनी मातुश्री के साथ)
'निकाय-सचिव'	:	विक्रम सं० २०२२ माघ मास, आचार्य तुलसी द्वारा ।
माता स्वर्गवास	:	विक्रम सं० २०२८ श्रावण वदी अमावस्या, गगाशहर मे समाधि-मरण ।
'महाप्रज्ञ'	:	आचार्य तुलसी द्वारा १२ नवम्बर १९७८, गगाशहर मे विभूषित ।
युवाचार्य	:	आचार्य तुलसी द्वारा विक्रम स० २०३५ माघ शुक्ला सप्तमी, ३ फरवरी १९७९ । रविवार, राजलदेसर (राजस्थान) ।
साहित्य-सृजन		लगभग १०० पुस्तकें प्रकाशित । सस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, अग्रेजी भाषा के विद्वान, हिन्दी व सस्कृत के आशुकवि ।

राष्ट्र की आशा

• ज्योतिषाचार्य स्व० सुमनेश जोशी

दोनो त्रिकोण उच्च स्थिति में

वृश्चिक लग्न की कुडली मे जो बात मुख्य है वह यही है कि उस कडली के दोनो त्रिकोण-पति उच्च राशिस्थ है सारी कडली मे या किसी की भी कुडली मे त्रिकोण सबसे श्रेष्ठ स्थान होते है और उन श्रेष्ठ स्थानो के स्वामियो के उच्च के हो जाने से स्वत. ही कुडली और व्यक्ति का स्तर बहुत ऊँचा हो जाता है। इसके अतिरिक्त दोनों त्रिकोणपतियो (चन्द्रमा और वृहस्पति) ने उच्च राशि मे होकर परस्पर तीन ग्यारह—तिरएकादश योग किया है।

केन्द्र-पति और त्रिकोणपतियों का सबध

इसके अतिरिक्त त्रिकोण-पति उग्र का चन्द्रमा केन्द्र-पति शुक्र के साथ युति किए हुए है और केन्द्र-पति शुक्र तथा त्रिकोण-पति चन्द्रमा का सयुक्त रूप मे वृहस्पति के साथ सम्बन्ध हुआ है।

प्रबल राजयोग की स्थापना

जब दोनो त्रिकोण-पति किसी केन्द्रपति के साथ सम्बन्ध कर लेते है तो अत्यन्त प्रबल राजयोग बनता है। अत चन्द्र-शुक्र ने वृहस्पति के साथ सम्बन्ध करके प्रबल राजयोग की स्थापना की है।

राजयोग का अर्थ

राजयोग का अर्थ है सामाजिक प्रतिष्ठा, लोक-मान्यता, आकाक्षाओ की पूर्ति का सामर्थ्य और इच्छित लक्ष्यो की सिद्धि।

एक अत्यन्त प्रबल राजयोग

इस तरह उपर्युक्त योग मुनिश्री नथमलजी की कुडली मे एक अत्यन्त प्रबल राजयोग कारक योग है जो उन्हें जीवन के अन्तिम क्षण तक लोकमान्यता और सामाजिक प्रतिष्ठा तो देगा ही परन्तु इसके साथ-साथ उनकी महत्त्वाकांक्षाओ और इच्छित उद्देश्यो और आदर्शो की पूर्ति भी करेगा। और उन्हें अपनी साधना की लम्बी यात्रा मे एक सफल साधक और फिर सिद्ध बनाकर छोडेगा।

उच्च के वृहस्पति पर आधारित फलादेश

सामान्यतया मुनि श्री नथमलजी की कुडली मे लोग उच्च के वृहस्पति को देखकर उस पर ही अपना सारा फलित आधारित कर देते है। यह सही है कि वृहस्पति पचमेश (विद्या और बुद्धि) स्थान का स्वामी है और पचमेश होकर वह उच्च का हुआ है और उच्च का होकर पचम स्थान को पूर्ण दृष्टि से देखता है। इस योग से यही सिद्ध होता है कि मुनिश्री असाधारण विद्वान, मेधावी, प्रतिभाशाली और चरम बौद्धिक विकास के अधिपति है। लेकिन यह तो एक ऐसी सामान्य बात है कि जो अनेको कुडलियो मे मिलती है।

मुख्य बात धर्मेश चन्द्रमा के उच्चस्थ होने की

मैं उनकी कुडली मे उच्च के वृहस्पति को इतना महत्त्व नही देता जितना कि धर्म-स्थान के स्वामी चन्द्रमा के उच्च के होने को देता हू। नवम स्थान के पति चन्द्रमा ने (उच्च का होकर) उन्हें धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र मे जन्म से ही उच्च की स्थिति मे पहुँचा दिया है। विद्या और बुद्धि के स्वामी वृहस्पति ने तो धर्म और आध्यात्म के क्षेत्र मे उनका बौद्धिक विकास करने मे केवल अपना योग दिया है।

चन्द्रमा के अदृश्य शक्ति-भाव के स्वामी शुक्र से सम्बन्ध

उच्च के चन्द्रमा या नवमे (धर्म) स्थान के पति के उच्च की स्थिति और अधिक बलवान हो गई है जबकि उसका सम्बन्ध अदृश्य और रहस्यमय स्थान या शाश्वत तत्व के स्थान के स्वामी शुक्र के साथ हुआ है ।

शुक्र चन्द्रमा की युति का लौकिक बोध

लौकिक दृष्टि और स्वाभाविक बोध मे तो शुक्र और चन्द्रमा की युति विलासित, कलाप्रियता, रसिकता, कला बोध और सौन्दर्य बोध देने वाला योग है परन्तु उसका दार्शनिक बोध दूसरा है और उसी का विवेचन आवश्यक है ।

यह नही है कि शुक्र चन्द्रमा की युति और उन पर पड़ने वाली बृहस्पति की दृष्टि ने उन्हें परिष्कृत सस्कार, परिष्कृत रुचि, कला बोध और सौन्दर्य बोध दिया ही होगा परन्तु बृहस्पति की दृष्टि से सप्तमेश शुक्र और चन्द्रमा स्वयं परिमार्जित और परिष्कृत हो गए है और उनके सस्कारो और प्रभावो की धारा बदल गई है ।

शुक्र चन्द्रमा की युति का दार्शनिक बोध

इसके अतिरिक्त शुक्र केवल सप्तमेश ही नही है । वह द्वादश स्थान का स्वामी भी है । द्वादश स्थान शाश्वत जीवन का, अदृश्य सत्ता की आस्था का विश्व के रहस्य का, अदृश्य आत्मा का, विषय के प्रति विराग और इच्छा सयम का स्थान है । ऐसे स्थान का स्वामी शुक्र अध्यात्म और धर्म के स्वामी चन्द्रमा से संयुक्त हुआ है । इसी योग ने श्री नथमलजी को मुनि बनने के लिए प्रेरित किया है । यही योग उन्हे अदृश्य और शाश्वत सत्य की खोज मे प्रेरित कर रहा है, यही योग है जो उन्हें दर्शन के गूढ तत्वो के साथ आत्मसात करवा रहा है और यही योग है जिसके कारण वे एक दिन देहमान से या देह अभियान से मुक्त होकर आत्मा चेतना या Soul Conciousness मे रहने की स्थिति मे आयेंगे ।

आत्म साक्षात्कार ही अन्तिम लक्ष्य

इस योग वाले व्यक्ति का अन्तिम लक्ष्य अपने आत्म तत्व को पा लेना, अपनी आत्मा या अपनी अदृश्य शक्ति से साक्षात्कार कर लेना ही होता है मुनि श्री नथमलजी इसलिए इस एक योग के कारण उस अनन्त पथ के यात्री है जो अपनी आस्था, अपनी निष्ठा और अपनी साधना के बल से आत्म साक्षात्कार कर के ही चैन और अनुभव करते है ।

देश, काल समाज और सम्प्रदाय से ऊपर

अत मेरा यह निश्चित मत है कि इस तरह के योग वाला व्यक्ति देश, काल, समाज और सम्प्रदाय की सीमाओ से बहुत ऊपर होता है और एक वक्त आता है जब उसकी जागृत, चैतन्य और उसकी विमुक्त आत्मा सभी लौकिक, सामाजिक या साम्प्रदायिक बधन से मुक्त हो जाती है । वह असीम हो जाता है । उसकी कोई सीमा या कोई सीमा बन्धन नही रहता ।

अतीन्द्रीय-दृष्ट सत्य की उपलब्धि

यह योग एक प्रबलतम योग है । योग और राग को देने वाली लौकिक दृष्टि का यही योग विराग और अतीन्द्रीय दृष्ट सत्य की आस्था की उपलब्धि कराता है । अत मुनि श्री नथमलजी की वर्तमान जीवन की तुलना मे शाश्वत जीवन के प्रति आस्था बढेगी, उन्हें आत्म-लब्ध सत्य का एक दिन साक्षात्कार होगा और अतस के प्रति उनकी विमुक्ता उन्हे एक दिन केवल दार्शनिक के रूप मे ही नही अपितु आत्मतत्व के दृष्टा के रूप मे लोक मे स्थापित करेगी ।

लग्नेश का अन्य ग्रहों का साथ

वृहस्पति की दृष्टि का प्रभाव

वृहस्पति आचार्य है। उसकी दृष्टि मे अमृत है। वह जिसे देखता है उसे दोप-रहित, मल-रहित और पारदर्शी बना देता है। वह किसी भी तत्त्व को देखकर उसका शुद्धिकरण करता है। शुद्धि और वृद्धि ही उसकी दृष्टि का मूल आधार है।

मुनि श्री नथमलजी की कुडली मे वृहस्पति ने एक तरह लग्नेश मगल के साथ त्रिएकादश सम्बन्ध करके मगल को तीसरी दृष्टि से देखा है तो दूसरी ओर उसने शुक्र और चन्द्रमा के साथ भी त्रिएकादश सम्बन्ध करके उन्हें एकादश दृष्टि से देखा है।

उग्रता और उत्तेजना का शमन

मगल पर वृहस्पति की दृष्टि से प्रवृति मे आने वाली सारी उग्रता, उत्तेजना, उतावल, आवेश, आवेग, सवेग नियन्त्रित हो गए है उसने दृढ इच्छा शक्ति और दृढ संकल्प शक्ति देकर चारित्रिक दृढता को वहुत ऊँचा उठा दिया है।

दूसरी व्याख्या इसकी यह है कि लग्नेश मंगल के साथ पचमेश वृहस्पति का सम्बन्ध होने के कारण मुनि श्री नथमलजी विद्वान हो गए है।

विराग, आत्म-लब्ध-सत्य अतीन्द्रिय में वृद्धि

वृहस्पति ने शुक्र और चन्द्रमा के साथ भी यही सबध किया है और उनमे हर दज की सवेदनशीलता जाग्रत करके उन्हें पर-दु खकातर बना दिया है और जगत को दु खो से मुक्त करने की ओर चिंतन मे अग्रसर होने मे उन्हें प्रेरित कर दिया है। शुक्र और चन्द्रमा के सयोग से अध्यात्म, धम, विराग, शाश्वत जीवन, आत्म-लब्ध-सत्य, और अतीन्द्रिय-दृष्ट सत्य की आस्था के जो तत्त्व उनमे जाग्रत हुए हैं उन्हें वृहस्पति परिष्कृत करता है और उनके समुज्ज्वल रूप की वृद्धि करता है।

अदृश्य आत्म-तत्त्व के साथ समरसता

लग्नेश मगल ने शुक्र और चन्द्रमा के साथ नवम-पचम योग किया है जिसके परिणामस्वरूप मुनि श्री नथमलजी का व्यक्तित्व (लग्न) भाग्यपति और धर्म के अधिपति चन्द्रमा से और अदृश्य आत्म-तत्त्व के स्वामी शुक्र से सम्वन्वित हुआ है। अत इस योग ने उन्हें जन्म से ही धार्मिकता, आध्यात्मिकता, ज्ञान और अदृश्य आत्म-तत्त्व के साथ समरस होने की क्षमता प्रदान कर दी है।

संकल्प-सिद्धि का जन्मजात वरदान

जोवन के स्वाभाविक भावक्रम, बोध-धारा या लौकिक भाषा मे वे एक भाग्यशाली व्यक्ति है क्योकि लग्नेश मगल ने भाग्येश से पूर्ण मैत्री का सम्बन्ध किया है लेकिन यहाँ भाग्य का अर्थ भी समझना पडेगा। किसी इच्छा, आकाक्षा या सकल्प का, सकल्प-मात्र से और बिना यत्न से होने वाली संपूर्ति ही भाग्य है। दूसरे शब्दो मे भाग्य का अर्थ है इच्छा-सिद्धि और सकल्प-सिद्धि। मुनि-जीवन तो इच्छा-नियत्रण से प्रारम्भ होता है अत सकल्पमात्र से सकल्प-सिद्धि का जो वल, व्यक्तित्व मे है वही भाग्य है।

सूर्य की अष्टम स्थान में स्थिति

सूर्य की अष्टम स्थान मे स्थिति कुन्डली का बल क्षीण करती है। आत्मा के स्वामी सूर्य का मृत्यु-स्थान मे स्थित होना, जहाँ लौकिक दृष्टि से पितृ सुख नहीं होने देता और अपना सामाजिक नेतृत्व स्थापित करने या अपना प्रभाव स्थापित करने मे अगतिशील और निष्क्रिय कर देता है वहाँ अपनी आत्म-शक्ति और आत्मा के बल को भी पूर्ण-रूप से विकसित होने मे या स्थापित होने मे एक निश्चित अवधि तक रोकता है। २२ वष की आयु और ३२ वर्ष की आयु के बाद ही जीवन मे आत्म-विश्वास और आत्म-बल विकसित होने लगता है और आत्म-साक्षात्कार का

प्रयत्न तभी से प्रमुख होता है । अष्टम स्थान मे स्थित सूर्य के साथ लग्नेश मगल का केन्द्र-सम्बन्ध भी अशुभ है (४-१० का सम्बन्ध) अत पद-प्राप्ति, पद पर स्थिति और पद की अभिलाषा समाप्त कर देता है ।

सत्ता-प्रभुता और पद-मर्यादा के प्रति विराग

यह एक मुनि की कुडली मे है जो वीतराग और सन्यासी है । अत लग्नेश राज्येश का अशुभ सम्बन्ध तो उनके लिए वरदान-सा बन गया है और इसने सत्ता, प्रभुता और पद-मर्यादा के प्रति विराग और अतीन्द्रिय सत्य के प्रति आस्था की चरम सीमा पर पहुँचा दिया है लेकिन सूर्य की मूल तेजस्विता जो मृत्यु-स्थान मे चली गई है उसे प्राप्त करने के लिए अथक श्रम, साधना, तपस्या और हठ-योग आवश्यक कर दिया है ।

'मरजीवा' बनकर जीने का योग

आत्मा के स्वामी सूर्य ने मृत्यु के स्वामी बली बुध के साथ युति करके मृत्यु से अमरता के मार्ग पर उन्हें गतिमान कर दिया है । यह योग, मृत्यु का सकेत नहीं है लेकिन अपने को अपने ही हाथो से मार कर 'मरजीवा' बनकर जीवन्मृत्यु की अवस्था मे जीने का संकेत करता है । दूसरे शब्दो मे यह योग आत्मा को मृत्यु की आग मे निरतर तपाने का योग है । इसी योग ने आत्मा पर लगे हुए विकार और वासनाओ को अपने हाथो से भस्मीभूत करने और जलाने के दृढ सस्कार पैदा किए है । इतना सब होने के बावजूद भी सूर्य की अष्टम स्थान मे स्थिति, आत्मा को तेजस्वी, जागृत और प्रज्ज्वलित करने के लिए साधना, श्रम, तपस्या और हठयोग को जीवन मे अनिवार्य कर देता है ।

सौन्दर्य-बोध के साथ काम-तत्त्व से संघर्ष

चन्द्र-शुक्र की लग्न पर दृष्टि और चन्द्र-शुक्र का लग्नेश के साथ सम्बन्ध प्रकृति मे सौम्यता, अतिशय विनम्रता, अहिंसा और शालीनता देते है । जीवन का जो सस्कारी और परिमार्जित सत्य विकसित हुआ है वह इसी योग से हुआ है । लग्नेश पर चन्द्र-शुक्र की दृष्टि और लग्नेश के साथ शुभ सम्बन्धो से प्रकृति अति कोमल, अक्रोधी और निरहकारी बन गई है । इस दृष्टि ने सौन्दर्य-बोध और कला-बोध भी दिया है लेकिन शरीर मे कामतत्त्व इससे जीवित और जागृत रहता है और साधक को निरतर सघर्ष करते रहना पडता है ।

भावनाओ के बीच स्पष्टवादिता अनिवार्य

अत जहाँ कहीं भी भावना अथवा नारी-समाज का प्रश्न आए वहाँ अति स्पष्टवादिता Straight forw-ardness अत्यन्त आवश्यक है । भावनाओ के प्रवाह से स्वय अपनी रक्षा हर कदम पर करना भी अत्यन्त आवश्यक है ।

तात्कालिक स्थिति और भावी विकास-क्रम

जन्म-कुण्डली के जिन प्रभावो की पिछले पृष्ठो मे चर्चा की गई है उनसे यह स्पष्ट हो गया है कि मुनि नथमलजी केवल विद्वान ही नही है और विद्या या साहित्य-साधना उनका अन्तिम साध्य नही है ।

बौद्धिक सामर्थ्य, गहन अध्ययन और लोक-मान्यता

उनका लक्ष्य आत्म-तत्त्व की प्राप्ति और स्वय अपनी आत्मा से साक्षात्कार करना है । अत अब उन्हें उसी मार्ग पर अग्रसर होना पड़ेगा । विद्वता के क्षेत्र मे तो १९६० अर्थात् अपने ४० वर्ष की वय से वे निरतर अग्रसर होते गए है और १९६३ से ६७ तक का समय उनके बौद्धिक सामर्थ्य और गहन अध्ययन को लोक-मान्यता दिलाने का सबसे बडा समय रहा है । सन् ६३ से ६७ तक

के वीच मे इनके साहित्य सृजन की भी विपुलता परिलक्षित होती है।

वौद्धिक सामर्थ्य और क्षमता पर विराम लगाना होगा

साहित्य-सृजन, सूत्रो के भाष्य, काव्य मे गद्य-पद्य की रचना, सव वृद्धि के खेल है। ये सव केवल उच्च के वृहस्पति के प्रभाव है। लेकिन मूनि श्री नयमलजी की कुण्डली मे इनसे भी वड़ा योग यह है कि वे वृद्धि के धरातल से ऊपर उठकर तटस्थ भाव से अपने आप को समाज की प्रथा का नियामक वनाने की स्थिति मे लाए। उन्हें अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए वृद्धि के खेलो पर अव नियत्रण और विराम लगाना पड़ेगा और अपनी सीमित मर्यादा मे उन्होने भले ही अपना नैतिक कर्त्तव्य समझकर अपने ऊपर जो कर्म वन्वन लगा लिए है उनसे उन्हें मुक्ति लेनी ही पडेगी। दूसरे शब्दो मे उन्हें कर्म-सन्यास लेकर तथा देह-अभियान (Body concious ness) मूक्त होकर पूर्ण रूपेण आत्म-चेतना अथवा (Soul conciousness) के स्तर पर ही रहना पड़ेगा।

इस स्थिति के आने मे अभी समय है तब तक भले ही वे कर्म वन्वनो मे अपने आप को लीन रखें लेकिन वौद्धिक स्तर के कर्म-जीवन की अवधि अब लम्बी नही है।

राष्ट्र के भविष्य की आशा

मुनि श्री नयमलजी मे राष्ट्र की आशा परिलक्षित है। उन्हें अव अपने जीवन का क्रम अत्यन्त सतर्कता से तय करना है। भविष्य उनकी ओर देख रहा है। एक भविष्य-द्रष्टा के रूप मे मैं आज यही कह सकता हू :—

आज आचार्य को मेरा नमस्कार पहुँचे।
फिर सिद्ध को मेरा नमस्कार पहुँचे।
और फिर आने वाले अरिहत को मेरा नमस्कार पहुँचे।।

✪

प्रज्ञा की ज्योतिर्मयी सजीव मूर्ति

• उपाध्याय अमरमुनि

क्रान्तदर्शी महामनीषी मुनिश्री नथमलजी को जब "महाप्रज्ञ" पद से अलकृत किया गया था, तो हर सहृदयो के हृदय-सरोवर मे प्रसन्नता की तरग नाचने लगी थी। और अब जब कि उन्हें भावी आचार्य के रूप मे युवाचार्य पद से अभिषिक्त किया गया, तो अन्तर्मन आनन्द की हजारो-हजार उच्छल लहरो से अमितो व्याप्त हो गया।

मुनिश्री प्रज्ञा की ज्योतिर्मयी सजीव मूर्ति है। उनका सरल, स्वच्छ सहज, सद्व्यवहार हर किसी सहृदय के हृदय को सहसा आप्यायित कर देता है। उनका व्यापक अध्ययन एवं सूक्ष्म दार्शनिक चिन्तन कठिन से कठिन, दुर्वह, गभीर विषय को भी अन्तस्तल तक स्पर्श करता है। प्राचीन आगमो के सम्पादन मे उन्हें अनेकत्र मुकामन से सत्य का अनुसरण करते पाया है, जो सम्प्रदाय विशेष से परिबद्ध व्यक्ति के लिए प्राय असभव ही होता है।

आत्मप्रिय मुनिश्री से मेरा परिचय लगभग २१ वर्ष पुराना है। आगरा के प्रथम मिलन मे ही मुझे उन्होने स्नेहाकृष्ट किया था। तभी मैंने उनके चिन्तन मे क्रान्ति के स्फुलिंग विकीर्ण होते देखे थे, जो अब बहुत कुछ ज्वाला ही नहीं, निर्धूम प्रज्ज्वाला बन गए है। सत्य को बेलाग स्वीकार करने मे अनेक बार वे सर्वथा बेदाग सिद्ध हुए है।

प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी आदि भाषाओ पर मुनि श्री की अव्याहत साधिकार गति है। तद्-तद् भाषाओ मे उनकी अनेक रचनाएं जहाँ लोकप्रिय हुई है, वहाँ विद्वत्प्रिय भी है। वे सस्कृत के आशुकवि भी है। आगरा की एक सभा मे, सभा के तत्कालीन भव्य दृश्य को उन्होने संस्कृत छन्दो मे जब आशुरचना का रूप दिया, तो हम सब प्रतिभा के उस अद्भुत चमत्कार मे मत्रमुग्ध हो गये थे।

यथाप्रसग मुनिश्री ने अपनी अनेक साहित्यिक कृतियो पर मेरे अभिमत लिए है और मैंने प्रशसामुखर शब्दावली म योग्य अभिमत दिये है। यह कोई लोकव्यवहार के नाते, औपचारिक रूप म, सतही तौर पर नहीं होता रहा है। मुनिश्री की बहुत कुछ बातें मुझे अच्छी लगी हैं, और मैंने खुले निर्व्याज मन मे उनका अभिनन्दन किया है। यद्यपि मेरे कुछ कट्टर साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के साथियों को यह पसद नहीं होता था, परन्तु सत्य को दूसरो की पसदगी या नापसदगी से कुछ लेना-देना नहीं है। सत्य का मूलाधार तो एक मात्र अपनी स्वानुभूति से प्रस्फुरित सहज अभिरोचना है। यही हेतु है कि साम्प्रदायिक द्वन्द्वो के कटु वातावरण मे भी मेरी और मुनिश्री की पारस्परिक आत्मीयता की निष्कलुष स्नेह-धारा अबाध गति से विकास-पथ पर अग्रसर होती जा रही है।

आचार्यप्रवर श्री तुलसीजी ने युवाचार्य के रूप मे योग्य पद पर योग्य मुनि का चयन किया है एतदर्थ शत्-शत् साधुवाद। यह चयन केवल तेरापथ-सम्प्रदाय के हित मे ही नहीं, समग्र जैन-समाज के हित मे फलप्रद होगा, ऐसा मुझे उनके निरन्तर उज्ज्वल होते जाते भविष्य से प्रतिभासित होता है। मेरी हार्दिक शुभकामनाए मुनिश्री जी के साथ है।

मौलिक चिन्तक

● जैनेन्द्रकुमार

युगाचार्य तुलसी श्वेताम्बर-तेरापथ-सघ के नवम आचार्य है, किन्तु अणुव्रत का नैतिक आन्दोलन चलाकर उन्होने सम्प्रदाय से बाहर भी अपने यश का विस्तार किया है। आये-दिन उन्हे सहस्रो व्यक्तियो से मिलना होता है, इनमे सभी स्तरो, मतो और वर्गो के लोग हुआ करते है। इधर उन्होने अपने उत्तराधिकारी के रूप मे मुनि नथमलजी को महाप्रज्ञ का विरुद दे कर युवाचार्य घोषित किया है। इस निर्वाचन मे उनकी सूझ और परख प्रशसनीय मानी जायेगी। महाप्रज्ञ जो अपने प्रकार के एक अनुपम व्यक्तित्व है, स्वभाव से विनम्र, चरित्र के निर्मल-पारदर्शी, जैन-तत्त्व-विद्या के गहन अभ्यासी और मौलिक चिन्तक है। सम्प्रदाय का अभिनिवेष उन्हें छू नही गया है और अपनी तत्त्व जिज्ञासा मे वे हर तरह के पूर्वाग्रह से मुक्त है। मुझे एक लम्बी अवधि तक उनके साथ होने का अवसर मिला है और मैंने पाया है कि ये खुले है और मताग्रह से ग्रस्त नही है। जैन-आगम के शोध और व्याख्या का उनका कार्य विलक्षण है और उनकी अव्यवसायशीलता तथा सूक्ष्म-ग्राहिता का परिचायक है।

आज सबके पास अपने-अपने मत है और उसके आग्रह मे हर-दूसरे मत से टकराव मे आ सकता है। ऐसे ताप और उत्ताप उपजता है और उसमे से फिर अनेक अनिष्ट उत्पन्न हो सकते है। यहाँ से एक सकीर्ण प्रकार की राजनीति खडी होती है जहाँ प्रतिस्पर्धा और सघर्ष का बोलबाला दीखता है। मनो मे कषाय पैदा होता है और वैमनस्य के बीज पड जाते है। भेद तब मत तक ही नहीं रहता, मन के भीतर तक उतर कर सामाजिक स्वास्थ्य के लिये खतरा पैदा कर देता है। इसको साम्प्रदायिकता का नाम दिया जाता है और समझा जाता है कि यह साम्प्रदायिकता धर्मक्षेत्र का अनिवार्य लक्षण है, किन्तु मेरी सम्मति मे मताग्रह के विष का उपचार यदि कहीं है, तो वह धर्म के पास। धर्म मत मे बन्द नहीं होता। मत केवल धर्म के लिये पात्र का काम देता है। धर्म को जीवन मे उतारना चाहने वाला मुमुक्षु सहज ही यह अनुभव कर पाता है, किन्तु धर्म से निरपेक्ष चिन्तन अपने मत को अन्तिम आधार मान उठता है और यह जिस हठीली मतवादिता को जन्म देता है, उसका इलाज कहीं नहीं दीख पडता। लौकिक मतवादो के साथ यह सकीर्ण हठ अनिवार्य रूप से चलता देखा जाता है। नाना 'इज्म' है और सब दुनियाँ को अपने अनुरूप ढला देखना चाहते है किन्तु धर्म से निरपेक्ष रहने का आग्रह उन्हें सकीर्णता से उबरने नहीं देता और परिणामत नाना प्रकार के हठ चल पडते है। आधार उन्हें किसी भी प्रकार का मिल जाता है, मूल मे ये सब 'इज्म' अहवाद के रूप होते है। आधार भाषा का, जाति का, वर्ण का, वर्ग का, वश का, मत का—किसी का भी पकड लिया जा सकता है। यह तो भी समझ मे आ सकते है लेकिन धन, जन, साम्य और समाज को लेकर जब 'वाद' चलाये जाते है और सब अपनी-अपनी ठान ठानने लगते है, तो चकित रह जाना पडता है। जिस पर यह है कि इन वादो मे प्रगति और धर्म मे प्रतिगामिता तक देख ली जाती है।

आजकल की बौद्धिक विचारना लगभग इस चक्र मे पड गई है। बुद्धि अहम् का अस्त्र है और अपने निर्मित वादो का सहारा लेकर सामुदायिक अहम् की प्रतिष्ठा मे कृतार्थता देने लग जाती है। यह खेल राजनीति के क्षेत्र म

रंग-बिरंग रूप मे खेला जाता हुआ देखा जा सकता है।

जो प्रश्न आज सब चिन्तको के समक्ष है वह यही कि अनेक चिन्तनधाराओ की अनेकताओं को सुरक्षित रखकर भी कैसे एकता उपलब्ध की जाय ? इतिहास चलता आ रहा है और हठात् हमे मानव-एकता की दिशा मे लिये जारहा है, किन्तु इतिहास स्वय तो काम नहीं करता, काम करता है मानवो के माध्यम से। इसलिये आवश्यक है कि वह उपाय खोजा जाय, जो किसी को खण्डित न करे प्रत्युत उस अनेकता मे समन्वय और सामञ्जस्य साधे।

यहाँ हम अहिंसा की आवश्यकता के तट पर आ जाते है। जैन-धर्म वह है, जो अहिंसा को परम धम मानता है। अर्थात वह सब स्थितियो मे सगत है और सब समस्याओं के उपचार मे उपयुक्त होना चाहिये। लेकिन दीख पडता है कि अहिंसा निर्बलता का लक्षण है और शक्ति से सामना लेने का उसके पास कोई उपाय नहीं है। ऐसे अध्यात्म-धर्म लोक-कर्म के अधीन आ जाता है और उसे दिशा देने की क्षमता खो बैठता है।

युगाचार्य तुलसीजी से और उनसे अधिक युवाचार्य महाप्रज्ञजी से मेरी लम्बी बातें हुई है। सोचा गया कि अहिंसा मे से शक्ति का उदय कसे हो। प्रतिरोध और प्रतिवाद की आवश्यकता समाज मे अनिवार्य दिखेगी। अन्याय है, अनाचार है, अत्याचार है। क्या धर्म इन सबसे अनदेखी कर जाने के लिये है ? या कि उसका काम मात्र उपदेश से समाप्त हो जाता है ? देखते है कि धर्म की यह वृत्ति उसके प्रति लोगो मे अनास्था उत्पन्न कर रही है। लोग जो समाज-परिवर्त्तन की अपेक्षा रखते और तात्कालिक आवश्यकता अनुभव करते है, वे धर्म से विमुख होकर क्राति की उपासना मे त्राण देखते हैं। वह क्राति जो क्राति हिंसा के अवलम्बन की अनुमति से आगे उत्तेजना भी दे सकती है। स्पष्ट है कि अभीष्ट परिवर्त्तन यदि अहिंसा की ओर से नहीं आयेगा, तो लोग अथवा इतिहास, अमुक सिद्धांत पर रुके रह जाने वाला नहीं है। आपसी सम्बन्धों मे पडे हुए विष को दूर होना है और वहाँ स्वस्थता को लाना है, इसके लिये सामाजिक स्थितियो मे, समाज की सरचना मे सशोधन लाना होगा। आदमी खुशी से कुकर्म नहीं करता, करता है मजबूरी से। ऐसी विवशतायें हमारी रुग्ण समाज-व्यवस्था उत्पन्न करती है। दुष्ट दोष को स्वेच्छा से चिरटाये नहीं रखना चाहता, पर यदि वह पाता है कि चारों ओर के दबावों के बीच उसके पास और कुछ बनने का उपाय नहीं है, तो दुष्ट के दोष-दर्शन और दोष-दण्डन से क्या बन जाने वाला है ?

यह बडा सवाल मैं समझता हू हर धर्म-गुरु के समक्ष है और होना चाहिये। हो सकता है कि अनेक धर्म पुरुष इस चुनौती के प्रति असावधान हों, किन्तु महाप्रज्ञजी इसके प्रति पूरी तरह जागृत हैं। मुझे विश्वास है कि तेरापंथ आचार्य तुलसी के आशीर्वाद के नीचे महाप्रज्ञ के नेतृत्व मे इस बडी चुनौती का उत्तर पाने और देने की दिशा मे सोचेगा और उठेगा। पिछले तीस चालीस वर्षो का मैं थोडा बहुत साक्षी रहा हूं और कह सकता हू कि यह पथ पांथिकता से और साम्प्रदायिकता से क्रमश उत्तीर्ण होने की चेष्टा मे रहा है व विस्मयजनक उसकी प्रगति इन वर्षो मे हुई।

महाप्रज्ञ युवाचार्य जबकि इस प्रगति से अवगत हैं, तब उसकी न्यूनताओं के प्रति भी उतने ही सजग है। भारत की राजनीति मानो अपना दिवाला निकाल बैठी है, किन्तु भारत के लिये राजनीति कभी प्रमुख बन कर रही नहीं, न वह सर्वथा स्वाधीन हो सकी है। उसे धर्म का निर्देश रहा है और इसी कारण सहस्रों वर्षो के इतिहास मे भारत कभी आक्रामक नहीं बना। वह निर्देश अब गायब है और राजनीति इसीलिये सहज भाव से निरंकुश हो सकती है आशा नहीं की जा सकती थी। जिनके लिये लौकिकता ही सर्व प्रधान है और जहाँ राजनीति सर्व

शक्तिमान है, उन उन्नत और विकसित समझे जाने वाले देशो की ओर से कुछ इष्ट-दिशा-दर्शन आयेगा। आशा एक मात्र भारत से इसलिये है कि यह धर्म प्राण देश रहा है और अब भी है। आवश्यकता है कि धर्म-पुरुष अपने दायित्वो के प्रति जागें और जन-मानस पर वह प्रभुता प्राप्त करें जो उनका हक है। प्रत्येक व्यक्ति मे आत्मा है चाहे फिर वह कितनी भी सुप्त और लुप्त क्यो न दिखे, इसलिये वह जिसे अध्यात्म कहा जाता है उसे सर्वशक्तिमान शक्ति होना चाहिये। यदि ऐसा नहीं है, तो कहना होगा कि उसकी समग्रता मे कहीं त्रुटि है।

महाप्रज्ञजी के समक्ष यह प्रश्न बार-बार मैंने रखा है और इन पंक्तियो द्वारा फिर उसे उपस्थित करने की धृष्टता के लिये क्षमाप्रार्थी हूँ।

●

वे योगी हैं...

◆ वीरेन्द्रकुमार जैन

पूज्य मुनि श्री नथमलजी इस समय उन कुछ विरल और मूर्धन्य जैन श्रमणों में हैं, जिनकी कलम से महावीर का इस युग के सन्दर्भ में पुनरावतार हुआ है। उनका चिन्तन अनुभूत है, साक्षात्कृत है। वे योगी हैं। उनका ग्रन्थ 'सम्बोधि' इसका प्रमाण है। मैं इसे वर्तमान जिनवाणी का एक क्लासिक मानता हूँ।

'श्रमण महावीर' भी अद्भुत ग्रन्थ है। बार-बार इसे पढ़ने को जी करता है। सबसे बड़ी बात यह कि पू० मुनि श्री नथमलजी के साथ मैं गहरी चिन्तनात्मक तदाकारिता महसूस करता हूँ। मैं चकित चमत्कृत हुआ यह देखकर, कि 'अनुत्तर योगी' में जो मैंने लिखा है, उसका समर्थन मुझे उनके चिन्तन में बराबर मिलता गया है। तो मुझे लगा कि यह महावीर का ही समर्थन है।

पू० मुनि श्री को प्रणाम भेजता हूँ और उनका आशीर्वाद चाहता हूँ।

✪

आचार्य तुलसी के भाष्यकार

• प्रो० दलसुख भाई मालवणिया

मुनि श्री नथमलजी का मेरा परिचय बहुत पुराना है। हमने वाद-विवाद भी किया है। इन प्रसगो मे आपका वर्ताव विद्वान्-जनोचित और अद्वितीय था। मैने आपको सदा प्रसन्न ही देखा है। विनम्रता और गुरु के प्रति समर्पण-भाव—आपकी ये दो उत्कृष्ट विशेषताए है। आपको गुरु भी ऐसे उपलब्ध हुए है, जिन्होने आपको स्व-चिन्ता मुक्त किया है। यदि गुरु सारी चिन्ताओ का भार ढोने की स्वीकृति दे देते है, तो भला कोई क्यो अपनी चिन्ता करेगा ? ऐसी परिस्थिति मे आपने जो विकास साधा है, वह अपूर्व है, ऐसा कहा जा सकता है। गुरु ने क्या किया और मैने क्या किया, इस भेद की अनुभूति आपको कभी नहीं हुई। गुरु-शिष्य की ऐसी अभेद भूमिका आज के आधुनिक युग मे विरल है। यदि इस अभेद भूमिका का साक्षात्कार करना हो, तो वह आचार्य तुलसी और उनके शिष्य मुनि श्री नथमलजी मे किया जा सकता है। विद्वत्ता के साथ विनम्रता का योग भाग्य से ही प्राप्त हो सकता है। विद्वत्ता और विनम्रता की पराकाष्ठा मुनि नथमलजी मे है, यदि मैं यह कहू तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

जैन-सघ मे सयम की साधना विविध प्रकार से होती है। किन्तु इस साधना मे जो ध्यान-साधना को कमी थी और जो प्राय विस्मृत हो चुकी थी, उसका पुनरुत्थान मुनि श्री नथमलजी ने किया है। मैंने स्वय देखा है कि इस साधना के कारण अनेक जैन और अजैन युवको को धर्माभिमुख करने का श्रेय भी आपने प्राप्त किया है। आपने प्रेक्षा-ध्यान की पद्धति को विकसित किया है। आप योग मे स्वय निष्णात हुए और योग की समग्र भारतीय पद्धतियो से परिचित होकर प्रेक्षा-ध्यान-पद्धति का प्रसार किया है। इसमे भारतीय योग-साधना के समग्र तत्त्वो का समन्वय करने का प्रयत्न किया गया है। परम्परा से सर्वथा अलग-थलग पड कर नहीं, किन्तु परम्परा मे आवश्यक परिवर्तन कर आपने जिस ध्यान-पद्धति का निरूपण और प्रयोग किया है, वह नव होने पर भी परम्परा से सर्वथा मुक्त नहीं है—यह आपकी ध्यान-पद्धति की मुख्य विशेषता है और यह विशेषता आपकी उत्कृष्ट विद्वत्ता और भावना के कारण है, ऐसा होना चाहिए।

अनेक वर्षो की आपकी ज्ञानाराधना और उसके परिणामस्वरूप आपने जो साहित्य-साधना की है, वह मात्र जैन-समाज की ही नहीं, समग्र भारतीय साहित्य के साहित्य-सेवी होने का स्थान सहज ही प्राप्त करा देती है। सस्कृत, प्राकृत और हिन्दी भाषा मे आपने जो साहित्य रचा है, वह आपकी नवीन शैली के कारण बहुत ही आकर्षक है। आपके अनेक ग्रन्थो का अग्रेजी मे अनुवाद भी हुआ है। मौलिक साहित्य के निर्माण के साथ-साथ आपने अपने सम्प्रदाय के साहित्य-भडार को भरने का भी प्रयत्न किया है। जैन-आगमो का उद्धार भी आपने पूर्ण विद्वत्ता के साथ किया है। आप आचार्य तुलसी के भाष्यकार है, इतना कहना मात्र पर्याप्त नहीं है। आप भारतीय सस्कार-परम्परा के भाष्यकार है, यह कहना आवश्यक है। तेरापथ-समाज के वैचारिक उन्नयन मे आपकी जो देन है, वह चिरस्मरणीय रहेगी। इसी के आधार पर गत वर्ष (कार्तिक शुक्ला १३, गगाशहर मे) आचार्य तुलसी ने आपको 'महाप्रज्ञ' की उपाधि से विभूषित किया, यह उचित ही था और इस नये वर्ष के प्रारम्भ मे आचार्य श्री तुलसी ने आपको अपने उत्तराधिकारी के लिए योग्य माना है, इस विषय मे सहर्ष यही कहा जा सकता है कि आचार्य श्री तुलसी ने योग्य व्यक्ति को योग्य पद दिया है।

आचार्य श्री तुलसी ने जैन-समाज को जो दिया है, उससे भी अधिक केवल जैन-समाज को ही नहीं किन्तु समग्र भारतीय समाज को, ये मुनि नथमलजी, आचार्य बनकर देंगे, इसमे कोई सन्देह नही है। ✪

प्रणाम महाप्रज्ञ

★ डा० नेमीचन्द जैन

दिल्ली/ १ दिसम्बर/१९७४/"जिणधम्म-सगीति" के बाद की सुखद सुबह/शान्त, उजला आकाश/काका साहब कालेलकर का निवास/उनका ९० वाँ जन्मदिन/मुनि श्री नथमलजी की अपलक प्रतीक्षा/कई लोग है/अच्छा लग रहा है, तथापि प्रतीक्षा है किसी ऐसे व्यक्ति की जिसे देखा दो-एक बार है किन्तु जिसने जगह बना ली है भीतर ब्रह्माण्ड से कही अधिक।

डा० माचवे ने काका साहब का एक रेखाकन किया है और वे उसपर उनके हस्ताक्षर ले रहे है। सभा हुई है। मुनि श्री नथमल जी उसमे बोले है। मैं निर्निमेष देख रहा हूँ, चौडा ललाट, अचंचल नेत्र, अभीत चित्त कोई शार्दूल खडा है और "स्याद्वाद" पर से भ्रम की परम्परित चादर हटा रहा है। कह रहा है—"काका साहब ने जैन धर्म की जैसी सेवा की है, वैसी किसी जैनी ने भी नही की; वे अनेकान्त मूर्ति है।" चित्त पर जो तस्वीर बनी वह इस तरह कुछ थी—"एक आदमी है। कसा हुआ मन, कसा हुआ तन, कसे हुए शब्द, कसे हुए वाक्य, सब अचूक, अमोघ।"

इस संक्षिप्त सादे-सुखद समारोह से लौटते एक लाभ हुआ। भारतीय ज्ञानपीठ ने जैन-सिद्धान्त-कोशकार ब्र० जिनेन्द्र वर्णी के अभिनन्दन-समारोह का आयोजन किया। एक कोशकार का अभिनन्दन स्वय मे चकित कर देने वाली घटना थी, क्योकि इस अभागे की खोज पल भर के लिए केवल सकट या अनिश्चय के समय होती है, और निश्चय के मुट्ठी मे आते ही लोग उसे बिसार देते है। मुनिश्री भी इस समारोह मे आमन्त्रित थे। प० दलसुख भाई मालवणिया और आद० अगरचन्द जी नाहटा भी साथ लौट रहे थे। मुनि श्री भी लौटे। कोई ऑटो से भागा, कोई शॉर्ट कट से। मुनिश्री अचचल किन्तु सवेग, स्वय मे, किन्तु जागरूक। उनके पग ही मग बने। उन्होने चलना शुरू किया और "मैंने" उनके साथ दौडना। दूर कुछ था नही। बातें करते चले तो लगा दूरी गणितीय नही मानसिक होती है। उस दिन सापेक्षता का एक और स्पष्ट बोध हुआ। उस दिन का वह सचल तथापि अचल सान्निध्य आज भी चित्त पर उसी जीवन्त मुद्रा मे उपस्थित है और निविड अन्धकार मे जब-कभी किरण बन जाता है। सच, उस दिन ठीक ही लगा था कि मैं एक वट-बीज के साथ यात्रायित हू।

१ दिसम्बर १९७४/८-१९ अक्टूबर १९७७ के बीच उन्हे उन्ही की कृतियो मे तलाशता रहा। अक्टूबर १९७७ मे मुझे लाडनूं जाना पडा। वहाँ एक सगोष्ठी आयोजित थी। यद्यपि मैं मैसूर विश्वविद्यालय की एक सगोष्ठी मे था दो दिन पूर्व और यह असम्भव ही था मुझ-जैसे निष्काचन के लिए कि लाडनूं पहुँचूं और सगोष्ठी मे अपना शोध-पत्र प्रस्तुत करूँ, किन्तु जैन-विश्वभारती के विद्वान् कुलपति श्री श्रीचद जी रामपुरिया तथा "तुलसी-प्रज्ञा" के सम्पादक डा० नथमल टाटिया की कृपा ने मुझे न्यौता और मैं वहाँ आकाशमार्ग से जा सका। आचार्यश्री अस्वस्थ थे, सारे कार्य चल रहे थे। कौन चला रहा था इन्हें ? मुनि श्री नथमल जी का कुशल, दिशादर्शी नेतृत्व। कही कोई विघ्न खलता नहीं थी। मुझे "जैन-पत्र-पत्रिकाओ के उद्भव और विकास" पर अपना शोधपत्र पढना था। पता नही क्यो ऐसा हुआ है कि जब भी मैं मुनि श्री नथमलजी से मिला हू, एक विशेषांक की तैयारी के तेवर

में ही उनसे मिलना पडा है। दिल्ली से लौटकर मैंने "श्रीमद्राजेन्द्रसूरीश्वर" विशेषाक सम्पन्न किया और लाडनू से लौटकर "जैन-पत्र-पत्रिकाएँ" विशेषाक। इसे सयोग कहिये, अथवा नियतियोजित किन्तु हुआ यही, और होगा यही। पता नही मुनि श्री के व्यक्तित्व मे ऐसा क्या है जो मेरी प्रज्ञा को माँजता है और उदारता को मेरे नजदीक लाता है।

सभवत ८ अक्टूबर का वह दिन था। मैं अपने शोध-पत्र का वाचन कर रहा था, पढ चुका था शायद। कुछ भान नहीं है, किन्तु उसी दिन मुनि श्री ने कहा था—"पता नहीं क्यो मुझे लगता है कि डा० नेमीचन्द जैन और हमारा साथ जन्मजन्मान्तर का है।" कह नही सकता चित्त की किस एकाग्रता मे से यह क्वणित हुआ था, किन्तु उस रात वही लाडनू मे मैं बहुत भीतर गया था और मेरी चेतना ने इस तथ्य पर अनायास हस्ताक्षर किये थे। यद्यपि आज वह क्षण गुजर गया है, किन्तु अभी भी मैं उस रोमाचक पल की तलाश मे बना हुआ हू, और जब पढ रहा हू कि उन्होने "नामातीत" और "सबन्धातीत" होने की बात कही है तो बहुत चिन्तित हू। तो फिर क्या उस घटना पर स्याही का धब्बा डाल दू, किन्तु शायद वैसा इसलिए नही कर पाऊगा क्योकि बहुत गहरे मे मैं उन्हें अपने आमने-सामने पा रहा हू, ठीक वैसे ही जैसे कोई किसी गहन अधियारे मे मेरे हाथ में एक दीपक जलाकर रख जाता है और फिर नहीं दिखायी देता, या किसी माँ की वह मगल-कामना जो यात्रा पर निकल रहे अपने बेटे के लिए पाथेय तैयार करती है। सच तो यह है कि अपनी जीवन-यात्रा मे मैंने उन्हें सदैव अपने परिपार्श्व मे जीवन्त उपस्थित महसूस किया है।

मैं जब भी उनके ग्रन्थो की स्वाध्याय-यात्रा मे से गुजरा हू तब भी मुझे ऐसा ही अहसास हुआ है।

"सत्य की खोज" (१९७४) प्रथम वाक्य—"उपाय की खोज किये विना उपेय की खोज नहीं की जा सकती। सत्य उपेय है। ज्ञान उसका उपाय है।" इसे हजम करते लगा कि जैसे कोई सूत्रकार सामने है और अष्टाध्यायी-सूत्रो की भाँति घटनाओ मे से जीवन की 'सज्ञाएँ, क्रियाएँ'-विशेष नहीं—बाँता जा रहा है। एक जीवन्त सूत्रकार से परिचय हुआ मेरा इस लघु पुस्तिका मे।

वही (१९७४) और फिर एक अद्भुत कृति मेरी मेज पर—"श्रमण महावीर।" एक जीवनी, एक काव्य, एक उपन्यास, दर्शन, साहित्य, संस्कृति। प्रथम वाक्य यो—"जीवन जीना निसर्ग है"—अच्छा लगा। अनुभव हुआ जैसे कोई परम कलाकार अपनी तर्क-टाँकी से किसी प्रस्तर-खण्ड को प्रतिमा मे बदल रहा है। यह आयी वीरेन दा के "अनुत्तर योगी" से पहले किन्तु काफी उस-जैसी।

मेज पर फिर एक अनन्य कृति है, जिसमे एक श्रमण, संस्कृत आशुकवि ने कई ब्राह्मण-काव्य-चुनौतियो को झेला है और अपनी कालजयी प्रतिभा को स्थापित किया है। यह है—"तुला अतुला"। वर्ष है १९७६। इसका प्रथम वाक्य पढकर ऐसा लगता है जैसे कोई महा मनीषी अपनी सुकुमार अगुलियो से जीवन के रहस्य उद्घाटित कर रहा है। लगता है जैसे कोई यातुक हौले-हौले जिन्दगी के राज उजागर कर रहा है—किसी झटके अथवा धक्के से नहीं वरन् बडी कोमलता से, वैसे ही जैसे बिना किसी शॉक के चन्द्रतल पर एक अन्तरिक्ष-यान उतरता है। इसका पहला वाक्य है—"शरीर मे निवास करने वाला भगवान् है सयम, और मस्तिष्क में निवास करने वाला सद्विचार है परमात्मा।" इसे कहते है एक पटु नीतिकार—एक ऐसा भर्तृहरि जो जीवन को भूसी से नही तत्त्व से तोलता है, और यदि भूसी से तोलता है तो भूसी को भू-सी कर देता है। मुनि श्री की प्रतिभा अनन्य है, विदग्ध है और है अपराजिता।

फिर एक दिन यों हुआ कि भाई कमलेशजी ने दो और बहुमूल्य कृतियाँ समीक्षार्थ भेज दीं—मन के जीते जीत"। १९७७, "मैं, मेरा मन, मेरी शान्ति"। १९७७। पहली में 'आब्जर्वेशन्स" है—सटीक, अमोघ, अचूक। इसका पहला वाक्य है—"मन का प्रश्न बहुत उलझा हुआ है।" इसे कहा सबने है, किन्तु विचार कहाँ, किसने और कब इतने गहरे पैठ कर किया है? दूसरी का दूसरा वाक्य है—"क्या मन को छोड़कर "मैं" (अहम्) की व्याख्या की जा सकती है?" सवाल गम्भीर है और इसका उत्तर कोई मनीषी ही सफलता से दे सकता है। समूची किताब अद्भुत है और कई समस्याओं का समाधान करती है।

जब लाडनूं से लौट रहा था तो सोचा चलो मुनि श्री नथमलजी के दर्शन किए जाएँ और यात्रा को सुखद-निरापद बनाया जाए, गया। कार में सामान रखा जा चुका था। वे काफी व्यस्त थे। मुनि श्री दुलहराजजी से भी भेंट हुई। मैंने उनसे एक किताब माँगी—"जैन न्याय का विकास।" तुरन्त मिली। ट्रेन में उसे आद्यन्त देख गया। यह १९७७ में राजस्थान-विश्वविद्यालय के जैन विद्या-अनुशीलन-केन्द्र द्वारा प्रकाशित हुई है। उसका प्रथम वाक्य है—"जैन दर्शन आध्यात्मिक परम्परा का दर्शन है।" मैं सोचता रहा क्या कोई ऐसा सुधी लेखक है, जो पहले वाक्य को संपूर्ण किताब की आरसी बना दे, तब मेरा ध्यान अनायास ही मुनिश्री की उन किताबों पर गया जो मेरे संग्रह में उपलब्ध हैं और मैं प्राय सबकी प्रस्तुतियों और प्राक्कथनों के प्रथम वाक्यों को पढ़ गया। मेरा मन नाच उठा अपार उल्लास में और लगा कि इस मनीषी को शब्दश, न अक्षरश, पढ़ डाला जाए। पढ़ा भी, सुख भी मिला, स्फूर्त भी हुआ।

आज सवेरे (२० मार्च १९७९) दो और किताबें रिव्ह्यू के लिए मिली है—"चेतना का ऊर्ध्वारोहण" तथा "जैन-योग।" पहली का प्रथम वाक्य है—"हम मनुष्य है और चेतना हमारी विशेषता है।" बात सौ टका दुरुस्त है और सीधे-सादे शब्दों में कही गई है तथापि अभी कइयों को मनुष्यता-बोध नहीं है, चेतना-बोध तो काफी फासले की बात है। पूरी किताब अनुपम है, तथ्य-समीक्षण चमत्कृत करने वाला है। "प्रेक्षा" में जो किश्तों में मिलता है, वह यहाँ अखण्ड रूप में संयोजित है। दूसरी का पहला वाक्य है—"आध्यात्मिक व्यक्ति सत्य का अन्वेषी होता है।" बात सशक्त है, किन्तु प्रस्तुति के बाद जहाँ प्रथम अध्याय का मुखड़ा है वहाँ का प्रथम वाक्य है—"तुम भिखारी नहीं हो भिखारी स्तब्ध रह गया । उस अंश को पढ़ कर लगा कि शब्दों में से अर्थ को निचोड़ना और अपने पाठक या श्रोता को सुगम शब्दों में परोसना किसी महाप्रज्ञ का ही काम हो सकता है, किसी सामान्य आदमी के बूते की बात वह नहीं है।

इस तरह जो मनीषी बार-बार आमने-सामने रहा है, रहता है, मेरी चेतना से टकराता है, वह अक्षर-पुरुष है मुनि श्री नथमल, जिनका यदि कोई अक्षर-चित्र मुझसे बनवाया जाए तो मैं "कालाजिंग" की नव्यतम विधा का उपयोग करूँगा और उनकी तमाम कृतियों के प्रथम वाक्यों को गड्डमड्ड कर दूँगा और देखूँगा कि एक परम पुरुष मेरे सामने उपस्थित है। मेरे लिए यही महाप्रज्ञ, जो सचमुच नामातीत और सबन्धातीत है, प्रणम्य है, प्रणाम उन्हें।।।।

✪

प्रकाश-पुंज

—रतिलाल भाई
(गुजराती के प्रसिद्ध साहित्यकार)

जो व्यक्ति सत्य की खोज कर जीवन को सत्यमय, धर्ममय बनाने के लिए उतावला हो जाता है, जिसको यह रंग चढ़ जाता है, उसको दुनिया के सभी राग-रंग फीके लगते है और वह अपने आत्मभाव के रंग को और अधिक गहरा बनाने के लिए वैराग्य की शरण मे जाता है। ऐसी स्थिति मे वह तप, त्याग, सयम और तितिक्षा को अपना जीवन-साथी बनाने मे नहीं हिचकता। जब ऐसा भाग्योदय जागृत हो जाता है, तब उसको ससार के दुःख, न दुःखरूप और न तीव्र ही लगते है। इसके विपरीत सासारिक सुखोपभोग और आनन्द उसे उपाधिरूप और विघ्नकारक प्रतीत होते है। ऐसी कष्टप्रद जीवन-साधना को आनन्दमय बनाने के लिए वह दिव्य रसायन का आलम्बन लेता है। वह रसायन है सत्य के विविध पक्षो के स्वरूप की सही जानकारी करने की उत्कट अभीप्सा। ऐसा साधक अपने मूलस्वरूप को, जगत् के स्वरूप को और परम तत्त्वरूप परमात्मा के स्वरूप को प्राप्त करने और जीवन को विमल बनाने के लिए उत्कट अभीप्सा को जागृत करता है।

तेरापथ-धर्मसघ के मुनि नथमलजी (अब युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ) शील और प्रज्ञा अर्थात् ज्ञान और क्रिया के समान प्रकर्ष से सुशोभित है। वे सत्य की खोज द्वारा आत्मा की गवेषणा करने वाले एक श्रमण-सत है। उन्होंने श्रमण-धर्म की अन्तर्मुख और आत्मलक्षी—मोक्षलक्षी अप्रमत्त साधना के द्वारा जो बहुमुखी योग्यता प्राप्त की है, उससे प्रेरित और प्रभावित होकर तेरापथ के नौवें आचार्य श्री तुलसीजी ने गत नवम्बर मास मे उनको 'महाप्रज्ञ' की उपाधि से सम्मानित किया। अभी-अभी (३-२-१९७९) आपने अपने उत्तराधिकारी के रूप मे मुनि श्री नथमलजी का मनोनयन कर उनकी योग्यता का संघ मे जो सन्मान-बहुमान किया है, वह एक सुयोग्य, ज्ञानी और गुणवान व्यक्ति के व्यक्तित्व के अनुरूप बहुमान के रूप मे स्मृति-पटल पर अकित रहने योग्य है। तेरापथ-धर्मसघ व आचार्य श्री तुलसी से ऐसे विरल सम्मान को प्राप्त कर मुनि श्री नथमलजी अत्यधिक धन्यवाद और अभिनन्दन के पात्र बने है।

किसी व्यक्ति को कोई उपाधि या पद प्राप्त हो और उसके विषय मे कुछ लिखा जाए—ऐसी प्रेरणा भाग्य से ही प्राप्त होती है। मुनि श्री नथमलजी की अपनी एक विशेषता है—वे प्रत्येक विचार को अपने मौलिक और स्वतन्त्र चिन्तन की कसौटी पर कसते है और नवनीतरूप उसके निष्कर्ष को स्वीकार करने के लिए तत्पर रहते है। उनमे यह गुणग्राहक-वृत्ति और सत्य को सौम्य-सुन्दर रूप मे अभिव्यक्त करने की अद्भुत कला है। उनकी यह क्षमता सैकडो सहृदय गुणवान् व्यक्तियों द्वारा प्रशसनीय है। मैं भी इसी से प्रेरित होकर कुछ लिखने के लिए तत्पर हुआ हू और यह उचित भी है।

जिस व्यक्ति को सत्य और गुणो का शोधक अर्थात् अनेकान्तवाद का जीवन्त उपासक बनना हो उसको सबसे पहले अपनी ज्ञान साधना की सीमा को विशाल ही नहीं करना होता है, अपितु, पूर्वाग्रहों तथा सभी प्रकार के अन्य बन्धनो से सर्वथा मुक्त कर देना होता है। ऐसी ज्ञान-साधना के प्रकाश मे जो ज्ञेय (जानने योग्य), जो हेय

(त्यागने योग्य) और जो उपादेय (स्वीकार करने योग्य) होता है, उनको जीवन मे उतारने के लिए तैयार रहना चाहिए। यदि ऐसा होता है, तभी 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्ष'— इस सूत्र की जीवन मे सार्थकता मानी जा सकती है। इसी विधि से मोक्ष-प्राप्ति के साधनरूप समता की साधना हो सकती है।

मैंने तेरापंथ के युवाचार्य श्री नथमलजी द्वारा सम्पादित तथा स्वतन्त्र रूप मे लिखित छोटे-बड़े पचास से अधिक ग्रन्थो का सूक्ष्मदृष्टि से निरीक्षण किया है। कितना व्यापक और विशाल है आपका अध्ययन तथा कितना गहन और समभावयुक्त होता है आपका मनन-चिन्तन, यह ग्रन्थो के अवलोकन से ज्ञात हुए बिना नहीं रहता। युवाचार्यश्री अपनी आत्म-साधना तथा जीवन-शोधन के लिए कितने अप्रमत्त जागृत रहते है, यह तथ्य भी आपकी साहित्य-साधना तथा संयम-वैराग्य की भावना से ज्ञात हो जाता है। यह कहना चाहिए कि जैन-तत्वज्ञान और जैन-आचार अर्थात् जैन-दर्शन और जैन-धर्म को अपने जीवन मे समान-रूप से प्रतिष्ठित कर आपने अपने श्रमण-धर्म की साधना को चरितार्थ और उन्नत किया है।

सत्य की खोज और आत्म-खोज के लिए परोक्ष ज्ञान से आगे बढ़कर प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने की आपकी अभिलाषा कितनी तीव्र है, इसका उल्लेख आपने 'महाप्रज्ञ' की उपाधि स्वीकारने समय अपने वक्तव्य में किया था। आपने अपने भाषण मे कहा—मेरे मन का एक स्वप्न था, बहुत पुराना स्वप्न। मैंने आचार्यवर श्री तुलसी से बहुत पहले प्रार्थना की थी—मैं अभी संघ की सेवा मे संलग्न हू। मैं जब ४५ वर्ष का हो जाऊ तब मुझे सभी प्रकार की जिम्मेदारियो से मुक्त कर दिया जाए। मैं केवल प्रज्ञा की साधना करना चाहता हू तथा आत्म-साक्षात्कार के लिए समर्पित होना चाहता हूँ। हम सब केवल परोक्षज्ञानी बने रहे और यही रटन लगाते रहें कि शास्त्रो मे यह लिखा है, वह लिखा है, यह मैं नहीं चाहता। किन्तु आज ऐसा ही हो रहा है। हम प्रत्यक्ष ज्ञान की उपेक्षा कर रहे है। अब हम स्वय जागृत हो और यह कहने की स्थिति उत्पन्न करें कि मैंने स्वय इस तथ्य का प्रत्यक्ष अनुभव किया है और मैं अपने अनुभव के आधार पर यह बात कह रहा हू। केवल परोक्ष की दुहाई न दी जाए, केवल शास्त्र की रटन ही न होती रहे, हम स्वय अनुभव करें और जिन-जिन साधको ने अनुभव किये है, उनके साथ साक्षात् सम्पर्क करें।"

इस वक्तव्य मे कहे अनुसार मुनि श्री संघ को सभालने के उत्तरदायित्व से तो मुक्त नहीं हो सके, किन्तु उनका कथन इस बात का साक्षी है कि वे कितने लम्बे समय से शास्त्रयोग से आगे बढ़कर सामर्थ्ययोग को सिद्ध करने के लिए कितने उत्सुक है। अन्तर्मुख या आत्माभिमुख व्यक्ति ही कीर्ति, नाम और कामनाओं से अलिप्त रहकर ऐसी उत्सुकता रख सकता है। मुझे यह भी प्रतीत होता है कि भले ही आपने अपनी सारी शक्ति या सारा समय इस प्रत्यक्ष ज्ञान को प्राप्त करने के लिए न लगाया हो, फिर भी आपने अतीन्द्रिय-ज्ञान की दिशा मे उल्लेखनीय प्रगति की है।

युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ के ग्रन्थ तथा लेख आज अत्यन्त लोकप्रिय हो रहे है—इसका कारण है आपकी सुगम और सरस भाषा तथा मधुर और सरल शैली। इसके साथ-साथ आपकी निरूपण की विशदता भी अपने-आप म महत्वपूर्ण है। इन सब विशेषताओं से भी अति महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि आपके साहित्य मे प्रत्यक्ष अनुभव, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और स्वतन्त्र चिन्तन की प्रकाश-रेखाए पग-पग पर परिलक्षित होती है। ऐसे प्रकाश-पुज साधक के ज्ञान और क्रिया से सम्बन्धित अथवा अन्यान्य विषय-सम्बन्धी प्राचीन और दुर्गम शास्त्रीय तथ्य भी जिज्ञासु व्यक्ति ऐसी सहजता से समझ सकता है कि वह उन तथ्यो के रहस्यो को सहज-रूप से आत्मसात् कर लेता

है। जैन-साहित्य की ऐसी उत्तम और आकर्षक पुस्तकों का सर्जन करना मुनि श्री की अनोखी विशेषता है। उससे जैन-श्रमण-संघ और जैन-साहित्य का गौरव बढ़ा है, उसे स्वीकार कर लेना चाहिए।

मुनि नथमलजी ने दस वर्ष की छोटी अवस्था मे दीक्षा ली और अभी आपकी अवस्था है ६० वर्ष की। आपको दीक्षित हुए लगभग ५० वर्ष हो चुके है। आपने अपना यह पूरा समय समर्पण भाव से गुरु की सेवा और आज्ञापालन करने मे बिताया है और साथ-साथ ज्ञान-ध्यान पूर्वक संयम की आराधना भी करते रहे है। इसकी सबसे बड़ी निष्पत्ति यह हुई कि आप अपने से भिन्न या विरोधी विचार रखने वाले व्यक्ति को शान्तिपूर्वक सुन सकते है, समझ सकते हैं और अपनी बात दूसरों को समझाने का धैर्यपूर्वक प्रयत्न करते है। इससे आपकी सत्यनिष्ठा और समता की साधना की कीर्तिगाथा बनी रह सकती है।

पन्द्रह या कुछ अधिक वर्ष पूर्व एक जापानी विद्वान् भारत आए थे। वे आचार्य श्री तुलसी से मिले। जापान मे बौद्ध-धर्म का प्रभुत्व है और उसकी साधना मे ध्यान का भी महत्त्व है। उसे 'जेन-बुद्धिज्म' कहा जाता है। वे जापानी विद्वान् स्वयं बौद्ध-धर्मावलम्बी थे। उन्होंने आचार्य श्री तुलसी से पूछा—ध्यान-साधना भारत की बपौती है, फिर भी आज भारत मे उसकी उपेक्षा क्यो हो रही है? आचार्य श्री ने कहा—आपकी बात सत्य है। किन्तु अब हम इस ओर विशेष ध्यान दे रहे है। इसके बाद ही तेरापथ मे ध्यान-साधना की दिशा मे सजीव और निष्ठायुक्त प्रयत्न होने लगे। इन प्रयत्नो मे युवाचार्य श्री का देय बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इतना ही नहीं, स्वयं आपने इस दिशा मे उल्लेखनीय प्रगति की है।

ऐसे सत्य, समता और सहिष्णुता के समय उपासक मुनिवर अपने कन्धो पर आए हुए उत्तरदायित्व के नए भार का भलीभांति निर्वाह करते हुए अत्यधिक यशस्वी होंगे, इसमे शका नहीं है।

✪

विलक्षण पुरुष

● ○ ● यशपाल जैन
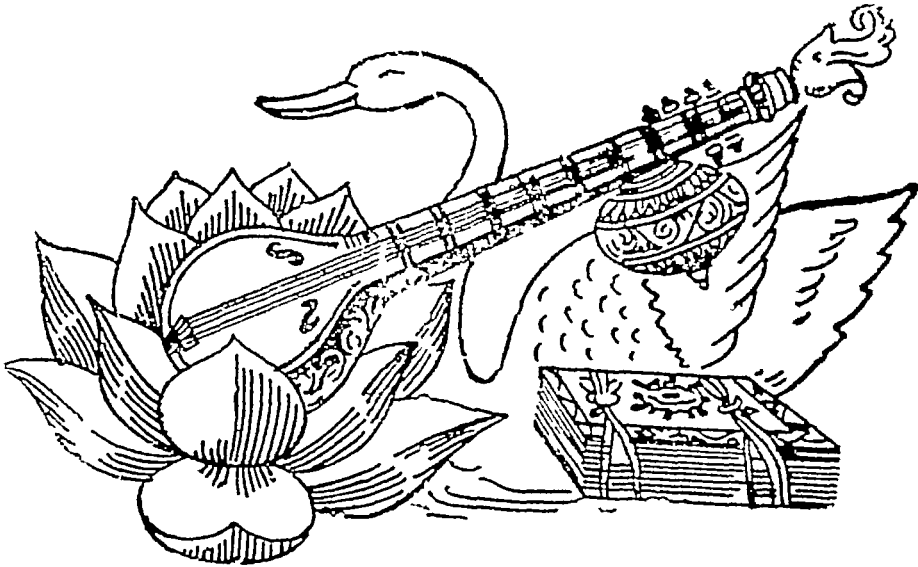
महाप्रज्ञजी का स्मरण करते ही एक आकृति सामने आ खड़ी होती है—दुबला-पतला शरीर, भोला-भाला चेहरा, चमकती आंखें, उन्नत ललाट पर बारीक-बारीक समानान्तर रेखाएं और तन पर लुंगीनुमा श्वेत धोती और श्वेत चादर, वर्ण श्यामल। देखने में कुछ भी असाधारण नहीं लगता। लेकिन मैं क्या, जो भी उनके सम्पर्क में आया है, वह बिना अतिशयोक्ति के कह सकता है कि उनका व्यक्तित्व असामान्य है और उनका कृतित्व भी असामान्य है। उनसे बात कीजिये—लगेगा, अपनी बात कहने का उनका ढङ्ग निराला है और बात ऊपर से नहीं, कहीं गहराई से उठकर आ रही है। उनका भाषण सुनिये, अनुभव होगा, उनका चिन्तन कितना गहन है, भाषा कितनी प्रांजल और वर्णन-शैली कितनी स्पष्ट और तर्क-संगत।

लगभग ३८ वर्ष पूर्व जब आचार्य श्री तुलसी से सम्पर्क हुआ तो किसी ने कहा, "तुलसी महाराज के अंतेवासी युवा मुनियों में एक मुनि हैं नथमलजी। वे बड़े ही दार्शनिक, ज्ञानी, कुशल लेखक और ओजस्वी वक्ता हैं।"

मैंने उन बन्धु की बात सुन ली। उन्होंने जो विशेषण दिये, वे मुझे अच्छे लगे, लेकिन एक विशेषण ने मुझे चौंका दिया और वह था 'दार्शनिक'। अपने जीवन में मैं सरल और शुद्ध व्यक्तियों के प्रति बड़ा आदर-भाव और स्नेह रखता हू, किन्तु दार्शनिकों और तत्ववेत्ताओं के प्रति मुझे आकर्षण नहीं होता। उनका व्यक्तित्व जटिल होता है। वे बुद्धि के सहारे जीते हैं और 'बाल की खाल' निकालते हैं। नथमलजी के साथ जोड़े गये 'दार्शनिक' शब्द ने एक नीरस तथा आत्मकेन्द्रित तत्ववेत्ता का चित्र मेरे मानस पर अंकित किया और मेरे जिज्ञासा-भाव को जाग्रत नहीं होने दिया।

लेकिन आचार्य तुलसी से ज्यों-ज्यों मेरा सम्पर्क बढ़ा, जाने-अनजाने उनके संघ के साधु-सन्तों से भी परिचय होता गया। कई संत अत्यन्त प्रेमल थे, अच्छे लगे, पर नथमलजी से मैं कुछ दूर ही रहा। उनके नाम के साथ एक अरुचिकर शब्द जो लगा था। वे मेरे सामने आते थे, पर उनकी सरलता मुझे कृत्रिम लगती थी, उनकी चाल कुछ विचित्र मालूम होती थी और जब वह मुस्कुराते थे तो उनकी मुस्कराहट स्वाभाविक प्रतीत नहीं होती थी।

पर मेरी यह मनःस्थिति अधिक समय तक नहीं टिकी। कुछ ही दिनों में स्पष्ट हो गया कि मैं नथमलजी को भ्रांति का चश्मा लगा कर देख रहा था। वे उस कोटि के दार्शनिक नहीं थे, जैसा मैंने दार्शनिकों को समझ रखा था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे विद्वान थे, तत्त्वज्ञानी थे, गहन चिन्तक थे, लेकिन उन्होंने तत्त्व को नहीं पकड़ा था, सार को ग्रहण किया था और उसे जीवन के साथ जोड़ा था।

बात यों हुई कि जब-जब मैं आचार्य तुलसी के पास जाता था, वहाँ प्राय नथमलजी होते थे। इसके अतिरिक्त गोष्ठियों और सार्वजनिक सभाओं में उनसे अवश्य बुलवाया जाता था। उनके शब्द मेरे कानों में पड़ते थे। बोलने वाले के प्रति उपेक्षा सी भावना होते हुए भी वे शब्द मुझे अच्छे लगते थे। उनके शब्दों ने मुझे उनकी ओर खींचा। धीरे-धीरे उनसे सम्पर्क बना और बढ़ा। उसीके साथ ही उनके प्रति स्नेह उत्पन्न हुआ और आत्मीयता

विकसित हुई। फिर तो कुछ ऐसा हो गया कि आचार्य तुलसी के पास जाता था तो कुछ-न-कुछ समय उनके साथ अवश्य बिताता था। हम लोग विभिन्न विषयो की चर्चा करते थे, लेकिन उनके विचारो मे मुझे कहीं भी उलझन या अस्पष्टता या दुरूहता दिखाई नही देती थी। वे चिन्तन की गहराई मे जाते थे, किन्तु उतने नही कि उनकी बात 'हवाई' बन जाय। वह आसमान मे कल्पना के किले नहीं बनाते थे, और चू कि उनका तत्वज्ञान जीवन से सम्पृक्त था, उनके पैर धरती से उखड़ने नहीं पाते थे।

उन्हे कई भाषाओ का ज्ञान था, पर उनके प्रयोग की मुख्य भाषाएं हिन्दी और सस्कृत थीं। वस्तुत. सस्कृत पर उनका उतना ही अधिकार था, जितना हिन्दी पर, बल्कि बाद मे तो मैंने यह भी पाया कि वह संस्कृत मे आशु कविता भी कर सकते थे, और करते थे। कई गोष्ठियो और सभाओ मे उन्हें विषय दिये गये और उन्होने झट सस्कृत मे समयानुसार छोटी या लम्बी कविता सुना दी। उनकी ये आशु कविताए चलताऊ नही होती थी, उनमे काव्य होता था और गम्भीर भाव होते थे।

अब तो उनके साथ के सम्बन्धो को कई दशको ने अपनी कसौटी पर कस दिया है। उनसे असख्य बार चर्चाए हुई है, उनके सैकडो भाषण सुने है और उनकी दर्जनो पुस्तकें पढी है। नि सकोच कह सकता हू कि वह एक विलक्षण पुरुष है। उनमे सन्त, चिन्तक, वक्ता और लेखक का अद्भुत समन्वय हुआ है। उनका जीवन आत्म-कल्याण और लोक-मगल के लिए समर्पित है। उनकी रुचि व्यापक है, उनका अध्ययन गहन है, उनके चिन्तन का धरातल विशाल है। मुनि की दैनिक चर्या के साथ-साथ उनका लेखन और प्रवचन निरन्तर चलते रहते है।

उन्होने बहुत से मौलिक साहित्य का सृजन किया है। जैन-योग पर ही उनकी लगभग एक दर्जन पुस्तकें है। अणुव्रत के परिप्रेक्ष्य मे उन्होंने बहुत कुछ लिखा है, कई काव्य-सग्रह है। लेकिन भगवान महावीर की उनकी लिखी जीवनी एक अभूतपूर्व कृति है। यह जीवनी नहीं, भगवान महावीर के जीवन की घटनाओ के आधार पर रचित एक महान उपन्यास है। अपने अध्ययन के मध्य जहाँ-कहीं उन्हें महावीर के सम्बन्ध मे कोई घटना मिली, उसी को सचित करते गये। वर्षो के परिश्रम से उनके पास उन घटनाओ का विपुल सग्रह हो गया। उन्हें एक सूत्र मे पिरोकर उन्होने 'श्रमण महावीर' ग्रन्थ तैयार कर दिया। उसका रूपान्तर अग्रेजी मे भी जिसका प्रकाशन मित्र परिषद, कलकत्ता द्वारा कराया गया है। भगवान महावीर से सम्बन्धित जितना साहित्य आज उपलब्ध है, उसमे मै इस जीवनी को बहुत ऊँचा स्थान देता हू।

मौलिक साहित्य के साथ-साथ उनके द्वारा अनूदित साहित्य का भण्डार भी कम समृद्ध नहीं है। आगमो तथा अन्य पुरातन ग्रन्थो का अनुवाद जैन-वाङ्मय के लिए उनका ऐसा योगदान है, जिसके लिए जैन-समाज ही नही, सम्पूर्ण जैन-विद्या-प्रेमी और आत्मार्थी जगत उनका ऋणी रहेगा।

आचार्य श्री तुलसी ने उन्हें विक्रम सवत २०२२ मे 'निकाय-सचिव' बनाया था, २०३५ मे उन्हें महाप्रज्ञ की उपाधि से अलकृत किया और उसी वर्ष माघ शुक्ला ७ को राजलदेसर (राजस्थान) मे उन्हें 'युवाचार्य-पद' पर आसीन किया। इस पद पर आसीन किये जाने का अर्थ है आचार्य श्री तुलसी का उत्तराधिकारी बनना। आचार्य श्री की इस घोषणा का सर्वत्र हृदय से स्वागत किया गया था और आचार्य श्री के चुनाव पर उनकी भूरि-भूरि प्रशसा की गई थी।

सासारिक दृष्टि से इन उपाधियो का बडा महत्त्व है, और इस अनुपम सिद्धि के लिए युवाचार्य महाप्रज्ञजी का जितना अभिनन्दन किया जा सके, करना ही चाहिए,

लेकिन मेरी मान्यता है कि व्यक्ति के लिए सच्चे, खरे 'इन्सान' से बढ़कर कोई उपाधि हो नहीं सकती। इसी से हमारे धर्म-ग्रन्थों मे कहा गया है कि मनुष्य (खरे मनुष्य) से बढ़कर संसार मे और कोई प्राणी नही है और संसार मे मानव का जन्म (पशु-मानव का नहीं) दुर्लभ है।

मानवता के अधिष्ठान पर खडे युवाचार्य महाप्रज्ञजी का मैं हृदय से वदन करता हू और उनके दीर्घायुष्य के लिए प्रभु से प्रार्थना करता हू। मैं उन्हें उन व्यक्तियो में से मानता हू, जो इस धरा के भार को बढाते नहीं है, हल्का करते है।

नहीं लाया था मनुज कुछ साथ मे
नही लेकर साथ मे कुछ जायगा
पर रहेगा जो अडिग इसानियत पर
वह अमरता का विमल पद पायगा

●

अहंकार से दूर

—प्रो० महावीरसिंह मुड़िया
(उदयपुर-विश्वविद्यालय)

हर व्यक्ति में हर विशेषता नहीं पाई जाती, पर महाप्रज्ञजी में एक से एक बढ़कर विशेषताएं मौजूद हैं। मुझे अनेक बार जैन-विश्व-भारती द्वारा समायोजित जैन-विद्या-परिषद् में भाग लेने के अवसर उपलब्ध हुए हैं। उस समय मैंने देखा है महाप्रज्ञजी की विद्वता को वे किस प्रकार से हर विषय की व्याख्या प्रस्तुत करते थे। जब भी समस्या का समाधान नहीं होता, तब सब विद्वानों का ध्यान महाप्रज्ञजी की ओर चला जाता। महाप्रज्ञ हर प्रश्न को समाहित कर विद्वानो को प्रभावित करते। सन् ७५ में राजस्थान-विश्वविद्याय में महाप्रज्ञजी के जैन-न्याय पर आठ प्रवचन हुए। महाप्रज्ञजी के इन प्रवचनो से बौद्धिक जनता बहुत प्रभावित हुई और सभी ने मुक्त कंठ से महाप्रज्ञजी के वक्तव्य एवं विद्वता की भूरि-भूरि प्रशंसा की। आपके निर्वाचन से धर्मसघ की ही प्रतिष्ठा नहीं बढी है बल्कि यों कहना चाहिए विद्वानो की प्रतिष्ठा बढी है। महाप्रज्ञजी अहंकार से दूर रहकर साधना की ज्योति को प्रज्ज्वलित करते रहे हैं।

✪

— पारस —

रामेश्वरदयाल दुबे : लखनऊ

प्रश्न उठा—
"देखा क्या तुमने वह पारस है
लोहे को छू बना दिया करता जो सोना ?"
प्रश्न उठा
उठ, गूँज रह गया
मुखर शब्द भी मौन हो गये।

कुछ विलम्ब से कहा एक ने—

"पारस तो कल्पना-वस्तु है
कल्प-वृक्ष या चिन्तामणि-सी
पारस का अस्तित्व नहीं है।"
"पारस का अस्तित्व नहीं है?"
हुआ सत्य कुछ जैसे आहत
क्या कवि की कल्पना निराश्रित कभी रही है ?

कुहा-निशा को चीर
पूर्व में
सहसा नव आलोक
उभर आता है जैसे,
उत्तर ने उठ कहा कि—
"मैंने पारस देखा।
वह केवल कल्पना नहीं है
पारस का अस्तित्व
मनुज के दो हाथों में
हाथों की उँगलियाँ
उँगलियों के पोरों में।"
छुआ शक्ति से इन हाथों ने

ज्यों ही हल को
ऊसर में भी शस्य-श्यामला हँस लहराई
मिट्टी के कण उठे
स्वर्ण की राशि बन गई।

और उँगलियों के छूने से
उठी ईंट-पर-ईंट
भव्य प्रासाद बन गये।
पोरों ने छू लिये तार तो
ज्ञान प्रखर विज्ञान बन गया।
पाकर पावन परस
चल पड़ी छेनी खट-खट
पत्थर में भी फूल खिले
अम्लान रहे जो।
तूली ने निज रेखाओं में
गत-आगत को बांध लिया है।
और लेखनी ने
भावों से
क्षर को अक्षर बना दिया है।

अखिल सृष्टि का
इतना वैभव
इतना विभ्रम
'कर-स्पर्श' का
सरल परस का
गौरव-फल है।
क्या अब भी बतलाना होगा
"अरे, परस ही तो पारस है।"

मेरे बाल-सखा

★ मुनि बुद्धमल्ल

सस्मरणों के बादल

महाप्राण युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी ने स० २०३५ के मर्यादा-महोत्सव पर राजलदेसर मे अपने उत्तराधिकारी के रूप मे मुनि श्री नथमलजी को नियुक्त किया। उसी अवसर पर उन्होने उनका नाम भी महाप्रज्ञ कर दिया। उक्त नियुक्ति ने समग्र धर्म-सघ को हर्षोत्फुल्ल बना दिया। मेरे लिए तो वह अतिरिक्त प्रसन्नता का अवसर था, कारण स्पष्ट है। युवाचार्य महाप्रज्ञ मेरे समवयस्क है, इससे भी अधिक वे मेरे बालसखा और सहपाठी रहे है, पिछले अडतालीस वर्षों से मेरा उनके साथ अति निकटता का सम्बन्ध रहा है। मुनि-जीवन के प्रारम्भिक ग्यारह वर्ष तो इतने सामीप्य के रहे है कि अध्ययन और मनन तो एक साथ होता ही था परन्तु शयन और निपदन तक भी बहुधा एक ही कमरे में होता था। समान अवस्था, समान कार्यक्रम और समान रुचि ने हम दोनो को इतना घनिष्ठ सुदृढ बना दिया, कि उन दिनो की स्मृतिया आज भी मन को हर्षातिरेक से भर देती है। राम ने अपने जीवन की प्रारम्भकालीन स्मृतियो मे डुबकी लगाते हुए जो कहा था वही आज मैं भी कहना चाहूगा, उन्होने कहा था—

जीवत्सु तातपादेषु, नवे दार परिग्रहे
मातृभिश्चिन्त्यमानाना ते हि नो दिवसा गताः

अर्थात्—"पिताजी जीवित थे, नया-नया विवाह हुआ था, हमारी हर आवश्यकता की चिन्ता माताजी करती थीं। वे आनन्ददायी दिन अब कहा ?"

युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ के साथ विगत अडतालीस वर्षों से मेरा जो निकट सम्पर्क रहा है, उसके सस्मरणो को लिखने बैठा तो लगा कि मन के आकाश पर बादलो की तरह वे उमड-घुमड कर छाते जा रहे है। उन सब को कागज की धरती पर उतार पाना मेरे लिए सम्भव नही है। उनमे से जितने भी सहज भाव से बरस पडे है, यहाँ की पिपासा को शात करने के लिए पर्याप्त होगे, ऐसा मै मानता हूँ।

बाल-सखा

हम दोनो जन्मना ढूँढाड (तत्कालीन जयपुर-राज्य) के है। मुनि नथमलजी का जन्म टमकोर (विष्णुगढ) मे और मेरा पिलानी के समीपस्थ ग्राम लीखवा मे हुआ। मेरा लालन-पालन एव प्रारम्भिक शिक्षा ननिहाल मे हुई, अत मैं सादुलपुर मे ही रहा और वही का हो गया। मेरा जन्म स० १९७७ आषाढ कृष्णा ३ का है और युवाचार्यजी का आषाढ कृष्णा १३ का। उन्होने तेरापथ के अष्टमाचार्य श्री कालूगणी से सं० १९८७ के माघ मे दीक्षा ग्रहण की और मैंने १९८८ के कार्तिक मे। प्रशिक्षण के लिए हम दोनो मुनि तुलसी (आचार्य तुलसी) को सौपे गये। समवयस्कता के साथ-साथ तभी से हम दोनो साथी और सहपाठी बन गये। यद्यपि उस समय अन्य भी अनेक बाल-साधु थे। परन्तु हम दोनो की पटरी कुछ ऐसी बैठी कि प्राय हर क्रिया और प्रतिक्रिया मे हम एक साथ रहते। हमारे नाम भी प्राय सभी के मुख पर समस्तपद की तरह एक साथ रहते थे। पूज्य कालूगणी हमे "नत्थू-बुद्धू" कह कर पुकारते थे और हमारे अध्यापक मुनि तुलसी "नथमलजी-बुद्धमल जी" कहा करते थे।

हँसने का दंड

वाल-चापल्य के कारण हम दोनो हँसा बहुत करते थे। सकारण तो कोई भी हँस लेता है पर हम अकारण भी हँसते थे। पाठ याद करते समय हम दोनो को कमरे के दानों कोनो मे भीत की ओर मुहँ करके बिठाया जाता था फिर भी झुक-झुक कर हम एक दूसरे की ओर देखते और हँसते। छोटी-मोटी कोई भी घटना या स्थिति हमारे हँसनेका कारण वन जाती थी। हम अभिधान-चिंतामणि-कोश कठस्थ कर रहे थे। मुनि तुलसी के पास वाचन करते समय जब "पेढाल पोट्टिलश्चापि" जैसे विचित्र उच्चारण वाले नाम हमारे सामने आये तो हम दोनो अपनी हँसी रोक नहीं पाये। कठोर अनुशासन पसन्द करने वाले हमारे अध्यापक मुनि तुलसी ने इस उद्‌डता के लिए कई दिनो तक हमारा शिक्षण बन्द रखा। इसी प्रकार मेवाड से आये एक व्यक्ति की फटी-फटी-सी वोली सुनकर भी हम अपनी हँसी नही रोक सके और दण्ड-स्वरूप कई दिनो तक शिक्षण वन्द रहा।

बच गए—

तारानगर की बात है। मैं पानी पीने के लिए गया। उसी समय मुनि नथमलजी भी वहा पहुँच गये। वे मुझे हँसाने का प्रयास करने लगे। बहुत देर तक उन्होने मुझे पानी नहीं पीने दिया। आखिर झल्लाकर मैंने उनको धमकी दी कि मुनि तुलसी के पास मैं आपकी शिकायत कर दूँगा। तब वे रुके और मैं पानी पी सका। उस समय हम दोनो को पता नहीं था कि पास के कमरे से महामना मगनलालजी स्वामी हमारी कारस्तानी देख रहे हैं। सायकालीन भोजन परोसते समय मन्त्री मुनि ने कालूगणी के सम्मुख ही हमसे पूछा कि आज मध्याह्न मे पानी पीते समय तुम दोनो क्या कर रहे थे? हमारी तो भय के मारे मानों घिग्घी ही बँध गई। मन्त्री मुनि ने हँसते हुए हमारी नोक-झोक कालूगणी को सुनाई और कहा—दोनो ही वहुत चचल हैं। आचार्य श्री ने अर्थ-भरी दृष्टि से हमारी ओर देखा और मुस्करा दिये। हम दोनो तब आश्वस्त हो गये कि बच गये।

वडा बनना है या छोटा—

लगता है आचार्यवर ने हमारे हँसने के उस स्वभाव को वदलने के लिए मनोवैज्ञानिक प्रयोग किया। एक दिन हम दोनो उपपात मे वैठे थे तव उन्होने फरमाया—आओ एक सोरठा याद करो। उन्होने सिखाया—

हँसिये ना हुँसियार, हँसियाँ हळकाई हुवै
हँसियाँ दोस हजार, गुण जावै गहलो गिणै

इसी प्रकार एक दूसरे अवसर पर उन्होने यह श्लोक कंठस्थ कराया—

वालसखित्वमकारण हास्यम्
स्त्रीषुविवादमसज्जन सेवा
गर्दभयानमसंस्कृत वाणी
षट्सु नरो लघुतामुपयाति

आचार्यश्री ने हमे शिक्षा देते हुए कहा—"बच्चो के साथ मित्रता, अकारण हास्य, स्त्रियो के साथ विवाद, दुर्जन की सगति, गधे की सवारी और अशुद्ध वाणी इन छह वातो से मनुष्य छोटा वन जाता है।" शिक्षा के बीच मे ही आचार्यश्री ने मुझसे प्रश्न किया—"तुम लोग वडा बनना चाहते हो या छोटा?" हम दोनो ने एक साथ उत्तर दिया—"वडा"। आचार्यश्री ने तव हमारी ओर एक विचित्र दृष्टि से देखते हुए कहा—"वडा वनना चाहते हो तो इन वातो से वचना चाहिए।" सहज भाव से दी गई उक्त शिक्षा हमारे अन्तरग मे उतरती गई और हम शीघ्र ही अकारण हास्य के उस स्वभाव से मुक्त हो गये।

पारस्परिक स्पर्धा—

गहरी मित्रता के साथ-साथ हम दोनो मे स्पर्धा भी चलती रहती थी। खडिया से पट्टी कौन पहले लिखता है, श्लोक कौन शीघ्र याद करता है, आचार्यश्री की सेवा मे

कौन पहले पहुँचता है, मुनि तुलसी का कथन कौन पहले कार्यान्वित करता है—ये हमारी स्पर्धा के विषय हुआ करते थे। कभी-कभी अन्य विषयो मे भी स्पर्धा हो जाया करती थी। सं० १९८९ मे एक बार श्रीडूगरगढ मे कालूगणी की सेवा मे मुनि नथमलजी बैठे थे। आचार्यश्री ने अपने "पुट्ठे" से भर्तृहरि का नीति-शतक निकालकर उन्हे दिया। उन्होने आकर मुझे दिखाया तो मैने भी गुरुदेव से उनकी माग की। एक बार तो उन्होने फरमाया कि पुट्ठे मे एक ही प्रति थी वह दे दी गई, अब हमारे लिए कहा से आये ? इस पर भी मैने अपनी माग को दुहराया तब मुनि चौथमलजी के पुट्ठे से एक दूसरी प्रति निकालकर उसी समय मुझे दी गई।

सं० १९९० मे बीदासर मे आचार्यश्री का प्रवास था। मैं अकेला आचार्यश्री की सेवा मे था। आचार्य श्री ने अपने पुट्ठे से एक कविता-पत्र निकाला और मुझे दिया। मैंने मुनि नथमलजी को दिखलाया तो उन्होने भी उसकी मांग की। दूसरा पत्र उपलब्ध नही था, अत नया लिखवा कर उन्हें दिया गया।

स० १९८९ के सरदारशहर-चातुर्मास मे दीक्षाए हुईं, तब जो वस्त्र आया, उसमे से एक कम्बल को अलग रखते हुए आचार्यश्री ने कहा—"यह नत्थू-तुट्टू को देना है।" किसी मुनि के द्वारा हमे उक्त सूचना तो मिली ही साथ ही यह भी पता चला कि उस कम्बल के एक भाग मे कुछ काले धब्बे है। मध्याह्नकालीन भोजन के पश्चात् कालूगणी ने कम्बल के दो टुकडे किये और हमे देने लगे तब हम दोनो ने ही बिना धब्बे वाले टुकडे की माग की। आचार्य श्री ने हमे समझाने का प्रयास किया कि धोने पर यह धब्बे मिट जायेंगे, परन्तु धब्बे वाला भाग लेने के लिए दोनो मे से कोई भी उद्यत नही था। आखिर आचार्य श्री ने दोनो भागो को अपनी गोद मे दबाया और वस्त्र से ढक दिया। केवल दो छोर ऊपर रखकर हमसे कहा कि एक-एक छोर पकड लो। हम दोनो ठिठके तो सही परन्तु फिर एक-एक छोर पकड लिया। धब्बो वाला भाग मुनि नथमलजी को मिला। वे थोड़े उदास हुए, परन्तु जब दोनो भाग धुलकर पुन हमारे पास आये तब हम पहचान ही नहीं पाये कि धब्बो वाला भाग कौन-सा था ?

मुनि तुलसी अर्थ करते—

स० १९८९ मे हम दोनो अभिधान-चिंतामणिकोश कठस्थ कर रहे थे। आचार्यश्री ने फरमाया—मध्याह्न मे प्रतिदिन एक श्लोक सिन्दूर-प्रकर (सूक्ति-मुक्तावली) का भी याद किया करो। हम वैसा ही करने लगे। कुछ श्लोक कठस्थ हो जाने के पश्चात् हमे आदेश हुआ कि साय प्रतिक्रमण के पश्चात् तुम दोनो श्लोको का गान किया करो और तुलसी अर्थ किया करेगा। बाल्यावस्था के कारण उस समय हमारा स्वर महीन और मधुर था। प्रतिदिन चार श्लोको का गान करते और हमारे अध्यापक मुनि तुलसी उनका अर्थ किया करते।

एक शिकायत—

मुनि तुलसी हमे काफी कडे अनुशासन मे रखते थे। इधर-उधर घूमने की छूट तो देते ही नही थे, परस्पर बात भी नही करने देते थे। हम दोनो ने कालूगणी के पास शिकायत करने का निर्णय किया। रात्रि मे जब आचार्य श्री सोने की तैयारी कर रहे थे तब हम गये और पास जाकर वन्दन किया।

आचार्यश्री ने दोनो के सिर पर हाथ रखते हुए पूछा—"बोलो क्यो आये हो ?"

हम दोनो ने कुछ सकुचाते और कुछ साहस करते हुए कहा—"तुलसीरामजी स्वामी हमे बात भी नही करने देते, बहुत कडाई करते है।"

आचार्य श्री ने पूछा—"यह सब वह तुम्हारी पढाई के लिए ही करता है या अन्य किसी कारण से ?"

हमने कहा—"करते तो पढाई के लिए ही है।"

आचार्यश्री ने फरमाया—"तब फिर क्या शिकायत रह जाती है ? इस विषय में तो वह चाहेगा वैसा ही करेगा। तुम्हारी कोई बात नहीं चलेगी।"

हम दोनो अवाक् थे। न कुछ कह पाये और न उठ कर ही जा पाये। आचार्यश्री ने हमे एक कहानी सुनाते हुए कहा—राजा का पुत्र गुरुकुल मे पढा करता था। अन्य छात्र भी वहाँ पढते थे। कई वर्षो के पश्चात् पढाई सम्पूर्ण हुई। तब आचार्य राजकुमार को राजा के पास ले गये। मार्ग मे राजधानी के बाजार मे उन्होने कुछ गेहू खरीदे और गठरी राजकुमार के सिर पर रख दी। कुछ दूर तक ले चलने के पश्चात् वह गठरी उतरवा दी गई। वे सब राजसभा मे पहुँचे। राजा ने आचार्य से पूछा—"राजकुमार का व्यवहार कैसा रहा ?" आचार्य ने कहा—"बहुत अच्छा, बहुत विनययुक्त"। राजा ने राजकुमार से भी पूछा—"आचार्यजी ने तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार किया ?" सकुचाते हुए राजकुमार ने कहा—"इतने वर्षो तक तो बहुत अच्छा व्यवहार किया परन्तु आज का व्यवहार उससे भिन्न था। आज बाजार मे इन्होने मुझ से भार उठवाया।" राजा ने खिन्न होकर आचार्य से इसका कारण पूछा। आचार्य ने कहा—"यह भी एक पाठ ही था। भावी राजा को यह ज्ञान होना चाहिए कि गरीब का श्रम कितना मूल्यवान होता है।"

आचार्यश्री ने कहानी का उपसहार करते हुए कहा—"अध्यापक तो राजा के पुत्र से भी भार उठवा लेता है, तो फिर तुम्हारी शिकायत कैसे मानी जा सकती है। तुलसी ने तो तुम्हें बात करने से ही रोका है। जाओ, मन लगाकर पढा करो और वह कहे वैसा ही किया करो।"

हम आशा लेकर गये थे, परन्तु निराशा पाकर लौट आये। दूसरे दिन मुनि तुलसी के पास पढने के लिए गये तो मन मे धुकुर-पुकुर मची हुई थी कि कहीं हमारी शिकायत का पता लग गया तो क्या होगा ?

अर्थदान—

मोमासर की बात है—आचार्य श्री कालूगणी ने हम दोनो को एक दोहा कठस्थ कराया—

हरडर गुरुडर गामडर, डर करणी में सार
तुलसी डरे सो ऊबरै, गाफिल खावै मार

आचार्यश्री ने उसका अर्थ भी हमे समझाया। उस समय की समझ के अनुसार हमने उसे पूरा समझ लिया। कुछ समय पश्चात् जब थोडा-सा मिल-बैठने का समय मिला, तब हमने उस दोहे को फिर से स्मरण किया। उसके अर्थ पर भी ध्यान दिया। हमने समझा था कि भगवान्, गुरु, जनता और अपनी क्रियाओं का भय रखना जितना आवश्यक है उतना ही मुनि तुलसी से डरना भी आवश्यक है। इस कार्य मे असावधान व्यक्ति मार खा जाता है। हमारी बाल-सुलभ कल्पना मे उक्त "तुलसी" नाम किसी कवि का न होकर हमारे अध्यापक मुनि तुलसी का ही था। हम समझते थे कि आचार्य कालूगणी हमे बतलाना चाहते है कि तुलसी से डरते रहना ही तुम्हारे लिए श्रेयस्कर है। हमारा वह अर्थदान दोहे के परिप्रेक्ष्य मे चाहे जैसा रहा हो, परन्तु परिपूर्ण आचरणीय होकर हमारे लिए तो नितान्त गुणदायक ही रहा।

अध्ययन के क्षेत्र मे

मुनि तुलसी (आचार्य तुलसी) के पास हमारा अध्ययन नियमित और सुचारु चलता था। उस समय तक सघ मे शिक्षण की कोई निश्चित पद्धति या परपरा नहीं थी। कठस्थ कर लेना ही अध्ययन का प्रमुख अग था। उससे आगे बढने पर व्याकरण की साधनिका कर ली जाती थी। शब्द-सिद्धि के ज्ञान पर इतना बल रहता कि शब्द-प्रयोग की दिशा प्राय: अस्पृष्ट ही रह जाती। हमने अभिधान-चिंतामणि-शब्दकोश कठस्थ कर लेने के पश्चात् समग्र कालु-कौमुदी कठस्थ की और उसकी साधनिका की। कालु-कौमुदी का शिक्षण हमारे लिए बडा अस्त-व्यस्त रहा। कारण

यह था कि उसके निर्माण और हमारे शिक्षण की सम्पन्नता प्राय. साथ ही हुई। इसलिए निर्माण-काल की काट-छाँट का झंझट सदा हमारे शिक्षण को अस्त-व्यस्त करता रहा। आये दिन हमे कंठस्थ किये हुए पाठ छोड देने पडते और उनके स्थान पर नये पाठ कंठस्थ करने पडते।

आज यह वात शायद आश्चर्यजनक ही प्रतीत होगी कि हमने न कभी शब्द-रूपावलि सीखी और न धातु-रूपावलि। यहा तक कि वाक्य बनाने का अभ्यास भी नहीं किया। शब्द-प्रयोग के लिए हमने सर्वप्रथम संस्कृत के पद्य-निर्माण मे ही प्रवेश किया। सस्कृत मे भाषण तथा गद्य-लेखन का अभ्यास तो उसके वाद ही किया गया।

स १९९१ के जोधपुर-चतुर्मास मे हमने राजस्थानी-भाषा मे प्रथम काव्य-रचना की। स १९९४ के बीकानेर-चतुर्मास मे सस्कृत-भाषा मे प्रथम काव्य-रचना की। उसके पश्चात् क्रमशः सस्कृत-भाषण, गद्य-लेखन और आशु-कविता आदि अनेक विकास-क्रमों की ओर हमारे कदम बढते रहे। हम परस्पर एक दूसरे की रचना देखते और उसके गुण-दोषों पर चर्चा करते। इतर विषयो पर भी बहुधा विमर्श करते रहते।

दर्शन-शास्त्र के अध्ययन मे तो हमारा प्रवेश बिल्कुल ही विचित्र प्रकार से हुआ। उसे प्रवेश की सज्ञा देने मे मन हिचकिचाता है। यो कहना चाहिए कि हम अज्ञात जंगल के बीच मे ऐसे स्थान पर खड़े कर दिये गए, जहा से आगे बढने के लिए कोई मार्ग नहीं था। झाडियो को काटते-छाँटते और अज्ञात दिशाओ मे भूलते-भटकते ही हमे बढना पडा। घटना इस प्रकार हुई कि स० १९९४ के बीकानेर-चतुर्मास मे आचार्यश्री तुलसी ने पंडित रघुनन्दनजी के पास रत्नाकरावतारिका-टीका के आधार से प्रमाण-नय-तत्त्वालोक का अध्ययन प्रारम्भ किया। उस चातुर्मास मे आचार्यश्री के सहपाठी मुनि धनराजजी और मुनि चन्दनमलजी भी साथ मे थे। उक्त अध्ययन के प्रारम्भ में वे साथ रहे। कालान्तर मे आचार्यश्री ने उनको पूर्ववत् बहिर्विहार के लिए भेज दिया। आचार्य श्री का अध्ययन यथावत् चालू रहा। परन्तु वे अकेले ही थे। शायद ईश्वर की तरह उनके मन मे भी 'एकोऽह बहुस्याम्' की भावना उत्पन्न हुई। दो परिच्छेदो का अध्ययन हो चुका था। तीसरा परिच्छेद प्रारम्भ करते समय उन्होने हमलोगो को फरमाया कि तुम भी अध्ययन मे साथ बैठा करो। हमने आदेश को तो सहर्ष स्वीकार किया परन्तु हमारे सम्मुख अनेक कठिनाइया थीं। उस समय तक हम दर्शन-शास्त्र की दृष्टि से शून्य-सदृश ही थे। उसका प्राथमिक ज्ञान भी हमारे पास नही था। प्रस्तुत ग्रन्थ भी यदि प्रारभ से पढा जाता तो शायद क्रमश. आगे बढने के कारण हम कुछ समझ भी सकते, परन्तु यहाँ तो कोढ मे यह खुजली भी थी कि प्रथम दो परिच्छेद हम नहीं पढ पाये थे। दर्शन-शास्त्र स्वय एक क्लिष्ट विषय गिना जाता है, फिर रत्नाकरावतारिका की भाषा भी क्लिष्ट है। हमारे लिए तो वह करेला सचमुच ही नीम चढा था। सयोग ही मानना चाहिए कि उस अज्ञात जगल मे मार्ग तय करते हुए जब हम बाहर आये तो अपने को मंजिल के पास ही पाया।

साम्यवाद की पुस्तक—

विभिन्न विषयो की पुस्तकें पढने की अभिरुचि हम दोनो को प्रारम्भ से ही थी। जहाँ जैसा अवसर मिलता हम उसका यथा-सम्भव उपयोग करते रहते। अध्ययन के लिए वर्त्तमान-जैसा वातावरण उस समय नहीं था। हिन्दी की पुस्तकें पढना बहुत उपयोगी तो नही ही माना जाता था, बहुत उचित भी नहीं माना जाता था। यदि पुस्तक साम्यवाद-जैसे विषय की हुई तो वह वर्जनीय-जैसी ही मानी जाती थी। काफी समय पश्चात् उक्त स्थिति मे परिवर्तन आया। उससे पूर्व ऐसे अध्ययन के लिये हमे कई

बार उपालभ का भागी होना पडा।

एक बार आचार्यश्री फतेहपुर के पुस्तकालय-भवन मे विराजमान थे। प्रात कालीन व्याख्यान से पूर्व हम दोनो आचार्यश्री की सेवा मे बैठे थे। मैं पुस्तकालय से साम्य-वाद की एक पुस्तक लाया। मुनि नथमलजी को भी वह बहुत पसन्द आई। हम उसे साथ-साथ ही पढने लगे। आचार्यश्री का ध्यान हमारी ओर गया तो उन्होने पूछ लिया—"क्या पढ रहे हो ?" हमने पुस्तक की प्रशसा करते हुए उसे आचार्यश्री को दिखलाया। उन्होने उसे उलट-पुलट कर देखा। बीच-बीच से कुछ अश पढे।

परिहास के क्षणों में—

समय-समय पर हम दोनो मे परिहास भी चलता था। एक बार मुनि नथमलजी ने किसी विषय पर मुझे कोई सुझाव दिया। मैंने उसे अस्वीकार करते हुए उनका मजाक उडाया कि मैं आपसे आयु मे नौ दिन बडा हू, अत मुझे शिक्षा देने का आपको कोई अधिकार नहीं है। उन्होने भी मुझे उसी लहजे मे तत्काल उत्तर दिया कि तुम नौ दिनो के घमण्ड मे फूले हो, मैं दीक्षा मे तुम्हारे से नौ महीने बडा हू।

एक बार मैंने उनको कोई सुझाव दिया तो उसका मजाक उडाते हुए उन्होने मुझसे कहा—"तुम्हारा तो नाम ही "बुद्धू" है, तुम मुझे क्या सुझाव दे सकते हो ?" मैंने भी "जैसे-को-तैसा' उत्तर देते हुए कहा—"मैं समझदार व्यक्ति के कथन को ही महत्त्व देता हू, "ऐरे गैरे नत्थू खैरे" मेरे विषय मे क्या कहते है, उस पर कभी मैं ध्यान नहीं देता।"

जो आज भी याद है—

आक्षेपात्मक परिहास प्राय कटुता उत्पन्न कर देते है, जबकि गुदगुदाने वाले परिहास तृप्तिदायक होते है। वे बहुधा अपनी स्मृति मे भी वैसी ही तृप्ति प्रदान करते है। मेरे द्वारा किया गया एक परिहास जिसे मैं भूल चुका था, परन्तु युवाचार्यजी को आज भी वह याद है। इसका पता मुझे तब लगा जब युवाचार्य बनने से तीन-चार दिन पूर्व ही बात-चीत के सिलसिले मे उन्होने मुझे उस घटना का स्मरण कराया। उक्त घटना सं० २००१ के ग्रीष्मकाल की है। वे कुछ मास का प्रथम बहिर्विहार करके वापस आये थे। बाईस वर्ष की चढती अवस्था और निश्चिन्त एवं स्वतन्त्र विहरण ने उनके शरीर पर काफी अच्छा प्रभाव डाला। रक्ताभ मुख उनकी स्वस्थता का अग्रिम परिचय दे रहा था। मैंने उनको वन्दन किया और परिहासमय प्राचीन श्लोक का एक चरण सुनाते हुए उसी के माध्यम से उन्हें सुखपृच्छा की। स्थित्यनुकूल सटीक बैठने वाला अपना परिहास सुनकर वे खिलखिला पड़े। अभी-अभी राजलदेसर मे युवाचार्य बनने से पूर्व उन्होने मुझे मेरी परिहास-प्रकृति का स्मरण दिलाते हुए वही चरण गुनगुना कर कहा—"क्या तुम्हें याद है कि तुमने मेरे लिए इसका प्रयोग किया था ?" लगभग पैंतीस वर्ष पूर्व किये गये उस परिहास को याद कर हम दोनो एक बार फिर खिल-खिला कर हँस पडे। साथ के साधु जिज्ञासापूर्वक उस श्लोक के लिए पूछते रहे।

इस पडाव पर—

आचार्य श्री तुलसी ने स० २००० का चातुर्मास करने के लिए मुझे अग्रणी बनाकर श्रीडूगरगढ भेज दिया। उसके पश्चात् धीरे-धीरे मुझे बहिर्विहारी ही बना दिया गया। तभी से हम दोनो के कार्यक्षेत्रो मे पार्थक्य प्रारम्भ हो गया। मुनि श्री नथमलजी को आचार्यश्री के सामीप्य का निरन्तर लाभ प्राप्त होता रहा, मुझे वह नहीं मिल पाया। पैंतीस वर्षो के इस प्रलम्ब बहिर्विहार-काल मे मैंने जीवन की दुर्गम घाटियो के अनेक उतार-चढाव पार किये है। आज जिस पडाव पर खडा हू, वहाँ से पूरे अतीत को बहुत स्पष्टता से देख रहा हू। विगत का पूरा लेखा-जोखा मेरे मस्तिष्क मे अंकित है। उसके पृष्ठ उलटता,

पलटता हूँ तो पाता हूँ कि बाल-सखा मुनि नथमलजी युवाचार्य महाप्रज्ञ बनकर भी आज मेरे वही निकटतम साथी हैं। यात्रा-मार्ग और पड़ावों की दूरियाँ हमारे सम्बन्ध में कोई बाधा उपस्थित नहीं कर पाई हैं।

नया मोड़ आ रहा है—

आचार्यश्री तुलसी ने मुनि नथमलजी को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। चारों ओर वातावरण में एक हर्षोत्फुल्लता छा गई। मैंने एक अतिरिक्त आह्लाद और गौरव का अनुभव किया। दूसरे दिन प्रातः प्रतिलेखन आदि कार्यों से निवृत्त होकर बैठा ही था कि अचानक युवाचार्य मेरे कमरे में प्रविष्ट हुए। मैंने उठकर उनका स्वागत किया और आने का कारण पूछा। उन्होंने कहा—"तुम तो मेरे साथी हो, साथी के लिए आया हूँ।" उन्होंने मेरा हाथ पकड़ा और कहा—"चलो, आचार्यश्री के पास चलें।" मैं उनके साथ गया तो आचार्यश्री ने उस स्थिति पर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए जो कुछ कहा, वह मुझे गद्गद् कर गया। उसी दिन प्रातःकालीन व्याख्यान मे युवाचार्य का अभिनन्दन करते हुए मैंने उक्त घटना का उल्लेख किया तो उत्तर देते समय युवाचार्य ने मेरी बात को छूते हुए कहा—"साथी तो साथी ही रहता है।" मैंने अनुभव किया, संस्मरणों के प्रवाह मे अवरोध नहीं, एक नया मोड़ आ रहा है। ◇

एक दूसरे के पूरक

—सोहनराज कोठारी
(जिला एवं सत्र-न्यायाधीश)

आचार्य की ओज-भरी वाणी व उसमें यदा-कदा फूटनेवाली संगीत-लहरी से आम जनता एवं बुद्धिजीवी समान रूप से भाव-विभोर हो उठते हैं, तो युवाचार्यश्री द्वारा धर्म के गूढ तत्त्वों को थोड़े ग्राह्य शब्दों में सुलझाने की विशेष शैली से बड़े-से-बड़े विज्ञजन मंत्र-मुग्ध हो उठते हैं। एक में आम जनता के हृदय को झकझोरने की अजेय शक्ति है, तो दूसरे में मस्तिष्क को सीधे छूने की प्रज्ञाशक्ति है और ये दोनो शक्तियाँ व्यक्ति को आत्मलक्षी बनाने में अद्भुत प्रेरणा का कार्य करती हैं। एक ने अपनी अपार करुणा से जन-जन का स्नेह प्राप्त किया है, तो दूसरे ने हित-चिन्तन की सतत साधना में जन-गण का सम्मान पाया है, ऐसी स्थिति में दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, ऐसा निश्चित रूप से कहा जा सकता है। दोनों कदम एक साथ नहीं चल सकते। एक पदचाप पर ही दूसरा पदचाप नहीं पड़ता, फिर भी दोनो चरण अलग-अलग रहकर एवं चलकर भी एक साथ ही रहते हैं व उनसे प्रगति की ओर गति प्राप्त होती है।

★ त्रिवेणी-संगम

—कुमारपाल देसाई

(गुजराती के प्रसिद्ध साहित्यकार)

युवाचार्य श्री महाप्रज्ञजी महा मनीषी है। इनके अन्तर मे आत्मभाव की अमृत-वाणी है और परम्परा का गौरव है। अल्पायु मे वैराग्य की भावना का उत्पन्न होना, दस वर्ष की अल्पायु मे दीक्षित होकर साधना के पथ पर चल पडना, कम महत्व का नहीं है। एक अबोध बालक को आचार्य श्री तुलसी ने गढा, उसे भगवान बनाकर सबके सामने प्रस्तुत कर दिया।

मनुष्य जन्म से महान नही होता, कर्म से महान होता है। महाप्रज्ञजी ऐसे ही महान योगी है। वे कर्म से बड़े है। उनकी हर प्रवृत्ति मे कर्म बोलता है। मैंने उन्हें निकट से इतना नहीं देखा, पर साहित्यिक सन्निकटता बहुत रही है। मैंने उनके साहित्य का अध्य-यन किया है। मुझे लगा इनकी वाणी बोलती-वाणी है। उनके साहित्य मे दर्शन की महराई है। भावो का गाभीर्य है। उनके साहित्य मे हर जगह स्याद्वाद के दर्शन होते है।

एक बार महाप्रज्ञजी ने आचार्यश्री तुलसी के पास अपनी भावना व्यक्त करते हुए कहा था—यदि आप मुझे पदवी से मुक्ति दें, तो मुझे प्रज्ञा की साधना करनी है। यह है उनकी पद के प्रति अनाशक्ति। उनको उपाधि की परवाह नही है। वे उपाधि से बहुत दूर चले गये है। वे चेतना की यात्रा पर चले हैं। सत्य की शोध मे चले है। जवाबदारी से मुक्ति मिले तो प्रज्ञा की साधना करनी है। कैसी है इनकी विराट भावना। उज्ज्व-लता पाने के लिए हीरे की आवश्यकता नही, आत्मभाव की आवश्यकता होती है।

आप ज्ञान, दर्शन, चरित्र, इन तीनो के त्रिवेणी-संगम है। ज्ञान-रूपी सरस्वती, दर्शनरूपी यमुना और चरित्ररूपी गंगा का प्रवाह सतत् प्रवाहित होता है। महाप्रज्ञजी अपनी प्रज्ञा की साधना मे सतत् जाग्रत रह कर हमारी प्रज्ञा को जाग्रत करें—यही मेरी कामना है।

●

कथा : एक जोगी की

● कन्हैयालाल फूलफगर

लम्बी तलाश के बाद मिला। तलाश ही रही, कहाँ-से-कहाँ लिए फिरी मुझे। कहीं पढ़ लिया था उसने

सौ सज्जन अरु मित्र लख, मित्र-सुमित्र अनेक
ज्यों देख्यां-ही दुख मिटे, सो लाखन में एक
लाखन को देखी नहीं, कोई नाँहो जोय
अरब-खरब के बीच में, मिल एक या दोय

अरबों की आबादी की धरती में ऐसे एक को, जो सबके बीच सब-जैसा, पर नितान्त अलग-अनुपम हो, तलाश जी-का-जंजाल ही हो सकती है। यहाँ यह भी नहीं है कि मनुष्य की तलाश ने बड़े-से-बड़े जंजाल को स्वयं से बड़ा नहीं माना। उसी मनुष्य की ऐसी ही तलाश की जल रही है मेरी तलाश—

घाट-घाट, गलियों-गलियों, शहर-गाँवों फिरी, बजते चिमटे सुने, बजा भी लिए। धूनियाँ तापी। अकृपा-कृपा से मन भी, जेबें भी भरीं। कुण्डली का योग ही कहें— फिर भी चलती रही मेरी तलाश।

जा पहुँची अक्खड़ स्वभावी—प्रज्ञावती—आचार्य किशोरीदास वाजपेयी तक। इस कृपा से भीगा। भीगा ही अचभरु हो गया दिनकरजी से। चौथाई शताब्दी गुजार दी। "हुंकार" के कवि और "संस्कृति के चार अध्याय" के प्रणेता के मिजाज-विचार और शब्द समझने में। कोई कहे भले, इसे मेरा भटकाव, मेरे अर्थ में, विवशता—अनिवार्यता रही है मेरी भीड़ में विलक्षण देखने की। इस यात्रा में विचार और कर्म से साधु-गृहस्थ जैनेन्द्रजी—भवानी भाई, विमल मित्र की छाहँ में रह लिया। इनकी छाहँ सबके लिए। उनका सब कुछ खुला सबके लिए।

और भी बहुत कुछ देखा। तर्क, स्पर्धा और पण्डिताई के उस दौर में जो न दिखजाए वह भी कम। तर्कशास्त्री देखे, और देखे स्वयंभू-भगवान—और कुछ बढ़ा हो या न बढ़ा हो, मेरे देश में भगवान और अवतार अवश्य बढ़े। कई बार लगा, इस देश को कहीं किसी से कोई खतरा है तो साधुओं-सन्यासियों-अवतारों से, उनके प्रसाद में बँटते मोक्ष से। सदियों भटकाया, उनका "पवित्र" काम आज भी बा-दस्तूर, कहीं गाँजे-सुलफे की चिलम से तो कहीं सम्भोग से समाधि में पहुचाने का काम। उन्हे कोई चिन्ता नहीं, समाज और अखबार उनके बारे में क्या कहते है। वे इतना ही जानते है, भक्त उनके है, दो-चार थकेंगे तो दस-बीस और आएगे।

धर्म और कल्याण के नाम साधुओं, सन्यासियों, जोगियों के आश्रमों के विस्तार-धाम और फलाफल पर यदि कोई सोचने बैठ जाए, तो उसका दुःख और बढ़ जाय। अल्बर्ट आइंस्टीन सापेक्षता के सिद्धान्त की प्रतिस्थापना के पश्चात् भी अपने कर्म में खोये रहे। पर साधु-जोगी तो योग को रामबाण-दवा की तरह बाँट रहे हैं। बाजार की होड़ में वे पिछड़ न जायँ। मनुष्य और धरती का कल्याण उनके सूत्रों-प्रयोगों से अभी तक नहीं हुआ।

इन सब उपायों का पूरब में ही आधिक्य हो, ऐसा नहीं—पश्चिम में भी यह सब बहुत है। फिर पश्चिम में पूर्व के योगियों का भी चलन हो चला है। रथ-यात्रा से लेकर "ध्यान" तक का प्रचार जोरो पर है। पर पश्चिम, एक रूप में पूर्व से थोड़ा भिन्न भी है। वहाँ कभी सतर्क तो कभी अतर्क, उड़ती भी पकड़ ली जाती

है और उसी पर जवरजंग वहम चला दी जाती है। उदाहरण के लिए "दि कमिंग क्राइसिस इन वेस्टर्न सोसियोलोजी" को लिया जा सकता है। इसके अनुसार उन लोगो को जो अनुत्पादक है—किसी भी प्रकार के उत्पादन मे कोई हिस्सा नहीं लेते, समाज उनको क्यो सहन करे—उचित यह रहे कि सहन न करे। अर्थात् वूढे, कार्य-निवृत्त, साधु-सन्यासी, उपदेशक और कवि न रहें, इन्हें समाज खत्म करके हल्का हो जायगा। पूर्व मे हमारे देश मे अभी इस विचार का पसारा अधिक नही हुआ है, अगर होने लगे तो तो यह कि वुद्ध, महावीर, गाधी, विवेकानन्द और आचार्य तुलसी की अव कोई आवश्यकता नही। अव कोई सूर-तुलसी-मीराँ-कालिदास-गालिव-दिनकर के रास्ते चले तो अपनी जाने। साहित्य के स्थान पर तकनीक रहे, मशीनें रहें, मजदूर रहे, वस। सोच के इस वियावान मे कुछ क्षण मेरी स्थिति—

'मेरी रुसवाई का हाल ऐ दावरे महशर न पूछ
मैं भरी महफिल में यह किस्सा सुना नही सकता'

सी हो जाती है। भले आएं और भी ऐसे क्षण, पर "आदमी" पाने की मेरी तलाश कही रुकने वाली नहीं। ठहर-ठहर कर, दु ख-दु ख कर, सोच के साथ आगे वढ ही जाती है। कही तो मिलेगा ही सोच और कम के साम्य का माध्यम एक आदमी। आदमी जिसे विचार को आकार देने की चिन्ता हो, आदमी जिसे विचार के आकार को जीने को चिन्ता हो, आदमी जो अलग होकर भी सव मे खो जाने की चिन्ता मे हो। आदमी जो अपनी वाणी से, अपनी आँखो से, अपने भावानुभवों में आदमियो के समाज को कहता—अनवरत कहता लगे। धरती और मनुष्य का कल्याण पहले अपने भीतर झाँकने मे है, स्वयं-जैसा ही दूसरो को समझने मे है, स्नेह मे है, विनय के व्यवहार मे है।

अपनी तलाश के क्रम मे एक शाम एक मुनि, नितान्त एकान्त मे ध्यान-मग्न। मैं सामने जा वैठता हूँ। मुनि अपने ध्यान मे—ध्यान एक का नहीं, विराट और विस्तार का और मैं एक अकेला अपनी पहचान के भान सहित, दर्शन और सवाद की अभिलाषा लिए, एक प्रकार का अज्ञान जेव मे भरे। सोचा तो सही, मैं यहाँ आया ही क्यो, यह अपने तप मे डूवा हुआ, मैं क्यो विघ्न वना ? पर उठा फिर भी नहीं गया। एक घण्टे वाद तपस्वी आँखें खोलता है। मैं स्वत प्रणाम कर जाता हूँ। मुनि नि शब्द पुन ध्यान-मग्न। मैं अपनी प्रतीक्षा लिए उठ लेता हूँ। यही क्रम दूसरे दिन। ध्यान-मग्न सन्यासी और सामने मैं—एक जिज्ञासु। ध्यान की अवधि शेष होती है। मैं प्रणाम मे झुकता हूँ। मुनि वात करने के मेरे उतावलेपन को भाँप लेते है—उनके चेहरे पर एक ऐसी मुस्कान तिर आती है, मैं वोलने की स्वीकृति मान लेता हूँ। मेरे पास शब्द नही, अर्थ नहीं कि उनकी उस मुस्कान का मर्म समझता हुआ व्याख्या कर जाऊँ—

"महाराज। आप इतना पढते है, कभी सिरमे पीडा नहीं होती ?" उत्तर देने से पूर्व चेहरे पर आई मुस्कान को मैं अपने ही भीतर समझने का यत्न करता हूँ—यह मुस्कान वही तो नहीं जो अब तक उलझाती रही है—एक खूँटे से वाँधती रही है। वाहर आ जाता हूँ, लगता है, यह वह नहीं है। तीस वर्षो से जो देखता आया हूँ, उससे अलग है। उनकी ओर से ठण्डी हवा मुझे वार-वार परसती है। कहीं कोई अहम् नहीं, धर्म और सन्यास की सत्ता का आभास नहीं, वड़ेपन के वोझ को कहीं रखने का भाव नहीं मुझे मेरी तलाश ठहरी-सी लगती है। सन्यासी के प्रति मन मे आदर-भाव जगता है। मेरा अक्खड स्वभाव जाने कहाँ चला गया होता है। मैं तपोमूर्ति का वार-वार सान्निध्य प्राप्त करते रहने का मोह नहीं छोड पाता। इसलिए नहीं छोड पाता कि मुनि को अपनी अनुपमता का भी भान नही। सवके लिए एक भाव, उसके पास जो है, सवका है, लो चुनो, मनमे उतारो।

यह मुनि सम्वत् १९८७ में दस वर्ष का बालक था। दूधिया उम्र में साधु बन गया। कम-से-कम आवश्यकताओं के सहारे जीने-रहने, विकसित होने की कठोर दैनन्दिन आचार-संहिता अपना कर। उस बालक के माता-पिता को बड़ी मिन्नत-मनुहारों के बाद सम्वत् १९७७ में यह पुत्र रूप में प्राप्त हुआ। अन्य सन्तानों की तरह यह भी असमय न छोड़ जाए। नाक छेद कर नथमल बनाए गए बालक को रखना था फिर भी नहीं था। स्वयं ने तो घर त्यागा ही। माँ और बहनों ने भी त्याग दिया। उनको फिर किस मोह की खातिर घर-संसार में रहना था? पिता पहले ही चल दिए। इस घर को [illegible] के साथ ही नया जीवन-क्रम प्रारम्भ।

सानिध्य—जैन-दर्शन के ही नहीं, भारतीय चिन्तन-धारा के सर्वोच्च शिखर आचार्य तुलसी का। निरी सादी और नितान्त कठोर दिनचर्या में पाली, संस्कृत, हिन्दी और राजस्थानी का सर्वांग अध्ययन, अनवरत चिंतन, विचार-विमर्श, नये नये अर्वाचीन-प्राचीन का मूल्यांकन-सम्पादन-क्रम चलता रहा, चाह जगती रही, तब भी यह आलम—

"हर एक को दावा है कि हम भी हैं कुछ चीज
और मुझे यह फख्र है कि कुछ भी नहीं हूँ मैं"

श्वेत वस्त्र-धारी साधु, मुनि नथमल हो गए। पढ़ा, सोचा, देखा, अनुभव किया, व्यक्ति का, समाज का और पूरे देश का और वह भी पद-यात्री के रूप में। देश के हर छोर का आचार-विचार अपने अन्तर में उतार कर स्वयं को सबल बनाते गए मुनि नथमल—कि उन्हें क्या करना है और क्या कहना है। जो कुछ मिला, सुनने से, पढ़ने से और देखने से सब-कुछ को अपने भीतर समो लिया और छान-छान कर बाहर रखते गए। उन्होंने जो भी बाहर रखा, इसे साहित्य-मनीषी आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने व भारतीय संस्कृति के उद्भट अध्येता डा० सम्पूर्णानन्द ने देखा, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन ने देखा और राष्ट्र-कवि दिनकर ने देख-देख कर कहा—

"हम विवेकानन्द के समय में नहीं थे। हमने उनको नहीं देखा, उनके विषय में पढ़ा-मात्र है। आप हमारे समक्ष हैं। आप आज के विवेकानन्द हैं। आपको पाकर हम गौरवान्वित हैं। आपकी तीक्ष्ण और ठेठ तक पहुँचने वाली बुद्धि से हम परिचित हैं।"

प्रशंसा और यश के विपुल धन से निरे विमोहित मुनि अपनी साधना में लगे रहे। वे साधु हैं पर जीवन की समस्याओं पर बोलते हैं, दिशा-संकेत देते हैं। दुविधाओं और संशयों से मुक्त होने का रास्ता बताते हैं। मैंने सुना है, जो सुना है, उसके साथ चलने का यत्न किया है, तब-तब स्वयं को चिन्ता में, दुविधा से मुक्त पाया है। चिन्ता और दुविधा से मुक्त होने के मुनिश्री से प्राप्त क्षण, यदि स्थापित्व लेते चले जायें, इस तरह यदि श्रोता-समाज उन क्षणों की काल-गणना का एक नया नाम देता चला जाय तो विश्व-बन्धुत्व, मनुष्य-मनुष्य का भाईचारा ही तो स्थापित होगा। इससे बड़ा कल्याण इस धरती का, इस समाज का क्या होगा।

६० की आयु में बालक, युवा और वृद्ध मुनि नथमल तीनों अवस्थाएं एक साथ जीते चले आ रहे हैं। एकान्त चिन्तन, प्रेक्षा-ध्यान, प्रवचन के नियमित कार्य के साथ अंग्रेजी, हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत का अध्ययन, जैन-दर्शन का मनन, सम्पादन। इस अनवरत-चर्या का ही परिणाम कि मुनिश्री एक-सौ से अधिक पुस्तकें लिख चुके हैं। आपकी विद्वता और साहित्य का सार्थक उपयोग करने में न विश्व-विद्यालय पीछे रहे और न ही बड़े-बड़े प्रकाशक। राजस्थान-विश्वविद्यालय ने "जैन-न्याय का विकास" का आपका ग्रन्थ प्रकाशित किया तो भारतीय-ज्ञानपीठ ने अनेक ग्रन्थ प्रकाशित कर भारतीय साहित्य की श्रीवृद्धि की।

मुनि श्री नथमल के चिन्तन और सृजन की दृष्टि पर

कथा-मनीषी जैनेन्द्रकुमार ने सहज भाव से कहा—

"मुनिजी अगाव ज्ञानी है । उनका ज्ञान उनके जीवन मे घुल गया है । विवेक उन पर वोझ नही है ।"

दर्शन, विवेचन, तर्क और विवेक को मानवीय सवेदन के साथ ग्रहण करने वाले मुनि ने ओजस्वी वक्ता के रूप मे अपने ज्ञान को इतना सहज बनाकर व्यक्त किया है कि ग्राहक को ग्रहण करने मे कठिनाई न हो, उसे बोझ न लगे। ऐसी भव्य मूर्ति के दर्शन का अवसर मुझे लाडनूँ (राजस्थान) मे मिला। लाडनूँ राजस्थान का एक छोटा-सा कस्बा है, अगाघ ज्ञानी और सत-प्रमुख आचार्य तुलसी की जन्मभूमि, मेरी पवित्र पैतृक धरती। आज के लाडनूँ का एक छोर शिशुपाल की चन्देरी नगरी तक भो पहुँचा दिया गया है। लाडनूँ, देश मे ही नहीं, विदेशो तक मे प्रसिद्ध हो गया, अपनी सम्पदा के कारण, अपने कामो के कारण, जैन-विश्वभारती के कारण। वैचारिक-सास्कृतिक और दार्शनिक गतिविधियो का छोटा-सा पर अनूठा केन्द्र। इसी धरती पर सन् १६५० मे ध्यानावस्था मे मैंने इस प्रज्ञा-धनी के दर्शन किए।

उनका दर्शन और सान्निध्य मेरे कार्यक्रम का अग बनता चला गया। सन् १६६८। मद्रास—अणुव्रत के प्रवर्तक और सामाजिक नव-निर्माण के लिए संकल्पित-समर्पित सत, आचार्य तुलसी का चातुर्मास-प्रवास। मुनि नथमलजी भी साथ। इस उद्भट विद्वान ने सहज भाव से कहा—

"कन्नू। ये गद्य-पद्य है, इन्हें छाँट लो, तरतीब दे दो और नामकरण भी कर देना।"

मैं चकित। साहित्यकारो के साथ रहते-रहते बोलने तो लग गया था, बोलना कडवा भी होता था, पर इतने बडे विद्वान ने अपनी रचनायें छाँटने का, शीर्षक और क्रम देने का काम मुझ-जैसे अक्खड को कैसे दे दिया ? मेरे सोच को इतना ही उत्तर मिल पाया—कुछ सोच कर ही सौपा होगा यह दायित्व। मैं भी इस लोभ से लग गया कि ऐसे दायित्व के साथ रचनायें पढने का अवसर मिला। मुनि दुलहराज ने मेरे काम को बहुत सहज बनाया। अध्ययन के पश्चात् मैंने दोनो पुस्तको के "बन्दी शब्द मुक्त भाव (गद्य), गूँजते स्वर बहरे कान (पद्य) नाम रखें। दोनो शीर्षक आचार्यप्रवर और मुनिश्री को भी सार्थक लगे। मेरा आग्रह भी रहा कि मेरे क्रम और काट-छाँट को मुनिश्री स्वय एक बार देख लें पर—"तुम मेरी समझ को अच्छी तरह समझते हो—के उत्तर ने मुझे आश्वस्त कर दिया।"

इस तरह के अवसर जब-तब लेता ही रहा। महानगरीय व्यस्तता भी कभी आडे नही आई। साथ भी ऐसा रहा, जो सहायक बना रहा ऐसे सान्निध्य को प्राप्त करने मे किसी बहाने लाडनूँ, राजस्थान, दिल्ली, कश्मीर या फिर और कही, जहाँ भी जाना होता, वह रास्ता-ब-रास्ता मुनिश्री के प्रवास मे से ही गुजरता। अक्सर इधर की ऐसी यात्राओ मे अभिन्न बन्धु श्रीचन्दजी नाहटा भी साथ रहते। उनके साहित्य से मेरे इस तरह के अगुली पर जुडाव को भी मुनिश्री लिखितरूप मे व्यक्त करने से नही चूकते। जबकि इस तरह के अवसर के बहाने मैं तो शब्द से होते अनुपम सृजन को देखता। समझने का यत्न करता। मुझे कहना चाहिए कि मैंने मुनि नथमलजी के साहित्य से ही शब्द के मर्म और उसके सृजन के महत्त्व को समझा।

मैं जब भी उनके सामने होता, मेरी जिज्ञासा अनेकानेक रूपो मे उनके सामने सविनय फैल जाती। मैंने बिना-हिचक मुनिश्री से पूछ लिया—"महाराज, मेरी मृत्यु हो जाय और शोक-सभा आयोजित हो तो आप मेरे बारे मे क्या कहेगे ?"

पूछने के बाद अवश्य लगा कि यह मैंने क्या पूछ लिया ? इतना बडा ज्ञानी और मैं ससारी—और सिर्फ

जिज्ञासु, मुनिश्री को कुछ असहज नहीं लगा। वही बात मुद्रा। वही अमृत वाणी, बोले—

"तुमने राजा भोज-जैसी बात कहदी।" मैं प्रश्नात्मक हो गया। वे मुस्कराकर बोलने लगे—राजा भोज ने कालिदास से प्रश्न किया, मेरी मृत्यु के बाद तुम मेरे बारे में क्या बोलोगे? कालिदास ने प्रश्न को टालने की गरज से कहा—मरने के बाद पता चल जाएगा, अभी कैसे बता दूँ? कालिदास के कोरे उत्तर पर राजा अपने रंग में आ गया। पर कालिदास भी अपनी बात पर अड़े रहे। परिणाम-स्वरूप राजा भोज ने अपने प्रिय कवि को देश से निकल जाने का दण्ड सुना दिया।

दण्ड सुना तो दिया पर राजा के मन में अपने कवि से अपनी मृत्यु के बाद के विचार सुनने की लालसा बनी रही। लालसा व्यक्ति को दर-दर तक फिराती रहती है। राजा भोज वेश बदल कर वहाँ जा पहुँचे जहाँ कालिदास पर्ण-कुटी बनाकर रहने लगे थे। कुशल-क्षेम के साथ परिचय आगे बढ़ा। कवि ने पूछा, कहाँ के रहने वाले हो? बटोही वेश में बैठे राजा ने उत्तर दिया—धार नगरी का। 'धार' शब्द के साथ ही कवि के मन में सारा अतीत चंचल हो उठा। उतावलेपन में पूछा—राजा भोज कैसे हैं? बटोही ने उत्तर दिया—वे तो स्वर्ग सिधार गये। कवि सुनते ही द्रवित हो गया। आघात पिघल कर कविता के रूप में बह निकला—

"अद्य धारा निराधारा निरालम्बा सरस्वती
पण्डिता मण्डिता सर्वे भोजराजे दिवंगते"

मुनिश्री ने मेरे प्रश्नायित चेहरे को पढ़ लिया था, बिना रुके अर्थ खोल दिया—राजा भोज के स्वर्गवास से धार (धारा) आधारहीन हो गई है। अब सरस्वती को किसी का सहारा नहीं रहा। पण्डित, विद्वान और साहित्यकार अनाथ हो गए हैं।

दोहा सुनकर बटोही-वेश में राजा भोज मुस्कराए। इस मुस्कान से ही कवि ने जान लिया कि राजा भोज ही मेरे सामने बैठे हुए है। मेरे मुहँ से मृत्यु के बाद की मेरी प्रतिक्रिया जानने ही, वेश बदल कर आए है। कुशल शब्द-कर्मी ने अविलम्ब अपने श्लोक को बदलकर सुना दिया—

"अद्य धारा सदा धारा सदालम्बा सरस्वती
पण्डिता मण्डिता सर्वे: भोज राजे विराजते"

पूर्ववत् भाव के साथ मुनि ने इसका अर्थ भी खोल दिया—राजा भोज धरती पर है, धारा-नगरी को श्रेष्ठ आधार उनका ही है। सरस्वती को उत्तम सहारा मिला हुआ है। पण्डित, ज्ञानी और साहित्यकार सभी स्वय को सनाथ अनुभव करते है।

मैने कहानी सुनी, मुनिश्री ने कहानी मे मेरे प्रश्न की वास्तविकता को खोल दिया। प्रसंग भले पुराना रहा हो, बात आज भी सही है। लोग जीते जी और मृत्यु के बाद भी एक ओर से ही नही, सभी से अपनी प्रशसा ही सुनने को उत्सुक रहते है। प्रशंसा की भूख भी तो तृप्ति चाहती है। बड़े-बड़े ज्ञानी-ध्यानी भी इससे नही बच पाते। फिर मुझसा ससारी, स्पर्धा को देखता भले उसमे शामिल न हो पाऊँ—कैसे बच जाए। मुनि ने तो कहानी भी कह दी और बचने का सकेत भी दे दिया।

दसवें वर्ष से प्रारम्भ हुई तपस्या साठ तक आते-आते एक अनूठा व्यक्तित्व बनती गई। इसे समाज ने देखा, देश ने देखा और सूक्ष्मावलोकन किया आचार्य तुलसी ने। आचार्य को सोचना था, विश्लेषण करना था, निर्णय करना था कि १८-२० घण्टे तक ध्यान मे निमग्न यह मुनि किसके लिए डूबता है, क्यो डूबता है, इसका अर्थ है व्यक्ति, समाज, देश ही नहीं, विश्वके विवेकशील प्राणी की—मनुष्य के सन्दर्भ मे नए रचाव की प्रक्रिया। नए जीवन की प्रक्रिया के माध्यम, इस मुनि को एक और दायित्व दिया जाय।

३ फरवरी सन् १९७९, राजलदेसर (राजस्थान) का छोटा-सा कस्बा। आचार्य तुलसी द्वारा अपने उत्तरा-

धिकारी की घोषणा। मुनि नथमल आचार्य होगे। घोषणा के साथ ही मुनि नथमल युवाचार्य के रूपमे प्रतिष्ठित हुए। भक्तो, श्रावको और जिज्ञासुओ मे आनन्द।

मुनि नथमल फिर भी निर्लिप्त। अपने गुरु के विनम्र शिष्य। उनके द्वारा आलेखित अणुव्रतो की जीवन-चर्या के पोषक, विस्तारक। जैन-दर्शन की व्यापक और समय-परक व्याख्या के लिए समर्पित साधु नथमल, प्रज्ञा-जीवी 'महाप्रज्ञ' नाम से स्वीकृत हुए।

एषणा और आकाक्षा से परे रहने के अभ्यस्त मुनि महाप्रज्ञ, मनुष्य-जीवन के संशय और उलझने खोलते जा रहे है। यह तो ग्राहक पर है कि वह अपने लिए ही नहीं समष्टि के लिए सूत्र-सकेतो को ग्रहण करता चला जाय।

मुनि महाप्रज्ञ के शब्दो मे जीवन के सत्य का निर्मल सागर है। उनकी वाणी मे अमृत है। मैं भीगा हूँ, चाहता हूँ भीगता रहूँ। और इस तरह सार्थक जीवन का मैं भी एक अंश बनूँ। मैं अपनी राम-कहानी बन्द करता हूँ। शायर 'नश्तर' की जुबाँ मे—

"जो सैयाद ने पूछा क्या चाहते हो"?
'कफस' कह गया आशियाँ कहते-कहते
जहाँ दास्ताँ-गौ का रुकना सितम था
वहीं रुक गया दास्ताँ कहते-कहते।

✪

गौरव-पुरुष

—मोतीलाल एच० राँका
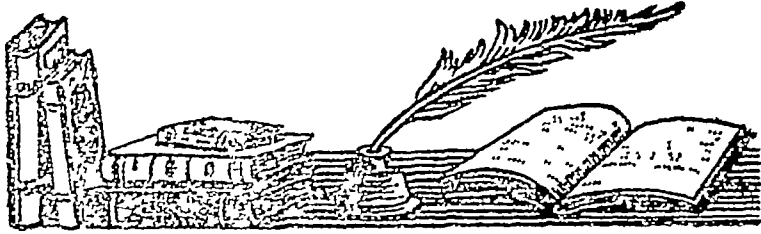
जैन आगमो मे जैसा विवेचित है, धर्माचार्य विवेच्य पञ्च परमेष्ठीवृन्द मे तृतीय-पदासीन व श्रमण-पुंगव है जो पुरुषोत्तमोत्तम तीर्थंकर-देव द्वारा प्रवर्तित धर्म-तीर्थ के, उनके सिद्धत्व-प्राप्ति के बाद, सचालन के उत्तरदायी होते है। गणि, धर्म-नायक, धर्मानुशास्ता ये सब सम्बोधन धर्माचार्य के ही पर्यायवाची सम्बोधन है। परमेष्ठी-तत्त्व मे इसीलिए धर्माचार्य भी हमारे लिये अर्हन्त और सिद्ध की भाँति सदा नमस्करणीय रहे है और रहेगे। धर्म-शासन का सचालन करते हुए लोक-कल्याण के जिस पथ को वे प्रशस्त करते है, धर्म का एक नैसर्गिक आलोक सर्व-सामान्य को उनसे प्राप्त होता है। धर्म-तीर्थ की प्रभावना करने वाले वे आचार्य "तिन्नाणं, तारयाणं" के प्रतीक के रूप मे हमारे लिये अभिवन्दनीय है, अभिनन्दनीय है।

महामहिम आचार्य श्री तुलसी भी उसी श्रेणी के एक लब्ध-प्रतिष्ठ धर्माचार्य है जिनका कि सान्निध्य सौभाग्य से आज हमे प्राप्त है। जैन-शासन की तेरापंथ-शाखा के वे नवम आचार्य है।

तेरापथ के आद्य संस्थापक आचार्य भिक्षु थे जिन्होने जैन-प्ररूपणाओ के जिन सत्यो एवं तथ्यो को अनावरित किया, उद्घाटित किया, कहना अत्युक्ति नही होगी कि उस युग के वे एक अप्रतिम धर्म-पुरुष थे। सैद्धान्तिक स्पष्टता के हामी होने के साथ-साथ, जो दूसरी उपलब्धि उनसे धर्मशासन को मिली, वह थी धर्म-संघ की मर्यादा-परकता एव अनुशासन-बद्धता। उन्होने यह कहा कि धर्म-सघ मे विशुद्धि तब तक ही रह सकेगी जब तक कि वह आचार्यों द्वारा निर्धारित मर्यादाओ का अनुगामी रहेगा। उसी मर्यादावली का यह सूत्र था—

(अ) धर्म-सघ मे सर्वोपरि स्थान आचार्य का होगा।

(ब) सारा धर्म-सघ उनकी अनुशासना मे अपनी संयमचर्या का निर्वाह करेगा।

(स) धर्माचार्य जिसे अपना उत्तराधिकार प्रदान करेंगे वह सर्वमान्य होगा।

उनके उत्तरवर्ती आचार्यो व श्रमण-श्रमणी-समुदाय द्वारा उक्त क्रम का न केवल निर्वाह ही किया गया बल्कि उन मर्यादा-सूत्रो को आगे-से-आगे इस प्रकार सम्पोषण प्रदान किया जाता रहा कि, आज दो शताब्दी से अधिक की अवधि के बाद भी, धर्म-सघ का अनुशासन-पक्ष उसी प्रकार अक्षुण्ण एवं सन्नद्ध रहता चला आ रहा है। धर्म-संघ की एक सूत्रता बनाये रखने के लिये, जो सूत्र उन्होने उस युग मे दिये, वे कितने दूर-दर्शिता पूर्ण थे कि हमारे धर्म-सघ मे इस प्रश्न को लेकर कभी कोई विवाद उपस्थित होने की स्थिति तक नही आ पायी। आज भी उसका वही महत्त्व समग्र सघ द्वारा उसी भाँति अंकन किया जा रहा है, यह एक गौरव का विषय है।

महामहिम आचार्यश्री तुलसी का शासन-काल अनेक दृष्टियो से अत्यन्त ज्वलन्त रहा है। "अणुव्रत"-जैसे नैतिक एव जन-कल्याणकारी अभियान को प्रारम्भ कर, आपने एक धर्म-सम्प्रदाय विशेष की पृष्ठ-भूमि से असाम्प्रदायिक स्वर को मुखरित किया है। भारत के कतिपय अञ्चलो का परिव्रजन कर, इस स्वर को जन-जन तक पहुँचाने का जो विशेष प्रयत्न आपका रहा, उससे सारा राष्ट्र आज आपसे प्रभावित है। धर्म-शासन मे जो नानाविध आयाम आप

द्वारा संस्थापित हुए, उनसे धर्म-शासन भी प्रगति की दिशा मे काफी आगे बढा है। साधु-साध्वी-समुदाय मे विद्याध्ययन के स्वावलम्बी क्रम का आपके निर्देशन मे जिस भाति विकास हुआ है, आज अनेको साधु-साध्वी न केवल जैन-दर्शन के ही, बल्कि जैनेतर-दर्शनो के उत्कृष्ट वेत्ता एवं व्याख्याता के रूप मे तेरापथ-धर्म-शासन मे उपलब्ध हैं जिनके द्वारा देश के समग्र अञ्चलो मे भगवान महावीर की वाणी को सर्व-सामान्य तक प्रसारित किया जा रहा है। अनुशासनबद्ध इस धर्म-शासन की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि आज यह धर्म-सघ, संयम-साधना, शिक्षा व संगठन के क्षेत्र मे युग-प्रवाह से अप्रभावित एव श्रद्धालुओ की आस्था एवं श्रद्धा का बराबर केन्द्र बना हुआ है।

गण या शासन एक संघबद्ध-व्यवस्था का केन्द्र है। उसकी प्रत्येक व्यवस्था को सुदृढ व सुडौल बनाये रखने का दायित्व धर्माचार्य का होता है। अपने इस दायित्व का निर्वहन करते हुए इस वर्ष—मर्यादा-महोत्सव के पुण्य अवसर मे—परमाराध्य आचार्यश्री तुलसीने मुनि-प्रवर श्री नथमलजी को अपना उत्तराधिकारी घोषित करके, इस अनिवार्य प्रश्न का सर्वमान्य समाधान प्रस्तुत कर दिया। यथेष्ट समय पर लिये गये यथेष्ट निर्णय से सारे धर्म-संघ मे एक उल्लास की लहर प्रवाहित हो गयी।

श्रमण-प्रवर श्री नथमलजी जिनको कि महामना आचार्य प्रवर ने अब "युवाचार्य महाप्रज्ञ" के नामकरण से अभिहित किया है, हमारे धर्मशासन के उन मेधावी श्रमण-पुगवो मे से है कि जिनकी श्रुत एव चारित्रोपसना का जैसा सुदीर्घ एव स्वस्थ क्रम रहा है, कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि अपनी इस अनवरत साधना के परिणामस्वरूप आपका जो विकास, चारित्र एवं श्रुत के क्षेत्र मे हुआ, वे एक प्रातिभ श्रुत-सेवी के रूप मे न केवल तेरापथ-समुदाय के ही, अपितु समग्र विद्वज्जगत मे जिन्होने एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया है। आचार्य प्रवर के निर्देशन मे आगम-सम्पादन-जैसी उत्कृष्ट शोध एवं अन्वेषण-कार्य को सम्पादित कर भ० महावीर की वाणी की युगीन-परिवेश मे प्रस्तुति का जो भगीरथ प्रयत्न महाप्रज्ञ ने किया है, उससे धर्म-शासन की उत्कृष्ट सेवा का एक नया कीर्तिमान आपने स्थापित किया है। इतना ही नहीं, जिनकी लेखनी व स्वर-लहरी से आज तक जो अभिव्यक्त एवं मुखरित होता रहा, उससे अनेको नये तथ्य अनावरित हुए है। सहस्रो पृष्ठों के साहित्य का सर्जन कर दर्शन व ज्ञान की जो धारा महाप्रज्ञ द्वारा प्रवाहित की गई, उसमे हर तत्त्व-रुचिक लाभान्वित हुआ है। उस स्रोतस्विनी मे जो भी एक बार अवगाहन कर गया, उसने अपने को आलोकित अनुभव किया, अध्यात्म का दिशा-बोध उसे मिला, यह असदिग्ध रूप से कहा जा सकता है। स्व-पर दर्शन के अत्युच्च वेत्ता होने का आभास आपके साहित्य से सहज मिलता है। जैनागमों के आधार पर, एक भाष्यकार के रूप मे तेरापथ-दर्शन का जो तल-स्पर्शी निरूपण स-संदर्भ आप द्वारा किया गया, उससे बौद्धिक जगत मे आचार्यश्री भिक्षु के विचार-दर्शन की सैद्धान्तिक गरिमा का व्यापक बोध हुआ है, जो कि आज की युगीन आवश्यकता थी। सतत-श्रुत सेवा के साथ-साथ, भौतिकता की चकाचौध मे दिग्भ्रमित आज के लोक-मानस को बहिर्मुख से अन्तर्मुख बनने के लिये अपने समृद्ध चारित्रिक बल, के आधार पर योग एव ध्यान के क्षेत्र मे जो नया उन्मेष "प्रेक्षा-ध्यान" के रूप मे आपसे प्राप्त हो पाया है, उससे सर्व-सामान्य के जीवन मे अध्यात्म का अवतरण एवं आत्म-शान्ति मिल सकती है, एक नयी दिशा का अनुसन्धान आपने किया है। आपका व्यक्तित्व कितना समुज्ज्वल एवं कर्तृत्व-पक्ष कितना उदित है, इसका सहज सम्बोध आपकी इन परमार्थ-परक विधाओं से सहज हो जाता है। हमारा धर्म-शासन वस्तुत ऐसे श्रमण-पुगव को पाकर गौरवान्वित है।

प्रकृति से ऋजु एव शालीन, अपने आराध्य के धर्मगुरु

के प्रति अत्यन्त श्रद्धावनत, समर्पित एव संयम-साधना में हर क्षण जागरूक रहने वाले महाप्रज्ञजी ने अपनी श्रुत एवं चारित्र-प्रज्ञा को विकसित कर जिस श्रेष्ठत्व को प्राप्त किया, इससे बढ़कर उसका और क्या विशिष्ट प्रमाण होगा कि महामहिम आचार्य-प्रवर द्वारा विगत वर्ष मे "महाप्रज्ञ" सम्बोधन से जो अलंकृत किये गये और इस वर्ष मर्यादा-महोत्सव के पुण्य प्रसग मे जिन्हें अपना उत्तराधिकारी भी घोषित कर दिया गया। धम-शासन के अभ्युत्थान एवं सम्पोषण की क्षमताओ एवं योग्यताओ का पूर्वाभास पाकर, संघ-संवहन का जो गुरुत्तर भार आपको मिला है, कितना सुन्दर एव यथेष्ट सुयोग इसे कहा जाय कि पद की गरिमा के अनुरूप जिस प्रकार के कर्तृत्वशील व्यक्तित्व की अपेक्षा थी, ठीक उसी के अनुरूप यह मनोनयन हुआ है, ऐसा धर्म-संघ के हर आबाल-वृद्ध सदस्य ने न केवल अनुभव ही किया है, बल्कि उसे एक सर्वानुमत स्वीकरण भी प्रदान किया। अपने धर्म-शासन की इसे हम महान उपलब्धि मानते है कि एक सामान्य मुनि जो प्रव्रज्या-ग्रहण के समय एक बिन्दु-वत थे, अपनी साधना को उत्तरोत्तर विकसित करते हुए आज सिन्धु बन गये, श्रमण से श्रमण-संघ के प्रमुख बन गये।

महामहिम आचार्य-प्रवर शतायु हो, और उनकी पुनीत सन्निधि को पाकर हमारे मनोनीत युवाचार्यश्री अपनी उन सब क्षमताओ को विकसित कर पायें, जिनकी कि इस महान उत्तरदायित्व के निर्वहन के लिए अपेक्षा है। जीवन-शोधन के लिए "अणुव्रत", अध्यात्म से एक लय होने हेतु 'प्रेक्षाध्यान' एवं ज्ञान-ऊर्जा को विकसित करने के लिए अध्ययन-अध्यापन के जो आयाम हमारे धर्म-संघ मे स्थापित हैं, वे सब हमारे परमाराध्य आचार्य प्रवर एवं युवाचार्यश्री के धर्म-नेतृत्व में अधिकाधिक विकसित हो, जन-कल्याण के स्रोत बनें एवं हमारा जीवन-पथ सदा आलोकित होता रहे, ऐसी हम आशा करते हैं। युवाचार्यश्री का व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व और अधिक प्रशस्त हो, इसी विनम्र भावना के साथ

★

एकलव्य का तेजस्व : महाप्रज्ञ

• हर्षचन्द्र
सम्पादक कथा-लोक

महाप्रज्ञ मूर्धन्य दार्शनिक है—तत्त्व और दर्शन पर जिनके अनेकानेक महाग्रन्थ है। महाप्रज्ञ प्रकाण्ड पण्डित है—हिन्दी, सस्कृत और प्राकृत पर जिनका आधिपत्य है, आशुकवि हैं, आगम, काव्य और साहित्य के गहन अध्येता है। महाप्रज्ञ अध्यात्म-योगी हैं—प्रेक्षाध्यान के द्वारा जिन्होने सैकडो भोग-लिप्सुओं को अन्तर्मुखी बनाया है। महाप्रज्ञ की दार्शनिकता, पाण्डित्य और योगसाधना विश्व विश्रुत है, सहस्रो और लाखो व्यक्ति उनसे सहज प्रभावित और अभिभूत है।

प्रज्ञा का महापुरुष, श्रद्धा और विश्वास का पारमार्थिक पुरुष भी है। निश्चित ही उनके जीवन की परम-सिद्धि का यह अलौकिक चमत्कार है। श्रद्धा और अन्धविश्वास अज्ञान के साथ पनपते और टिकते है, महाप्रज्ञ की समर्पित आस्था उसको झुठलाती है। विश्वास, अन्धा ही होता है। महाप्रज्ञ की प्रखर मनीषा विश्वास की अन्धता को दूर कर उसे अटूटता व दृढता से जोडती है।

कुछ वर्ष पूर्व का एक उदाहरण। महाश्रमणी के पद पर प्रतिष्ठा होने वाली थी। वातावरण में एक विचित्र-सा ऊहापोह। निश्चित कुछ नहीं, अनधिकृत तौर पर इस-उस की चर्चा थी। न उम्मीदवारी का अधिकार, न राय-सुझाव-निवेदन का कोई मूल्य। तेरापथ-धर्म-संघ के आचार्य का यह पूर्णाधिकार है कि वह अपनी मनीषा से चाहे जिसको सघ का भावी आचार्य घोषित करे और चाहे जिसे साध्वी-प्रमुखा-श्रमणी, प्रवर्तिनी बनाये। साध्वी-प्रमुखा का पद कुछ समय से रिक्त था, समय की रिक्तता ने लोक-मानस को ऊहापोह और इस-उस की चर्चा से भर दिया था। चर्चा नकारात्मक अधिक थी, सकारात्मक कम। किसी एक के नाम का समर्थन और विरोध ही मुख्य था।

जिस नाम का विरोध था, उस विरोध के साथ महाप्रज्ञ (तत्कालीन नाम—मुनिश्री नथमलजी) के प्रिय सहयोगियों-अनुगामियो के नाम भी जुडे हुए थे। उनके अनुगामियों को उस विरोध के साथ इतनी प्रखरता से जोडा हुआ था कि दो-टूक पारगामी निर्णय तक कर जाने की बात थी। महाप्रज्ञ से विरोध की अपेक्षा तो दूर, कल्पना भी नहीं की जा सकी थी।

महाप्रज्ञ का अथाह और निर्विकल्प समर्पण चाहे उनका सब कुछ स्वाहा हो जाये, सारे साथी बिछुड जायें, लेकिन आचार्यश्री के प्रति समर्पण मे अणुमात्र भी विचलितता नहीं। आचार्यश्री जो सोचते है, जो करते है, उसी की पूर्ति और उसी का भाष्य महाप्रज्ञ करते रहे है, किसी विपरीत दृष्टि का उदय तक उनमे नही होता।

महाभारत-काल के एकलव्य की गुरुनिष्ठा आज सहस्रो वर्ष बाद भी उदाहरण है। द्रोणाचार्य से एकलव्य ने सीखा कुछ भी नहीं, द्रोणाचार्य ने ही शिक्षा देने से इन्कार किया था, पर एकलव्य की निष्ठा सम्पूर्ण थी, उसने द्रोणाचार्य की मिट्टी की मूर्ति बनाकर उसी की साक्षी से धनुर्विद्या मे पारगतता प्राप्त की। उसी प्रवीणता को खण्डित करने के लिये द्रोणाचार्य ने उससे दायें हाथ का अंगूठा गुरुदक्षिणामे माग लिया और एकलव्य ने बिना कुछ सोचे तत्काल अंगूठा काटकर उनको समर्पित कर दिया।

महाप्रज्ञ केवल साधक नहीं है, प्रज्ञावान भी है। ज्ञानी भक्त नहीं होता, भक्त ज्ञानी नहीं होता, कर्मकुशलता तो विरला ज्ञानी अथवा भक्त ही प्राप्त कर पाता है। ज्ञान, भक्ति और कर्म का अलौकिक समन्वय, महाप्रज्ञ के जीवन मे गीता-रहस्य बनकर पूर्णत उजागार हुआ है। एकलव्य जिस गुरुनिष्ठा का प्रतीक है, महाप्रज्ञ के रूप मे आज एकलव्य ने भी वर्चस्व और तेजस्व प्राप्त किया है। ●

मुनि नथमल विदा : युवाचार्य महाप्रज्ञ स्वागत !

—डॉ० मूलचन्द सेठिया

मुनि नथमल 'महाप्रज्ञ' हो गए। फिर सुना कि वे युवाचार्य महाप्रज्ञ घोषित कर दिए गए। महाप्रज्ञ का अभिनन्दन, युवाचार्य महाप्रज्ञ का शत्-शत् अभिनन्दन। 'हावू' को 'महाप्रज्ञ' बनाने वाले आचार्यश्री तुलसी के कृतित्व का सर्वोत्तम निदर्शन है, यह प्रलम्ब-काय, प्रशस्त भाल और स्थित-प्रज्ञ मुनि जिसकी साधना और कृतित्व के सामने आज भारत का धार्मिक और आध्यात्मिक जगत् प्रणत है। उन्होंने ही 'मुनि' और 'नथमल' दोनों को ही निरस्त कर युवाचार्य महाप्रज्ञ को हमारे सामने प्रस्तुत कर दिया। युवाचार्य मे लक्ष-लक्ष तेरापंथ अनुयायियों ने अपने भावी संघ-पति का साक्षात्कार किया है, उनकी जयध्वनि से दिग्दिगन्त गुंजायमान है, पर मैं क्या करूँ ? मेरे मन मे बसे हुए है मुनि नथमल। पैंतीस वर्ष से वे मेरी आस्था के अवलम्ब और पूजा के प्रतीक रहे है, उनके चरणो मे बैठकर अपने जीवन के उद्वेलित क्षणो मे आश्वासन और समाधान पाया है। उनकी महत्ता से अनभिज्ञ नहीं होते हुए भी उनके सान्निध्य मे कभी अपनी लघुता का अनुभव नहीं किया, बल्कि अपनी अल्पता को भी उनकी विराटता के पार्श्व मे लज्जित नही, कुछ गौरवान्वित ही पाया। मेरी दृष्टि मे वे ज्ञानी नहीं साक्षात् ज्ञान है, उनका सान्निध्य पाकर जैसे शकाए स्वत समाधान पा जाती है और भटकते हुए प्रश्न उत्तर के अपेक्षी नहीं रह जाते। परन्तु 'महाप्रज्ञ' जैसे मेरे और मुनि नथमल के बीच एक अन्तराय बन गया है, शब्द महिमामय है और सार्थक भी है, परन्तु उन्हें एक अलभ्य दूरी और एक अस्पृश्य ऊंचाई पर खड़ा कर देता है और उनके प्रभामण्डल के सम्मुख मेरी बुद्धि चकित-सी, भ्रमित-सी रह जाती है। सियाराम-शरण गुप्त ने कभी मेरी ही भावना को मुखरित करने के लिए ये दो पंक्तियाँ लिखी थी ·

तुम गौरव-गिरि उत्तुंग काय !
पद-पूजन का भी क्या उपाय ?

आचार्यश्री तुलसी कहते है कि मुनि नथमल नही, तो नहीं सही, परन्तु 'युवाचार्य महाप्रज्ञ' को अपने मन मे प्रतिष्ठित करने के पूर्व चित्रपट को धो-पोछकर साफ करना पडेगा। पैंतीस वर्ष के संस्कार धुलते-धुलते धुलेंगे, युवाचार्य महाप्रज्ञ के प्रति भावात्मक तादात्म्य होते-होते ही होगा। आचार्यश्री की आज्ञा शिरोधार्य, युवाचार्य महाप्रज्ञ की 'जय', पर आज तो मुनि नथमल के स्मरण की अनुमति चाहता हूँ। आचार्य प्रवर की आकाशी उदारता मुझे निराश नही करेगी। उन्होंने तो मुनि नथमल से पहले कई और भी सम्बोधन सुने होगे। मुनि नथमल के परमाराध्य गुरुवर आचार्य कालूगणी आपको सहज स्नेहवश वल्कल-चीरी, बगू, हावू, शभू, आदि कई नामो से पुकारा करते थे। महाश्रमणी, साध्वी-प्रमुखा श्री कनकप्रभा ने 'कालूयशोविलास' की टिप्पणियो मे वस्तुसत्य को आदर के आच्छादन मे लपेट कर रखा है। "ग्रामीण परिवेश और सरल स्वभाव के कारण उनका रहन-सहन, संभाषण आदि प्रवृत्तियाँ अन्य मुनियो से असाधारण भिन्न थीं।" मैं सहज ही कल्पना कर सकता हूँ कि नव-दीक्षित मुनि नथमल खासे अटपटे जीव रहे होगे, जिन्हें रेत के टीलो मे मुहँ छिपा कर बसे हुए अपने टमकोर-कस्बे मे दस वर्ष तक हवा-ए-वक्त का एक झोका भी नहीं लगा होगा। एक

वार कलकत्ता गए तो वहाँ दूकानो की चकाचौध देखकर खडे-के-खडे रह गए। उनके साथ वाले आगे निकल गए और मुडकर देखा तो नत्थू कहाँ ? वे पुलिस मे खोए हुए वालक की रिपोर्ट दर्ज कराने गए और खोया हुआ वालक अपनी सहज वुद्धि (जो वाद मे 'महाप्रज्ञ' वन गई) के सहारे घर चला आया। इस सहज वुद्धि के साथ स्पष्ट-वादिता का गुण भी वाल्यकाल मे ही उभर आया था। कालूगणी से उन्होने अपने साथ अपनी माँ के लिए भी भगवती का वरदान माँगा था। कालूगणी ने जव कहा कि तुम्हारी माँ की आयु अधिक है तो उन्हें यह कहने मे कोई संकोच नही हुआ 'जो मुझे दीक्षा देगा, उसे मेरी माँ को भी देनी होगी।' अवढरदानी गुरु ने जव दुहरा वरदान दे डाला और पुत्र ने जाकर माँ से कहा 'मैं दोनो की दीक्षा का आदेश ले आया हूँ, तो माँ को सहसा विश्वास नही हुआ। कालूगणी की दिव्य दृष्टि ने अपने इस 'हारू' मे छिपे हुए महाप्रज्ञ को देख लिया था और शायद इस लिए उन्हें अपने विश्वस्त शिष्य तुलसी की पाठशाला मे भर्ती कर दिया। मुनि नथमल को वल्कल-चीरी कहना भी सहज सार्थक हो गया, क्योकि जिस प्रकार इस सरलभावी तापस ने आगे चलकर अपने पिता सोमचन्द्र और भाई प्रसन्नचन्द्र को आत्म-वोध प्रदान किया, उसी प्रकार मुनि नथमलजी भी अपनी माता वालूजी को भेद-विज्ञान का उपदेश देकर उनके समाधि-मरण मे सहायक हुए। महिमा-मयी साध्वी वालूजी ने देह और आत्मा की भिन्नता की धारणा को इतना आत्मसात् कर लिया कि कठ मे कैन्सर-जैसी भयकर व्याधि होने पर भी वे यही मानती रहीं कि रोग तो उनकी देह मे है, आत्मा सर्वथा निरुज और निर्मल है। मातृ-ऋण से मुक्त होकर, मुनि नथमल नहीं, युवाचार्य महाप्रज्ञ अव गुरु-ऋण की अदायगी मे लगे हुए है। पर, यह अनन्त ऋण है और अन्तिम श्वास तक उन्हें इसे चुकाते ही जाना है।

आचार्य तुलसी की पाठशाला मे मुनि नथमल 'पाषाण' से 'देव-प्रतिमा' वने। गुरु की वदान्यता और शिष्य की पात्रता ने मिलकर एक वौद्धिक चमत्कार की सृष्टि कर डाली। तुलसी के रूप मे उन्हें एक शिक्षक ही नहीं मिला, एक ऐसा अनन्य आराध्य प्राप्त हो गया जिसको उन्होने अपना सव-कुछ दे डाला, यहाँ तक कि अपने अपनत्व को भी वचाकर नहीं रखा। ऐसा अभेद आराधन, ऐसा सर्वात्म समर्पण कदाचित ही कहीं घटित होता है। वे तुलसी की ही आँखो से देखने लगे, उनके ही कानो से सुनने लगे। इस अनन्य ऐकात्म्य का ही यह परिणाम फलित हुआ कि मुनि नथमल ने आचार्य तुलसी की 'दृष्टि' को एक 'दर्शन' बना डाला। आचार्य तुलसी की वाणी को केवल अपने कानों से सुना ही नहीं, जैसे अपने रोम-रोम से पी डाला। उनका सन्देश उनके प्रत्येक रक्त-कण मे समा गया और आज वे स्वयं आचार्य तुलसी की वाणी वोलने लगे है। आचार्य तुलसी ने कितने मनो-योग, कितनी तल्लीनता और एकाग्रता से इस मूर्ति को सँवारा होगा और आज उनके मुख से दर्शन और अध्यात्म के जटिल-से-जटिल तत्त्व को सहज-सरल रूप मे उद्गीर्ण होते देखकर उन्हें कितनी अपूर्व आत्मतुष्टि का अनुभव होता होगा। हम तो कभी उस 'पत्थर' को देखते है और कभी उस मूर्तिकार को देखते हैं और दोनो के प्रति हमारा मस्तक वन्दन की मुद्रा मे प्रणत हो जाता है।

युवाचार्य महाप्रज्ञ ने दस वर्ष की अल्पायु मे सन्यास ग्रहण किया। वे अढाई महीने के ही थे कि उनके पिता-श्री का स्वर्गवास हो गया। भरे-पूरे संयुक्त परिवार ने इनको भले ही अनाथ होने का अनुभव नहीं होने दिया हो, पर पिता का अभाव कहीं-न-कहीं कसकता अवश्य रहा होगा। फिर, संयोग ने उन्हें मिला दिया छवीलजी स्वामी से, जो स्वयं मूर्तिमन्त वैराग्य थे और उनके शुभ साहचर्य से नयमल मुनि, अध्येता, ग्रन्थ-प्रणेता, साधक,

योगी, और कवि की विभिन्न भूमिकाओ पर आरोहण करते हुए आज महाप्रज्ञ बन गए। उनका, विगत अर्द्ध शताब्दी का जीवन निरन्तर ज्ञानाराधना और साधना का जीवन रहा है। एक क्षण भी कभी उन्होने प्रमाद मे नहीं खोया। आपका व्यक्तित्व एक ऐसा साधनारत व्यक्तित्व, एक ऐसा तप पूत व्यक्तित्व रहा है, जिसका क्षण-क्षण मे नव-नव विकास होता रहा है। आचार्य तुलसी का यह 'शिष्य' स्वयं सम्बुद्ध होकर आज लक्ष-लक्ष साधको को अध्यात्म और प्रेक्षाध्यान का सम्बोधन दे रहा है। उन्होने कण-कण कर जो ज्ञान संजोया, उसका आज तिल-तिल वितरण कर रहे है। वह ज्ञान उनको गरिष्ठ नही हुआ, वह उनके व्यक्तित्व मे इस प्रकार रच-पच गया है कि ज्ञाता और ज्ञान मे कोई पार्थक्य ही नहीं रह गया। उनका जीवन तो ज्ञानमय है ही, उनका ज्ञान भी जीवन्त है। जब ज्ञान को जिया नहीं जाता, नव-नव प्रयोगो के द्वारा उसमे नई उद्भावना नही की जाती, तो ज्ञान भी जड और रूढ हो जाता है। परन्तु 'महाप्रज्ञ' ने ज्ञान को ज्ञान के लिए नहीं, जीवन-साधना और आत्मोपलब्धि के एक साधन के रूप मे ही स्वीकार किया है।

'महाप्रज्ञ' ने ज्ञान को उसकी परिपूर्णता और समग्रता मे स्वीकार किया है। वे साहित्य के विद्यार्थी ही नहीं, सर्जक भी है। हिन्दी, संस्कृत और प्राकृत मे उनकी काव्य-रचना उत्कृष्ट कोटि की है। दर्शन के मूलग्रन्थो का उन्होने गहन अध्ययन ही नही किया, उन पर तलस्पर्शी चिन्तन भी किया है। न्याय के सम्बन्ध मे उनकी विद्वता का चमत्कार उन भाषणो मे प्रकट हुआ, जो उन्होने सन् १९७५ मे राजस्थान-विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान मे दिए थे। डा० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय व डा० दयाकिशन जैसे विद्वान् उस भाषणमाला को सुनकर विस्मय-विमुग्ध रह गए थे। महावीर महायोगी थे परन्तु कालान्तर मे जैन-परम्परा मे तप को अधिक महत्त्व दिया गया और योग उपेक्षित रह गया। महाप्रज्ञ ने विभिन्न जैनागमो में से योग के सन्दर्भो को खोजकर, उन्हें व्यवस्थित किया और अपने साधनात्मक अनुभवो के आधार पर एक ऐसी ध्यान-प्रणाली का अवतरण किया, जो अन्तत अयोग की ओर अग्रसर करती है। दर्शन के क्षेत्र मे 'जैन-दर्शन · मनन और मीमासा', न्याय के क्षेत्र मे 'जैन-न्याय' और योग के क्षेत्र मे 'जैन-योग' आपके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इनमे पूर्वोपलब्ध ज्ञानराशि का संकलन ही नहीं, एक नई और मौलिक दृष्टि का सन्निवेश भी है। 'मन के जीते-जीत', 'चेतना का ऊर्ध्वारोहण' और 'महावीर की साधना का रहस्य' अध्यात्म के क्षेत्र मे जीवन-प्रयोग के आधार पर उपलब्ध अन्त सत्यो के आकर-ग्रन्थ है। प्रेक्षा-ध्यान-शिविरो को सम्बोधित कर दिए जाने वाले प्रवचन श्रोताओ का ज्ञान-वर्द्धन ही नही करते, उनकी अन्त प्रज्ञा का भी अनावरण करते है, जिससे वे स्वय सत्य का साक्षात्कार करने की ओर अग्रसर होते है। मुनि नथमलजी की इस सर्वांगीण साधना, बहुक्षेत्र-व्यापी ज्ञानाराधना और विविध-विषयक साहित्य-सर्जना से भी अधिक सत्य के प्रति उनकी निराग्रही, मौलिक एवं तलस्पर्शिनी दृष्टि ने ही उन्हे 'महाप्रज्ञ' के रूप मे प्रतिष्ठित किया है।

आपका विचारात्मक साहित्य अनुभूति के प्राण-स्पर्श से जीवंत हो उठा है तो आपके काव्य का मेरुदण्ड भी विचार पर आधारित होने के कारण सीधा खडा हुआ है। आपका काव्य, जीवन-साधना के क्रम मे सहज अनुभूत होने वाली भाव-कणिकाओ का संकलन है। आपने स्वय लिखा है—कविता मेरे जीवन का प्रधान विषय नहीं है। मैंने इसे सहचरी का गौरव नहीं दिया। मुझे इससे अनुचरी का-सा समर्पण मिला है। आपने अपने काव्य के माध्यम से उस सहजानन्द को व्यक्त किया है, जो मानस की परतो के नीचे सोया हुआ रहता है, परन्तु साधना के सम्पर्क से कभी-कभी सहजरूप मे व्यक्त हो उठता है।

सभी कविताओं के मूल मे समतामूलक जीवन-दृष्टि रही है। उस समत्व-बुद्धि से प्रेरित होकर ही कवि यह कह सका है—

कोंपल और कुल्हाड़ी को भी
साथ लिए तुम चल सकते हो

मनीषी कवि की दृष्टि 'मैं' और 'तुम' की संकीर्ण सीमाओं का अतिक्रमण कर, मानवीय अस्तित्व की चरम और परम सार्थकता पर केन्द्रित है। इस चरमानुभूति के अन्तराल से भावयुक्त विचार, विचारयुक्त भावनाओं के हीरक-कण यदाकदा झाक उठते है और उनकी चमक हमे सहसा मंत्रमुग्ध कर लेती है—

फूल को चाहिए
कि वह कली को
स्थान दे
कली को चाहिए कि
वह फूल को सम्मान दे
पतझड को रोका नही जा सकता
कोंपल को टोका नहीं जा सकता।

साहित्य, दर्शन, काव्य, न्याय, योग और अध्यात्म के क्षेत्र मे इतना वृहत् और व्यापक योगदान मुनि नथमल को सहज ही महाप्रज्ञ के रूप मे प्रतिष्ठित कर देता है। मुनि नथमल के नाम के प्रति मेरा मोह सहज छूटने वाला नहीं है; परन्तु मोह तो अन्तत मोह ही है, अत त्याज्य है। आचार्यश्री तुलसी को गुरु माना है तो उनकी आज्ञा को भी अवश्य मान्य करना है। मुनि नथमल विदा। युवाचार्य महाप्रज्ञ स्वागत। आपके रूप मे अब मैं एक महामनीषी और सत्य-शोधक को ही नहीं, अपने भावी आचार्य को भी देख रहा हू। महाभाग है वह संघ, जिसे ऐसा महान् क्रान्तद्रष्टा गणपति प्राप्त होगा, आचार्य तुलसी ने तेरापंथ की जो महन्-से-महन् सेवाएं प्रदान की हैं, उनकी माला मे यह नये संघपति का मनोनयन 'सुमेरु' बन गया है। उनकी सूझबूझ की बलिहारी। राजलदेसर की मानव-मेदिनी के सम्मुख आचार्यश्री तुलसी की इस उद्घोषणा ने तेरापंथ के भावी विकास का नया क्षितिज खोल दिया है।

परन्तु, मेरा मन कहता है कि युवाचार्य महाप्रज्ञ विद्वान, तत्त्ववेत्ता, ग्रन्थप्रणेता, कवि, गण-व्यवस्थापक और अनुशासक होने से पूर्व एक आत्म-साधक ही रहेंगे। उनके कर्तृत्व की स्फूर्ति उन्हें आत्म-साधना से ही प्राप्त होगी और उनका अनुशासन भी 'आत्म' को आधार मानकर अध्यात्म की ओर ही अग्रसर होगा। टमकोर का 'हानू' और आज के युवाचार्य और कल के आचार्य महाप्रज्ञ के जीवन की विभिन्न भूमिकाओ मे आत्म-साधना के द्वारा आत्मोपलब्धि की कामना ही अखण्ड रूप से व्याप्त है। वह आत्म-साधक ही है और आत्म-साधक ही रहेंगे, परन्तु उनकी साधना का सम्बल पाकर कोटि-कोटि जन अपनी साधना को उत्तरोत्तर अग्रसर कर सकेंगे।

✪

आदर्श सन्त

—उदयचन्द्र जैन
(प्राध्यापक : बनारस-हिन्दू-विश्वविद्यालय)

युवाचार्य महाप्रज्ञ एक आदर्श सन्त है। अणुव्रत-अनुशास्ता आचार्य तुलसी के पट्ट-शिष्य होने के कारण वे उच्चकोटि के दार्शनिक चिन्तक और लेखक भी है। आचार्य तुलसी ने तेरापथ-सघ के भावी आचार्य के रूप मे उन्हें युवाचार्य-पद पर प्रतिष्ठित करके बहुत ही उत्तम कार्य किया है। पहले जिनका नाम मुनि नथमल के रूप मे प्रसिद्ध था, अब उन्हें महाप्रज्ञ के रूप मे सम्बोधित किया जाता है। महाप्रज्ञ नाम से ही यह प्रतिभासित होता है कि वे महा प्रज्ञा के धनी हैं। उनकी प्रतिभा चतुर्मुखी है। दस वर्ष की अवस्था मे दीक्षित हो जाना उनके व्यक्तित्व की एक असाधारण बात है। दीक्षित होने के अनन्तर कुछ ही वर्षो मे आपने अनेक उच्चकोटि के ग्रन्थो का गूढ अध्ययन करके अपनी महा प्रज्ञा का परिचय दिया तथा प्राकृत, सस्कृत, हिन्दी आदि भाषाओ पर पूर्ण पाण्डित्य प्राप्त कर लिया।

यद्यपि आचार्य तुलसी और युवाचार्य महाप्रज्ञ के दर्शन, श्रवण आदि का आज तक मुझे सुअवसर प्राप्त नही हो सका, फिर भी मैं उक्त आचार्यो के व्यक्तित्व और कृतित्व से बहुत ही प्रभावित हू। कुछ वर्षो से जैन-विश्व-भारती लाडनूं से परोक्ष-सम्बन्ध होने के कारण 'तुलसी-प्रज्ञा' नामक पत्रिका को प्राप्त करने तथा पढने का अवसर मुझे मिल रहा है। यथार्थ मे इस पत्रिका द्वारा ही मै मुनि नथमलजी के चिन्तन, मनन और लेखन के विषय मे परिचय प्राप्त कर सका हूँ। आपके चिन्तनपूर्ण लेख, हिन्दी और अग्रेजी दोनो ही भाषाओ मे प्रकाशित होते रहते है। इन लेखो मे युवाचार्य महाप्रज्ञ की गम्भीर विद्वता प्रतिभासित होती है।

युवाचार्य महाप्रज्ञ के द्वारा लिखित तथा प्रकाशित विशाल साहित्य उपलब्ध है—(१) जैन-दर्शन मनन और मीमासा (२) चेतना का ऊर्ध्वारोहण (३) जैन-न्याय का विकास (४) जैन-योग (५) प्रेक्षाध्यान (६) श्रमण-सस्कृति की दो धाराएँ जैन और बौद्ध (७) शान्ति और समन्वय का पथ नयवाद (८) अणुव्रत-दर्शन (९) नैतिकता का गुरुत्वाकर्षण (१०) लाइफ एण्ड फिलोसोफी, आदि उच्चकोटि के दार्शनिक, धार्मिक, नैतिक और आध्यात्मिक साहित्य का सर्जन आपके द्वारा हुआ है। इन सब ग्रन्थो मे आपका मौलिक चिन्तन स्पष्ट झलकता है।

मौलिक चिन्तन और लेखन के अतिरिक्त आप जैन-आगमो के श्रेष्ठ व्याख्याकार है। आपने अनेक जैन-आगमो का सुन्दर ढग से सम्पादन और विवेचन किया है। आप सस्कृत-भाषा के आशुकवि भी है। योग-साधना मे तो आपकी गहरी रुचि है। यही कारण है कि आपके दिशा-निर्देशन मे 'तुलसी-अध्यात्म-नीडम्' द्वारा अनेक प्रेक्षाध्यान-शिविर लगाये जा चुके है। कुछ समय पहले मई १९७९ मे 'अणुव्रत-विहार, नई दिल्ली' मे दशम प्रेक्षाध्यान-शिविर आयोजित किया था। इस प्रकार आपने विस्मृत जैन-ध्यान-पद्धति को पुनरुज्जीवित करके प्रेक्षाध्यान के रूप मे साधना-जगत् तो बहुत ही महत्त्वपूर्ण देन प्रदान की है। इतना ही नहीं, आपने योग-विषयक अनेक ग्रन्थ भी लिखे है।

हर्ष की बात है कि आचार्य तुलसी ने मुनि नथमल

को समग्र दृष्टि से आचार्य-पद के योग्य समझ कर ही युवाचार्य-पद पर प्रतिष्ठित किया है और महाप्रज्ञ-अभिधान प्रदान किया है। इस मे सन्देह नही है कि आचार्य तुलसी के बाद आप तेरापथ-सघ के सम्मान्य आचार्य होगे और अपने पूर्ववर्ती आचार्यो के पद-चिह्नो पर चलकर आत्म-कल्याण के साथ-साथ समाज तथा देश के धार्मिक और नैतिक उत्थान म पूर्ण योगदान करेंगे। श्रीमज्जिनेन्द्रदेव से प्रार्थना है कि आचार्य तुलसी और युवाचार्य महाप्रज्ञ दोनो ही शतायु होकर चिरकाल तक हम लोगो का मार्गदर्शन करते रहे।

क्रान्तिकारी विचारक

—देवीलाल सामर
निदेशक : लोककला-मण्डल, उदयपुर

एक दिन वार्तालाप के बीच आचार्य-प्रवर ने महाप्रज्ञजी को कला का अध्ययन करने को कहा। जैन-दर्शन म कला की क्या उपयोगिता है? आचार्यश्री ने आदेश दिया—तुम लोक-कला-मण्डल नियमित अध्ययन करने जाया करो। महाप्रज्ञजी ने आचार्य-प्रवर के आदेश को शिरोधार्य किया और वे जाने लगे। महाप्रज्ञजी अपनी जिज्ञासाएं प्रस्तुत करते, मैं उनका समाधान करने की कोशिश करता। महाप्रज्ञजी के उर्वर चिन्तन के सामने मैं नत था। मैंने एक दिन महाप्रज्ञजी से कहा—आप प्रश्न मुझे दे दें, कल समाधान करूगा क्योकि मेरा अहं बोल रहा था। जैसे-तैसे दस दिन तो मैने पार किये और ग्यारहवें दिन मेरी पोल खुल गई। मैं आचार्य-प्रवर के पास पहुंचा और निवेदन किया—आपने मेरी यह परीक्षा क्यों ली? आज से मैं महाप्रज्ञजी का शिष्य हूँ, वे मेरे गुरु हैं। महाप्रज्ञजी महा सत, क्रान्तिकारी विचारक, साधक और विवेकशील मनीषी हैं।

स्थितप्रज्ञ

—डॉ० नागरमल सहल

तेरापंथ के आचार्य एवं कतिपय मुनियों से मेरे संबंध-सूत्र का श्रेय श्री कमलेश चतुर्वेदी को है। बहुत वर्ष हुए एक दिन अकस्मात् वे कुछ पुस्तकें लेकर आये और बोले कि इनका अंग्रेजी में अनुवाद कर दीजिए। आचार्यश्री तुलसी तथा महाप्रज्ञजी की दस-बारह पुस्तकों के मेरे अनुवाद प्रकाशित हुए। उनकी अन्य अनेक पुस्तकें उन्होंने मेरे पास भेजीं। अच्छे अनुवाद के लिए विषय में रुचि तथा दोनों भाषाओं का पर्याप्त ज्ञान नितान्त अपेक्षित होता है। अनुवादक-पाठक जितने ध्यान से पढ़ता है, उतना शायद अन्य कोई नहीं, चाहे वह उसकी विवशता ही हो। आचार्यश्री से बातचीत करते हुए मैंने एक बार कहा कि यह तो सर्वोत्कृष्ट का स्तर है, चाहे भाषा हो, चाहे पूरा। वे बोले—आपने तो जैन-साहित्य को खूब पढ़ा है। मेरा उत्तर था कि अनुवादक से कोई बात कैसे छिपी रह सकती है।

कई चातुर्मासों में (यथा अहमदाबाद, बीदासर, जोधपुर आदि) आचार्यश्री और मुनिश्री के सन्निकट रहने का सुअवसर मुझे मिला है। हर रात्रि के कुछ प्रहर मुनिश्री से बात करते बीतते, आचार्यश्री से तो यदा-कदा ही, क्योंकि श्रावक-श्राविकाओं से स्वभावतः उनको अवकाश भी कम मिल पाता था। धर्म में प्रारम्भ से ही मेरी सहज रुचि है, मूल धर्म सबका एक है—वह है मानव-धर्म—ऐसी मेरी मान्यता रही है, शायद इसीलिए तथाकथित धार्मिक व्यक्तियों या साधुओं के प्रति औदासीन्य भी, क्योंकि मैं साधुओं के पास अन्धभक्त के रूप में नहीं, आलोचक के रूप में ही आया-गया हूँ। ऐसा ही मेरा अनुभव रहा है कि लाखों साधुओं में सच्चे साधु, हजारों में भी नहीं होंगे। साधु और भिखारी देश की जटिल समस्याएँ हैं। दोनों ही कमाने से कतराते हैं, जिस पर दोनों का ध्यान देह की ओर ही अधिक है, आत्मा की तरफ न्यूनातिन्यून। जिनके मन, वचन, कर्म कुछ भी शुद्ध नहीं वे भगवा वस्त्र पहन कर ही साधु कैसे बन सकते हैं? साधुत्व के लिए तो मन उस रंग में रँगा जाना चाहिए जहाँ—

लाली मेरे लाल की जित देखूं तित लाल
लाली देखन (जु) मैं गई, मैं भी हो गइ लाल

एक साधु गाली के बिना बात नहीं करता, दूसरा मादक द्रव्यों से बाज नहीं आता, तीसरे की रुचि शिष्यों से कहीं अधिक शिष्याओं में है, चौथे की ऐकान्तिक रुचि खाने में है, पाँचवाँ बिना सुरा-पान के नहीं रह सकता। काम, क्रोध, मद, मोह के दास, फिर भी साधु। पर हाँ, ऐसा भी कोई विरला साधु है जो गाली से जरा भी कुपित नहीं हुआ। पूछने पर उसने कहा—"बेटा! गाली उसने दी जरूर, पर मैंने ली कहाँ?" साधुत्व को बदनाम करनेवालों के प्रति कवि की उक्ति है—

टाट मुंडायाँ तीन गुण, मिटी टाट की खाज
बाबा बाज्या जगत में, मिल्यो पेट-भर नाज

चमत्कार पर जीने वाले साधु हैं, पीतल, ताँबे को स्वर्ण में परिवर्तित करने वाले प्रवंचक साधु भी अपना लोभ पूरा करते हैं। "भीख माँगना भी एक कला है" शीर्षक लेख सम्भवतः श्री वेंकटेशनारायण तिवारी का लिखा हुआ, कभी पढ़ा था, वैसे ही साधुओं की टोलियों की विभिन्न भोग-शैलियाँ हैं। सच्चे साधु में ऋजुता होती है, इनमें वक्रता और कुटिलता। भगवान महावीर ने धर्म के चार द्वार बताये हैं, वे हैं शान्ति, मुक्ति, ऋजुता

ओर मृदुता। बिना इनके साधु का अंतःप्रवेश क्योंकर होगा ? मुनिश्री नथमलजी ने नीतिशास्त्रियों के निम्न वाक्यों पर आपत्ति की है: 'मनुष्य को बहुत सरल नहीं होना चाहिए। देखो, जो वृक्ष बहुत सरल-सीधे होते हैं, वे काट दिये जाते हैं और जो टेढ़े होते हैं, वे नहीं काटे जाते'। पर यह तो व्यावहारिक तथ्य है। सीधा दुनिया में तो ठगा ही जाता है। लोग उसको उल्लू बनाते हैं। सीधा अगर मूर्ख हो तो चतुर-चालाकों का वह शिकार होगा ही। एक लेखक का यह अतिरंजित दावा है कि इस विश्व में दो ही तरह के मनुष्य होते हैं सीधे-सादे और धूर्त्त। बेन जॉन्सन के नाटकों में यह स्पष्टतः द्रष्टव्य है। वहाँ Cozeners और Cozened ही हैं। सरल (Simple) होना अच्छा है, पर Simpleton (मूर्ख) बनना हास्यास्पद ही नहीं, सोचनीय भी है। यह नीतिका श्लोक साधुओं के लिए नहीं, गृहस्थों के लिए है। विविध प्रसंगोपात्त सब तरह की उक्तियाँ, संस्कृत में मिलेंगी, 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' जैसी भी। मुनिश्री को भी शायद यह स्वीकार्य होगा कि व्यक्ति सरल तो अवश्य हो, पर दूसरों की कुटिलता समझने वाला भी होना चाहिए। स्वयं स्वप्न में भी कुटिल न हो, पर दूसरे के छल-छिद्र में फँसने वाला भी नहीं हो। मुनिश्री की पुस्तकों से, उनकी तरफ मेरा झुकाव तो उनको देखे बिना ही हो गया था। मेरा यह विचार था कि प्राचीन शैली में पढ़ा हुआ यह मुनि कैसी प्रांजल भाषा लिखता है। किसी भी साहित्यिक से टक्कर लेने वाली 'साधु' की भाषा, पर कबीर-जैसी 'सधुक्कड़ी' नहीं। 'भाव अनूठो चाहिए, भाषा कैसी होय' कबीर तो यह कह गये, पर मुनिश्री का कथन है कि 'वे शब्द किस काम के जो अर्थ का गौरव निगल जाएँ' (अनुभव, चिन्तन, मनन पृ० ६)। मुनिश्री का आदर्श वही है जो कालिदास का था। वाक् और अर्थ, पार्वती परमेश्वर की तरह दोनों की दृष्टि में संपृक्त होने चाहिए, इतने कि एक-दूसरे से अलग नहीं किये जा सकें। Mechanical Compound न होकर वे Chemical Compound बनें। दूध में चीनी जैसे घुल-मिल जाती है, वैसे ही शब्दार्थ। जैसे समरसीभाव या समापत्ति में ध्याता और ध्यातव्य में द्वैध नहीं रहता, वैसे ही साहित्य में शब्दार्थ की स्थिति इष्ट है। टेनीसन की पंक्ति Faith unfaithful kept him falsely true' या मैथिलीशरण गुप्त की ये पंक्तियाँ—

करुण ! क्यों रोती है ? उत्तर में और अधिक तू रोई।
मेरी विभूति है जो उसको भवभूति कहे क्यों कोई ?

जैसी भी है उन्हीं में काव्यत्व है। इसी अर्थ को रखते हुए शब्द बदल दिये जाएँ तो काव्य का ह्रास ही नहीं, अनस्तित्व हो जायगा। मुनिश्री को सर्वप्रथम मैंने कवि और आलोचक के रूप में देखा-परखा। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि का यह पंडित परम्परावादी नहीं, इतना ही नहीं, शैली में आधुनिकतमों से भी दो कदम आगे। शब्दार्थ की तरह उनका साहित्य, समाज से अनुस्यूत है। कला के लिए उनकी कला नहीं। चेस्टरटन ने यह कह कर इस वाद की खिल्ली उड़ाई है कि यह तो वैसा ही है जैसा आलू के लिए आलू। मुनिश्री के लेखों में मनोवैज्ञानिकता का पुट है। कठिनतम विषयों का सरलीकरण उनके लिए सहज है क्योंकि उनका मस्तिष्क स्थिर और स्वच्छ है। प्राचीन साहित्य का उन्होंने आलोडन-विलोडन किया है तो पाश्चात्य साहित्य के स्पर्श से भी अछूते नहीं। 'दीप आलोक देता है, भले फिर वह पूरब का हो या पश्चिम का। आलोक-आलोक का शत्रु नहीं है' (अनुभव चिन्तन मनन पृ० २०)। ज्ञान का प्रकाश कहीं से मिलता हो, ग्राह्य है—यह आधुनिक दृष्टि है। ठोस पांडित्य (तभी तो आचार्यश्री ने उन्हें 'महाप्रज्ञ' माना है), अन्तर्दृष्टियुक्त अन्तर्भेदिनी दृष्टि, ज्ञान पुराना, शैली नयी (Old wine in a new bottle), निखरे

भाव, तदनुरूप भाषा (कृत नहीं, सहज) —इन काम्य गुणों ने मुझे आकृष्ट किया। विषय को स्पष्ट करने के लिए बीच-बीच मे उन्होने कहानी का सहारा लिया है, जो हृद्य बन पडा है। 'गागर मे सागर' पुस्तक ही नहीं, अन्यत्र भी या सर्वत्र उन्होने यही किया है। श्रेष्ठ अध्यापक-जैसी व्याख्यान-शैली भी विषय को हृदयंगम बनाने मे सहायक सिद्ध हुई है, यथा 'मैं मेरा मन मेरी शान्ति' पृ० ५३ मे महावीर के एवम्भूत-नय का स्पष्टीकरण देखिए —

"एक राज्याधिकारी दो दीप जलाते थे। एक सरकारी तेल से और एक अपने तेल से। जब वे सरकारी काम करते तब राजकीय तेल से दीप जलाते थे और जब घरेलू काम करते तब अपने तेल से दीप जलाते थे। एक राज्याधिकारी जब सरकारी काम के लिए जाते है तब राजकीय कार का उपयोग करते है और घरेलू काम के लिए जाते है, तब उसका उपयोग नही करते, बस मे बैठ कर चले जाते है।" महावीर के एवम्भूत-नय का उल्लघन करने वाले आज असंख्य है, तभी तो इतनी अशान्ति, विद्रोह, अत्याचार और हिंसा का बोलबाला है। मुनिश्री और अन्य श्रेष्ठ साहित्यिको मे विभाजक रेखा एक ही है। बहुतो का नैतिकता के प्रति आग्रह नहीं, क्योकि काव्य उनकी दृष्टि मे न नैतिक होता है, न अनैतिक। वह amoral होता है। नैतिकता का उद्घोष दर्शन के क्षेत्र मे इष्ट है, साहित्य मे उपदेश प्रकट कभी नहीं, हो तो प्रच्छन्न 'कान्तासम्मिततयोपदेश' जैसा, पर 'curtain lecture' जैसा नही। मैथ्यू ऑरनैल्ड भी इससे बच नहीं सके। तभी तो एलियट ने Arnold को प्रचारवादी (Propagandist) बताया है, चाहे प्रचारक हो वे नैतिकता के ही। मुनिश्री का प्रमुख विषय धर्म है, नैतिकता है, इसलिए उनके साहित्य मे यह प्रतिबिंबित हुए बिना नही रह सकी, यद्यपि कतिपय गद्य-काव्यो मे वे शुद्ध सौन्दर्यानुरागी (aesthete) से लगते है, पर उनका 'सुन्दर' सत्य और शिव अनिवार्यत है ही। छोटी-सी आयु मे कीट्स की भी यही अनुभूति थी जब उन्होने कहा—'Beauty is truth truth beauty'। धर्मप्राण कवि हॉपकिन्स की यह 'द्विविधा' थी।

मुनिश्री धार्मिक है, पर अध्यात्मनिष्ठ होने के नाते सम्प्रदाय मे रहते हुए, सम्प्रदायातीत है। उन्हीं के शब्दो मे उनकी परतन्त्रता स्वतन्त्रतार्थ है, पर स्वतन्त्र का शाब्दिक अर्थ होता है—अपने वश मे, अर्थात् वह स्वयं अनुशासित होता है, अनुशासन उस पर थोपना नहीं पड़ता। स्वतन्त्रता का अर्थ उच्छृंखलता नही, क्योकि यह सब बन्धनो से मुक्त होकर जैसे हिप्पी बनना है। 'धर्मो रक्षति रक्षित', पर धर्म की रक्षा करने वाले है कितने से माई के लाल? अधिकाशत धर्म क्रिया-काण्ड है, प्रदर्शन है, प्रवचना है, दैहिक सुख का साधन है या एक शब्द मे कहें तो पेशा है। कोई धर्म का सहारा लेता है परलोक सुधारने के लिए, कोई धर्म का ढोंग रचता है वणिग्वृत्ति के पोषण के लिए, पर मुनाफे से नही, मुनाफाखोरी करके। फ्रायड ने बडे-बड़े धार्मिको का मनोविश्लेषण करके यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि सबके अन्तर्मन मे काम विराजता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये मनुष्य के चार पुरुषार्थ बताये गये है, पर आज धर्म और मोक्ष की तो हो गई है विराधना और आराधना होती है केवल अर्थ और काम की। धर्म के रास्ते अर्थ और काम का अर्जन अब पौरुष नहीं, इन्द्रिय-लोलुपता और स्वार्थमात्र रह गया है। अर्थ के महत्त्व के कारण अनर्थो की बाढ आ गई है। तथाकथित धर्म के कुछ रूप देखिए एक रास्ते मे आते-जाते जहाँ भी मूर्ति दिखाई पडी, जूते खोलकर एक मिनट के लिए उसको नमस्कार कर लेता है, दूसरा नियम से मन्दिर हो आता है, तीसरा कार्य-सिद्धि होने पर सवा रुपये का प्रसाद चढा देता है, चौथा बाहर बैठकर सध्या करता है कि आते-जाते लोग उसे

देख सकें, पाँचवाँ बिना पूजा किये अन्न ग्रहण नहीं करता, छठे को इसमे आनन्द आता है कि आने-जाने वाले को यह कहा जाय कि वह पूजा मे है यद्यपि उसकी पूजा प्राय आचार्य हेमचन्द्र निर्दिष्ट 'विक्षेपावस्था' की ही होती है, अधिक से अधिक 'यातायात भूमिका' की, पर श्लिष्ट तक कभी नही, सुलीन का तो अता-पता ही नही। एक अन्य धार्मिक मूर्त्ति के सामने बोलता है—त्वमेव माता च पिता त्वमेव पर उसकी एक आँख मूर्त्ति की ओर तो दूसरी अपने महँगे जूतों की तरफ रहती है क्योकि मंदिरो मे जूता-चोर भी बहुत जाते है। कुछ सेठ अन्तकाल मे काशी जाते है क्योकि उन्होने सुन रखा है कि 'वाराणस्या मरणान्मुक्ति,' इसका कभी कोई अर्थ था जिसे कबीर ने भुठला दिया, क्योकि यह तो वैसा ही है जैसा सो-सो चूहे मारकर बिल्ली का हज की यात्रा करना। मन्दिरो के पुजारी का धम अलग कोटि का है। जितना प्रथित मन्दिर, उतना ही अनाचार। मन मलिन हो तो धर्म कहँ, पूजा कहाँ ? 'यद्रात्र्या पापमकार्षं मनसा वाचाहस्ताभ्याम्' सदा यन्त्रवत् उच्चारण करने वाला भी अपने को धार्मिक समझता है। आस्तिक इसलिए है कि नास्तिक बता सकने का साहस नही, अन्यथा आस्तिकता का कहीं चिन्ह नही। शैव हूँ, वैष्णव हूँ, जैन हूँ, बौद्ध हूँ, क्योकि मेरा पिता इनमे से कोई था। मतलब यह कि धम गृहीत है, स्वीकृत या अंगीकृत नही। आवेगो के उपशमन के बिना धर्म तिरोहित रहता है। धर्म के कारण भीषण रक्त-पात हुआ है, ऐसे कुतर्कों का सबल उत्तर मुनिश्री ने यह कह कर दिया है कि यह धम नही, धर्म का शरीर रहा होगा, सम्प्रदाय या सस्था विशेष का कुप्रभाव रहा होगा। धर्म की आत्मा अध्यात्म है जिसका अर्थ है समता, प्रेम, सहानुभूति, सत्य और अहिंसा। धर्म का मर्म समझने के लिए साधना करनी पडती है। इसके अतीन्द्रिय स्वरूप-दशन के लिए अन्दर की आँख खुली रहनी चाहिए। विज्ञान का यह युग, प्रयोग और परीक्षण का है। वह भौतिक द्रव्यो तक सीमित है। जो शब्द, मन, इन्द्रिय और बुद्धि के परे है, उसके प्रयोग-परीक्षण के लिए कोई उपादान-साधन नही। यह तो 'प्रेम-गली अति साँकरी ता मे दो न समाय' वाली कहावत है। कोई बालक एम० ए० की पुस्तकों का अर्थ समझ सके तो कोई सासारिक व्यक्ति आत्मा का दर्शन कर सके। कबीर ने यही तो कहा था कि परमात्मा का निवास स्वयं अपनी आत्मा मे ही है, न वह मन्दिर मे, न मस्जिद मे, न कैलाश मे है। माला जपने वालो को कबीर ने अच्छा डाँटा है। वे इसके योग्य भी है क्योंकि मालाका मनका यहाँ, तो मन वहाँ। इसीलिए आदेश था कि 'कर का मनका फेरि कै मन का मन का फेरि'। मुनिश्री ने अनेकेश धर्म का स्वरूप बताया है, 'अनुभव-चिन्तन-मनन पृ० ८' मे पढ़ने को मिलता है—'फल लिये जाते है, वे खट्टे होते हैं। मिठास उनमे होती है, जो दिये जाते है।' धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह की तरह, दान भी धर्म का लक्षण है पर दान स्वयं सम्पूर्ण धम नही। यद्यपि भाव शुद्ध हो तो हो सकता है, पर दान, जब नाम के लिए दिया जाता है, कर की चोरी के लिए दिया जाता है, काले धन को सफेद करने के लिए दिया जाता है, तो यह धम नहीं रहता। इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शब्द ये सब परोक्षानुभूति के माध्यम है। मुनिश्री की दृष्टि मे 'जानना' प्रत्यक्षानुभूति है। जो कषायो और इन्द्रियो को नहीं जीतता, वह धार्मिक भी नहीं हो सकता, क्रियाकाण्डी हो सकता है' (मैं मेरा मन मेरी शान्ति, पृ० २८)। इसी तरह 'मानने से जानने' तक पहुँचना भारतीय दशन का ध्येय है, और पहुँच जाना अस्तित्व का प्रत्यक्ष बोध है (पृ० १६)। उनकी दृष्टि मे पश्चिमी दशन, इतना दर्शन नहीं जितना बुद्धि का व्यायाम है। मुनिश्री की समीचीन मान्यता है कि अध्यात्म के सत्यो को शास्त्र की भाषा मे

दुहराने से काम नही चलने वाला है। मन का स्थिरीकरण और विलयीकरण आत्मानुभूति है, वही परमात्मानुभूति है, वही धर्म है, वही समता है, वही आत्म-दर्शन है, वही ब्रह्मानन्द है। सत्, चित् और आनन्द—ये आत्मा के लक्षण है। यह आनन्द सुखदु खातीत है। मुनिश्री के 'पर्दे के उस पार' को देखिए "मैं ढूंढ रहा था भगवान् को, भगवान् ढूंढ रहे थे मुझे। अकस्मात् हम दोनो मिल गये। न तो वे झुके और न मैं भी झुका। वे मुझसे बडे नही थे, मैं उनसे छोटा नही था। पर्दा मुझे उनसे विभक्त किये हुए था। वह हटा और मैं भगवान् हो गया।" यही अद्वैत-स्थिति है, यही निर्द्वन्द्वभाव है। धर्म की शल्य-क्रिया के वे पक्षधर है। मनु ने यही कहा था कि धर्म वही है 'यस्तर्केणानुसधत्ते'। तर्क से डरने वालो का धर्म सतही होता है। सनातनी पिता से पुत्र ने प्रश्न किया, अज्ञान पिता ने उत्तर दिया—चल, तू तो आर्यसमाजी हो गया। यह वैसा ही है जैसा एक बार एक तुलसी-भक्त और रवीन्द्र-भक्त मे हुआ। पहला कह रहा था कि तुलसी दास से बढकर विश्व मे कोई कवि नही, दूसरा कह रहा था कि कवीन्द्र रवीन्द्र के आगे सब पानी भरते है। पर मजे की बात यह कि तुलसी-भक्त ने तुलसी को पढा ही नही था, न रवीन्द्र-भक्त ने रवीन्द्र को। कितने धार्मिक व्यक्ति धर्म-पुस्तको के अर्थ का अवगाहन करने की क्षमता रखते है। मुनिश्री का यह नित्यनैमित्तिक कर्म है। आगम-संपादन मे उनका विविधायामी अनुभव है। पृ० ५२ मे आत्म-लोचन देखिए—"आत्मलोचन वह है, जो पर लोचन की वृत्ति को निर्मूल कर दे। आत्मनिरीक्षण वह है, जो पर दोष-दर्शन की दृष्टि को मिटा दे। दूसरो की आलो-चना वही कर सकता है, जिसमे आत्म-विस्मृति का भाव प्रबल होता है।" दूसरो की निन्दा-स्तुति मे रस लेने वाला न धार्मिक हो सकता है, न साधु। उनकी भूमिका होती है चिंतन-मनन की। गांधीजी सही अर्थ मे इतने आत्मनिरीक्षक थे कि स्वय की छोटी भूल उनको बडी लगती थी। उसे वे Himalayan blunder बताते। यह पदांश अनायास अंग्रेजी-भाषा मे आ गया, पर थी यह महात्मा गाँधी की देन। मुनिश्री वस्तुत अध्यात्मवादी है। अध्यात्मवाद मृग-मरीचिका नही, ज्वलन्त सत्य है। इसका स्वरूप उन्हीं के अविस्मरणीय शब्दो मे देखिए .—

"अध्यात्मवाद स्वय मर्यादा है। हीन भावना न आये इसलिए अध्यात्मवादी मानता है—"मैं परमात्मा हूँ।" गर्व न आये इसलिए अध्यात्मवादी मानता है—'सब जीव समान है, सब जीव एक है। आकाक्षा का अभाव अध्यात्म है। विकार का अभाव अध्यात्म है। चारित्रिक कर्मण्यता अध्यात्म है। अकर्मण्यता, अलसता नही, किन्तु निवृत्ति अध्यात्म है। एक शब्द मे आत्मा का सहजरूप अध्यात्म है। अध्यात्मवाद से आकाक्षा की तृप्ति नही, उसका अभाव हो सकता है। ये सब युवाचार्य के सूत्र है, इनमे से प्रत्येक पर विस्तृत चर्चा हो सकती है, व्याख्यानो मे उनका आख्यान हो सकता है। पवित्रता का आचरण वैयक्तिक होता है, पर मुनिश्री की मान्यता है कि उसका मूल्याकन सामाजिक होता है, पर इसमे मुझे संदेह इसलिए है कि मूल्याकन करने वाला उस पथ से गुजरा तो हो। यो ही कह देना कि अमुक महात्मा है, कोई अर्थ नही रखता इस-लिए भी कि पथ-भ्रष्ट अकर्मण्य यह कह सतोष करता है कि मैं कोई महात्मा हूँ क्योकि आप मुझसे ऐसी ऊँची अपेक्षा रखते है। पवित्रता का आचरण स्वयं अपने मे मूल्य है। मूल्यवत्ता की मोहर-छाप उसे नही चाहिए। आत्मरति का अपना आनन्द है, यद्यपि लोकसंग्रह से उसका अविरोध रहता है जैसे तुलसी के रामचरित-मानस मे।

'अनुभव-चिन्तन-मनन' मे मनोविज्ञान का स्पर्श सम-धिक है। 'हम जगते है तभी कोलाहल होता है, हम सोते है तभी शान्ति। कोलाहल और शान्ति हमारी ही परि-

थियाँ है' (पृ० १२)। 'मन लोभ से भरा था तब मुझे वे लोग बडे लगते थे, जिनके पास बहुत था। मन जब खाली हुआ तो लगा कि महान् वे है, जिनके पास अपना कुछ नहीं है। तब पूत ब्राह्मण का, किसी युग मे, अकिंचनता ही धन था, यही धन, बुद्ध और महावीर का था और यही धन, महात्मा गाधी का था। अमर भी वही है जिनके पास आत्मधन था। उसी पथ के पथिक है युवाचार्य महाप्रज्ञ।

कहते है शकर ने कामदेव को भस्म कर दिया था, पर उसकी राख मे भी कितना बल है, यह भुक्तभोगी संसार जानता है। बिना संकल्प के कामोदय नहीं होता, पर ऐसा सकल्प करना थोडे ही पडता है। 'न त्वा संकल्पयिष्यामि, अतो मे न भविष्यसि' कह सकने वाला व्रती होना चाहिए व्रत बलात् नहीं होता, स्वेच्छा से किया जाता है। वह इच्छा और आचरण का नियमन है। व्रत की पहली भूमिका है श्रद्धा का जागरण, बीच की है स्थिरीकरण और अन्तिम है आत्म-रमण' (पृ० १०६)। आचार्यश्री द्वारा प्रतिपादित अणुव्रतो के प्रचार-प्रसार का काम मुनिश्री ने बहुत किया है, पर कितने व्यक्तियो की स्वतत्र चेतना के प्रतिफलन के रूप मे यह निखर पाया है—यह बडा प्रश्नचिह्न है ? क्योकि अधिकाश व्रत लेने वाले दुनियादारी मे या निन्यानवे के फेर मे इतने उलझे-फँसे रहते है कि व्रताचरण के स्थान पर व्रतभग ज्यादा करते है। कालिदास ने 'अभ्यस्यतीव व्रतमासिधारम्' कह कर व्रत को तलवार की धार के समान तीक्ष्ण बताया है, तो गीता ने उद्घोष किया है कि व्रती जिसका व्रत लेकर चल पडा है, वह वही हो जाता है, उसका अह विगलित होकर उसी मे समाहित हो जाता है—''यान्ति देवव्रता देवान् पितृन् यान्ति पितृव्रता''। व्रत लेना जितना आसान है, उसको निभाना उतना ही कठिन। मन जब तक उसमे रम न जाय, तब तक व्रत मनोरम कैसे हो सकता है ? व्रत का सबन्ध अभ्युदय से कम, नि श्रेयस से अधिक है। जिससे दोनो सिद्ध हो उसी को धर्म कहा गया है। जिससे शरीर और आत्मा की शुद्धि हो वही व्रत का उद्दिष्ट था। साधुओ के लिए महाव्रत, गृहस्थो के लिए अणुव्रत, पर व्रत होता है चाहे महान् हो चाहे अणु, वैसे भी अणु की शक्ति तो असीम ही होती है। आज के युग मे महात्मा गाधी सत्य-व्रत थे, प्राचीन काल मे हरिश्चंद्र थे। भगवान् रामचन्द्र वचनव्रत थे—'रघुकुलरीति सदा चलि आई, प्राण जाहि पर वचन न जाई'। व्रत जीवन का सिद्धात नहीं, स्वभाव बन जाय, तभी व्रत की सार्थकता है। छोटे-मोटे निश्चय भी मनुष्य को गरिमा प्रदान करते है। सदा नियमित समय पर अपनी घडी की चाबी लगाना, दीखता है सरल, पर कोई उसे बराबर निभा ले तो वह व्रती बन जाता है। पहले व्रत मे निराहार रह कर स्वत उदर-शुद्धि हो जाती थी जिससे आत्मिक उत्थान मे बाधा न हो, पर आज व्रत मे खा-पी (एक बार ही सही) ग्रसन होता है देह और आत्मा दोनो का। छात्र व्रत लेता है पहली जनवरी से पढने का, एक दो दिन उसे निभाता भी है, फिर वही पुरानी चाल पकड लेता है। सोडावाटर की बोतल का यह उफान व्रत नहीं, व्रत का उपहास है। नारियल की भाँति व्रत देखने मे रूक्ष-कठोर होता है, पर अतस् और परिणाम मे मिष्ट-मनोहर होता है। व्रत खेल-तमाशा नहीं, पर व्रत की सार्थकता तभी है जब वह खेल-तमाशा बन जाय। व्रती बनाया नहीं जा सकता, व्यक्ति स्वय बनता है, जैसे वैराग्य भी स्वाभाविक होता है, कृत नहीं। एक बार मुनियो के मध्य अणुव्रत की चर्चा चल रही थी। मैंने कहा इतने व्यापारियो ने अणुव्रत ले रखा है, फिर भी शुद्ध घी क्या, शुद्ध तेल भी नहीं मिल पाता है। न शुद्ध दूध, न अविकृत फल ही। उत्तर मे कहा गया कि जोधपुर मे ही मैसूर सिल्क स्टोर वाले है न। मैंने कहा—हाँ, मैं उन्हें खूब जानता हूँ पर अणुव्रती बनने के पहले भी वे वैसे ही थे—

जैसे आज है। इसका यह अभिप्राय नही कि अणुव्रत से कोई परिवर्तन नहीं आया है, लेकिन जितनी आशा की गई थी उससे शायद बहुत कम, क्योंकि व्रत लेने के बाद कैसा किसका आचरण रहता है, इसका लेखा-जोखा करने वाला कोई नहीं। यह काम इतना महत्त्वपूर्ण है पर काम के अनुरूप साज-सज्जा नहीं। कोई व्रती हो जाय तो धार्मिक स्वत हो गया, पर यह बहती धार के विरुद्ध चलना है जिसके लिए दृढ इच्छा-शक्ति, ऊर्जा और साहस चाहिए। आचार्य विनोबा के भूदान की कभी कितनी चर्चा थी, पर कैसी भूमि भू-दान मे दी गई यह देने-लेने वाले ही जानते हैं। अणुव्रती परिणाम मे कम भी हो तो छोटी बात नही, पर जो बनें उनके जीवन का उन्नयन हो और उसका सुफल समाज को मिले। इस दिशा मे आचायश्री और युवाचार्य का और अधिक ध्यान जाना अभीष्ट है। सिंह की तरह पीछे मुडकर देखना है। साथ ही किसी माध्यम से व्रतियो के बारे मे वृत्त मालूम होते रहना आवश्यक है। अणुव्रत से बढकर कोई चीज नहीं। ये निभ-जाएं तो मानव अपने जीवन को सार्थक कर सकता है। आचार्यश्री और युवाचार्य के आशीर्वाद के भाजन वे तभी होगे जब उनके आचरण-व्यवहार मे सर्व-सामान्य को स्पष्ट परिवतन दीखे। 'अंधेरा कितना ही सघन और कितना ही पुराना हो, दीप जलते ही भाग जाता है' (मैं मेरा मन मेरी शान्ति, पृ० ६०) मुनिश्री के इस कथन से मैं सहमत नहीं, क्योंकि सघन अन्धकार को दूर करने के लिए तेज रोशनी चाहिए। दीपक की लौ वहाँ शायद रास्ता-भर दिखा सके, पर अन्धकार सूर्य के बिना या बहुत तेज-प्रकाश के, आज तक क्या कभी हट पाया है ? साधुओ और व्रतियो मे भी वह प्रकाश-पुञ्ज नहीं जो तिमिर का अवसान कर सके। इसके लिए घनीभूत साधना की अपेक्षा है।

"मैं मेरा मन मेरी शान्ति पृ० ६६" मे मुनिश्री की इन शब्दो मे आत्मा बोल रही है 'क्या धर्म के लिए यह शोभनीय है कि उसे अपनी सुरक्षा के लिए राजनीति का सहारा लेना पड़े ? सचमुच ज्योति राख से ढँक गई है।' तभी तो कई लोगो की इस सम्बन्ध मे टीका-टिप्पणी होती रहती है। उनका आश्चर्य स्वाभाविक है क्योंकि राज-नीतिज्ञ धर्मक्षेत्र मे भी क्यो छाये रहें—यह उनकी मान्यता असमीचीन नही है। भारत का यह दुर्भाग्य है कि ऐसा कोई क्षेत्र नहीं जिसमे राजनीतिज्ञो के दाव-पेंच नहीं चलते हो। मुनिश्री कहते है कि भक्तिमार्ग, वंचना का प्रमुख केन्द्र बना, पर प्रश्न यह है कि कौन-सा मार्ग नही बना ? अध्यात्मवाद के अतिरिक्त जो भी मार्ग प्रशस्त हुए, उनमे विकृतियाँ आईं। गाँधी के अनुयायियो मे गाँधीपन कहाँ ? शकर के अनुयायियो मे शकरत्व कहाँ ? बौद्धो और जैनो मे बुद्ध और महावीर कितने शेप रहे ? ईसा-इयो मे कितने बाइबल की शिक्षा मानते हैं। गाल पर चपत वे ही खाते है जिनमे चपत लगाने की सामर्थ्य नहीं। मुहम्मद साहब को कितने उनके अनुयायी मानते है उन मुहम्मद साहब को जो सदा अपने सिर पर फेंके हुए कूडे को जरा भी उद्विग्न हुए विना झाड-पोछ लेते थे ? शक्ति-मार्ग के अनुयायी 'छाकटे' कहलाए, शकर के अद्वैत का व्यवहार मे कैसा भोडा अर्थ उभरा। धर्म-प्रवर्तक मे जो शक्ति, साहस और स्फूर्त्ति होती है, अनुयायियो मे उसका शताश भी कहाँ मिल पाता है ? अपनी सुख-सुविधाओ के लिए वे रास्ते निकाल ही लेते है, चाहे वह रासलीला हो चाहे रामलीला।

मुनिश्री का, आचार्यश्री से बडा लगाव रहा है। दीक्षित होकर विद्याभ्यास मुनिश्री ने उन्हीं के सान्निध्य मे किया। उनका कथन है कि 'मेरी वह कृति, अकृति होती है जिसमे परम श्रद्धेय आचार्य श्री तुलसी के वरदान की स्मृति न हो। आचार्यवर ने मुझे वह दिया, जिसे पाकर अतृप्ति भी होती है और परम तृप्ति भी (अनुभव-

चिन्तन-मनन मे 'अपनी ओर से') एक भाई ने पूछा—"आप गुरु किसे मानते है ?" मैंने कहा—"अपने आपको दूसरे को कौन मानता है ?" क्या आप आचार्य तुलसी को गुरु नही मानते ? आचार्य तुलसी को इसीलिए मानता हूँ कि उनका अहं, मेरे अहं से मुझे भिन्न प्रतीत नहीं होता। जहाँ अहं का तादात्म्य होता है, वहीं गुरु और शिष्य का एकत्व होता है। कबीर ने कहा है—

जब मैं था तब गुरु नही, अब गुरु हैं मैं नाहिं।

ममत्व का इतना विस्तार होने पर सीमित ममत्व स्वय विसर्जित हो जाता है (मैं मेरामन मेरी शान्ति पृ० २०१)। आचार्यश्री और मुनिश्री बहुत पहले गुरु-शिष्य रहे हों, अब वे एकाकार हो गये हैं। इसका अभिप्राय यह नहीं कि दोनो का चिंतन एक होकर अवरुद्ध हो गया है। एक दूसरे का पूरक है जिससे दोनो मिलकर एक और अद्वितीय हो जाते है। आचार्यश्री के गुण है—सघ की एकात्मता सुस्थिर किये रखना, 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि' की तरह व्यवस्था बनाये रखने मे दृढता, ऊपर की किंचित् गंभीरता के नीचे प्रवहमान कारुण्य की धारा बनाए रखना, सब तरह के व्यक्तियो से मिलने मे कोई आपत्ति नहीं रखना, अणुव्रतों के माध्यम से जन-जन को निकट लाने की योजना सँवारना आदि। हर आचार्य को अपनी विशेषता रही है, पर अद्यतन आचार्य ने जड को अक्षुण्ण रखते हुए शाखा-प्रशाखाओं को ही विविध रगो से रंजित किया है। इनके कार्यकाल मे जितना सत्साहित्य प्रकाशित हुआ है उतना पहले कभी नहीं। जैन-धर्म, अजैनियो मे भी पुस्तको के माध्यम से पहुँचा है। इनकी रचना का अधिक श्रेय मुनिश्री को है, पर मुनिश्री ने रचना-सन्तति को आगे बढाते रहने का प्रण-सा ले रखा है। तेरापथ मे अनेक साधु-साध्वियो ने आचार्य और युवाचार्य से प्रेरणा-प्राप्त कर साहित्य-पथ प्रशस्त किया है। यह क्रम अब अटूट हो गया है। आचार्यश्री के बिना मुनि नथमल नही हो सकते थे और बिना मुनि नथमल के आचार्य, जो है, वे नहीं हो सकते थे। यह आदर्श युग्म है—वैसा ही जैसा काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग मे बाबू श्यामसुन्दरदास और प० रामचन्द्र शुक्ल का। बाबूजी आचार्य शुक्लजी से काम लेने वाले रहे। जो काम शुक्लजी ने किया वह बाबूजी नही कर सकते थे, पर बाबूजी के बिना भी शुक्लजी वह नहीं कर सकते थे। बाबूजी जैसे शुक्लजी के लिए उत्प्रेरक (Catalyst) बने, वैसे ही आचार्यश्री, मुनिश्री के लिए। यह वही स्थिति है जो तुलसीदास और मैथिलीशरण गुप्त की थी। गुप्तजी का निम्न कथन, आचार्य और मुनिश्री के लिए भी उतना ही उपयुक्त है —

करते तुलसीदास भी कैसे मानस-नाद
महावीर का यदि उन्हें मिलता नहीं प्रसाद

आचार्यश्री और युवाचार्य जैसे एक दूसरे के लिए द्वितीय आत्मा (alter-ego) हों। जो गुण मुनिश्री ने आचार्यश्री मे देखे है, वे स्वयं के नहीं है क्या ? जरा मिलाइए—तुलसी का एक मात्र उद्देश्य आत्मसाधना है बिना फलाशंसा के। वे अल्पभाषी हैं, मितभोजी है। वे अल्पोपाधि और अभय है, वे पवित्र, जितेन्द्रिय, कष्टसहिष्णु और आनन्द-घन है। अंततोगत्वा है न दोनो एक। मुनिश्री, आचार्यश्री का शासन देखते रहे है और रहेंगे। उनके शासन के गुण मुनिश्री मे समाहित होते रहे है जिससे युवाचार्य के व्यक्तित्व मे चार चाँद लगे है। दोनो को मैंने जितना जाना-समझा, उसके आधार पर एक दशक पहले ही अपने क्षेत्र मे मैंने कह दिया था कि आचार्य श्री तुलसी, मुनिश्री नथमल को अपना उत्तराधिकारी बनायेंगे।

मुनिश्री जानते है कि दुनियाँ माया मे उलझी है। वर्ड्सवर्थ को यही वेदना थी The world is too much with us. उनका निस्तार वे स्वय ही कर सकते हैं। आचार्य-युवाचार्य तो अँगुलि-निर्देश कर सकते

है। दुनिया सुख चाहती है पर 'अशान्तस्य कुत सुखम्'। मन उनके वश मे नहीं है, इन्द्रियो ने उन्हें अपने वश मे कर रखा है। 'इन्द्रियाणि हि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभ मन' खमतखामणा मे क्षमा के शब्दोच्चार-मात्र से मन का मल धुलता नही। मर्यादा-महोत्सवो मे मर्यादा-वाचन होता है, मर्यादा-पालन के प्रयत्न भी चलते है पर मुनिश्री के शब्दो मे नियम, तट बन सकते है, प्रवाह नहीं। नियम मनुष्यो के लिए है, मनुष्य केवल नियमो के लिए नही। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच यम तो हम भूल ही गये, नियमो का भी स्वार्थवश उल्लघन करते रहते है। 'ज्ञानान्तराऽस्पर्शवती ज्ञानसन्तति ध्यानम्', पर हमारा ध्यान तो बँटा हुआ रहता है। युवाचार्य ने अनेक विषयों पर पुस्तकें लिखी है। उनमे से कुछ पढी है, इन वर्षो की अनेक छपी हुई न पढी होगी। सत्तर से ऊपर उनकी पुस्तकें है जिनमे भगवान् महावीर से लेकर आहार, निहार, विहार सब की चर्चा है। युवाचार्य क्या है, उन्ही के शब्दो मे सुनिए —

"मैं मुनि हूँ। आचार्यश्री तुलसी का वरद-हस्त मुझे प्राप्त है। मेरा मुनि धर्म जड क्रिया-काण्ड से अनुस्यूत नहीं है। मेरी आस्था उस मुनित्व मे है जो बुझी हुई ज्योति न हो। मैं एक परम्परा का अनुगमन करता हूँ, किन्तु उसके गतिशील तत्त्वो को स्थितिशील नही मानता। मैं शास्त्रो से लाभान्वित हुआ हूँ, किन्तु उनका भार ढोने मे विश्वास नही करता। मुझे जो दृष्टि प्राप्त हुई है, उसमे अतीत और वर्तमान का वियोग नहीं, योग है। मुझे जो चेतना प्राप्त हुई है, वह तव-मम के भेद से प्रतिबद्ध नहीं है, मुक्त है। मुझे जो साधना मिली है वह सत्य की पूजा नहीं करती, शल्यचिकित्सा करती है। आज का भारतीय मानस बाहर से अर्थ का ऋण ही नहीं ले रहा है, चिन्तन का ऋण भी ले रहा है। मेरी आदिम, मध्यम और अन्तिम आकाक्षा यही है कि आज के भारत को परोक्षानुभूति की प्रताडना से बचाने व प्रत्यक्षानुभूति की ओर ले जाने मे अपना योग दूँ" (मैं पृ० ३-४)।

मुनिश्री से मेरी स्याद्वाद, अहिंसा, गोचरी, आदि अनेक विषयो पर बौद्धिक चर्चाएँ हुई है, कई बार मैंने उनको प्रेक्षाध्यान मे अवस्थित भी देखा है। 'तातस्य कूपोयमिति ब्रुवाणा, क्षारं जलं का पुरुषा पिबति' वाला परम्परा से उनका अन्ध-गठबन्धन नहीं है। स्वय आचार्यश्री ने युग के साथ चरण बढाए है। ('दु खेपु अनुद्विग्नमना सुखेपु विगतस्पृह। वीतरागभय क्रोध स्थिरधीर्मुनिरुच्यते') वाला उनका मुनि का रूप रहा है।

ज्ञेय. स नित्यसन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुख बंधात् प्रमुच्यते

ऐसे ये संन्यासी मुझे प्रिय रहे है। जो कहते हे उसका वे आचरण करते है, दुर्भगाभरणमिव देहखेदावहमेव ज्ञानं स्वयमनाचरत' नही। महाप्रज्ञ और भी कई हो सकते है। मेरी दृष्टि मे युवाचार्य स्थितप्रज्ञ है। महाप्रज्ञता से बढकर उनकी स्थितप्रज्ञता ने मुझे लुभाया है।

नाव से नाविक

—मुनि नथमल बागोर)

सौभाग्यात् सच्चरणकमलन्यासतः पूर्वमेव,

प्रत्यक्षं नः पट्टुगढपुरं पावनीकृत्य योगात्।

श्रीपादाब्जेष्वभिनवपदं येन लब्ध ललामं,

स्वान्तैः स्तौमि स्तवननिचयैस्त युवाचार्यवर्यम् ॥१॥

सगुणमपगुणं वा प्रत्ननामादि लात्वा,

गुणयुतमभिधान तेऽद्य नून वितीर्य।

समुदितमुदितं यत् स्वप्रभुत्वं प्रसिद्धं,

सकलजनसमक्षे दत्तमार्यैस्ततः किम् ? ॥२॥

हृष्टास्तुष्टा अभिनयपराः मिष्टमेघान्मयूरा-

श्चन्द्रान् प्रकटपुलकाश्चारुचित्ताश्चकोरा.।

सर्वा गोत्रा हरितभरिता पुष्पिता वै वसन्तात्,

(प्रत्यूषार्कच्चिपलचपलाश्चक्रवाकाः प्रवाकाः)

त्वन्नैयुवत्या वयमिह तथा पुण्यपूर्णा' प्रसन्नाः ॥३॥

पोतात्स्वीयाऽनुनयविनयैः पोतवाहः प्रजात,

आश्चर्यं तद्विरुचहृदये नेव माति प्रथिष्टम्।

वाञ्छाम्येवं भवतु फलवत् पोतवाहत्वमेत-

ल्लोके श्लोकः प्रसरतुतरां सर्वतः सर्वथैव ॥४॥

सामर्थ्यं कीदृशं शस्तं तेरापंथपत्रेशितुः।

क्षणेनैकेन यद्बिन्दोः, सिन्धुर्निर्मितवानहो ! ॥५॥

चन्द्रश्चन्द्रिकया रविः स्वविभया वज्रेण वज्रेश्वरः,

विश्वं शान्तिमयं यथा वितनुते ज्योतिर्मय शासितम्।

पूर्वोपार्जितपुण्यपुञ्जपणवै रत्नत्रयेणाद्भुत-

महच्छ्रीमुनिभिक्षुशासनमय कुर्वीत वीतस्पृहः ॥६॥

स्तूयमानः सदा स्तोत्रैर्युवाचार्यो नवोदय।

दर्शनीयो द्वितीयेन्दु सर्वैर्नित्यवर्द्धनः ॥७॥

वर्द्धापनपरा पत्री, परमाह्लादपूरिता

प्रेष्यते श्रीयुवाचार्ये, नथमलर्षिणा शुभम् ॥८॥

१. मैं युवाचार्यवर्य श्री महाप्रज्ञजी की अपने अन्तःकरण से स्तवना करता हूँ। सौभाग्य से जिन्होंने युवाचार्य बनने के पूर्व ही अपने पावन चरण-कमलो द्वारा, लाडनू पधारते समय हमारे मध्यवर्ती नगर सुजानगढ को प्रत्यक्ष रूप से पावन किया। तत्पश्चात् जिन्होने आचार्य श्री तुलसी के चरणो मे युवाचार्य-जैसे अभिनव, ललित और गरिमामय पद को पा लिया।

२ पूज्यवर आचार्यवर ने मर्यादा महोत्सव पर जनसमूह के बीच सगुण अथवा निर्गुण 'नथमल' इस पुरातन नाम को बदल कर उनको गुणयुत 'महाप्रज्ञ' के नाम से सम्बोधित किया। पर नाम से क्या ? 'महाप्रज्ञ' नाम आज निश्चित ही विस्तृत होकर सम्यक् प्रकार से उदित हो गया है और अपनी प्रभुता के कारण प्रसिद्ध बन गया है।

३ जिस प्रकार काली घटा वाले बादलो को देखकर मयूर हर्षित और प्रफुल्लित होकर नाचने लग जाते है, चकोर-पक्षी उद्गत होते हुए चन्द्रमा को देखकर आनन्दित हो जाते है और वसन्त-ऋतु के आने पर, सारी पृथ्वी हरी-भरी हो, लहलहाने लग जाती है, उसी प्रकार युवाचार्यश्री की नियुक्ति से हम मुनिजन अत्यन्त प्रसन्न और अपने आपको धन्य मानते है।

४ अपने अनुनय-विनय के द्वारा मुनि 'नथमल' नाव से नाविक बन गए—शिष्य से गुरु बन गए—यह बहुत बडा आश्चर्य हमारे हृदय मे नही समा रहा है। मैं उनके प्रति अपनी मंगल-कामना करता हूँ कि उनका नेतृत्व फलदायी बने और उनकी यशोगाथा सर्व प्रकार से सर्वत्र व्याप्त हो।

५ तेरापंथ-धर्मसंघ के अधिशास्ता का कैसा प्रशस्त सामर्थ्य है कि जिन्होने एक क्षण मे बिन्दु को सिन्धु बना दिया।

६. जिस प्रकार चन्द्रमा अपनी ज्योत्स्ना से विश्व को शीतलता देता है, सूर्य अपनी किरणो से विश्व को ज्योति देता है और इन्द्र अपने शस्त्र वज्र से विश्व को शासित करता है, उसी प्रकार कामनाओ से रहित युवाचार्यश्री 'महाप्रज्ञ' अनेक अर्हताओं से सम्पन्न, पूर्वार्जित पुण्य-समूह से प्राप्त, इस भिक्षु-शासन को रत्न-त्रय से वर्द्धापित करें—उसे ज्ञान, दर्शन और चारित्र के प्रशस्त मार्ग पर और आगे बढायें।

७ नवोदित युवाचार्यश्री महाप्रज्ञजी स्तवता के द्वारा श्लाघ्य होते हुए सदा दर्शनीय दूज के चन्द्रमा की भाति नित्य विकास करते रहें।

८ मैं (मुनि नथमल बागोर) : श्री युवाचार्य महाप्रज्ञ के प्रति आह्लाद से पूरित यह बधाई-पत्र भेज रहा हूँ।

—अनु० : मुनि राजेन्द्रकुमार

गम्भीर चिन्तक

—अगरचन्द नाहटा

जैन-धर्म मे स्वाध्याय और ध्यान को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। उत्तराध्ययन-सूत्र के समाचारी नामक अध्ययन मे साधु-साध्वी की समाचारी मे तो यहा तक कह दिया गया है कि प्रथम प्रहर मे स्वाध्याय, द्वितीय प्रहर मे ध्यान, तृतीय प्रहर मे गोचरी आदि शारीरिक क्रियाएँ, चतुर्थ प्रहर मे फिर स्वाध्याय। इसी तरह रात्रि मे एक प्रहर की निद्रा, बाकी प्रहरो मे स्वाध्याय और ध्यान का क्रम चालू रखने का विधान है। अर्थात् दिन और रात के आठ प्रहरों मे साधु-साध्वी चार प्रहर का स्वाध्याय, दो प्रहर का ध्यान, एक प्रहर गोचरी आदि और रात्रि का एक प्रहर निद्रा, यह मुनिचर्या है। पर देश और काल की स्थिति मे इतना अन्तर आया कि आज उस क्रिया का पालन बहुत कठिन हो गया है। मध्यकाल मे ध्यान की पद्धति साधारणतया लुप्त-सी हो गई थी। अत मेरे मन मे यह बार-बार आता रहता था कि ध्यान की पद्धति साधु-साध्वियो मे फिर से चालू हो। यद्यपि बीच-बीच मे कुछ ऐसे जैन-मुनि हुए है, जिन्होंने लम्बे समय तक ध्यान की साधना की है।

जब आचार्य श्री तुलसी का कलकत्ते मे चातुर्मास था, तो एक दिन रात को जब उनसे मिलने गया, तब अपना मनोभाव व्यक्त किया कि आपने साधु-साध्वियो मे पढाई तो बहुत अच्छी चालू कर दी है। थोडे वर्षो मे ही काफी विद्वान् लेखक-लेखिकाएँ तैयार कर दीं, पर आगमोक्त-ध्यान की परम्परा चालू करने की बडी कमी नजर आती है, तो आचार्यश्री ने कहा कि आपकी बात बहुत ठीक है, हम भी चाहते है, आपकी जानकारी मे कोई ध्यानयोगी या साधक जैनो मे हो, तो उसका तथा जैन-योग-सबधी ग्रन्थो का नाम बतलाइये। तो मैने अपने पूज्य गुरु सहजानन्द जी का नाम बतलाया, जो वर्तमान मे बहुत अच्छे ध्यान योगी है साथ ही कुछ ध्यान-संबधी ग्रन्थो की भी सूचना दी।

मुझे यह देखकर और जानकर बहुत ही प्रसन्नता होती है कि आचार्य श्री तुलसी जी, मुनि श्री नथमल जी, मुनि श्री किशनलाल जी आदि के प्रयत्नो से, तेरापंथी साधु-साध्वियो मे, ध्यान की अच्छी प्रगति हुई है। मुनि श्री नथमल जी के गभीर और ठोस चिन्तन ने ध्यान की जैन-पद्धति, जिसे प्रेक्षा-ध्यान नाम दिया गया है, सबके लिए सुलभ कर दी है। सैकडो श्रावक-श्राविकाएँ ही नहीं, जैनेतर भी इससे लाभ उठा रहे है। इस युग की मैं इसे बहुत बडी उपलब्धि मानता हूँ।

दार्शनिक और विचारक के रूप मे मुनि श्री नथमलजी बहुत समय से प्रसिद्ध रहे है, उन्होंने अपने चिन्तन को और आगे बढाया। अध्ययन भी बहुत अच्छा किया। इन दोनो विशिष्टताओ के कारण प्राचीन जैन-आगमो के सम्पादन-अनुवाद और टिप्पणिया लिखने मे बहुत अच्छी सफलता मिली है। इधर चिन्तन की गहराई मे, ध्यानमे भी बहुत अच्छी प्रगति हो सकी और उनकी मौलिक चिन्तन पद्धति से अनुभव के द्वार खुले।

मुनि श्री नथमल जी ने "मैने कहा" नामक पुस्तक की प्रस्तुति मे स्वय लिखा है कि मैंने दर्शन की भाषा को समझा, पर कहानी की भाषा को नही समझा था। मै दर्शन की सचाई को दर्शन की भाषा मे ही प्रस्तुत करता, तब मेरे श्रोता मेरी बात सुनने से पहले ही आशका से भर जाते,

भयभीत हो जाते। उनकी आशका इस निर्णय तक पहुँच जाती कि मुनि नथमल बोल रहे है, अब कुछ समझ मे आने वाला नहीं है, वे सुनने की मुद्रा मे ही नही रहते, इसलिए सचमुच उनकी समझ मे नही आता और उनकी आशंका, धारणामे बदल जाती। लगभग दो दशक तक यह क्रम चलता रहा। मैंने नयी यात्रा शुरू की। आचार्य श्री तुलसी ने एक दिन कहा—"तुम दर्शन की भाषा को कुछ सरसता मे बदलो जिससे जनता उसे समझ सके।" मेरी नयी यात्रा शुरू हुई। मैंने दर्शन की भाषा के साथ कहानी की भाषा को जोड दिया। केवल कहानी की भाषा को ही नहीं जोडा, किन्तु दर्शन की भाषा को भी कहानी की भाषा मैं कहना शुरू कर दिया। थोडे समय बाद ही कुछ ऐसा हुआ कि लोग मुझे सुनने की ही मुद्रा मे बैठते है और दर्शन को गभीर चर्चा प्रस्तुत करता हूँ तो उसे भी कहानी के रूप मे सुन लेते है।

वास्तव मे उनके जीवन मे नये-नये उन्मेष खेलते रहे है, पहले वे साधारण थे, बढते-बढते असाधारण बन गये। पहले वे कुछ ही लोगो के समझने योग्य थे अब सबके लिए उपयोगी बन गये। पहले साम्प्रदायिक दृष्टि मे आबद्ध थे, अब उससे ऊपर उठ गये। हर व्यक्ति को उनके अनुभव-ज्ञान से कुछ-न-कुछ नयी जानकारी और प्रेरणा मिलती है। आगमो का कार्य और ध्यान-पद्धति का विस्तार विशेप रूप से उल्लेखनीय है। उनके साथ रहने और काम करने वाले कई मुनि भी काफी कार्यक्षम और योग्य बन सके है।

यह भी बहुत महत्त्व की बात है कि उनके भाषण टेप कर लिये जाते है, जिससे सहज ही मे अनेको ग्रन्थ तैयार होकर प्रकाशित भी हो गये। सहयोगी मुनि श्री दुलहराज जी आदि ने उनके अनेक ग्रन्थो का सम्पादन कर दिया, अन्यथा वे इतने जल्दी प्रकाश मे नहीं आ पाते।

जैन-मुनियो मे वे अपने ढग के एक ही है। आचार्य तुलसी के साथ लम्बे समय तक रहने से उनकी प्रसिद्धि और योग्यता भी इतनी अधिक बढ सकी। गुरु के प्रति समर्पण-भाव, श्रद्धा, निष्ठा और विनय उनकी योग्यता के विकास मे बहुत बडे कारण है। जिस शिष्य पर गुरु प्रसन्न हो जाये और गुरु का अन्तर-हृदय से आशीर्वाद मिले, उसकी महिमा का क्या कहना। एक तो स्वय ही योग्य एवं प्रतिभा-सम्पन्न, दूसरे अनुकूल वातावरण एवं सहयोग, फिर तो, दिन दूनी रात चौगुनी, प्रगति होने देर नहीं लगती। आचार्य तुलसी ने पहले 'महाप्रज्ञ' का पद दिया और अब युवाचार्य का। वास्तव मे यह सर्वथा उपयुक्त और सूझ-बूझ वाला निर्णय है। वे जैन-शासन की खूब सेवा एवं प्रभावना करें, तथा आत्मोन्नति के चरम शिखर पर पहुँचें—यही शुभ-कामना है।

★

बालक की तरह निश्छल

—पारस जैन

(महामन्त्री अखिल भारतीय अणुव्रत-समिति)

राजलदेसर मे 'मर्यादा-महोत्सव' १९७९ ई० के अवसर पर हम भी पहुँच गये, अक्सर मैं इस भीड-भाड के समय आचार्यश्री के पास जाता नहीं हूँ। आचार्यश्री अपना वक्तव्य दे रहे थे, बीच मे ही उन्होने कहा—"आज मैं अब विशेष घोषणा करने जा रहा हूँ।" लोगो का कौतूहल जगा, बडे ही नाटकीय ढंग से आचार्यश्री ने अपने उत्तराधिकारी की घोषणा की भूमिका बाँधी। लोग बडे उत्सुक। जैसे अब नाम सामने आयेगा। किसका नाम लिया जायेगा ? लोग अपना अनुमान लगाने लगे। मेरे पास बैठे सज्जन ने मुझ से पूछा "क्यो भाईसाहब। युवाचार्यपद के लिये किसका नाम आयेगा ?" मैंने सिर हिलाया—"पता नहीं"। उन्होंने तीन नाम लिये जिनमे मुनि नथमल का नाम भी था। मैंने कहा—"और कोई नाम भले ही हो, नथमलजी का नाम तो हो ही नहीं सकता। वे दार्शनिक है, गगन-विहारी है, वे अपने मे ही खोये रहते है, उनसे प्रशासक को कल्पना कैसे की जा सकती है ?" पर थोडे ही समय मे घोषणा हो गई। लोगो मे वडी हलचल, वडा आवेग। जैसे अप्रत्याशित घटित हुआ, लोग साँस-रोक, आचार्यश्री की ओर ध्यान तथा कान दिये सुन रहे थे। वातावरण शान्त था। घोषणा के क्षणो मे ही एक तेज हवा का झोका आया और पडाल के बाँस कहीं-कहीं जमीन से ऊपर उठ गये। लोगो की जैसे तन्द्रा भग हो गई। लोगो ने कहा—"साक्षात् आचार्य भिक्षु अपने शिष्य को आशीर्वाद देने आये है," आदि-आदि।

मैं आज भी सोचता हूँ—क्या महाप्रज्ञजी इस बृहद सघ को सँभाल पायेंगे ?" क्योकि आचाय कालूगणी के काल की परिस्थितियो से स्थिति बहुत भिन्न हो गई है। साधु और साध्वियो की संख्या मे भी अपार वृद्धि हुई है, शिक्षण का स्तर भी बढा है। सैकडो साधु और साध्वियाँ साहित्य मे रस लेने लगी है। बहुत बडा बौद्धिक विकास हुआ है उनका चिन्तन, संघ तक सीमित न रहकर, विश्व मे घटने वाली हर घटना पर जाने लगा है। ऐसे प्रबुद्ध योगियो पर नियंत्रण रख पाना, इन सबकी आकांक्षाओ और महत्वाकाक्षाओ को तिरोहित नहीं करते हुए, अपने साथ लिये चलना, आसान काम नहीं है।

मेरे ऐसा सोचने का कारण है। कई प्रसग है जैसे—

रायपुर-काड के बाद, मैं ध्यान रखने लगा कि आचार्यश्री के प्रति देश मे कहीं, क्या षडयत्र चल रहा है ? जानकारी के आधार पर गंगा शहर मे मैंने मुनिश्री के सामने सारी स्थिति रखी। उन्होने बड़े ही सरल रूप मे लिया और कहा—"पारसजी। अब सारी स्थिति बदल गई है।" मैंने जब प्रतिवाद किया जो उन्होने विनोद मे कहा—तुम्हें सन्निपात हो गया है, इसलिये तुम्हें वही-वह दिखाई देता है।" मैंने भी हँसकर बात टाल दी और कहा—"हमे सावधानी की आवश्यकता है।" कुछ समय बाद श्रीराणमलजी जीरेवाला के लड़के की शादी मे मैं जोधपुर आया था। घर से सोचकर निकला था कि आचार्यश्री के दर्शन रतनगढ मे करूंगा, और मुझे जो और जानकारी मिलि है, वह भी निवेदन करूंगा।" उसी दिन श्री देवन्द्रकुमार कर्णावट वहाँ आ गये। उनसे बात हुई। मैंने मुनिश्री के बारे मे कहा—"विरोधी भीतर-ही-भीतर तैयारी कर रहे हैं। मुझे बताओ कि मुनिश्री और आचार्यजी का क्या-क्या चिन्तन है ?" उन्होंने सहज ही कहा—"ऐसी कोई बात नहीं है।" मैं परेशान हो गया,

मैंने कहा—मैं अब रतनगढ नहीं जाऊँगा क्योकि मेरे पास मिवा इस एक वातके और कुछ कहनेको है ही नहीं। मैंने देवेन्द्रजी को बताया कि किस प्रकार मैंने और मेरे मित्र श्री प्रोफेमर मान (हैदरावाद) ने वम्बई मे भारत-साधु-समाज के वृहद् अधिवेशन मे "अग्नि-परीक्षा" संबंधी प्रस्ताव को पारित नहीं होने दिया, आदि।

मैं वापस हैदरावाद चला गया। जोधपुर मे मैंने कई लोगों से इस बारे मे चर्चा भी की थी। चार दिन वाद ही रतनगढ मे विस्फोट हो गया।

वे अपनी दार्शनिक भूमिका के कारण किमी अनिष्ट की कल्पना ही नहीं कर सकते। सारे सघ को आपदाओ से निरापद रखनेके लिये सदा सर्तक, जुभारु की तरह सचेष्ट रहना—क्या दार्शनिक से संभव हो पायेगा? क्या वे आँखें जो सदा अतीत मे खोई और खोजती रहती है, अवसर आने पर लाली ला सकेंगी?

उनको मैंने नजदीक मे देखा है। उनका मन सरल वालक की तरह निश्छल, निष्कपट है। प्रवंचनाओ और प्रपच से बचे रहने की उनकी महज-वुद्धि है। वे मन के इतने सरल है कि उन्हें कोई भी चालाक, अपनी वातो से फुसला सकता है। वे संत है, महामनीषी है, विशाल हृदय, दुनियादारी के छल-प्रपंचो से दूर, वहुत दूर। इन्हें सहज ही ठगा जा सकता है, साधु सदा-सर्वदा ठगाता रहता है।

महाप्रज्ञजी का निकट परिचय जालना (महाराष्ट्र) मे १९५१-५२ के आसपास हुआ। यह भी विचित्र घटना है—

जहाँ इनका निकट परिचय हुआ, वह स्थान 'शौच-घर' था। शिविर मे सर्वोदयी शौचालय बने थे। पचास व्यक्तियो के उपभोग करते रहने पर भी गंदगी अथवा अशुचि नही थी। सारा स्थान साफ सुथरा। मैंने इसके वनाने और गदगी का विवेक के साथ उपयोग करने पर क्या लाभ है—यह सारा ब्यौरा दिया। लगभग १० मिनट दोनो वहाँ ठहरे रहे। मुनि नथमल ने वडी बारीकी से पूछताछ की और जानकारी ली थी। वहाँ एक शिविर हुआ था। आचार्यश्री शिविर मे पधारे थे। इनके साथ मुनिश्री भी थे। इन्हें शिविरके कार्यक्रमो एवं शिविरार्थियो का परिचय कराया गया।

महाप्रज्ञश्री युवाचार्य हो गये, भविष्य मे वे तेरापथ-धर्म-संघ के आचार्य होगे। अपने गुरु, आचार्य तुलसी के चरणो मे वैठकर इन्होने नाना साधनायें की है। आचार्य श्री तुलसी की कल्पनाओं को साकार रूप भी दिया—यह सब मनको भला लगता है, अच्छा लगता है, गुदगुदी-सी होती है। 'कुछ पा लिया है'—जैसी तुष्टि भी होती है। पर दबी-सी आशका भी होती है कि कहीं हम कुछ खो तो नहीं रहे है तेरापंथ-धर्म-संघ के परिप्रेक्ष्य मे, विश्व के क्षितिज पर उभरते दार्शनिक को पाकर?

●

महाप्रज्ञ को नमन

—मुनि रूपचन्द्र

आज से ठीक एक वर्ष पहले
अनन्त शून्य के वक्ष स्थल को चीरते हुए
जन-जन के कानों में गूंज उठा एक शब्द
महाप्रज्ञ
और मैं पहुँच गया सहसा
इतिहास के प्रभातकालीन युग में
जहाँ बोधि-वृक्ष के नीचे
पद्मासन में आसीन
तथाता में लीन
तथागत के लिए गढा गया था शब्द
महाप्रज्ञ
शील, समाधि और प्रज्ञा के पारगामी, समयज्ञ
और तभी चढ गए दोनों ही व्यक्तित्व
मेधा की नपी-तुली तुला पर
एक ही विशेषण संदर्भ में ;
सहसा झटका दिया प्रज्ञा की अकम्पित शिखा ने
मुझे दूर-दूर अनन्त के गह्वर में
क्या होती है कभी सुमन और सुमन में तुलना ?
हर सुमन अपने में सत्य है,
हर सुमन अपने में शिव है,
हर सुमन अपने में सुन्दर है,
जो जैसा खिला है,
पंखुडियों के जिस-किसी परिवेश में खिला है.
जिस-किसी पेड की
जिस-किसी डाली पर खिला है
वह वैसे ही / वहीं ही / अपने में पूर्ण है।
अशेष सम्भावनाओं को अपने में समेटे
बीज का फूल बनना ही संपूर्णता है,
फिर किसके साथ किसकी तुलना ?
हम तो कर सकते हैं केवल भावभीना वन्दन,
महाप्रज्ञ को नमन, अभिनन्दन !

मनीषी संत

— डॉ० नरेन्द्र भानावत
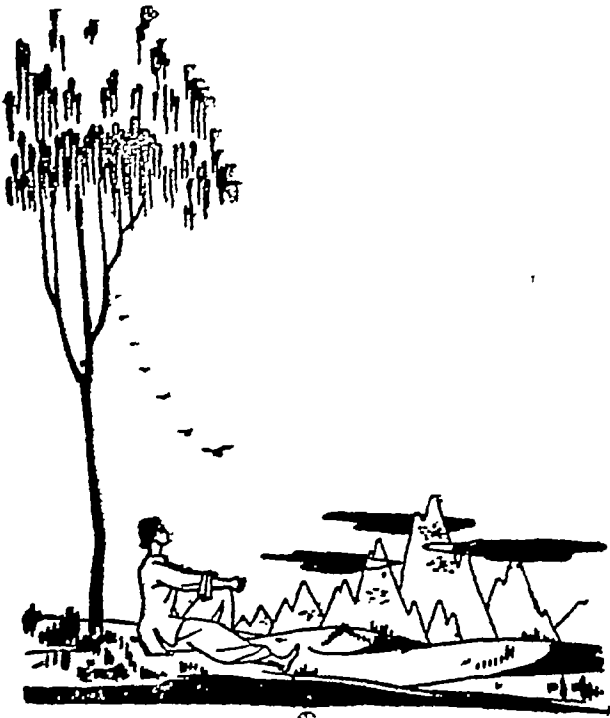
मुनिश्री नथमलजी तेरापंथ-धर्म-संघ के ही नहीं समस्त, जैन-जगत के, और कहना तो यह चाहिए कि सम्पूर्ण भारतीय दार्शनिक परम्परा के जगमगाते नक्षत्र है। वे सच्चे अर्थो मे दार्शनिक है। उन्होने ज्ञान को आत्मसाक्ष्य-भाव से देखा है और उसे आचरण मे उतारा है। इसीलिए ज्ञान की ऊष्मा, उन्हें मात्र तार्किक नहीं बनाती वरन् अनुभूतिके प्रकाश मे रूपांतरित होकर, उन्हें प्राज्ञ-महाप्राज्ञ बनाती है।

मुनिश्री नथमलजी से मेरा पन्द्रह-सोलह वर्षो से परिचय है। उनका बहुरंगी और बहुआयामी साहित्य मैंने पढा है। कई बार उनसे बौद्धिक संलाप करने के भी अवसर आये है। मैंने उन्हें सदा समुद्र की तरह गंभीर, हिमालय की तरह उन्नत और आकाश की तरह अवकाशी पाया है। जीवन के ठोस यथार्थ धरातल से बात शुरू कर वे उसे उदात्त आदर्शों और जीवन-मूल्यो की ओर इस प्रकार अग्रसर करते है, कि श्रोता या पाठक उससे अभिभूत हुए बिना नहीं रहता।

मुनिश्री कारयित्री एवं भावयित्री दोनो प्रतिभाओ के समान रूप से धनी है। उनकी कारयित्री प्रतिभा से संस्कृत और हिन्दी भाषा मे अनेक काव्य-कृतियो का निर्माण हुआ है। संस्कृत-काव्य "सम्बोधि" मे साधना-क्षेत्र मे, दुर्बल और शंकालु मेघकुमार, महावीर से सम्बोधि पाकर अपने आत्म-पुरुषार्थ को जाग्रत करता है। "अश्रुवीणा" मे अश्रुप्रवाह के माध्यम से चन्दनबाला का संदेश प्रेषित किया गया है। "तुला-अतुला" मे मुनिश्री के आशुकवित्व की परिचायक विविध रचनाएँ संग्रहीत है। हिन्दी-काव्य-संग्रह "फूल और अगारे" तथा "गूँजते स्वर · बहरे कान" मे मुनिश्री की ऐसी कविताएँ संकलित है जो चिन्तनशील होती हुई भी आत्मानुभूति के रस से सिक्त है, अनेकान्तधर्मी होती हुई भी भावना के घनत्व से आर्द्र है और लोकभूमि से जुडी होकर भी आत्मनिष्ठ है। अर्थ-गाम्भीर्य और शब्दलालित्य से वे सम्पन्न है। मुनिश्री का साधक मन जब भीतर की गहराई मे डूबता है, तब सहज आनन्द की निश्छल और निरावरण अभिव्यक्ति ही कविता के रूप मे फूट पडती है। मुनिश्री की कविता आत्मोल्लास के क्षण मे लिखी होने पर भी लोकोल्लास को अभिव्यक्त करती है। "स्व" को "सर्व" मे विलीन करने की यह रचना-प्रक्रिया, मुनिश्री के सन्त और साधक व्यक्तित्व का परिणाम है। मुनिश्री की भावयित्री प्रतिभा उन्हें गूढ दार्शनिक, अगम्य तत्ववेत्ता, सूक्ष्म विवेचक और विशद व्याख्याता बनाने मे निखरी है। "जैन-दर्शन मनन और मीमासा", "अहिंसा तत्व-दर्शन", "श्रमण महावीर", तथा "उत्तराध्ययन" और "दशवैकालिक" सूत्रो के समीक्षात्मक अध्ययन मे मुनिश्री का गहन विचारक, व्यापक अध्येता और मौलिक चिन्तक का रूप सामने आया है। मुनिश्री की व्याख्या और विवेचना मे जो तेजस्विता और मौलिकता प्रतिबिम्बित होती है, वह उनके धर्म, दर्शन, साहित्य, इतिहास, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, भाषाविज्ञान आदि विविध विषयो के समन्वित अध्ययन, मनन और मन्थन का परिणाम है।

जैनधर्म क्रान्तिवादी और बौद्धिक चिन्तन का परिणामी धर्म रहा है। पर मध्ययुग मे अन्य धर्मो की भाति जैनधर्म भी अन्ध परम्पराओ का शिकार बना और उसका तेज कुन्द हो गया। यह श्रद्धालुओ तक सीमित रह गया। आधुनिक युग मे इस बात की बडी जरूरत थी कि

जैनधम और दर्शन की विवेचना, बौद्धिक संवेदनाके धरातल से की जाए और उसे धर्म या सम्प्रदाय के रूप मे नहीं वरन् जीवन-मूल्य के रूप मे प्रतिपादित व प्रतिष्ठित किया जाए। मुनि श्री नथमलजी ने इस ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति करने मे अपनी विलक्षण प्रतिभा और बौद्धिक जागरूकता का अच्छा परिचय दिया है। फलस्वरूप भारतीय विश्वविद्यालयो के अनेक आचार्य और भारतीय मनीषा के अग्रगण्य प्रतिनिधि मुनिश्री के वक्तव्यो और ग्रन्थो से जैन-दर्शन को सही परिप्रेक्ष्य मे समझ सके। राजस्थान-विश्वविद्यालय मे जैन-न्याय पर दिये गये मुनिश्री के विशेष व्याख्यान, हमारे इस कथन के साक्षी हैं।

मुनिश्री कोरे शुष्क दार्शनिक नहीं है। उनके पास साधना और सयम का विशेष बल है, भारतीय योग-परम्परा के व्यापक सदर्भ मे उन्होने जैनयोग-साधना का, प्रेक्षा ध्यान का सिद्धान्तपरक और अनुभूतिमूलक विवेचन, विश्लेषण और प्रयोग किया है। इस प्रकार मुनिश्री ने दर्शन के क्षेत्र मे वैज्ञानिकता को प्रतिष्ठित किया है और विज्ञान के क्षेत्र मे दार्शनिकता को प्रतिष्ठित करने के वे पक्षधर है।

ऐसे मनीषी संत, साधक-मन, वैज्ञानिक, दार्शनिक और प्राज्ञकवि को आचार्य श्री तुलसी ने अपना उत्तराधिकारी घोषित कर अभिनन्दनीय कार्य किया है। इस घोषणा से श्रद्धालु भक्तो मे ही नहीं, बुद्धिजीवियो मे भी प्रसन्नता की लहर व्याप्त हुई है। इस अवसर पर मैं युवाचार्य महाप्रज्ञ श्री के प्रति अपनी शुभ कामनाएं प्रकट करता हू और आशा करता हूँ, कि उनके प्रज्ञाभाव से शील और समाधि का विशेष वातावरण बनेगा।

●

शत-शत प्रणाम

—शिवाजी न० भावे

महाप्रज्ञजी की तपस्या, विद्वता और व्रत-धर्म-निष्ठा अद्भुत गिनी जाएगी। साथ-साथ उनकी विवेक-विराग भावना भी इतनी गहरी है कि न केवल तेरापंथ को, अपितु वे समग्र जैन-जगत को, इतना ही नहीं, समूची भारतीय संस्कृति के मार्ग-दर्शन करने में हमेशा अग्रसर रहेंगे।

क्रान्तिकारी नथमलजी

डॉ० ओमप्रकाश गुप्त
एम० ए०, एल-एल० बी०, डी० लिट्

काफी चिन्तन और मनन के वाद ही हमने मुनिश्रेष्ठ नथमलजी के योग्य समस्त विशेषणो को छोडकर केवल उनके "क्रिश्चियन नेम" अर्थात् माता-पिता के द्वारा रखे हुए नाम को ही अपने लेख के शीर्षक मे रखा है। मैं जानता हूँ जब मेरा उनसे परिचय हुआ तब तक वे अपनी माता की गोद मे खेले हुए नथमलजी नहीं रहे थे। वे बहुत आगे बढ चुके थे, ऊँचे चढ चुके थे। आखिर उन्होने तुलसी का पल्ला पकडा ही था केवल ऊर्ध्वारोहण के लिए, और तुलसी तो बैठे नहीं थे, बैठने वाले नही थे, बराबर प्रारोहण कर रहे थे, एक बडी हिम-यात्रा नथमलजी के शब्दो मे कहें तो 'चेतना का ऊर्ध्वारोहण' ही उनका चल रहा था। चलने वाला और चढने वाला केवल अपनी मंजिल को देखता है, वह किसी के लिए रुकता नहीं, किसी को रोकता नहीं फिर सोचने की बात है—उनका पल्ला पकड रखने वाले नथमलजी पीछे कैसे रह जाएँ। पाडवकुल-श्रेष्ठ-धर्मात्मा-महात्मा युधिष्ठिर ऐसी ही ऊर्ध्वारोहण यात्रा पर निकले थे। उनके साथ द्रोपदी सहित समस्त पाडव थे। युधिष्ठिर चढते जाते थे, एक के वाद एक पाडव गिरते रहे किन्तु युधिष्ठिर रुके नहीं वह बराबर बढते ही गए, चढते ही गए यहाँ तक कि जब आखिरी सीढी पर पहुँचे तो बस केवल स्वामीभक्त कुत्ते के रूप मे धर्मराज ही उनके साथ थे।

जितने विशेषण और जितनी उपाधियाँ है, वास्तव मे वे सब ता आरोही के भिन्न-भिन्न पडाव-स्थान हैं। पडाव-स्थानो से यदि आरोही बँध जाए तो, फिर तो नथमलजी की चिन्तन-शैली से देखें तो, वह भारी हो जायगा और भारी वस्तु ऊपर नही रहती नीचे डूब जाती है। जहाँ तक मैं नथमलजी को जानता हूँ वे इन उपाधियो की स्मृति को और तुलसी के उत्तराधिकार की कल्पना, इन दोनो को ही बोझ मानते है। वे, शकराचार्य की भाषा मे कहें, तो न अतीत का अनुसन्धान करते हैं और न भविष्य की विचारणा। नित्य वर्त्तमान मे जीते है और वर्त्तमान मे जीने वाला ही क्रान्तिकारी होता है। क्रान्तिकारी किसी पडाव से बँधता नही फिर भी सारे पडावो का तेज उसकी आँखो से झाँकता रहता है। नथमलजी क्रान्तिकारी है, मुनित्व और महाप्रज्ञत्व तक की सारी उपाधियो को वे व्याधि समझ कर उनके मोह मे अटकने वाले नही है। वास्तव मे जरा और गहराई से उनके अन्तरतम मे झाँकिये तो वहाँ नथमलजी भी कहीं दिखाई न देंगे। क्या दिखाई देगा ? दिखाई देगा बस सत्य, प्रेम और करुणा के अनुपम आलोक से आलोकित एक असामान्य मानव।

अभी हैदराबाद मे तुलसी के पट्ट-महोत्सव के समय सभास्थल मे एक पटल पर लिखा था —

जग में जब तक सूरज-चाँद रहेंगे
तुलसी तब तक तेरा नाम रहेगा

हमने भक्तो के इस उद्घोष को पढकर कहा कि आपने इस घोष के पूर्वार्द्ध को छोडकर केवल उत्तरार्द्ध को ही लिया है और तुरन्त हमारे मुँह से पूर्वार्द्ध के रूप मे निकल पडा —

जबसे जग में सूरज-चाँद रहे हैं
तुलसी तबसे तेरे नाम रहे हैं

अस्तित्व अथवा आत्मा और जीवन, इन दोनो किनारो

को जोडने वाला एक पुल है। यह पुल आज का नही है अतीत मे था, आज है और भविष्य मे भी रहेगा। यह सनातन पुल है और चूंकि जो सनातन है वह नित्य-नूतन होता है। गंगा सनातन है चूँकि नित्य-नूतन है। अभी जो जल-प्रवाह देखा वह तुरन्त कहीं चला गया और देखते-देखते नया प्रवाह, बिल्कुल नूतन प्रवाह, सामने आ गया। इस प्रकार यह एक सनातन पुल है। बडा सुन्दर, ऐश्वर्यमय और मोहक है इस पुल का शृंगार, इसका आकार और इसका व्यवहार। कितने ही लोग इस पुल पर खडे हो जाते है, मंत्रमुग्ध की तरह बस इसी से बँधे रह जाते हैं, उन्हें किनारों का कोई भान ही नहीं रहता, साथ ही कुछ, भले ही वे बहुत ही थोडे क्यो न हों, ऐसे लोग भी है जो उद्दिष्ट किनारे को जानते है और बराबर किनारे की ओर बढते रहते है। इन्हीं बराबर बढते रहने वाले पथिकों को ऊर्ध्वारोही कहते है, सन्त, महात्मा, सिद्ध और महाप्रज्ञ कहते है। हम साधारण कोटि के लोग देह-देही-विवेक से अनभिज्ञ होने के कारण, देह से ही बंधे रह जाते है, देह का ही नाम रखते हैं और देह की अर्चना-चर्चना और पूजाको, अपना अहो भाग्य समझ बैठते है। हम भूल जाते है जिस महामानव को हम तुलसी कह रहे है या 'नथमल' को 'नथ' से जानते हैं वे उस सनातन सत-परम्परा-सरिता के सनातन प्रवाह है, वे कल जैसे थे, आज भी हैं और कल भी रहेंगे, जब से जग मे सूरज-चाँद है तब से वे है और जब तक सूरज और चाँद रहेंगे, वे और उनके नाम रहेंगे।

बाईबिल कहती है "मानव की रचना भगवान के स्वरूप मे हुई है।" कुरान कहता है "हजरत आदम मे खुदा ने अपनी रूह फूँकी है।" भारतीय दर्शन तो पहले से ही यह घोषणा करता चला आ रहा है। भगवान निराकार है, भगवान अस्वरूपी है। रेखा-गणित के विशेषज्ञ कहते हैं, शून्य का कोई आकार नहीं होता, कोई स्वरूप नहीं होता। जो निराकार है उसमे सारे आकार समा जाते है और अस्वरूपी में सारे रूप रहते है। भेद आकार और स्वरूप मे होता है। दस व्यक्ति दस मोटी-पतली, काली पीली, नीली हरी विभिन्न रंगो की पेन्सिलों से अलग-अलग दस शून्य चिह्न बनाते है। किसी बच्चे से पूछो, बड से पूछो, ज्ञानी से पूछो, अज्ञान से पूछो, जैन से पूछो, अजैन से पूछो हर कोई बिना किसी गम्भीर चिन्तन के सहसा कह उठेगा शून्य है यह। काला शून्य, पीला शून्य, छोटा शून्य बडा शून्य इत्यादि विकल्प और सन्देह उसके मन मे नहीं उठते। सारे भेद ऊपर के स्थूल आवरण में होते है। एक गणिती ऊपर के भेद डालने वाले इन सब आवरणो को चीरकर उन विभिन्न आकार और प्रकार के शून्यों के अन्तस्तल मे विराजमान एक अभेदीय शून्य को ही देखता है। जब हम एक मानवकृत शून्य को बिना किसी ऊहापोह के, उसके भेदीय स्वरूप को चीरकर, तुरन्त उसके अभेदीय शून्य-स्वरूप को पकड लेते है तो फिर क्यो मानव-आकार के इस "शून्य" के केवल भेदीय अथवा भेद उत्पन्न करने वाले स्थूल स्वरूप और आकार को चीरकर 'पूर्णमद पूर्णमिदम्' के अभेदीय पूर्ण परब्रह्म की झाँकी के द्वारा आत्म-लाभ और आत्म-साक्षात्कारका आनन्द नहीं उठाते? जैन, अजैन, तेरापथी, श्वेताम्बर, दिगम्बर, हिन्दू, मुसलमान, काला-गोरा, लम्बा-नाटा, नथमल, ओमप्रकाश के सारे विकल्प, विभिन्न स्थूल-प्राकारो और स्वरूपो मे ही उलझे रह जाने के कारण मालूम होते हैं।

गीता कहती है —

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज
अहं त्वां सर्वपापेभ्य मोक्षयिष्यामि मा शुच.

अरे, मेरे-तेरे के माया-जाल मे फँसे हुए मानव। ऊपर के स्थूल आकार-प्रकार और स्वरूपों एव नामो के छोटे छोटे घरौंदे बनाकर तू क्यो भटक रहा है? तू उठ, जाग, आँखें खोल और इन सब झूठे मायावी और भ्रम और भेदमूलक स्थूल स्वरूपो को चीरकर मुझ अस्वरूपी, निराकारी और

सब प्रकार के भेदो से परे अभेदीय परमात्म-तत्त्व परब्रह्म परमेश्वर की शरण मे आ। देख तेरी इस भेद-दृष्टि के कारण ही सारे राग-द्वेष, सारे वैर-भाव, सारे असत्य, सारे संग्रह, सारे हिंसक कार्य, सारे भोग-विलास, सारे छल-कपट और चोरी के इन सारे पापो का स्थूल लेपन तेरे ऊपर चढ़-चढ़कर तू भारी बनकर डूबता जा रहा है, यदि तू मेरी शरण में आता है, अपनी प्रज्ञा के सहारे इन सारे ऊपरी खोलों को चीर-फाड कर मेरे अभेदीय रूप को पहचान कर तदनुरूप वर्तन करता है, तो विश्वास रख, नि सन्देह मैं तेरे सब पापो को नष्ट कर दूंगा।

कितनी सरल और कितनी स्पष्ट बात है। क्यो नही हम सब भी उस भक्त-कवि की तरह अपने से ही प्रश्न करते "अब हौं कासों वैर करौं, कहत पुकारत प्रभु निज मुख ते घट-घट हौ विहरौं"। कहते हम सब है "हम सब एक ही माटी के भाँडे है" किन्तु हमारा मोह, हमारा लगाव और हमारी आसक्ति रहती है केवल उस स्थूल भौंडे भाँडे म ही। हम उसके अभेदीय सत्य, शिव, सुन्दर स्वरूप की ओर बढ़ते ही नहीं।

महावीर ने कहा और दुनियाँ के तत्त्व-ज्ञानियो ने भी यही कहा है कि धर्म के परम अर्थ अथवा उसके सार-तत्त्व को समझना है तो उसके बाह्य कर्म-काण्ड, मुखपट्टी, केश-लुंचन, यज्ञोपवीत, बपतिस्मा, खतना आदि बाह्य अनुशासनो से मुक्त होकर प्रज्ञा के द्वारा गहरे उतरो। गहरे उतरने पर ऊपरी स्थूल छिलको की तरह, हिन्दू-मुसलमान, जैन-पारसी आदि सारे भेद अदृश्य होकर एक अभेदीय सार-तत्त्व ब्रह्म के दर्शन हो जायेंगे। यह सम्पूर्ण सृष्टि और इस सृष्टि के समस्त व्यापार भेद और अभेद इन दो तत्त्वो से युक्त है। भेद-तत्त्व स्थूल होने के कारण हम प्राय इसी तत्त्वको पकड लेते है। प्रकारेण कहिये यही तत्त्व हमको पकड लेता है। पुण्य और पाप, ईश्वर और शैतान, क्रान्ति और भ्रान्ति, तप और भोग अथवा स्वर्ग और नरक आदि इन्हीं अभेद और भेद, दो तत्त्वो की छाया है। गीताकार ने कहा है —

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत:
अभ्युत्थानम धर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्

जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है तब-तब धर्म के अभ्युत्थान के लिए मैं प्रकट होता हू। यहाँ धर्म क्या है, अधर्म क्या है, धर्म का अभ्युत्थान करने के लिए कौन आता है इत्यादि प्रश्नो पर विचार करना चाहिए। हमारा एक गन्तव्य स्थान है, अबाध गति से, पूर्ण मनोयोग के साथ, हँसी-खुशी निरन्तर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते रहना ही धर्म है, पुण्य है, ईश्वर-भक्ति है, तप है, स्वर्ग है और इसलिए क्रान्ति है। इसके विपरीत गन्तव्य स्थान को भुलाकर या छोड़कर राग, द्वेष, मोह, मद, मत्सर इत्यादि के शैतानी जाल मे फँसकर, भेद-तत्त्व की इस विशाल प्रदर्शनी मे ही रमते रह जाना, अधम कहिये, पाप कहिये या भ्रांति मे फँस जाना है। 'त्वमेव माता' कहकर जिस भगवान का हम प्रथम स्मरण करते है, वह माता भला हमे गलत रास्ते से हटाकर सही रास्ते पर नहीं लगायेगी ? गलत रास्ते से हटाकर सही रास्ते पर लगाना ही धर्म का अभ्युत्थान करना है और यह काम कौन कर सकता है, वही जिसके हृदय म भूत-मात्रके लिए वात्सल्य छलछलाता हो। प्रेम मे दो पक्ष हो सकते है किन्तु वात्सल्य तो नितान्त निष्पक्ष होता है। क्राईस्ट ने कहा "अपने पडोसी को प्यार करो, अपने शत्रु को भी प्यार करो और ऐसा प्यार करो जैसा मैंने तुम्हें किया है।" इसी वात्सल्य का नाम मानव-धर्म है, इसी को अहिंसा-धर्म कहिये अथवा जड-मूल से सम्पूर्ण क्रान्ति। यही काम, जिन्हें हम अवतारो के नाम से स्मरण करते हैं, उन्होने किया है। यही अवतार की पहचान और कसौटी है। अवतारी पुरुष "अहिंसा परमोधर्म" का उद्घोष नहीं करता बल्कि उस धर्म की स्थापना, विकास, प्रचार व प्रसार के लिए जीता

और मरता है। क्रान्ति उद्घोष से नही क्रिया मे से प्रकट होती है। भगवान पार्श्वनाथ ने इस क्रान्ति के लिए चार और भगवान महावीर ने पाँच महाव्रतो की साधना निश्चित की। गाधी-युग आते-आते इनकी सख्या ग्यारह हो गयी। महत्त्व वास्तव मे इन महाव्रतो की सख्या का नहीं, ये तो ऊर्ध्वारोहण के लिए सीढियाँ है। आरोही की शक्ति और साधना के अनुसार ही वह ऊपर चढता है। वास्तव मे आरोहण के लिए सीढियाँ अनन्त है। आचार्य तुलसी ने अणुव्रत के निमित्त से इन अनन्त सीढियो का दर्शन हमे कराया है। ऐसा नहीं मानना चाहिए कि अणुव्रत के कारण आचार्य तुलसी, भगवान पार्श्वनाथ या भगवान महावीर से भिन्न, कोई अलग तप-मार्ग बता रहे है। भिन्नता का अर्थ विरोध नहीं होता।

यह विज्ञान-युग है। इसने दुनियाँ को बहुत सिकोड कर हमे अपनी पुरानी आध्यात्मिक अनुभूति "वसुधैव कुटुम्बकम्" का स्मरण कराने के साथ ही, यह भी बता दिया है कि इस युग मे मरण और मोक्ष दोनो सामूहिक होंगे। इसलिए मोक्ष चाहिए तो सामूहिक मोक्ष का रास्ता खोजना होगा। आचार्य तुलसी विज्ञान-युग के ऋषि है। विज्ञान की इस चुनौती के सदर्भ मे ही उन्होने अणुव्रत की एक ऐसी सीढी दी है जिसके द्वारा आबाल-वृद्ध, सब कोई इस आरोहण की क्रान्ति मे भाग ले सकते हैं और जी सकते है।

क्रान्ति और विप्लव या बगावत मे तथा क्रान्ति और राहत मे बहुत अन्तर है। विप्लव या बगावत व्यक्ति-विद्वेषकी भूमिकासे शुरू होकर उसी मे समाप्त होता है, कुछलोगो के द्वारा कुछ लोगो के लिए और कुछ ही लोगो की हिंसा-प्रधान अप्रकट गतिविधि को विप्लव कहते है। फ्रास, रूस या चीन मे विप्लव हुए थे, क्रान्ति नहीं। क्रान्ति मे अशान्ति के मूल कारणो की खोज करके अशान्ति के वाहनो से असहयोग करते हुए, शान्ति-स्थापना के विधायक कार्यक्रम रखे जाते हैं। क्रान्ति एक पक्षीय नहीं होती, उसका उद्देश्य अभ्युदय और अभ्युत्थान होता है, इसलिए वह सर्वपक्षीय और इसलिए सर्वोदयी होती है। सर्वोदय के लिए अहिंसक साधन और वात्सल्य-वृत्ति दोनों अनिवार्य हैं। शुद्ध साधनों के बिना क्रान्ति असम्भव है। क्रान्ति की भ्राति मे हम भले ही जीते रहे।

आचार्य श्री तुलसी ने नथमलजी को 'महाप्रज्ञ' कहकर पुकारा। नथमलजी भेद-तत्त्व को चीरकर अभेद-तत्त्व की ओर बढ रहे थे और यह काम बिना प्रज्ञा की शोध और साधना के होता नहीं। नथमलजी, अतएव, प्रारम्भ से ही प्रज्ञा की शोध मे लग गये और शोध करते-करते आशु-प्रज्ञ और महाप्रज्ञ बन गये। आचार्य तुलसी ने महाप्रज्ञ कहकर उन्हें अपना उत्तराधिकारी बनाया। उन्हें और अधिक महा-प्रज्ञता की ओर क्यो नहीं बढने दिया, यह एक प्रश्न है।

आचार्य तुलसी जैन-दर्शन के ज्ञाता है। यह न कहकर यदि कहें आचार्य तुलसी जैन है और दर्शन के ज्ञाता है, तो अधिक उपयुक्त होगा। दर्शन यदि वास्तव मे भेद-तत्त्व को भेदकर अभेद-तत्त्व तक पहुँचने की प्रक्रिया है तो फिर इसमे जैन आदि विशेषण लगाना अनावश्यक है। इस दृष्टि से आचार्य तुलसी को दर्शन के, और इसलिए, भारतीय दर्शन के आचार्य ही कहना चाहिए। उपनिषद् कहती है निरी अविद्या अन्धकार मे ले जाने वाली होती है, तो निरी विद्या घोर अन्धकार मे ले जाती है। विद्या और अविद्या दोनो साधन है, एक प्रवृत्ति प्रधान है तो दूसरी निवृत्ति-प्रधान। निर्वाण-साधना या आत्म-दर्शन की साधना मे दोनो का अपने-अपने स्थान पर उपयोग होता है। आत्म तत्त्व से जोड देने पर विद्या के द्वारा आत्म-लाभ की प्राप्ति हो सकती है। विद्या की तरह ही प्रज्ञा भी, यदि उसे आत्म-तत्त्व के साथ न जोडा गया, तो साधक को घोर अन्धकार मे धकेल देगी। साथ ही आचार्य तुलसी एक

व्यक्ति तो नहीं हैं, एक बड़े संघ के सामूहिक ऊर्ध्वारोहण का उत्तरदायित्व भी उनके ऊपर है। प्रज्ञा की शोध करना, नए-नए आयाम उसीमें जोड़ना, महाप्रज्ञा से महा-महाप्रज्ञा तक पहुँचना एक बात है, किन्तु सम्पूर्ण संघ या कहिए पूरे मानव-समाज के ऊर्ध्वारोहण के लिए तप और साधना करना बिल्कुल दूसरी बात। वाणिज्य-शास्त्र का एक अनुभव-सिद्ध सूत्र है—किसी भी शक्ति को 'ओप्टीमम साइज' तक ही सीमित रखना चाहिए अन्यथा उस शक्ति की कार्य-क्षमता घट जाती है या घटती जाती है। गीताकार ने कर्म-योग कहिए अथवा लोकसेवा-योग, उसकी साधना के लिए प्रज्ञा का भी एक 'ओप्टीमम साइज' नियत करके उसे 'स्थित-प्रज्ञ' संज्ञा दी है। आचार्य तुलसी न तो बूढ़े हुए हैं और न उनकी सेवा-क्षमता में किसी प्रकार की कमी आई है। अतएव नथमलजी को अपना उत्तराधिकारी घोषित करके उन्होंने वास्तव में उन्हें स्थित-प्रज्ञता की दीक्षा दी है।

नथमलजी के पाण्डित्य और उनकी बहुमुखी प्रतिभा को जानने के बाद उनके व्यक्तित्व के बारे में सामान्य रूप से जो चित्र किसी के मन में उभरता है, उसको प्रत्यक्ष देखकर वह चित्र कुछ ढँका-सा, छिपा-सा दीखता है। श्रीमद्भागवत में आया है कि ब्रह्म-ज्ञानी लोग अपने तेज को अपने अन्दर समेट कर ऐसे विचरते थे कि जब तक कोई पारखी उनकी आँखों में झाँक कर न देखे, उन्हें पहचाना ही नहीं जा सकता था। नथमलजी ब्रह्मज्ञानी हैं। देह और देही के भेद को वे जानते हैं। अपने लक्ष्य के प्रति निरन्तर जागरूक रहते हुए लोकसेवा की साधना की दृष्टि से एक वाहन के रूप में वे इस देह की अन्तर-बाह्य शुद्धि का बराबर ध्यान रखते हैं, उपयुक्त पोषण भी उसके लिए जुटा देते हैं, किन्तु अन्य व्यक्तियों की तरह उसके बनाव-शृंगार की न तो उन्हें प्रेरणा ही होती है और न जरूरत ही। नथमलजी को समझना है, उनके क्रान्तिकारी जीवन की झाँकी लेनी है, उनके विचार और दर्शन की गहन गम्भीरता की बानगी देखनी है तो चुपचाप उनके साथ रहकर, वे जैसे बैठते, जैसे बोलते और जैसे चलते हैं—उन लक्षणों में उनकी स्थिर महा-प्रज्ञा का दर्शन होगा और चुपचाप उनके भाषण-संवाद सुनकर तथा उनकी अति सरल भाषा में किन्तु अति ओजपूर्ण शैली में लिखी गई पुस्तकों से उनके विचार और दर्शन की गहनता और गम्भीरता तथा लोक-कल्याण के लिए उनकी तत्परता और आतुरता समझ में आ जायगी। ऐसे हैं हमारे क्रान्तिकारी महाप्रज्ञजी।

प्रज्ञा और साधना के ज्योति-पुञ्ज हमारे युवाचार्य

★ डॉ० लक्ष्मीचन्द्र जैन

एक विचित्र आकर्षण है इस प्रज्ञा-पुरुष के व्यक्तित्व मे। कृश-काय, छरहरी देह-यष्टि, भव्य ललाट, कोमल दीप्त नेत्र। एक साथ अन्दर झाँकते और सामने के लक्ष्य को पार करके दूरस्थ तत्व का सन्धान करते, शायद कहीं गहरे मे डूबते और व्योम को नापते। तीखी नाक। काया से अधिक एक भाव, एक प्राणमयी भगिमा।

यह कहना कि मैंने युवाचार्य के आध्यात्मिक विकास को देखा है, अजाने ही अपनी अहम्मन्यता को प्रकट करना है। रोम-रोम का स्पन्दन और तिल-तिल की यात्रा को जो सहता-भोगता है, और सहकर, भोगकर नकार देता है उसके स्पन्दनो का और यात्रा का प्रत्यक्ष-दर्शी कोई कैसे वन सकता है ? किन्तु महापुरुषो को मन की जिन आँखो से देखा जाता है, उन आँखो का रूपाकार वह नहीं होता, जो चर्म-चक्षुओ का होता है। जिस क्षण मुनि श्री नथमल मेरे मन मे वसे, वह क्षण अपनी ही अनुभूति और पुनर् अनुभूति मे व्यापक होता गया है। उसके वाद जव-जव मिला, जव-जव थोडी-वहुत चर्चा हुई, उनका कहना-सुनना, शब्दो की गूँज और अर्थों की व्याप्तिको अतिक्रान्त करके मन के अन्दर उनकी ही मूर्ति को प्राञ्जल आकार देता गया। मानो उनका चिन्तन करना, अपने को ऊर्ध्वगामी वनाना है। जानता हूँ, अव महाप्रज्ञजी जव इन पंक्तियो को पढेंगे तो सोचेंगे लक्ष्मीचन्द्र ने तो कभी थोडा-सा भी सकेत नहीं दिया कि वह भावाभिभूत है—या उन्होने ऐसा कुछ देखा है, देखने का अवसर भी पाया है, कि इतना तरल होकर लिखें। सच वात तो यह है कि अणुव्रत-आन्दोलन के अत्यन्त निकट आकर भी मै कतरा गया। आचार्य श्री तुलसी की महिमा और उनके कृतित्व के वोध-वृत्त से सम्पर्कित होकर भी तटस्थ-सा रहा। क्यों ? मैं कह नहीं सकता, और, शायद कह भी सकता हूँ। किन्तु, जो वात मुझे मोहित किये हुए है, वह आचार्य श्री तुलसी की साधना का वह पक्ष है जहाँ ज्ञान, अध्ययन, संयम और तपस्या के चतुर्विध सयोजन मे अध्यवसाय को प्रमुखता दी गई है कि साधु-समूह के प्रत्येक व्यक्ति की रुचि और क्षमता को परख कर उसे ज्ञान की विशिष्ट धारा मे नियोजित किया जाये, निमज्जित कर दिया जाये। अद्भुत है, यह दूर-दर्शिता। साहित्य के विविध अङ्ग और पक्ष, दर्शन की विविध धाराएँ, भाषा-शास्त्र के प्राचीन और अधुनातन आयाम, विज्ञान के सिद्धान्तों का गहन मनन और उनके आलोक में आगम-गत मान्यताओं का विश्लेषण, अथवा यह कि आगम की मान्यताओं को विज्ञान के निकष पर परख सकने की विवेक-बुद्धि की जागृति, इस वहुमुखी प्रयोजना ने आचार्यश्री के संघ को अद्भुत गरिमा दी है। इन सव प्रयोजनाओ की उपलब्धि के चरम-विन्दु की कल्पना करता हूँ तो पद्मासन-मुद्रा मे वैठे आचार्य श्री तुलसी के हृदय-प्रदेश मे ॐ की ज्योति की तरह युवाचार्य महाप्रज्ञ उद्भासित हो जाते है।

आज तो युवाचार्य, ज्ञान और दर्शन की विचारगत सीमाओं का प्रवचन करते हुए भी, उनकी सीमाओ को पार कर ध्यान, योग और समाधि के प्रदेश मे पदार्पण कर चुके है। सस्कृत, प्राकृत और हिन्दी की आशु कविता, अवधान और वाणी की ओजस्विता अव सार्थक चमत्कार वनकर रह गये है। मुनि श्री दुलहराज ने ठीक ही लिखा है —

मुनिश्री पुरुषार्थ के प्रतीक है। इनका पुरुषार्थ तीनों

आराधनाओं मे प्रसर हुआ है :—

(१) इन्होंने अपने ज्ञान को आत्मा से अनुबन्धित कर ज्ञान की आराधना की।

(२) इन्होंने अपनी श्रद्धा को आत्मा मे केन्द्रित कर दर्शन की आराधना की।

(३) इन्होंने समस्त धर्म को आत्मा की परिक्रमा मे प्रेरित कर चारित्र की आराधना की।

इन तीनों बातो को मैं एक साथ यों कहना चाहूंगा कि इन्होंने अपने ज्ञान और श्रद्धान को आत्माचरण की ओर उन्मुख किया है—नहीं, आत्माचरण की इकाई म अन्तर्भुक्त करने का उपक्रम किया है।

व्यक्तिगत रूप से मैं उस पीड़ा को नहीं भूल पाता जब मुनि श्री नथमल ने विश्वातीत भगवान महावीर की पुण्य-गाथा को निर्वाण-महोत्सव के उपलक्ष मे पुलकित मन से लिखा कि यह सम्प्रदायातीत तो मानी ही जायेगी, किन्तु मीन-मेख के गणितने उसके भव्य विस्तार को न परख कर, कुण्डलियो के चौखटे मे फिट करने के लिए साम्प्रदायिक तराश प्रारम्भ कर दी। निश्चय ही भगवान बड़े है, उनकी यह पुण्य-गाथा भी बडी है। हमारे ही पैमाने छोटे पड गये हैं।

'तेरापथ' और 'जैन-समाज' मुनिश्री से संपृक्त रहेगे तो अपना भला करेंगे, किन्तु यह पछी तो गगन-विहारी है। मुक्ताकाश भी उसकी उडान के लिए ओछा है। इन्द्रियगम्य आकाश की असीमता, हमारे जिस युग ने आज विज्ञान की आँखो से देखी है और हमे दिखाई है, वह युग, इन्द्रियातीत जगत की एक हल्की-सी झाँकी की विराट् असीमता को, उस महापुरुष की भव्यता म अनुभूत कर सके तो कोई आश्चर्य नहीं। कालोह्य निरवधिर्विपुला च वसुधा !

●●

सृजन-क्षमता

—विष्णु प्रभाकर

युवाचार्य महाप्रज्ञ की विद्वता, शालीनता और सृजन-क्षमता से सभी परिचित हैं। उनका साहित्य उनके उदात्त और सुलझे विचारों का प्रमाण है। विश्वास करना चाहिए कि उनके नेतृत्व में अणुव्रत-आंदोलन नये आयामों की खोज करता हुआ निरन्तर प्रगति के मार्ग पर बढ़ता जायेगा।

आत्मजयी की आलोक-यात्रा

♦ छविनाथ मिश्र

कोई कहता है—
आत्मा सूर्य है, सूर्य आत्मा है
एक अपापविद्ध, अपिपास, दृश्यमान परमात्मा है
'यस्यनाम महद्यशः' की मूर्त्त आत्मा है
जीवात्मा उसकी एक किरण है
एक अणुतम अस्तिता है
मनुष्य उसकी प्रतिमा है, उसकी अस्मिता है
'तस्य भासा सर्वमिदम् विभाति' की भाषा में
मुखरित होती है शक्ति
जड-चेतन के केन्द्र में उभरता है अनुकम्पन
शक्ति अँगडाती है
'प्रकरोति सर्वम्' की मुद्रा में सँवरती है, प्रकृति खिलखिलाती है
और काल पुरुष की निगरानी में अचानक
'बीज, बरगद' की तरह उभरकर तन जाता है
और इर्द-गिर्द व्यक्तित्व का पर्ण-वृत्त बन जाता है
'अस्तित्व बोध' की शाखाओं पर
'बन्दी शब्द' मुक्ति की प्रतीक्षा में डेने फडफड़ाते हैं
ऐसे में कोई सौभाग्यवती रख जाती है—
आँचल से ढँक कर
तुलसी के चौरे पर
एक निवेदित और अनुत्तर योगाग्निमय सान्ध्य-दीप
अनागता सन्ध्याओं की सौगन्ध खाकर
उनके मार्ग-दर्शन के लिये एक संदीपित निदर्शन रखकर
आगन जगमगाता है

अन्धकार कांपकर भाग जाता है
इस तरह रोज सूरज उगता है
—दिया जलता है
और दोनों की साक्षी में अँधेरा पिघलता है
आर्ष-प्रज्ञा की मौनेय धारा में
देह-प्राण, मन, सब कुछ धुल जाता है
अन्तराकाश में आलोक-कमल खिल जाता है
मोतियों की तलाश में
बोध से 'सम्बोधि' तक एक 'श्वेत हंस' तैरता है
और फिर सूरज उगता है
—दिया जलता है
प्रत्युत्पन्नी किरणों के साथ
स्वागत करते हैं, एक जितेन्द्रिय का 'फूल और अंगारे'
भीड़ से उभरती हैं, तमाम चुनौतियां
—और वह आगे बढ़ जाता है, तोड़कर घेरा
टूट जाता है रेशा-दर-रेशा अँधेरा
फिर एक अणुव्रती अनुशास्ता की आवाज गूंजती है
सुनो, सुनो !
विवेक शून्य दिग्भ्रान्त भेड़ो !
उसे मत छेड़ो
वह आशु काव्य-पुरुष आत्मजयी विवेकमंथी है
वह निर्द्वंद्व शून्य, छन्द-पुरुष, ऊर्ध्व-रेता रथी है
वह 'अश्रुवीणा' का साधक है
और निरन्तर
'अनुभव, चिन्तन, मनन' की
धारदार 'अध्यात्म-छेनी' से
तराशता है 'समस्या का पत्थर'
गढ़ता है 'अहिंसा तत्त्व दर्शन'
रोपता है 'नैतिकता का गुरुत्वाकर्षण'
वह प्रभा-मंडित आलोक-यात्री है
'विजय-यात्रा' पर है
वह हिम-स्नात शिखर है
जो सौम्य है, सुरम्य है
प्रांजल है, प्रणम्य है
वह आत्मवेत्ता है, मर्मज्ञ है
उसका नाम 'महाप्रज्ञ' है !!

शब्द व भाव के अमर शिल्पी

—डॉ० छगनलाल शास्त्री

युवाचार्य महाप्रज्ञ (मुनि श्री नथमलजी) एक दिव्य सस्कारी मनीषी है, यह मेरे मन पर सबसे पहले तब प्रभाव पडा, जब मैं लगभग ३५ वर्ष पूर्व पहले-पहल उनके सम्पर्क मे आया। उनका वैदुष्य आज हम जिस निखार पर देख रहे है, उसके मूल-बीज तब भी व्यक्त-अव्यक्त रूप मे उनकी वाणी, विवेचन और विश्लेषण मे समय-समय पर प्रस्फुटित होते दृष्टिगोचर होते थे। सहज सौम्यता, सहृदयता और सरलता उनके व्यक्तित्व का जन्मजात गुण है, तभी से मैं यह अनुभव करता रहा हूँ।

तेरापथ मे एक प्रबुद्ध लेखक के रूप मे युवाचार्य महाप्रज्ञ का अपना गौरवपूर्ण स्थान है। जैन-तत्त्व-दर्शन को आज की भाषा व समीक्षात्मक शैली मे प्रस्तुत करने का अभिप्रेत लिए उन्होंने अपनी लेखनी उठाई, फलत 'जैन-दर्शन के मौलिक-तत्त्व', 'अहिंसा तत्त्व-दर्शन' जैसे अनेक ग्रन्थ विद्वज्जगत् के समक्ष आए, जिनका प्रकाशन आदर्श साहित्य-संघ द्वारा हुआ। इस सन्दर्भ मे मुझे इस महान् मनीषी द्वारा लिखे गये सहस्रों पृष्ठो की सामग्री का संकलन तथा प्रबन्ध-सपादन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उनकी कृतियो को देखते ही यह स्पष्ट आभासित होता है कि वे केवल अधीत विद्या के धनी ही नहीं हैं, प्रत्यग्र क्षयोपशम की विराट् निधि उन्हें समुपलब्ध है।

आचार्य श्री तुलसी की पूना-यात्रा का प्रसंग एक ऐसा ऐतिहासिक प्रसग है, जब भाडारकर रिसर्च-इन्स्टीट्यूट, तिलक-विद्यापीठ, सस्कृत-वार्ग्वधिनी-सभा, डेक्कन-कॉलेज आदि राष्ट्रविश्रुत विद्या-केन्द्रो मे युवाचार्य महाप्रज्ञ के संस्कृत मे भाषण तथा आशुकवित्व के जो प्रेरक प्रसंग बने, दक्षिण की काशी पूना नगरी के विद्वान् हर्ष विभोर हो उठे। पूना के अपने मित्र श्री ए० बी० आचार्य को मैं इस प्रसंग पर नहीं भूल सकता, जिनका हमारे कार्य मे हार्दिक योगदान रहा। पूना की उस पहली यात्रा मे आचार्य श्री तुलसी केवल नौ दिन ठहरे, लगभग सत्ताईस गोष्ठियों का आयोजन हुआ। विद्या-क्षेत्र पूना मे समायोजित इन महत्त्वपूर्ण कार्यो को दृष्टि मे रख आचार्यश्री ने कहा था—बम्बई के नौ मास और पूना के केवल नौ दिन उनसे कम नहीं है। महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध दैनिक 'सकाल' के मुखपृष्ठ पर महाप्रज्ञ का आशु कविता करते हुए चित्र छपा। उस दुर्लभ चित्र को मैंने अपने पास आज भी सुरक्षित रख छोडा है।

युगप्रधान आचाय श्री तुलसी और युवाचार्य महाप्रज्ञ की विद्यागरिमा पूना के माध्यम से सारे दक्षिणमे परिव्याप्त हो गई।

विश्वविख्यात विद्यानगरी काशी का वह प्रसंग मैं नहीं भूल सकता, जब आचाय श्री तुलसी अपनी कलकत्ता-यात्रा के बीच वहाँ रुके थे। वाराणसेय सस्कृत-विश्वविद्यालय, काशी-विद्यापीठ तथा स्याद्वाद्-महाविद्यालय आदि विद्या-केन्द्रो मे महत्त्वपूण विद्वत्सभाओ के समायोजन हुए। वाराणसेय सस्कृत-विश्व.वद्यालय और हिन्दू-विश्वविद्यालय के समारोह तो सदा स्मरणीय रहेंगे। भारतीय दर्शन, जैन-तत्त्वज्ञान आदि विषयो पर सस्कृत और हिन्दी मे युवाचार्य महाप्रज्ञ के जो भाषण हुए, वे वैदुष्य और गहन अध्ययन की दृष्टिसे ऐतिहासिक थे। वाराणसेय संस्कृत-विश्वविद्यालय मे संस्कृत मे कार्यक्रम चल रहा था। सायंकाल हो गया। साधुओ के प्रतिक्रमण की वेला थी। विद्वान् इतने विमुग्ध थे कि कार्यक्रम का अवरोध नहीं चाहते थे, अत. आचार्यश्री

ने तत्काल साधुओं के यहीं रात्रि-प्रवास का निर्णय किया और प्रतिक्रमण के पश्चात् पुन कार्यक्रम चालू करवाया। घण्टों कार्यक्रम चलता रहा—सब संस्कृत में। संस्कृत में आशुकवित्व का कार्यक्रम पूना की तरह यहाँ भी बड़ा चमत्कारिक रहा। विद्वानों की बड़ी सुन्दर प्रतिक्रिया रही और अनुराग भी। [illegible] ने कितना ऊँचा मनीषी तैयार किए हैं। विद्याभूमि काशी में युवाचार्य महाप्रज्ञ और उनकी प्रतिभा की सर्वत्र ख्याति हुई।

एक वरिष्ठ विद्वान् तथा चिन्तक के अतिरिक्त युवाचार्य महाप्रज्ञ का जो साधक का रूप है, वह अत्यन्त ही प्रेरक तथा उद्बोधक है। आज तो वे प्रेक्षाध्यान के माध्यम से साधना के क्षेत्र में एक अभिनव उद्योत दे ही रहे हैं वर्षों पूर्व भी उनका जीवन इतना बहिर्निरपेक्ष तथा अन्त सापेक्ष रहा है कि उनको देखते ही यह अनुभूत होता था कि इस साधक के जीवन के कण-कण में साधना और संयम की परिव्याप्ति है। युवाचार्य महाप्रज्ञ प्राय अपने गुरुवर्य आचार्य श्री तुलसी के सान्निध्य में ही रहते आए हैं, पर चिकित्सा आदि की दृष्टि से कई ऐसे अवसर आये हैं, जब वे अपने साथी श्रमणों के साथ अलग भी रहे हैं। इन सभी प्रसंगों में मुझे उनके साथ रहने का सुअवसर प्राप्त हुआ। भिवानी, कांकरोली, राजनगर तथा सोजत रोड आदि में उनका, चिकित्सा की दृष्टि से प्रवास हुआ। मैं और मेरे साथी वहीं थे। घण्टों उनके सान्निध्य पाने के सुअवसर मिलते। उनकी उदात्त मनोवृत्ति और उच्च भावना से हम विमोहित हो जाते। एक सहज निश्छल मानव के रूप में युवाचार्य अपनी कोटि के असाधारण हैं।

कांकरोली एवं राजसमंद में उनकी चिकित्सा मेरे मित्र वैद्य पं० मिश्रीलाल दवे आयुर्वेदाचार्य करते थे। श्री दवे एक सरलचेता भद्र व्यक्ति हैं। उस समय युवाचार्य के सान्निध्य में बैठने के विशेष प्रसङ्ग बनते ही रहते थे। श्री दवे और हम आपस में कहते—तेरापंथ-संघ के ये इतने शान्त और विद्वान् सन्त कैसी बाल-सुलभ भद्रता लिए हुए हैं।

ये युवाचार्य महाप्रज्ञ के जीवन के पूर्वार्द्ध के थोड़े से प्रसंग हैं। जो कुछ वे आज हैं, उसके बीज उनके पूर्ववर्ती जीवन में अनुस्यूत थे, चाहे दीखते न हों। आचार्य श्री तुलसी तो एक द्रष्टा हैं। उन्हें तब भी यह सब दीखता था, जिसकी अभिव्यञ्जना उन्होंने महाप्रज्ञ मुनि श्री नथमल जी को अपना उत्तराधिकारी, तेरापंथ के भावी दशम आचार्य घोषित करके अब की है।

एक महिमा महीयान् संघाधिनायक के वरीयान् अन्तेवासी के कन्धों पर धर्मशासन का गरीयान् दायित्व आया है। अध्यात्म-जगत् को अनेक आशाएँ हैं।

✪

आशु कवि

—कमलेश चतुर्वेदी

विश्व के रगमच पर ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं होता, जिसके जीवन मे तारतम्य न हो, जिसे उदय और अनुदय का अनुभव न हो, जिसने सुख और दु ख का स्पर्श न किया हो, जिसमे प्रकाश और अन्धकार का, सत और असत, जीवन और मरण, पराक्रम और मंदता का मिलन न हो।

महाप्रज्ञ इन सभी अवस्थाओ से गुजरने वाले एक व्यक्ति है, जिन्होने इन विरोधी अवस्थाओ को समभाव से छुआ और अपनी गतिशीलता को वनाये रखा है। वे अपनी आत्म-कथा मे लिखते है, 'मैं ग्यारह वर्ष की अवस्था मे मुनि वना और तव से ही पदयात्री हूँ। मेरी जीवन-यात्रा वाहर और भीतर—दोनो को स्पर्श करती है। मैं मुनि हूँ, इसलिए मैंने वाह्य-जगत से अस्पृष्ट रहने का प्रयत्न किया है। फिर भी वस्तु-जगत मे जीनेवाला कोई भी देहधारी वाह्य का स्पर्श किये विना नहीं रहता। अंतश्चेतना घटना से जुडे या नही, किन्तु मन उसका स्पर्श और उसके फलितों का विश्लेषण भी करता है। प्रतिक्रिया से लिप्त होना या न होना अलग प्रश्न है, किन्तु उसका साक्षात होता ही है। मैंने अन्तर-यात्रा की है, अन्तश्चेतना के आलोक मे वाह्य-जगत को समझने का प्रयत्न किया है। मैं सिद्ध होने का दावा नहीं करता, इसलिए इस वास्तविकता को स्वीकार करता हूँ कि वाह्य-जगत मे घटित होनेवाली घटनाओ से प्रभावित भी हुआ हूँ, उनके आघातो से आहत और प्रतिक्रियाओ से प्रताडित भी हुआ हू। फिर भी मैंने अपने सतुलन को कभी नहीं खोया। मैंने सदा घटना को विस्मृत कर उससे मिलने वाले अर्थवोध को संजोये रखा है और मैं इससे बहुत लाभान्वित भी हुआ हूँ।'

महाप्रज्ञ दृश्य जगत मे विद्वान और प्रखर दार्शनिक हैं। वे आशुकवि, मधुरवक्ता और उच्चकोटि के लेखक हैं।

आशुकवि

सन् १९५९ म वनारस के सस्कृत-महाविद्यालय के विशाल प्रागण मे प्रवचन आयोजित हुआ। डॉ० मगलदेव शास्त्री का सान्निध्य था। पंडितो, प्राध्यापकों तथा विद्यार्थियो ने 'स्याद्वाद' विषय पर सुनना चाहा। महाप्रज्ञ ने एक घंटे तक सस्कृत मे प्रवचन किया। उपस्थित पडितो मे से अधिकाश प्रसन्न हुए, किन्तु कुछ अप्रसन्न भी हुए। उन्होने महाप्रज्ञ को प्रश्नो के कटघरे मे खड़ा कर दिया। सस्कृत मे ही प्रश्न और सस्कृत मे ही उत्तर का क्रम चलता रहा। उसी समय आशुकवित्व के लिए विषय दिये जाते रहे। किसी ने 'राष्ट्रसघ' पर आशुकवित्व विषय, तो किसी ने और अन्य विषयों पर। परीक्षा चालू रही। अव समस्यापूर्ति का दौर प्रारम्भ हुआ। 'कर्दमयमी मानवा', 'सरस्यामा लत्यादिव पतति पाटीरपवन', 'न रजनी न दिवा न दिवाकर' आदि समस्याएं दी गयीं और अविलव उनकी पूर्ति करने के लिए कहा गया। मुनिश्री अविचल भाव से कविता करते रहे। आपकी सस्कृत रचनाएं हैं—सवोधि, मुकुल, अश्रुवीणा आदि।

प्राकृत-भाषा के प्रवक्ता

वम्बई मे पेनस्लेविया यूनिवर्सिटी के सस्कृत-विभागाध्यक्ष डा० नार्मन व्राउन आये, वहाँ महाप्रज्ञ से सम्पर्क हुआ। उन्होने कहा, "मेरे जीवन की एक कामना है कि मैं भगवान महावीरकी कुछवाणी प्राकृत मे, वक्तव्य सुनूं। आज तक मुझे वह सुनने को नहीं मिला।" महाप्रज्ञ

ने बीस मिनट तक प्राकृत में वक्तव्य देकर उन्हे मंत्रमुग्ध कर डाला। वक्तव्य सुनकर डॉ० ब्राउन गद्‌गद् हो गये। तब उन्होने कहा, "मेरी भारत-यात्रा सफल हुई।" महाप्रज्ञ ने 'तुलसी-मजरी' के नाम से प्राकृत-व्याकरण का निर्माण किया है, जो शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाली है।

चिन्तक

आज के साहित्य मे मौलिक चिन्तन बहुत कम मिलता है। महाप्रज्ञ मौलिक चिन्तको की श्रेणी मे अग्रणी है। आपने बहुत लिखा, किन्तु किसी से लेकर नही। प्रत्येक ग्रन्थ मे आपका मौलिक चिन्तन प्रस्फुटित हुआ है।

आपने हिन्दी-साहित्य को भी समृद्ध करने का अथक प्रयास किया है।

महाप्रज्ञजी की शैली सूत्रात्मक है। शब्द अल्प, वाच्य अधिक भावो की गहराई पग-पग पर परिलक्षित होती है। "जैन-दर्शन मनन और मीमांसा', जैन-न्याय का विकास', 'अहिंसा-तत्त्व-दर्शन' आदि ग्रंथ जैन-दर्शन के प्रतिनिधि ग्रंथ है।

योग-साधना

समता महाप्रज्ञ का आत्म-धर्म है। अनेक प्रवृत्तियो मे संलग्न रहकर भी 'नीरकमलवत्' उनकी क्रियाओ और प्रतिक्रियाओ से मुक्त है। एक दशक से आप विशिष्ट ध्यान-साधना मे लगे है। ध्यान आपके जीवन का अभिन्न अंग बन चुका है।

आप द्वारा लिखित योग के ग्रन्थ है—'मन के जीते जीत', 'महावीर की साधना का रहस्य', 'जैन-योग', 'चेतना का ऊर्ध्वारोहण', 'मै मेरा मन मेरी शाति' आदि। इन रचनाओ मे शाश्वत सत्य भरा है। अध्यात्म और जीवन-दर्शन का समन्वय उसका एक बिन्दु है। यह बिंदु एक बिंदु होकर भी सिंधु-सा गहरा और विशाल है।

राजस्थान मे एक छोटा-सा गाँव है टमकोर। वहाँ आपका जन्म हुआ। दस वर्ष की अवस्था मे मुनिश्री अपनी माँ के साथ तेरापंथ के आठवें आचार्य कालूगणी के पास दीक्षित हुए। मुनि तुलसी (वर्तमान मे आचार्य) आपके अध्यापक बने।

तेरापथ-धर्म-संघ के प्रत्येक उन्मेष मे आपका अविरल योगदान रहा है। आपकी नुकीली मनीषा ने अनेक नये आयाम खोले है, जो आपकी गुणगाथा गा रहे है। आप आचार्य तुलसी की वाणीके प्रशस्त भाष्यकार है। तेरा-पंथ के बाह्य और आन्तरिक विकास मे आपका योगदान अपूर्व है।

✪

तपःपूत

—चन्दनमल 'चाँद'
(सम्पादक जैन-जगत्)

फलो से लदे हुए वृक्ष देखे है जो झुके हुए रहते है। पानी-भरे वादलो को देखा है, जो मकान की छतो तक आसमान से नीचे उतर आते है। ऐसे ही युवाचार्य श्री महाप्रज्ञजी को वर्षो से देख रहा हूँ कि ज्यो-ज्यों उनका ज्ञान वढा, साधना वढी, आचार्य एवं संघ की दृष्टि मे सम्मान वढा, वे और भी अधिक विनम्र होते गये, उदारमना होते रहे। ज्ञान का अह, साधना का अभिमान अथवा पद का वडप्पन उनको कभी स्पर्श करता नहीं लगा। वर्षों सेवा मे साथ रहने का अवसर मिला, बाद मे यदाकदा दर्शन करने का सौभाग्य मिलता है, लेकिन मुनि श्री नथमलजी से महाप्रज्ञ युवाचार्य होने के वाद भी वही सौम्य आकृति, थोडा विहँसता चेहरा और लिखने-पढने मे तल्लीन नजर आते रहे हैं। चलते है तो दृष्टि नीची, वोलते है तो दाहिने हाथ की मुट्ठी वँधी हुई। ध्यान मे वैठे है तो स्थिर, अपलक, मानो कोई मूर्ति वैठा दी गई हो। व्यवहार छोटे-से-बड़े तक सबसे एक आत्मीयता से भरा हुआ। किसी प्रमुख व्यक्ति ने वदना की तो स्वीकारी लेकिन छोटे वच्चे ने भी आकर वंदना की तो उसकी ओर स्नेह भरी दृष्टि से ताक कर "जै" कहना नहीं भूलते।

ऐसे है युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ। ज्ञान की अगाध गहराइयों मे डूवा हुआ व्यक्तित्व, साधना की उच्च भूमिका पर पहुँचा हुआ तप पूत। इनके प्रसंशक केवल तेरापंथी अथवा जैनी ही नहीं वल्कि प्रत्येक समाज के वौद्धिक व्यक्ति है। देश-विदेश में आपके साहित्य, प्रवचनो की टेपो की माँग रहती है। वम्बई मे सभी जैन-सम्प्रदायो के साधु-साध्वियो की अनवरत माँग रहती है कि आपकी कोई नई पुस्तक आते ही उन्हें भेजी जाय। वार-वार पुस्तको के लिये फोन आते है, मँगा देने के लिये तकाजे होते रहते है। गुजराती पढनेवाले भी, चाहे हिन्दीमे कठिनाई क्यो न हो किन्तु आपकी पुस्तक पढे गे ही। साहित्य पढ़कर वम्वई का जैन-अजैन समाज, युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ के प्रति अत्यन्त श्रद्धा और आदर से भर उठा है। उन्हें न सम्प्रदाय का भेद रोकता है, न पंथ की संकीर्णता वाँधती है क्योंकि स्वय युवाचार्यश्री सकीणता से ऊपर उठे हुए है।

पूना मे ५६ सस्थाओं द्वारा आचाय श्री तुलसीजी का भव्य अभिनन्दन हुआ। सस्कृत-विद्यालय मे महाप्रज्ञ (उस समय के मुनि नथमल) का संस्कृत-भाषण एवं संस्कृत मे आशु कविता का पाण्डित्य देखकर विद्वान गद्‌गद् हो उठे थे। चलते-फिरते तुलसी-विश्वविद्यालय के उस महान पंडित का पाडित्य धुरधर विद्वानों को भी चमत्कृत कर गया था। काठमाँडू के विद्वान योगी नरहरिदास ने मुक्तभाव से आपकी स्तुति की थी।

श्री महाप्रज्ञ केवल दाशनिक, चिन्तक, साधक, ही नहीं अपितु स्नेहिल उदारमना भी उतने ही है। सामान्य जैसी सेवा को भी याद कर समय पर कार्यकर्त्ताओ का उत्साह वढाने मे कभी नहीं चूकते। जव मैं आचार्यश्री की सेवा मे था तो वीच मे कुछ दिनो तक मुनिश्री नथमलजी के महत्त्वपूर्ण प्रवचन हुए। मुझे वहुत ही पसद आये अत. उन्हें लिपिवद्ध करता गया। वाद मे मुनिश्री नथमलजी (युवाचार्यजी) को दिखाकर संशोधन भी करा लिया एवं भूल गया किन्तु जव आपकी पुस्तक "मैं, मेरा मन, मेरी शाति" प्रकाशित हुई एवं उसमे स्वयं मुनिश्री ने प्रवचनों के संकलन के लिये मुनिश्री श्रीचन्दजी "कमल" के साथ मेरा नामोल्लेख करते हुए धन्यवाद लिखा तो मैं उनकी

उदारता से अभिभूत हो गया। वरन् ऐसा भी हुआ है कि किसी पुस्तक का सम्पादन मैंने किया एवं नाम किसी अन्य का छपा।

महाप्रज्ञजी के लिए पांडित्य बोझ नहीं, साधना प्रदर्शनीय नही, वरन् आत्मगत है अत प्रथम दर्शन मे ही किसी व्यक्ति का मन थोडा भी संकुचित नहीं रहता। आप भी व्यक्ति की जिज्ञासा, प्रज्ञा एवं पात्रता के अनुसार ही वार्तालाप करते है, फलत प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह सामान्य शिक्षित हो अथवा विशिष्ट बौद्धिक, संतुष्ट होकर लौटता है।

वर्षों पूर्व मैंने एकबार सहज भाव से पूछा—"मुनिश्री यह स्वर्ग और नरक सचमुच कही है क्या ?

आपने थोडा मुस्कुराते हुए पूछा—"शास्त्रीय परिभाषायें जाननी है या समझना है ?"

मैंने कहा—"मुझे तो बुद्धिगम्य समाधान चाहिए, शास्त्रो का आग्रह नहीं है।"

मुनिश्री ने कहा—"स्वर्ग-नरक के निश्चित स्थानो की बात छोडकर इतना समझ लो कि जो क्षण आर्तध्यान मे बीतता है वही नरक है और जो शुक्ल-ध्यान मे व्यतीत होता है वह स्वर्ग है। क्षण-क्षण, यहीं इसी दुनियामे व्यक्ति स्वयं की भावनाओ एवं विचारो से स्वर्ग-नरक भोगता रहता है।"

स्वर्ग नरक की यह परिभाषा मेरी स्मृति मे आज भी है और मुझे लगता है कि महाप्रज्ञ जी अपनी इसी विलक्षणता के कारण जन-जन के श्रद्धापात्र है, आदरणीय हैं, प्रिय है।

●

योग्यतम निर्णय

—अक्षयकुमार जैन

आचार्य श्री तुलसीजी ने मुनि श्री नथमलजी को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर एक अभिनन्दनीय कार्य किया है। मेरे विचार में आचार्यश्री ने एक योग्यतम निर्णय किया है। इस निर्णय से मुनि श्री नथमलजी की सेवाओं का जहाँ समादर हुआ है, वहाँ तेरापंथ-धर्म-संघ का गौरव भी बढ़ा है।

अध्ययन, चिंतन एवं लेखन की दिशा में मुनि श्री नथमलजी ने जो योगदान किया है, वह सम्पूर्ण जैन-समाज का गौरव है। आचार्य श्री तुलसीजी ने तेरापंथ-धर्म-संघ का जो नया दायित्व उन्हें दिया है, उससे उनके अध्ययन, चिन्तन एवं लेखन के व्यक्तित्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा, ऐसी आशा करता हूँ।

महाप्रज्ञ : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

—डॉ० निशानन्द शर्मा

ज्ञानपीठ-पत्रिका (जैन-साहित्य . सगोष्ठी-स्मारिका अक्टूबर १९६८ एव 'शोध-विशेषाक' अक्टूबर-नवम्बर १९६९) और JRS Bulletin No. 5 (February 1974) के माध्यम मे माननीय डॉ० गोकुल चन्द्रजी जैन (अध्यक्ष प्राकृत एवं जैन-दर्शन, सम्पूर्णानन्द-सस्कृत-विश्व-विद्यालय, वाराणसी) ने जैन-विद्या के अनुशीलन एव अनुसन्धान मे नई सूचनाएँ देकर बडा महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। उसी सन्दर्भ मे देश के विभिन्न विश्व-विद्यालयोके जैन-विद्या के अनुसधित्सुओ के लाभार्थ उन्होंने Jainological Research Society की कई बैठको का आयोजन भी किया। उन्हीं के सौजन्य से मई २५ से ८ जून १९७४ तक चलनेवाले Summer School for Jainological Research मे भाग लेने के लिए दिल्ली से मुझे निमन्त्रण मिला था। उसमे मैंने पटना-विश्वविद्यालय का प्रतिनिधित्व किया था। उपर्युक्त सेमिनार जैन-विश्व-भारती, लाडनूं एव दिल्ली-विश्वविद्यालय के संयुक्त प्रयत्न से सम्पन्न हुआ था। जैन-धर्म के सभी सम्प्रदायो के जाने-माने विद्वान एक-मच पर आपसी ईर्ष्या-द्वेष भूलकर आ गए थे। इस दृष्टि से इस सेमिनार का ऐतिहासिक महत्त्व है। मैं सनातनी-घर मे जन्मा एक अजैन, इस दृश्य को देखकर गद्गद् था। मेरे विषय "जैन-वाङ्मय मे शिक्षाके तत्त्व" पर मुझे शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत करना था। यों अंग्रेजी में Elements of Education in Jain Literature एक लघु प्रबन्ध तैयार था। विद्वानो ने सुनकर एव पढ कर अपनी प्रसन्नता व्यक्त की। यद्यपि इस विषय के मूल-बिन्दु स्व० डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ने दिए थे फिर भी सभी जैन-सम्प्रदायों के ग्रन्थों के सन्दर्भ न रहने से उसमे कुछ त्रुटियाँ थीं। इस सेमिनार मे विद्वानो के सम्पर्क ने अनुसंधित्सुओं को कल्प-वृक्ष जैसा मनोवाञ्छित फल दिया। मेरी वहाँ अनेक गुत्थियाँ सुलझीं।

सनातनी-घर मे पैदा हुए मेरे-जैसे अजैन को, जैन-धर्म-दर्शन काफी कठिन जान पडा। वैष्णव-सम्प्रदाय मे होने के कारण उसके अनेक आचार-विचार मिलने पर भी यद्यपि प्रारम्भ म थोडी कठिनाई तो जरूर महसूस हुई, परन्तु बाद मे धीरे-धीरे अभ्यस्त हो जाने पर सभी मुझ निशाचन्द्र 'जैन' के नाम से जानने लगे थे।

दिल्ली-विश्वविद्यालय के पुस्तकालय के प्रेक्षागृह मे आचार्य तुलसी एव उनके साधु-साध्वियोंका उस दिन परिचय मिला। उनकी एव महाप्रज्ञ युवाचार्यजी (तत्कालीन मुनिश्री नथमलजी) की जैन-धर्म-सम्बन्धी युक्ति-संगत बातें सुनने को मिलीं। पालि एवं बौद्ध-धर्म-दर्शन मे एम० ए० करने के बाद मैंने समझा था कि जैन-धर्म-दर्शन एवं उसका साहित्य उसी की तरह अत्यन्त सीमित है। परन्तु इन मुनियों के सम्पर्क मे आने पर इसके विपुल साहित्य के बारे मे जानकारी मिली। अब मुझे अपने अध्ययन के आधार पर निर्णय करना पडा कि ब्राह्मण-साहित्य के बाद भारतीय साहित्य मे यदि विपुल साहित्य है तो वह एक मात्र जैन-साहित्य ही है। इसके अन्तर्गत साहित्य की कोई विधा छूटी नहीं है।

महाप्रज्ञ युवाचार्यजी से मुझे वहाँ तीन बार सम्पर्क करने का अवसर मिला। जब मिलते, मुस्कुराते, बडी शालीनता से मिलते। पूछने पर मेरी गुत्थियो को सुलझाते रहे। मेरे शोध-प्रबन्ध के अनेक स्थलों के सन्दर्भ

उन्होंने उत्तराध्ययन और दशवैकालिक सूत्र से दिए। प्रारम्भ मे मै उनकी कृतियो से परिचित नहीं था। दिनाक ८-६-१९७४ को मुझे आदर्श-साहित्य-संघ के सौजन्य से उनकी "जैन-दर्शन मनन और मीमासा" की एक प्रति उपहार स्वरूप मिली। यह मेरा परम सौभाग्य था कि मेरी प्रति जाने या अनजाने उन्ही के हाथो गुज-रते हुए मिली। सुन्दर आवरण देखकर मेरा आकर्षण उस पुस्तक पर बढा। सेमिनार के बाद घर आने पर रातो-रात पढ गया। पढने पर उपन्यास-जैसा आनन्द आया परन्तु परितृप्ति नही हुई। अपने जीवन मे रामायण और गीता के बाद इस पुस्तक की, न जाने कितनी बार आवृत्तियाँ की, जिनकी गणना मुझे ठीक से याद नहीं है। प्रस्तुत पुस्तक तो अब हमेशा सोते समय सिरहाने रहती है। यदा-कदा हमेशा कुछ-न कुछ देखता-पढता रहता हूँ। इस ग्रन्थ के परिशिष्ट-भाग ने भविष्य मे, वाङ्मय के अध्ययन मे बडी गति दी। धीरे धीरे अध्ययन करते-करते मैंने "जैन-वाङ्मय मे शिक्षा के तत्त्व" विषय पर पटना-विश्वविद्यालय के शिक्षाशास्त्र-सकाय मे शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत कर, पी-एच०डी० की उपाधि भी सन् १९७६ मे प्राप्त कर ली।

जैन-धर्म-दर्शन एवं साहित्य के सामान्य ज्ञान के लिए प्रारम्भ मे मैंने माननीय पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री सिद्धाताचार्य कृत "जैन-तत्त्व-मीमासा", श्रद्धेय पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री कृत "जैन-न्याय", डॉ० मोहनलाल मेहता कृत "जैन-दर्शन" तथा स्व० डॉ० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य कृत "जैन-धर्म-दर्शन" देख चुका था, परन्तु अनेक स्थलो के कुछ विषयो का मेरे मन मे स्पष्टीकरण नही हो पाया था। "जैन-दर्शन . मनन और मीमासा" पढनेके बाद उन पुस्तको के विषय धीरे धीरे मेरी समझ मे आने लगे। मैं इन मनीषियो की कृतियो पर कोई आलोचना और चुनौती नही देता, पर इतनी सत्यता तो जरूरी है कि ये पुस्तकें सामान्य अध्येता से कुछ ऊपरी स्तर की है। स्नातक या अधिस्नातक-वर्ग के छात्र, जिन्हें कुछ सस्कृत, प्राकृत एवं दर्शन का यत्किञ्चित ज्ञान है, वे ही इनसे लाभ उठा सकते है। महाप्रज्ञ युवाचार्यजी द्वारा लिखित प्रस्तुत पुस्तक इसका अपवाद है जिससे जैन-धर्म-दर्शन एवं साहित्य के सामान्य अध्येता से लेकर प्रौढ चिन्तक तक, सभी स्तर के अध्येता, अध्ययन के आनन्द के अतिरिक्त उस विषय का समुचित ज्ञान भी प्राप्त कर सकते है।

महाप्रज्ञ के हाथो मिली यह पुस्तक, मेरे जीवन को आगे गति देती रहेगी। माननीय डॉ० गोकुलचन्द्रजी जैन के व्यक्तिगत संग्रह मे, महाप्रज्ञजी के द्वारा सम्पादित 'उत्तराध्ययन' और 'दशवैकालिक' की प्रतियाँ देखीं। कालिदास की कृतियो के प्रमुख व्याख्याता मल्लिनाथ की तरह "ना मूल्ये लिख्यते किञ्चित नानुपेक्षित मुच्यते" उक्ति की तरह विषय प्रतिपादन और अनुवाद मे स्पष्टी-करण के लिए कुछ भी छोडा नही है। सम्पादन, व्याख्या, अनुवाद एव सख्या-स्थापना मे, बौद्ध-विद्वान स्व० महा-पण्डित राहुल साकृत्यायन और स्व० भदन्त महाथेर भिक्षु जगदीश काश्यप के सयुक्त प्रयत्न के समवेतरूप मे, जैन-विषयक क्षेत्र मे, मैं महाप्रज्ञ को देखता हूँ।

एकलव्य की तरह मैं उनमे निष्ठा रखता हूँ। सम्प्रति जैन-धर्म-दर्शन एवं साहित्य मे विशेष प्रवेश के लिए प्राकृत एवं जैन-दर्शन के अध्ययन मे मेरी विशेष रुचि है।

अन्त मे अपना सारा अहंकार उस मनीषी को अर्पित करते हुए, मैं श्रद्धा से नत-मस्तक हूँ।

●

आत्म-शिल्पी

❑ देवेन्द्रकुमार कर्णावट
(सम्पादक : संस्थान)

महाप्रज्ञ के बाल-जीवन से मैं उतना परिचित नहीं रहा हूं। लेकिन जबसे उनके साहचर्य मे आने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ, तब से उत्तरोत्तर मैं अपने को धनी अनुभव करता गया हूँ। मैं कल्पना भी नहीं कर सकता था कि आचार्य श्री तुलसी के अन्तेवास मे ऐसी विभूतियाँ भी हो सकती है, जो निजत्व के शब्दकोष से दूर समर्पण की सम्पूर्ण वृत्ति से प्रेरित हो और जो दिन-रात अपने नायक के निदेश पर एक शिल्पी की तरह सुन्दरतम आध्यात्मिक सृष्टि के लिए सृजनशील हो।

मुझे महामना स्व० मंत्री मुनि के दर्शनो का भी अनेक बार सुअवसर मिला है। उनकी विनयशीलता धर्म-संघ के इतिहास मे एक विरासत से कम नहीं है। महाप्रज्ञश्री ने, सम्भव है बाल-जीवन से यह संस्कार उनसे पाये हों। लेकिन विनय और सृजन इसका कहीं मेल नहीं है। जहाँ विनय है, वहाँ केवल समर्पण है। इतिहास ने अनेक बार दोहराया है कि जहाँ सृजन है वहाँ उभरते हुए निजत्व की एक अज्ञात आकांक्षा भी है। कहीं-कहीं उसके आवरण मे प्रदर्शित अहम् की चुभन भी है।

लेकिन महाप्रज्ञश्री इन सबसे दूर आचार्यश्री तुलसी के व्यक्तित्व मे पूर्णतया समर्पित एक ऐसी महानतम शक्ति है, जिसके चहुँ ओर सृजन-ही-सृजन हैं। सृजन के लिए पुस्तकें बिखरी हुई है। दोहन की क्रियाएँ चल रही है और उसकी प्रवृत्तिशील मधुरतम चर्चाएँ चल रही है। आश्चर्य यह है कि अनुसन्धान की इस गहन वृत्ति मे भी दर्शक पर उनकी पारदर्शक दृष्टि है। अनुसन्धानात्मक जिज्ञासा है और मन स्थिति को सहज आकर्षित करने वाली लुभावनी मुस्कुराहट है। उसमे कहीं बनाव-छिपाव एवं दुराव नहीं है। सृजन की अपार भावना से उत्प्रेरित कृतित्व मे विनय की यह अपार आभा भला कहाँ दृष्टि-गोचर हो सकती है ? इस दृष्टि से आचार्यश्री तुलसी भी गौरवशाली है, जिनको ऐसी विनयात्मा मिली और महाप्रज्ञश्री भी भाग्यशाली है, जिनको अपने सृजनात्मक प्रयोग के लिए गुरु की ऐसी निर्देशनात्मक दृष्टि मिली।

महाप्रज्ञश्री के व्यक्तित्व मे अहम् तो कहीं छू भी नहीं गया है। उसी की फल-श्रुति है कि निजत्व का कहीं बोध भी नहीं होता। अपने लिए अपनेपन की कोई आकांक्षा उनमे नहीं है। सब कुछ समर्पित है। जब जीवन ही समर्पित है तो फिर अपनी पृथकता अपनी दुनियाँ और कुछ हो ही क्या सकती है ?

महाप्रज्ञश्री ने अपनी इसी अभूतपूर्व विनयशीलता, जिज्ञासा और आत्मशीलता से आचार्यश्री तुलसी की आध्यात्मिक प्रयोगशाला मे आधुनिक युग की दार्शनिक धारा से समन्वित ऐसी आध्यात्मिक सृष्टि का निर्माण कर दिया है, जिसमे साहित्य की अनुपम कृतियो के साथ जीवन की ज्वलन्त कला है, सौन्दर्य है और आत्म-उपलब्धियाँ है। शास्त्रीय यशोधन के साथ युग की भाषा में बोलता हुआ उनका अपार साहित्य है, जो धर्म-संघ के लिए उनकी यह एक ऐतिहासिक धरोहर है, जिससे तेरा-पथ-सम्प्रदाय का बौद्धिक अस्तित्व आज युग-युग के लिए स्मरणीय बन गया है।

साधना के बढ़ते हुए चरण मे, जडवादी प्रवृत्तियों का प्रतीकार करते हुए महाप्रज्ञश्री ने प्रेक्षाध्यान एवं मानसिक

तप की क्रियाओ द्वारा, आत्म-साधना के पथ को और अधिक प्रशस्त किया है। इस दृष्टि से आचार्यश्री तुलसी द्वारा पथ-प्रदर्शित जैन-विश्व-भारती के कण-कण मे महाप्रज्ञश्री की अनेक आत्म-रश्मियाँ बिखरो पडी हैं और वे सब आध्यात्मिक जीवन की सुन्दरतम सृष्टि के निर्माण मे उत्प्रेरित हैं।

अभी बहुत कुछ करना है। तदर्थ महाप्रज्ञश्री, आचाय श्री तुलसी की दिशा-दृष्टि को लिए, आध्यात्मिक दृष्टि के स्वप्न को और अधिक सशक्त एवं सुन्दर बनाने के लिए, आध्यात्मिक प्रयोगशाला में, आज भी निरन्तर सृजनशील, प्रयोगशील एवं प्रगतिशील है।

ऐसे प्रगति-चेता, महामना, महासृजकको महा प्रणाम, जिन्होने निरन्तर अपनी सूक्ष्मता एवं निकटता से मुझे और अधिक घनीभूत कर दिया है। केवल मुझे ही नहीं, वरन् उन अनेक युवा प्रचेताओ को भी, जो कभी दिशा-भ्रमित थे, लेकिन आज उनके दिशा-दर्शन से धनी हो उठे है। महाप्रज्ञश्री तथा युवाचार्य के नेतृ-दर्शनमे, तेरापंथ उनको पाकर आज अधिकाधिक गौरवान्वित है एवं धन्यता का अनुभव कर रहा है।

✪

महाप्रज्ञ

—मानव मुनि

जिनका जीवन-दर्शन ही मानव-कल्याण का है, जीवन-साधना का है। स्वभाव सुकोमल है, हृदयमें निर्मलता है, जो दार्शनिक हैं, चिंतनशील हैं, लेखक हैं, वक्ता हैं, अपनो बात को दृढता से कहने तथा समाज व राष्ट्र को सही दिशा देनेमें कभी हिचकते नहीं। निर्भय हैं, शान्त हैं। मानव-समाज के हृदय पर विजय-प्राप्त कर लेना व अपनी ओर आकर्षित करना व सबके हृदय में समा जाना आपकी महानता है।

आचार्य तुलसी के मुनि-मंडल में गौतम गणधर जैसे सुशोभित होते हैं। अणुव्रत के विचारों को विश्व में देदीप्यमान करने की शक्ति है। अज्ञानरूपी अन्धकार को मिटाने में ज्ञान-प्रकाश हैं। जो भी सेवा में जाता है, वह आध्यात्मिक चर्चा कर आत्म-शान्ति प्राप्त करता है, सच्चे सुख का अनुभव कर लेता है। आप विज्ञान-युग के महान आत्म-साधक हैं। नम्र हैं, विनयशील हैं, ऐसे महामुनिश्री के प्रति हृदय से पुष्पाञ्जलि अर्पित करता हूँ। आत्म-साधना के माध्यम से विश्व में शान्ति का पैगाम पहुँचाने में पुरुषार्थी हैं। ऐसे मुनि बिरले ही होते हैं।

युवाचार्य !

✪ डॉ० नागरमल सहल

गाँधी ने चुना नेहरू को
तुलसी ने चुना तुम्हें
धन्य दोनों की सूझ-बूझ !
एक का मग राजनीति का, दूसरे का विशुद्ध नीति-पथ
जिस पर रहते हो तुम सतत अग्रसर।
मानव-धर्म एक, सम्प्रदाय अनेक
पर सम्प्रदायनिष्ठ होकर भी
बने तुम संप्रदायातीत।
जल बिना जलज नहीं
पर डूबा रहे जल में वह
तो विमल कमल नहीं।
तेरा पंथ, वही मेरा पथ
वही है पथ मानवता का
पर धर्म के नाम पर पलते हैं कितने अधार्मिक
धर्म में हुआ कितना भीषण मिश्रण !
धर्म नहीं आडंबर, धर्म नहीं कोरा क्रिया-कलाप
धर्म नहीं प्रदर्शन, धर्म कहाँ प्रवंचना
धर्म नहीं है यदा-कदा का मिष्ठान्न

वह है दैनन्दिन पथ्य-भोज्य
वह है आत्म-परिज्ञान
जिसका स्पष्टीकरण करते हो तुम
मग-मग में
भाषण में, संभाषण में
लेखों में, ग्रंथों में;
काव्यों में लेता वह नित नव-नूतन अवतार।
सत्य धर्म है, अहिंसा धर्म है
पर हैं क्या अहिंसा और सत्य
इसका भी किया तुमने विशद आख्यान
रग-रग में अनुस्यूत धर्म तुम्हारा
जिसके अभाव में धर्म लेता विदाई
छोड अपने कंकाल को।
प्रेक्षाध्यान में देखा तुमको आत्मलीन
'अनुभव चिंतन मनन, के अमूल्य धनी तुम।
न प्राची के लिए तुम्हारा दुराग्रह
न प्रतीची का तिरस्कार।
शैली तुम्हारी निदर्शन-प्राण

मनोविज्ञान से भरी-भरी
झंकृत करती जन-जन की हृत्तंत्री को।
जो स्वर निकलना इष्ट हो
निकालो वही जो अभीष्ट हो
अभ्युदय-निःश्रेयस सर्व-सामान्य का हो जिससे।
देह सताती है उनको जो करते हैं उसी की अर्चा-चर्चा
भूल अपने स्वत्व को।
यौवन जीर्णशीर्ण होता उनका जो समझते हैं अपने
को देह
और करते हैं अतिचार
पर देही तुम; देह तुम्हारा थान।
बने रहो चिर तुम युवा!
रहा तुम्हारा एक ध्येय, सदा-सर्वदा संशयहीन
वही श्रेय, वही प्रेय तुम्हारा।
आचार्य-प्रतिपादित अणुव्रत का
तुमने किया उद्घोष
सूत्रों को कर सक्षम टीका।
जैन अजैन मुस्लिम ईसाई
सबका हित समझाया
इस व्रत-परिपालन में
सोम है यह पुराना; केवल चषक नया।
दो धर्म-वाले, देश-विदेश में
कैसे-कैसे लड़े-कटे हैं
इतिहास है इसका साक्षी
पर धर्म-धर्म में होता नहीं तात्त्विक अन्तर
यह समझाते तुम थके नहीं।

अन्तर बाह्य, आभ्यन्तर
वही तो है सार
बाकी सब निस्सार।
बिना मन-वचन-कर्म शुद्धि के
धर्म रहता निष्प्राण।
धर्म रक्षित किया तुमने
इसलिए धर्म करता रहता रक्षा तुम्हारी।
धर्म धर्म नहीं यदि नहीं किया जा सके आत्मसात्।
निर्भय धर्म भयभीत करता नहीं किसी को।
धर्म की 'शल्य-क्रिया' के लिए तुम सदा तत्पर।
धर्म नही पर-पीडन, धर्म नही आत्म-पीडन भी
दोनों हैं ये अति, होनी अभीष्ट है जिनकी इतिश्री
धर्म अध्यात्म है, अध्यात्म धर्म है
इसको माना ही नही
जाना है तुमने।
बहुआयामी व्यक्तित्व तुम्हारा
पार पा सकते नही।
जितना ऊँचा चढ़ें
उससे ऊपर पाते हैं तुमको।
अनेकांतवादी, ऋजुमाना,
ऊर्ध्वरेता हो तुम।
जन-मानस को पहले कर उद्वेलित
फिर करते उनको आह्लादित।
सत्कृत तुम्हें नमन करते हम असत्कृत्
जिससे होती हमें अपनी पहचान
'स्व' का सही सच्चा ज्ञान।

✪

साहित्य और साधना के अद्भुत संगम

—साध्वी-प्रमुखा कनकप्रभा

एक प्रसिद्ध सूफी सन्त था, नाम था उसका फरीद। एक बार जब उसे प्यास लगी, वह कुँए पर गया। वहाँ पहुँचकर उसने बाल्टी और रस्सी की खोज की, पर नहीं मिली। उसी समय उसने देखा—हरिणो का एक झुण्ड वहाँ पानी पीने के लिए आया। वह सीधा कुंए पर आकर खड़ा हो गया। देखते-देखते पानी कुए के ऊपर तक आ गया। हरिणो ने पानी पिया और लौट गए पुनः जगल की ओर। फरीद भी पानी को ऊपर तक देख कुए के पास पहुँचा, किन्तु तब तक पानी फिर नीचे चला गया। अत फरीद विस्मित होकर बोला—खुदा तूने जानवरों को पानी पिला दिया, पर तेरा गुलाम प्यासा ही बैठा है। फरीद अपनी बात पूरी कर चुप हुआ उसी समय आवाज आई—फरीद! तुमने मेरा भरोसा ही कब किया? तुम यहाँ आए और रस्सी-बाल्टी की खोज मे लग गए। यदि तुम्हें मेरा भरोसा होता तो इतनी दौड-धूप क्यो करते? हरिण केवल मेरे सहारे पर खडे थे, इसलिए तृप्त हो गए।

यह एक घटना है जो अपने आराध्य के प्रति समर्पित व्यक्ति की निश्चिन्तता का प्रतीक है। समर्पण जितना आन्तरिक होता है, निश्चिन्तता उतनी ही गहरी होती है। निश्चिन्तता व्यक्तित्व-विकास की महत्त्वपूर्ण पृष्ठभूमि है। इस पृष्ठभूमि पर व्यक्ति किसी भी दिशा मे अपेक्षित प्रगति कर सकता है। इस तथ्य के सुपुष्ट साक्ष्य हैं हमारे युवाचार्यश्री महाप्रज्ञजी। उनका निश्छल भोला बचपन अपने जीवन-निर्माता युगप्रधान आचार्य तुलसी के प्रति जितना समर्पित था, प्रबुद्ध यौवन भी उससे कम समर्पित नहीं था। प्रौढता की गम्भीरता मे भी उनमे बालक-जैसा सहज समर्पण तरंगित हो रहा है? इसका उद्घाटन तो स्वय युवाचार्यश्री ही कर सकते हैं, पर उनकी साहित्य-प्रतिभा और ध्यान-साधना की चेतना से हजारो-लाखो लोग परिचित हो चुके हैं। अपनी साहित्य-साधना और ध्यान-साधना से उन्होने भगवान् महावीर के दर्शन और उनकी साधना-पद्धति को उजागर करने मे कोई कसर नहीं रखी है।

युवाचार्यश्री की साहित्यिक मनीषा की वे सब लोग अवगति पा चुके हैं जिन्होने उनके साहित्य के साथ सम्पर्क साधा है, साक्षात्कार किया है। साहित्य के माध्यम से साहित्यकार के विचारो और व्यक्तित्व की युगपत् अभिव्यक्ति होती है। शरत्चन्द्र के शब्दो मे सबसे अधिक जीवन्त रचना वही है जिसे पढने से लगे कि ग्रन्थकार अपने अन्तस् से सब कुछ बाहर फूल की भाति खिला रहा है। जो साहित्य अपने पाठक को तोष न दे सके, उसे तन्मय न बना सके, उसके चिन्तन को न झकझोर सके, उस साहित्य से पाठक को क्या लाभ मिल सकता है? युवाचार्यश्री के साहित्य मे वह जीवन्तता है, जो अपने पाठक को आत्म साक्षात्कार की दिशा मे पदन्यास करने की प्रेरणा दे सकती है।

युवाचार्यश्री का मानस मूलत दार्शनिक है। उन्होंने दर्शन की गहराई मे बैठकर ही हर तत्त्व को आत्मसात् किया है। साधारण से साधारण तथ्य और घटना मे भी वे दर्शन की गम्भीरता तक पहुँच जाते है। यही कारण है जिसने युवाचार्यश्री के चिंतन को इतना गूढ बना दिया है कि श्रोता और पाठक उसे अवगत करने मे कठिनाई अनुभव करने लगे थे। धीरे धीरे यह अनुभूति पुष्ट होती गई

और लोगो की धारणा बन गई कि उनकी बात हम नही समझ सकते। जन-मानस की इस स्थिति को आचार्यश्री ने पढा और युवाचार्य को विशेष निदश दिया—तुम अपनी भाषा को वदलो, गम्भीर तथ्यो को सरल प्रस्तुति दो अन्यथा तुम्हारी मेधा से समाज अपेक्षित लाभ नही उठा सकेगा। निर्देश मात्र की देर थी, युवाचार्यश्री वदल गए। वदले तो इतने वदले कि उनके वक्तव्यो मे अशिक्षित महिलाओ को भी रस आने लगा। एक दिन ऐसा था जब युवाचार्यश्री को सुनने का प्रसग आने पर प्रवचन-पण्डाल से महिलाएँ और कुछ पुरुष भी इसलिए उठने लगते थे कि अव उनके पल्ले कुछ नहीं पड़ेगा। किन्तु आज स्थिति इतनी वदल गई है कि युवाचार्यश्री के प्रवचन की बात सुन वहिनें अपने आवश्यक काम छोडकर भी उससे लाभान्वित होना चाहती है। यह जो इतना वदलाव, इतना परिवर्तन आया, वह युवाचार्यश्री के दार्शनिक मन मे प्रगाढ समर्पण की वृत्ति का प्रवल साक्ष्य है। समर्पित व्यक्ति ही रूपान्तरण की प्रक्रिया से गुजर सकता है।

दर्शन-शास्त्र के साथ-साथ जैन-आगमो मे निहित अज्ञात-तथ्यो की खोज युवाचार्यश्री की सहज अभिरुचि है। किसी भी गम्भीर ग्रन्थ के अध्येता वहुत मिल सकते है, पर उस अध्ययन का सारा सार संग्रहीत कर रखना, विशिष्ट क्षमता का परिचायक है। युवाचार्यश्री की मनीषा इतनी पैनी है कि कोई भी तथ्य उनकी पकड से अछूता नहीं रह पाता। उनके पास अध्ययन करते समय हमने वार-वार यह अनुभव किया है कि इतनी जागरूक दृष्टि किसी-किसी की ही हो सकती है। इस जागरूकता के कारण ही उन्होने आगमो की परम्परागत आर्षी धारणाओ को नए परिवेश मे प्रस्तुत किया है।

जैन-विद्या-परिषदो मे देश के विभिन्न स्थानो मे उपस्थित विद्वान् जिस बिन्दु पर जाकर अटक जाते है, उसे आगे वढाने का काम युवाचार्यश्री करते है। ईस्वी सन् १९७४ दिल्ली मे समायोजित जैन-विद्या-परिषद मे जर्मन विद्वान एल्सडोर्फ जैसे जैन-विद्या-मनीषी ने भी युवाचार्यश्री की वहुश्रुतता को अपनी सहमति दे दी। विद्वानो का यह अनुभव है कि आचार्यश्री और युवाचार्यश्री की सन्निधि मे हमे नई दृष्टियाँ मिलती है, हमारी समस्याए सुलझती है और अपने काम मे आगे वढने के लिए सम्बल प्राप्त होता है।

युवाचार्यश्री की तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि वहुत प्रखर है। किसी भी नई वात को जैन-दर्शन के साथ तुलनात्मक प्रस्तुति देने मे ऐसी विलक्षण प्रतिभा विरल व्यक्ति ही पा सकते है। एक दार्शनिक व्यक्ति की प्रतिभा मे इस तरह का लोच अपने आपमे एक विशिष्ट उपलब्धि है। आगम-सम्पादन के कार्य मे उनकी विलक्षणता का परिचय पाकर जैनेतर सभी विद्वान् विस्मित हो रहे है।

साहित्य की चेतना बौद्धिक क्षमता का प्रतीक है। उसके साथ साधना का उत्कर्ष मणि-काञ्चन योग है। साधना के अभाव मे होने वाले साहित्य का सृजन, आत्म-स्पर्शी नही हो सकता। साहित्यकार बहुत हो सकते है, पर साधक कोई-कोई होता है क्योकि साधना के गहरे तल मे उतरे विना उसके रहस्य हाथ नही लग सकते। आचार्यप्रवर ने इस तथ्य को पकडा और युवाचार्यश्री को निर्देश दिया कि साधना के क्षेत्र मे नए प्रयोग करो और जैन-साधना-पद्धति की विस्मृत प्रक्रिया को पुन उजागर करो।

युवाचार्यश्री के मन मे साधना के विविध प्रयोग करने की तडप पहले से ही थी। आचार्यप्रवर के निर्देश से उनका मार्ग प्रशस्त हो गया। उन्होने आगम-साहित्य मे विकीर्ण साधना के तत्त्वो को खोजा। उनका प्रयोग किया। अन्य साधना-पद्धतियो के साथ उनका तुलनात्मक विश्लेषण कर प्रेक्षाध्यान हजारो-हजारो लोगो का आलम्बन बन गया है। अनेक व्यक्तियो ने इस साधना के प्रयोग से स्वय को

बदला है, अपनी आदतों को बदला है और अपने व्यक्तित्व को रूपान्तरित किया है।

ध्यान की साधना एक ऐसी प्रक्रिया है जिसका प्रभाव शरीर और मन दोनों पर होता है। शरीर में स्थित चैतन्य-केन्द्रों के जागरण और ग्रन्थियों के समुचित स्राव से एक रासायनिक परिवर्तन की पूरी-पूरी संभावना बनी रहती है। इसके लिए साधक को दीर्घकाल तक निरन्तर अभ्यास करना जरूरी है।

मैं ऐसा मानती हूं कि युवाचार्यश्रीजी के जीवन के अन्य पहलुओं को न भी छूआ जाए तो भी, साहित्य और साधना—ये दो इतने उज्ज्वल पक्ष हैं जो उनके समग्र व्यक्तित्व को रूपायित करने में सक्षम है। उनके साहित्य में निहित शाश्वत सत्यों ने उसे युगीन साहित्य के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया है। इसी प्रकार प्रेक्षा-ध्यान की पद्धति भी अपनी विशिष्टता को प्रमाणित कर रही है। आनेवाली शताब्दियों में युवाचार्यश्री, साहित्य और साधना के अद्भुत संगम के रूप में प्रतिष्ठित होंगे, इसमें कोई सन्देह नहीं है। उस संगम से निस्सृत विविध धारायें लोक-मानस की अध्यात्म-चेतना को प्रक्षालित करती रहें, तो आने वाले युग का स्वरूप अपने आप में विलक्षण होगा। उसमें धर्म, अध्यात्म व नीति के नए मानक स्थापित करने में कोई कठिनाई नहीं होगी।

प्रज्ञा-प्रदीप

—साध्वी आनन्दश्री

हे महा मनीषी !
तुम्हारा
व्यक्तित्व
है बड़ा विचित्र
क्षणिकाओं के
दर्पण में
उन अव्यक्त
रेखाओं का
कैसे खींचूं
चित्र ?
हे महाप्रज्ञ !

युवाचार्य !
जीवन के
प्रारम्भ से
ध्येय, प्रेय
श्रेय, गेय
के साथ एकमात्र
रही है
गुरु-दृष्टि
जिसने की
तुम्हारे इस जीवन
की सृष्टि

महाप्रज्ञजी !

★ अम्बू शर्मा

धन्य ग्राम टमकोर, जिलो झूंझणो धन्य है
मुनि नथमल जीं ठोड, जलम लेय किरपा करी

मां बालूजी धन्य, पिता चोरड्या तोलजी
इन्द्रचन्द कै जन्म, दम्पति वर अम्मर हुया

धन्य जन्म आषाढ, दो हजार तेईस कम
वदि तेरस सोमार, जून चोदवीं बीस सन्

दो भाई दो भैण, छै जन को परिवार यूं
नाचै धरण'र गैण, एक भलेरै जलम स्यूं

दसमी च्यानण माघ, उन्निस-सौ सत्तासियां
दीक्षा ली धन भाग, श्रीकालूगणि गुरु बण्या

बणिया सचिव-निकाय, दो हजार बाईस में
माघ मास अति भाय, तुलसीजी किरपा करी

प्रज्ञा महती साध, महाप्रज्ञ बणिया जणां
करुणा-सिन्धु अगाध, तुलसीजी किरपा करी

सन् अठहत्तर धन्य, दस-दो दिवस नवम्बरां
गंगाशहर अनन्य, महाप्रज्ञ-पद धारिया

राजलदेसर आज, सुरग गन्धव-किन्नर जुडै
सूर्य-दिवस शुभ साज, युवाचार्य-पद ऊघडै

श्रद्धा महती साध, युवाचार्य वणिया जणाँ
करुणा-सिन्धु अगाध, तु,सोजी किरपा करी

सन् उन्यासी ईस(वी), तीन फरवरी माघ वदि
शुभ सात पंतीस, युवाचाय पद धारिया

भाषा-ज्ञान अगाध, पालि प्रकृत संस्कृत मलिछ
नो वाणी निर्बाध, कुण दस-ग्यारा नै गिणै

साहित किसी विसात, सौ पोथ्याँ तो छप चुकी
सुरसत को वरसात, युवाचार्य-घर नित हुवै

अधुना अर प्राचीन, विषय घण्या जग म जिता
सीप-सुता-ज्यूँ छीन, किती आशु कविता करी

कविता किसी विसात, ध्यान-जोग-चर्चा कराँ
प्रेक्षा-ध्यान सिखात, युवाचार्य निज रीति स्यूँ

अणुव्रत वण तूफान, किता न कौतिक जग कर्‌या
महाप्रज्ञ की म्यान, सब तलवाराँ शान्त थी

तेरा-पन्थ महान, कुण परिभाषै कुण लिखै
दो सदियाँ दरम्यान, युवाचार्य संस्कृति रची

कक्षावार किताब, साधु-साध्विका हित रची
उफणै मोती-आब, युवाचार्य की योजना

जैनागम रा ग्रन्थ, बिन सम्पादन थिर न था
युवाचार्य-गुण-ग्रन्थि, इब बँधेज मे आविया

जीवन रा जय-लेख, जिण रै जीवन में अगिण
युवाचार्य कै मेख, इब ओप्या इब साजिया

दूहा दिया सुणाय, सोरठ में मीठा सदा
आज सुरसती आय, सन्ताँ रा सत गाइया

★

समर्पित साधक

—मिन्नालाल बरडिया
(मंत्री : मित्र-परिषद)

युवाचार्य श्री महाप्रज्ञजी आज संघ में विशिष्टतम विद्वान है। इनका साहित्य जितना सामयिक तथा चतुर्दिक दिशाओ को छूता हुआ विकसित है, अन्यत्र दुर्लभ ही है। जैन व जैनेतर समाज मे इनके साहित्य की जो भूरि-भूरि प्रशंसा हुई है, वह बेजोड है। उपाध्याय मुनि विद्यानन्दजी ने भगवान महावीर की २५०० वीं निर्वाण-शताब्दी पर दिल्ली मे कहा था—"तेरापथ धर्म-संघ का संगठन बडा ही अनूठा है। उसमे मुनि नथमलजी-जैसे दार्शनिक विद्वान संत है, यह और भी गौरवपूर्ण है। इतने बडे विद्वान तथा दार्शनिक होने पर भी गुरु मे पूर्ण समर्पण-भाव विस्मयकारी व आह्लादक है। ऐसी पूर्ण समर्पण-वृत्ति कम ही देखने मे आती है। ये 'मनसा-वाचा-कर्मणा' आचार्य तुलसी मे समर्पित हैं।

आचार्य-प्रवर कलकत्ते की ओर पधार रहे थे। 'मित्र-परिषद' अपने साथियो सहित सेवारत थी। उस समय श्रावक-श्रेष्ठ श्री सुगनचन्दजी आचलिया रास्ते की व्यवस्था के प्रबन्धक थे। 'मित्र-परिषद' अपना पूर्ण सहयोग उन्हें दे रही थी। किसी कारण से उनके चाचाजी श्री
से 'मित्र-परिषद' के स्वय-सेवको की पटी नहीं। दूसरे दिन श्री सुगनचन्दजी स्वयंसेवको को आगे जाने को कहने के लिए स्वयं आए। मित्र-परिषद के स्वयंसेवको के अग्रगण्य श्री झूमरमलजी ने वस्तु-स्थिति को बताते हुए स्वयं-सेवको को भेजने की 'ना' कह दी। उस समय स्वयं-सेवको मे श्री जसकरणजी पारख, श्री कुन्दनमलजी तातेड व श्री रतन-लालजी चौरडिया भी उपस्थित थे। श्रीसुगनचन्दजी को काफी वेदना (feeling) हुई। उन्होने भी आगेकी व्यवस्था मे अकेले जाने से इन्कार कर दिया। यह बात आचार्यश्री

आचार्य कालूगणी के समय की बात है—उन्होने एक बाल-साधु को 'उत्तराध्ययन' की टीका बाँचने को दी। वे शुद्ध वाचन न कर सके। अन्य बाल-साधुओं से भी पढाया गया। परन्तु वे सभी वैसा शुद्ध नहीं पढ सके जैसा कालूगणी चाहते थे। उसी समय बाल-मुनि नथमलजी (युवाचार्य महाप्रज्ञ) भी आ गए। उनसे भी उस टीका को पढने को कहा। उन्होने उसे पढा। कालूगणी ने फर-माया—इसने ठीक पढ दिया है। सच है—होनहार बिरवान के होत चीकने पात। शिशु-अवस्था से ही मुनि नथमलजी का ध्यान पढने मे अधिक था।

बाल-साधु-अवस्था मे मुनि नथमलजी (वर्तमान युवाचार्य महाप्रज्ञ) को हँसने की आदत अधिक थी। मुनि बुद्धमलजी जब पास होते, तो यह हास्य-विनोद विशेष बढ जाता था। दोनो दूर होते और परस्पर आँखें मिल जातीं तो भी मुँह पर हँसी आ जाती और कभी-कभी तो हँसी रोकने पर भी नही रुकती थी। आचार्य तुलसी, जो इन दोनो साधुओ के दीक्षा-गुरु भी है, को यह पसन्द नहीं था। वे अनुशासन-प्रिय थे और है। वे इसे उन पर कठोरता से लागू करते थे। मुनि नथमलजी तथा मुनि बुद्धमलजी दोनो कालूगणी के पास गए और शिकायत रूप मे निवेदन किया—"प्रभो। श्री तुलसी-स्वामी हम पर कठोर अनुशासन करते है, हमे स्वतंत्रता से हँसने-बोलने तक नहीं देते।" कालूगणी ने कहा—"जो पहले अनुशासन अगीकार करता है, वही आगे जाकर स्वतत्र बन सकता है। अभी अगर बात करना चाहोगे तो तुम्हारा अध्ययन रुक जाएगा और तुम्हारा विकास नही हो सकेगा।" दोनो साधु शात व मौन। जैसे गए थे, वैसे ही लौट आए।

तुलसी के पास अनिवार्य-भावेन पहुँचनी ही थी। श्री झूमरमलजी सेवा में नए-नए थे। श्री सुगनचन्दजी इसमें दिग्गज थे। अत श्री झूमरमलजी को यह लगने लगा कि शायद गुरुदेव बडा उपालम्भ दें। अत वे मुनिश्री नथमलजी के पास गए और पूर्ण स्थिति उनके सम्मुख रख दी तथा कहा कि श्री सुगनचन्दजी में उन्हें पूर्ण विश्वास है और अब आगे का मार्ग-दर्शन करने को कहा तथा जानना चाहा कि इसको आचार्यश्री के सामने कैसे रखा जाय? मुनिश्री ने तुरन्त कहा—"आचार्यश्री में पूर्ण समर्पण रखो तथा जैसी बात है वैसी ही प्रस्तुत कर दो। सब ठीक होगा।" भाईजी झूमरमलजी की पेशी जब आचार्यश्री के सामने हुई, तब उन्होंने सम्पूर्ण बात जैसी थी वैसी ही रखदी। मुनिश्री नथमलजी के कहे अनुसार ही समस्या का प्रस्तुतीकरण किया। फल सुन्दर रहा। आचार्य-प्रवर से समाधान मिला। उपालम्भ की कोई बात ही नहीं रही। यह पूर्ण समर्पण-भाव भाईजी ने मुनिश्री नथमलजी से ही पाया था। अत इतने बडे विद्वान व दार्शनिक संत होते हुए भी गुरु में पूर्ण समर्पण-भाव युवाचार्य महाप्रज्ञजी में ही देखने को मिलता है अत गुरु में पूर्ण समर्पण सीखना हो तो युवाचार्य महाप्रज्ञजी से सीखें।

मित्र-परिषद् को युवाचार्य का दिशा-निर्देश हमेशा ही मिलता रहा है। परिषद इससे अपने आपको बडा सौभाग्यशाली अनुभव करती है। जब-जब भी मित्र-परिषद के सामने उलझनें आईं, युवाचार्य का मार्ग-दर्शन तुरन्त मिला। उलझनें समाप्त हो गईं। इस तरह हम भाग्यशाली हैं कि मित्र-परिषद को, युवाचार्य महाप्रज्ञश्री का पूरा संरक्षण प्राप्त है और सदैव प्राप्त रहेगा।

✪

वे महान हैं !

—के० वैद्यनाथन्

इस महान देश में जैन-धर्म को प्रथम श्रेणी के अनेक साधकों के योगदान का श्रेय एवं सुनाम प्राप्त है। इसमें कोई संदेह नहीं कि प्राचीन काल में भी अनेकों अहिंसात्मक आन्दोलन-कर्त्ता एवं साधक थे, किन्तु केवल जैन-धर्म ने ही अपने सारे क्रिया-कलापों में पूर्णतः एवं यथार्थतः अपने तमाम अनुयायियों के प्रति अहिंसा-पालन का आदेश लागू किया है। तपश्चर्या को इस देश में दीर्घकाल से लोकप्रियता प्राप्त होती रही है। बुद्ध ने भी अनेकों व्यक्तियों को दीक्षित कर धर्म-संघ एवं मठीय जीवन का अंग बनाया था, किन्तु यह भगवान महावीर के ही सामर्थ्य की बात थी कि उन्होंने साहस और दृढ़ विश्वास के साथ महिलाओं को भी मठीय व्यवस्था में सम्मिलित करने का सूत्रपात किया और उन्हें भी पुरुष-संन्यासियों के समानान्तर, समान अधिकार प्रदान किए। जैन-धर्म एक लोकतांत्रिक धर्म है। कोई भी व्यक्ति, चाहे जिस पेशे से सम्बन्धित हो, उसके प्रति यह जाति-भेद की प्रथा और रिवाजों के पालन में विश्वास नहीं करता। ये तमाम बातें पिछली पच्चीस शताब्दियों से देश में प्रचलित तत्कालीन धर्मों की तुलना में जैन-धर्म के विशिष्ट लक्षणों में गण्य हैं, और जैनियों ने उसे आज तक सुरक्षित रखने का प्रयास किया है। हालाँकि वे हिन्दू-धर्म के अनुयायियों के साथ स्वतंत्रतापूर्वक मेल-जोल के साथ निरन्तर रहते आये हैं।

कालान्तर में जैन-धर्म के अनुयायियों की पद्धति में अनिवार्य परिवर्तन हुए हैं। मुनियों द्वारा अपरिग्रह, सत्य और अहिंसा के अनुशासन के सन्दर्भ में, एक निर्विवाद प्रगतिशील आचार-संहिता को विन्यस्त करने का श्रेय क्रान्तिकारी विचारक आचार्य श्री भिक्षुस्वामी को प्राप्त है। तत्पश्चात् काल-क्रम में कुछ सत्यनिष्ठ अनुयायियों के प्रयास से जैन-समाज के भीतर एक अलग समुदाय तेरापंथ, नाम से अस्तित्व में आया। सम्प्रति, जो आचार्यश्री तुलसी के योग्य नेतृत्व में अग्रसर है। महाप्रज्ञ (मुनिश्री नथमलजी) इसी के अन्तर्गत साधना-रत हैं। इस समुदाय को धर्मोत्साह के साथ-साथ क्रान्तिकारी चेतना की महान परम्परा उत्तराधिकार में प्राप्त है जिसके माध्यम से इसके अनुयायियों ने पूरी तरह स्वयं को भगवान महावीर के अध्यात्म-दर्शन से सम्पन्न एवं समृद्ध किया है।

महाप्रज्ञ इसी प्रख्यात एवं प्रधान क्रान्तिकारी धर्मानुशासन से सम्बन्धित हैं। यद्यपि वे बौद्धिक दृष्टि से महान हैं तथा एक अच्छे अध्येता और उच्चकोटि के गम्भीर विचारक हैं, तथापि वे अपने आचरण एवं व्यवहार में

इतने सरल-परिशुद्ध है कि स्वयं को सामान्य-जन जैसा महसूस करते हैं। श्रावक समान रूप से उनके साथ अन्तरंगता एवं घनिष्टता का अनुभव करते है। अपने गुरुजी आचार्यश्री तुलसी के प्रति उनकी निष्ठा, वर्ग के अन्य लोगों के लिए अनुकरणीय उदाहरण है। वे अनेक ग्रन्थो के प्रणेता है। उन्होने अहिंसा-दर्शन, सत्य और अपरिग्रह के अतिरिक्त लोगों द्वारा उन आदर्शों के पालन से समाज पर पडने वाले सामाजिक एवं आर्थिक प्रभावों के बारे मे भी लिखा है। उनकी रचनायें, निश्चित रूप से किसी भी अच्छे ग्रन्थागार को शोभा बढायेंगी।

मुझे सर्वप्रथम महाप्रज्ञ श्री के प्रति अपनी श्रद्धा निवेदित करने का सौभाग्य-सुख उस समय प्राप्त हुआ था जब वे बंगलोर मे आचार्यश्री तुलसी के साथ दक्षिण भारत की आध्यात्मिक विजय-यात्रा पर थे। निश्चय ही आचार्य श्री तुलसी का दक्षिण-भ्रमण सचमुच एक आध्यात्मिक विजय थी, क्योंकि उन्होंने अनेक ऐसे व्यक्तियों के हृदय को जीत लिया था जो केवल जैन-समाज मे ही नहीं बल्कि अन्य धर्मों से भी सम्बन्धित थे। उसके पश्चात् पुनः जब आचार्यश्री तुलसी अपनी शिष्य-मण्डली के साथ आन्ध्र-प्रदेश में चातुर्मास-प्रवास के दौरान यहाँ थे, तब कुछ दिन मुझे उनके सान्निध्य मे रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उनके आन्ध्र-प्रवास के सिलसिले मे मैं प्रबन्ध-समिति का संयुक्त मंत्री होने के नाते, दोनों नगरों में अनेक सफल समारोहों के आयोजन-प्रबन्धों मे भी सम्बन्धित था। उस समय मुझे जैन-श्रावक एवं सामान्य-जन के सामाजिक जीवन से सम्बन्धित तमाम विषयो पर महाप्रज्ञ के साथ विचार विनिमय का सुयोग प्राप्त था। तब मैंने देखा कि महाप्रज्ञ मे विषय की स्पष्ट व्याख्या करने या उसे प्राञ्जलता के साथ अभिव्यक्त करने की जो बौद्धिक क्षमता है, वह, सचमुच अत्यन्त बोधदीप्त एवं तर्क-सगत प्रातिभ-ज्ञान की परिचायिका है।

आचार्यश्री तुलसी महान सामाजिक आन्दोलन "अणुव्रत" के प्रवर्तक हैं। इस महादेश के लोगों के नैतिक जीवन मे एक कल्याणकारी एवं स्वस्थ परिवर्तन लाने की दिशा में इस महान आन्दोलन को विकसित करने तथा आन्दोलन के विवरणों को सूत्र-बद्ध एवं प्रतिपादित करने मे सचमुच महाप्रज्ञ ने एक बहुत बडी भूमिका का निर्वाह किया है। सामान्य प्रसगो मे भी आचार्य श्री तुलसी अपने शिष्यों एवं श्रावकों को भी महाप्रज्ञश्री के साथ उपस्थित समस्याओं पर विचार-विनिमय का आदेश देते हैं ताकि वे उन तमाम प्रस्तुत समस्याओं के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करें। उनके व्यक्तिगत सम्बन्ध की तुलना गाँधी जी एवं विनोबा भावे के साथ की जा सकती है। महाप्रज्ञ संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी के साथ-साथ राजस्थानी एव अन्य भाषाओं के बहुविज्ञ विद्वान हैं। उन्होने योग की साधना की है और उस विषय पर अनेक उपयोगी शोध-प्रबंधों का प्रणयन किया है।

यह सुसंवाद जानकर अपार हर्ष हुआ है कि आचार्य श्री तुलसी ने "मुनिश्री नथमल जी" को अपने उत्तराधिकारी के रूप में मनोनीत किया है और उन्हें "महाप्रज्ञ" की उपाधि से अलंकृत किया है। महाप्रज्ञजी पूर्णतया इस सम्मान के योग्य है। मुझे प्रसन्नता है कि तेरापंथी जैन-समाज ने उत्साहपूर्वक इस घोषणा का स्वागत किया है एवं महाप्रज्ञश्री तथा आचार्य श्री तुलसी दोनों के प्रति अपनी निष्ठा एव ईमानदारी का परिचय दिया है। निस्सन्देह, मेरी इस धारणा के प्रति सबकी सहमति होगी कि महाप्रज्ञ का समय उतना ही महान एवं प्रधान होगा जितना कि वर्तमान समय आचार्य तुलसी का है। मैं सर्वशक्तिमान ईश्वर से केवल यही प्रार्थना कर सकता हूँ कि वह

हाप्रज्ञ को दीर्घायु प्रदान करे तथा केवल तेरापंथी जैन-समुदाय के लिये ही नहीं बल्कि समग्र जैन-समाज एवं देश के मास विभिन्न धर्मावलम्बियों के साथ पूरे विश्व के लोगों की सेवा करने के लिये स्वास्थ्य, साहस और शक्ति भी प्रदान करे ।

महाप्रज्ञ में पार्थिव प्रतिष्ठा एवं सम्मान के प्रति किसी प्रकार के गर्व का बोध नहीं है । वे तो एक ऐसे "स्थितप्रज्ञ" हैं जिनकी व्याख्या भगवान श्री कृष्ण ने गीता के द्वितीय अध्याय में प्रस्तुत की है । वे पक्ष-विपक्ष अथवा अनुग्रह, अवज्ञा, सम्मान, अपमान से अप्रभावित हैं । वे सतत प्रवहमान गंगा की तरह हैं जो सदैव समानरूप से पवित्रता और प्रसन्नता बाँटती है तथा उनके निकट धर्म-निरपेक्षता या धार्मिक आस्था या सदाचारी, दुराचारी की भेद-दृष्टि कोई मान्य नहीं रखती ।

(अंग्रेजी से हिन्दी-अनुवाद श्री छविनाथ मिश्र)

वे निरभिमान हैं !

—कृष्णचन्द्र अग्रवाल
सम्पादक दैनिक विश्वमित्र, कलकत्ता

कहावत है—"घर की मुर्गी दाल बराबर"। उसी कहावत के आधार पर आज जैन-समाज एवं जैन-सम्प्रदाय महाप्रज्ञजी का मूल्यांकन सही तौर पर नहीं कर पाता है। इधर कुछ वर्षों से महाप्रज्ञजी के निकट सम्पर्क में आने का बराबर सुअवसर मुझे मिला। संयोग संक्षिप्त ही होता रहा। आचार्य श्री तुलसी के दर्शनार्थ जब-कभी जाने का मौका मिला, युवाचार्य को निकट से देखा, जाना और समझने का प्रयत्न किया। वे इतने गहरे व्यक्तित्व के हैं कि उन्हें भली-भाँति समझने के लिए लम्बे सत्संग तथा गहरी परिचर्चा आवश्यक है परन्तु मैं ठहरा उड़ता पंछी। किन्तु पत्रकार होने के नाते यह ज्ञान तो हो ही गया है कि—

"लिफाफा देखकर मजमूँ भाँप लेते हैं"

महाप्रज्ञजी ने भारतीय साहित्य को, जैन-भण्डार को अपनी अनमोल कृतियों से इस प्रकार धन्य किया है कि मैं सोचता हूँ कि अगर वे आज स्वतंत्र रूप से विश्व-भ्रमण का सुयोग पाते और अपनी कृतियों से विश्व के मानस को परिचित करा सकते तो उनका अग्रिम पंक्ति में स्थान होता। इस कमी को पूरा करना उनके सम्प्रदाय के श्रावकों और मुझ-जैसे परिचित-प्रशंसकों का कार्य है।

महाप्रज्ञजी को मैंने एक क्षण भी अपना समय व्यर्थ गँवाते नहीं देखा। अपने आस-पास श्रावकों की भीड़ से समय निकालते हैं तो आचार्यश्री एवं साधु-साध्वी-वर्ग के साथ चिन्तन-मनन करते हैं। विश्राम के समय से ही समय पाकर लेखन तथा पठन-पाठन करते हैं।

महाप्रज्ञजी की स्मरण-शक्ति विलक्षण है। यह उन्हें राह चलते विषय-प्रतिपादन में सहायक होती है। जिस रमते-राम के पास कोई पुस्तकालय नहीं हो—रेफ़ेन्स-किताबों को संग्रह कर, देखने की सुविधा नहीं हो, उस चलते-फिरते विशेषज्ञ को अगर विश्व के प्रमुख साहित्यिक देखें और परिचित हों तो आश्चर्य-चकित रह जायेंगे।

महाप्रज्ञजी की एक अपनी अलग विशेषता उल्लेखनीय मैंने समझी। वे निरभिमान हैं, सरल स्वभाव के "सर्वजन हिताय, सर्वजन सुखाय" मनीषी हैं जो बड़े विद्वानों में कम होते हैं। वे एक अपढ़ श्रावक से उसी की भाषा-भावना से वार्त्तालाप कर सकते हैं जिस सरलता के साथ विश्व के प्रसिद्ध धर्म-गुरु दलाई लामा के साथ।

मैं उनकी विलक्षणता का परिचय देने में सक्षम नहीं, केवल मानव-गुणों को ही परख कर श्रद्धावनत हूँ।

★

द्वितीय खण्ड

मूल्यांकन खण्ड

आचार्य रजनीशजी का पत्र

'सम्बोधि' पर दो शब्द.

मैं मुनि श्री०नथमल जी रचित 'सम्बोधि' को देखकर अत्यन्त आनंदित हुआ हूं.

जगत में कुछ शाश्वत है,कुछ सामयिक है.जो सामयिक है,वह निरंतर शाश्वत को आच्छादित कर लेता है,और इसलिये शाश्वत को पुनः पुनः उद्घोषित करना होता है.

सामयिक नित्य नवीन है.शाश्वत सदा सनातन है.

सामयिक रोज आता है,रोज खो जाता है.शाश्वत न आता है,न खोता है.वह आकाश की भांति नित्य उपस्थित है.

और,सामयिक के धुंये में आंखें बंद न होगई हों,तो उसे किसी भी क्षण देखा जासकता है.

'सम्बोधि' में,इस शाश्वत आकाश के दर्शन और उद्घोषणा से ही मैं आनंदित हुआ हूं.

प्रभु मुनि श्री०नथमल जी को और शक्ति और प्रकाश दे कि उनसे इस दिशा में और भी कार्य बन सके.

मनुष्य की जड़ें शाश्वत की भूमि से विच्छिन्न होगई हैं. यही आज के युग का दुख है.उन्हे वापिस शाश्वत में स्थापना देनी है.उसी मार्ग से एक नये मनुष्य और नई मानवता का जन्म हो सकता है.

इसलिये,शाश्वत की दिशा में किये गये समस्त प्रयासों का मैं स्वागत करता हूं.

रजनीश के प्रणाम

बेल्जियम विश्व विद्यालय का पत्र

RIJKSUNIVERSITEIT GENT

FACULTEIT DER
LETTEREN EN WIJSBEGEERTE

GENT, 11 February 1977.
Blandijnberg, 2
Tel 23 38 21 (10 lijnen)
25 75 71 (10 lijnen)
25 76 11 (10 lijnen)

To: Mr.K.L. Fulfagar,
Mitra Parishad,
CALCUTTA-7.

Dear Mr. Secretary,

This is to acknowledge due receipt of Muni Nathmal's book on Shraman Mahavir, which you sent to me. Thank you for this kind gesture. Up to now I unfortunately had not enough leisure to read the book throughout, but what I read of it seemed to be very inspiring.

Congratulating the Mitra Parishad on its publication, I remain, Mr. Secretary,

Sincerely yours,

J. Deleu

Prof.Dr. J. Deleu
Dept of Indology
Ghent University
Belgium

बर्लिन विश्व विद्यालय का पत्र

Prof Dr Klaus Bruhn
Cimbernstraße 3
D 1000 Berlin 38
Tel (030) 803 40 53

Shri K.L. Fulfagar
c/o [illegible] PARISHAD
115 A, Chittaranjan Avenue
Calcutta - 7

Berlin
27-2-1977

Dear Mr. Fulfagar,

You have sent me a copy of Muni Nathmal's book on SHRAMAN MAHAVIR. Please accept my thanks for this valuable gift and for your letter of January 15th, 1977.

I fully agree with you that the heritage of Jainism has hitherto not always received the attention it deserves. Jainism is one of the great religions, and Jaina ethics are a contribution to the religion of humanity. The richness of Jaina culture - both literature and art - is an additional aspect.

Muni Nathmalji has collected the biographical data on "Shramana Mahavira", and he has presented them in a way which is likely to further the understanding of the old records.

Adequate interpretation of the richt heritage of Jainism, both in Indian languages and in English, is a great task which imposes itself both on individuals and institutions. The book so kindly sent to me is a step in this direction, and it is hoped that the MITRA PARISHAD as well as other Jaina organizations will succeed in promoting the interest for the Jaina Dharma and for Jaina Culture both inside and outside India.

Kindly convey my thanks and regards to Muni Nathmalji.

With best wishes,

Yours sincerely,

Kl. Bruhn

मास्को विश्वविद्यालय का पत्र

Индекс предприятия связи и адрес отправителя

from I.D.Serebriakov
Institute of Oriental Studies

2,Armyansky pereulok

Moscow USSR

Moscow 5.2.77.

to Mr.K.L.Fulfagar
Secretary,Publicity Department
Mitra Parishad,Calcutta

Dear Sir,

may I express my heartfelt gratitude for "SHRAMAN MAHAVIR", written by Muni NATHMAL, copy of which I received. Indeed, one may feel amazement when compares multitude of books, articles and translations concerning teachings of Lord Buddha with the same cencerning teachings and personality of Lord Mahavira. I reserve my comments until I read it upto the last line, but I can not stand temptation to tell You that book is nicely edited and is really storage of very important information presented in very lucid and popular form.

With best regards and wishes

Igor D Serebriakov
(Igor D.Serebriakov)

आचार्य तुलसी का पत्र

सुजानगढ़
२-३-१९७७

मुनि नथमलजी,

अभी रात को ठीक दस बजे हैं। शुभकरण दस्सानी मेरे पास बैठा है, श्रीचन्द बेगानी भी। प्रसंग चल पड़ा है तुम्हारा। तुम कल सवेरे (फाल्गुन शुक्ल १३) लाडनूँ-जैन-विश्व-भारती के शुभ प्राङ्गण में साधना का एक विशिष्ट प्रयोग प्रारम्भ कर रहे हो—इसके लिए मैं भी कुछ लिखूँ—क्या लिखूँ?

अभी इतना ही कि तुम्हारा प्रयोग सफल हो—तुम्हारी भावना सफल हो। इसके लिए मेरी अनेकानेक शुभकामनाएँ।

सुनो! तुम्हारा प्रयोग केवल तुम्हारा ही नहीं, मेरा भी प्रयोग है, संघ का प्रयोग है। इससे समूचा संघ लाभान्वित होगा।

—आचार्य तुलसी

सुप्रसिद्ध बँगला-उपन्यासकार विमल मित्र का पत्र

विमल मित्र
२६/१/१
चेतला सेण्ट्रल रोड
कलकत्ता-२७

२१-१२-७६

प्रिय कन्हैयालालजी फूलफगर,

आपके द्वारा भेजी गई महाप्रज्ञजी की पुस्तक "किसने कहा मन चञ्चल है ?" प्राप्त हुई—धन्यवाद ! पुस्तक पढ रहा हूँ।

यह पुस्तक पढने में वहुत अच्छी लग रही है । मैं भी एक 'ग्रेमाल्डी' हूँ इसलिए पृष्ठ १६२ में मैं भी कहता हूँ—"डॉ० मैं ही हूँ, ग्रेमाल्डी । दुनियाँ को हँसाने वाला, सुख देने वाला, तृप्ति देने वाला, मै ही हूँ ग्रेमाल्डी । मैं कितना दुःखी हूँ ।"

इस किताव के लिए मैं आपका आभारी हूँ।

वाकी वातें फिर होंगी ।

सेवा मे ।—
श्री कन्हैयालालजी फूलफगर
पी-१६, राजा राजकिसन स्ट्रीट
कलकत्ता-६

आपका
विमल मित्र

जैन-न्याय का विकास

(यात्रा : आगम से दर्शन)

—डॉ० नेमीचन्द जैन

(सम्पादक : तीर्थङ्कर, इन्दौर)

भले, व्यवस्थित, परिपाक चिन्तनयुक्त ग्रन्थ, एक तो इन दिनों ढूँढे से मिलते नहीं और यदि किसी कारणवश मिल भी जाते हैं तो उन्हें वाचन का वह क्षेत्र नहीं मिल पाता जिसके वे योग्य होते हैं। सही किताब को यदि सही पाठक मिलना असंभव न सही, कठिन तो हुआ ही है इन दिनों। "जैन-न्याय का विकास" जिसमे महाप्रज्ञजी जैसे अक्षर-पुरुष के राजस्थान-विश्व-विद्यालय, जयपुर के 'जैन-विद्या-अनुशीलन-केन्द्र' मे सन् १९७५ मे हुए चार व्याख्यानों को नौ अध्यायों और पाँच परिशिष्टों मे वितरित किया गया है, एक ऐसा ग्रन्थ है जिसे बिना किसी प्रूफ की त्रुटि के अस्तित्व मे आना था और जैन-विद्या के अध्येताओं और अनुसंधित्सुओं को उपकृत करना था, किन्तु हुआ यह है कि किताब उपलब्ध नहीं है और बिना किसी चर्चा-समीक्षा के अपोहित है।

"जैन-न्याय का विकास" मे सामग्री का क्रम इस प्रकार है—आगम-युग का जैन-न्याय, दर्शन-युग का जैन-न्याय, अनेकान्त-व्यवस्था का सूत्र, नयवाद अनन्त पर्याय, अनन्त दृष्टिकोण, स्याद्वाद और सप्तभंगी न्याय, प्रमाण-व्यवस्था, अनुमान, अविनाभाव, भारतीय प्रमाण-शास्त्र: नयी संभावनाएँ, परिशिष्टो मे है—प्रमाणो के विभिन्न प्रकार, व्यक्ति, समय और न्याय-रचना, न्यायग्रन्थ के प्रणेताओं का संक्षिप्त जीवन-परिचय, पारि-

भाषिक शब्द-विवरण, प्रयुक्त ग्रन्थ-सूची। इस तरह कुल मिलाकर सामग्री न सिर्फ विपुल है वरन् संपूर्ण और उपयोगी भी है।

प्रथम अध्याय मे विद्वान् तार्किक ने अपने प्रतिपाद्य का परिचय तो दिया ही है, प्रमाण-विद्या की पृष्ठभूमि भी स्पष्ट की है। उसका चिन्तन आद्यन्त अत्यन्त स्पष्ट, असंदिग्ध, युक्तियुक्त, सापेक्ष और तुलनात्मक रहा है, इसीलिए/मात्र इसीलिए/उसने संदेहों और भ्रमो को घटाया है और विकास के प्रमुख संदर्भो मे जैन-न्याय को स्पष्टत प्रतिपादित किया है, उदाहरणार्थ—"भारतीय दर्शन मे सर्व प्रथम प्रमाण की चर्चा की जाती है। प्रमेय की चर्चा उसके बाद आती है। प्रमाण और प्रमेय—ये दो न्यायशास्त्र के मूल अंग है" [पृ० १]। अध्याय मे प्रमाण-संख्या, उपादान के नानात्व से प्रमाण का नानात्व, न्याय की परिभाषा, प्रमाण का अर्थ, जैन-न्याय के ३ युग [आगम-युग का जैन-न्याय, दर्शनयुग का जैन-न्याय, प्रमाण-व्यवस्थायुग का जैन-न्याय—पृ० ७] आगमयुग का जैन न्याय, ज्ञान का स्वरूप, ज्ञान का मूल स्रोत, ज्ञान-सीमा, इन्द्रिय-ज्ञान और प्रमाण-शास्त्र इत्यादि बिन्दुओ पर विचार किया गया है। लेखक के मन मे कोई पक्षपात नही है इसलिए उसने पूरी निष्पक्षता और वस्तुनिष्ठा के साथ अपने प्रतिपाद्य को सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया है। विद्वान् लेखक विषय-प्रतिपादन मे न अधिक निर्मम है, न अधिक उदार बल्कि "अनेकान्त" की भाँति वैज्ञानिक और सापेक्ष है। उसकी उपमा "प्रमाण-प्रमेय-कलिका" के तेजस्वी रचयिता नरेन्द्रसेन से सहज ही दी जा सकती है।

द्वितीय अध्याय मे जैन-न्याय को दर्शनयुग के संदर्भ मे देखा गया है। वस्तुत ग्रन्थ को "जैन-न्याय और उसका विकास" शीर्षक से ही अभिहित किया जाना था। "जैन-न्याय का विकास" व्याप्ति/व्यौत मे छोटा पडता है। ग्रन्थ मे जैन-न्याय का मात्र विकास ही नहीं है उसकी प्रकृति, स्वरूप और क्षेत्र पर भी तुलनात्मक और व्यतिरेकात्मक [कम्पेरेटिव्ह एण्ड कण्ट्रास्टिव्ह] प्रकाश डाला गया है। माना, प्रत्येक अध्याय मे सिद्धान्त विवेचन और विकास-विवरण समानान्तर है और कुल आकल्पन संतुलित है तथापि प्रदत्त नामकरण तंग पडता है। इस अध्याय मे विद्वान् लेखक ने/व्याख्याकार ही कहें/बताया है कि बौद्धों और नैयायिको के परस्पर हुए क्रुद्ध-तीव्र खण्डन-मण्डन के संघर्ष-गर्भ से न्यायशास्त्र के नये युग का सूत्रपात हुआ। दर्शनयुगीन जैन-न्याय [तीसरी से आठवीं शताब्दी] की विशिष्ट उपलब्धियो को ग्रन्थ मे इस प्रकार परिगणित किया गया है— [१] आगम और हेतु का समन्वय [२] ज्ञान का प्रमाण के रूप में प्रस्तुतीकरण [३] दर्शन-समन्वय और तन्निमित्त अनेकान्त की व्यवस्था का विकास एवं उसका व्यापक प्रयोग। इसी तरतमता लेखक ने समन्वय के विभिन्न आयामो पर भी विचार किया है। "नय" की परिभाषा देते हुए उसने कहा है—"प्रत्येक विचार एक नय है। वह किसी दृष्टिकोण से निरूपित

है । कोई भी एक विचार पूर्ण नहीं है" [पृ० ३०] । संपूर्ण ग्रन्थ की विशेषता है प्रत्येक अध्याय के अन्त मे दिये गये कुछ प्रश्न और उनके समाधान । इनसे ग्रन्थ की उपयोगिता काफी समृद्ध हुई है ।

महाप्रज्ञजी की सबसे बड़ी खूबी है उनका दृष्टिमुक्त बने रहना । उनका यह गुण सर्वत्र समान तीव्रता के साथ बना रहता है, कहीं उनका लोप नहीं होता । तृतीय अध्याय मे अनेकान्त-व्यवस्था को समझाया गया है । यहाँ अनेकान्त के कुछ नियम दिए गये है— [१] सामान्य और विशेष का अविनाभाव [२] नित्य और अनित्य का अविनाभाव [३] अस्तित्व और नास्तित्व का अविनाभाव [४] वाच्य और अवाच्य का अविनाभाव । इन्हें साधा गया है सटीक दृष्टान्तों और उदाहरणों से । असल मे न्याय मानवीय ज्ञान का एक शुष्क और नितान्त उबानेवाला इलाका है तथापि विद्वान् लेखक ने रूपकों, उपमाओं, अद्भुत संवादों और अन्य रोचक उपायों द्वारा नीरसता को कहीं उभरने नहीं दिया है । प्रतिपादन के जीवन्त-चमत्कार-उल्लसित प्रवाह के कारण भी पाठक लगाम तोड़कर नहीं भागता है, वह सर्वत्र-सर्वथा संयत और सुस्थ रहा है । उनका यह प्रतिपादन-कौशल न केवल प्रस्तुत ग्रन्थ मे वरन् सर्वत्र द्रष्टव्य है । लेखक के निष्कर्षों, स्थापनाओं और कथनों मे सर्वत्र एक अविचल आत्म-विश्वास की झलक मिलती है, यथा—"कोई भी जिन-वचन नय-निरपेक्ष नहीं होता" । उपसंहार मे लेखक ने अनेकान्त की गतिशीलता [डायनेमिज्म] तथा चिन्तन मे अहिंसा-दृष्टि (नान-वायलेन्स इन थिंकिंग) की बात पूरे जोर से कही है ।

चौथे अध्याय मे 'नयवाद' पर विचारपरक प्रकाश डाला गया है । नैगम, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत पर विचार किया गया है और कहा गया है कि "निरपेक्ष नय विवाद उत्पन्न करता है, सापेक्ष या समुदित नय संवाद उत्पन्न करता है"—पृ० ५६ । "निक्षेप" को लेकर उनका कथन है कि वह विशिष्ट शब्द-प्रयोग की पद्धति है । इसी सिलसिले मे उन्होंने निक्षेप को तुलना के धरातल पर स्पष्ट किया है । वह कहता है—"निक्षेप की इयत्ता नहीं है । जो शब्द जितने अर्थों को प्रकाशित करता है, उतने ही उसके निक्षेप किये जा सकते है"—पृ० ६० । अन्त मे विद्वान् व्याख्याता ने अनेक समस्याओ को समाहित किया है ।

पाँचवें अध्याय मे स्याद्वाद और सप्तभंगी न्याय है । हम सभी जानते है कि 'स्यात्' को लेकर हजार किस्म के भ्रम फैले है/फैलाये गये है । लेखक ने उन्हें यहाँ तर्क के स्तर पर एक-एक करके तोड़ा है । उनने कहा है कि स्यद्वादको "विभज्यवाद" और "भजनावाद" के नामों से भी जाना जाता है । "एवकार" का प्रयोग—उनने कहा कि—विवक्षित धर्म के प्रति निश्चयात्मक दृष्टिकोण देता है । सामान्यतः कहा जाता है कि स्याद्वाद मे "ही" के

स्थान मे 'भी' का उपयोग किया जाना चाहिये, किन्तु गहरे मे जाएँ तो यह बहुत अर्थवान नहीं है—पृ० ६९। "स्यात्कार" और "एवकार" विवक्षित धर्म के असंदिग्ध प्रतिपादन और अविवक्षित अनेक धर्मों के संग्रहण के लिए समन्वित रूप मे प्रयुक्त होते है"। "विरोध समन्वय का जनक है"। "दो विरोधी धर्मों की युगपत् सत्ता मे ही सापेक्षता के सिद्धान्त की स्थापना की जा सकती है"—जैसे वाक्य-मणि, प्रतिपाद्य को दिन के उजाले की भाँति स्पष्ट करते है। इसी अध्याय मे विख्यात अर्थशास्त्री श्री पी० सी० महलनबीस का "स्टेटिस्टिक्स और स्याद्वाद" को लेकर जो उद्धरण दिया है (पृ० ७५-७७) उससे विद्वान् लेखक के ज्ञान की असीमितता और उदारता का पता चलता है।

छठा अध्याय प्रमाण-व्यवस्था से संबन्धित है। प्रमाण-व्यवस्था का सूत्रपात ईसा की ३-५ शताब्दी मे आचार्य सिद्धसेन द्वारा हुआ। हरिभद्र तथा अकलंक ने उसका पल्लवन-फलन किया है। प्रमाण की धर्मकीर्ति-प्रदत्त उबारत है—"अविसंवादी ज्ञान प्रमाण है। वह स्व-परप्रकाशी है, सूरज की भाँति।" इतिहास गवाही है कि केवल ज्ञान सबसे अधिक निकष पर लिया गया। सर्वज्ञता और धर्मज्ञता पर तर्क-वितर्क हुए, यथा—"सर्वज्ञता का निरसन करनेवाले कहते है कि मनुष्य सर्वज्ञ नहीं हो सकता। आचार्य ने पूछा—"यह आप कैसे कहते है ? सर्वज्ञ नहीं है, यह आप जानकर कहते है या अनजाने ही ? सदा, सर्वत्र, सबमे से कोई भी सर्वज्ञ नही होता, यदि यह जानकर कहते है तो आप ही सर्वज्ञ हो गये। और यदि बिना जाने कहते है तो आप यह कैसे कह सकते है कि किसी भी देश-काल मे कोई व्यक्ति सर्वज्ञ नहीं होता ?" पृ० ९५।

सातवें अध्याय मे न्याय-शास्त्र मे सबसे महत्त्वपूर्ण अंग "अनुमान" पर विचार हुआ है। इसी मे हेतु और उसके प्रकारों पर भी चिन्तन किया गया है। लेखक का निष्कर्ष है कि "जैन-आचार्य ने प्रत्येक विषय पर अनेकान्त दृष्टि से विचार किया है। नय के विषय मे उनका दृष्टिकोण है कि श्रोता की योग्यता के अनुसार नयों का प्रतिपादन करना चाहिये"—पृ० १०७। अध्यायान्त मे विद्वान् लेखक ने जैनदर्शन पर अनुभववाद और वस्तुवाद के संदर्भ मे भी विचार किया है।

आठवें अध्याय मे "अविनाभाव" पर विचार हुआ है। कहा गया है—"अनुमान हेतुमूलक होता है और हेतु अविनाभावमूलक, इसलिए अनुमान का प्रधान अंग हेतु है और हेतु का प्रधान अंग अविनाभाव है। अविनाभाव के आधार है—तादात्म्य, तदुत्पत्ति, सहभाव, क्रमभाव। विद्वान् लेखक ने प्रस्तुत अध्याय मे कई नये तथ्यों को भी उद्घाटित किया है, यथा— "एक उपकरण को दाँतों मे फिट कर उससे कान का काम लिया जा

सकता है। इन वैज्ञानिक आविष्कारों के पश्चात् "जो श्रोत्रग्राह्य है वह शब्द है" इस व्याप्ति को बदलना पड़ेगा। शब्द चक्षुग्राह्य होने पर श्रोत्रग्राह्यता का नियम सार्वभौम नहीं रहता। मैंने "तत्त्वार्थसूत्र की, सिद्धसेनगणिकृत भाष्यानुसारिणि टीका में पढ़ा— "अंगुलियों से पढ़ा जा सकता है"। इस पर मुझे आश्चर्य हुआ। कुछ समय पूर्व वैज्ञानिक पत्रिकाओं में पढ़ा कि रूस में एक लड़की अंगुलियों से पढ़ लेती है। फ्रान्स में एक लड़की अंगुलियों से रंग पहचान लेती है। यह कोई जादू-टोना या मन्त्रशक्ति नहीं है। उनकी अंगुलियों के ज्ञान तन्तु इतने विकसित हो गये कि वे आंख का काम दे सकते हैं। हमारे शरीर के हर हिस्से में चैतन्य है। उसे विकसित कर लेने पर शरीर का प्रत्येक भाग बाह्य विषयों को जान सकता है'—पृ० ११८।

नवाँ अध्याय ग्रंथ की अन्तरात्मा है। सम्पूर्ण ग्रन्थ का नवनीत है। इसका आरम्भिक अंश है—"विचार-स्वातन्त्र्य की दृष्टि से अनेक परम्पराओं का होना अपेक्षाकृत है और विचार-विकास की दृष्टि से भी वह कम अपेक्षित नहीं है। सापेक्षता का सिद्धान्त समग्रता का सिद्धान्त है। वह समग्रता के सन्दर्भ में ही प्रतिपादित होता है। व्याप्ति या अविना-भाव के नियमों का निर्धारण सापेक्षता के सिद्धान्त पर ही होता है। स्याद्वाद की दूसरी निष्पत्ति समन्वय है। जैन-प्रमाण-शास्त्र की दूसरी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है—प्रमाण का वर्गीकरण। प्रत्यक्ष और परोक्ष—इस वर्गीकरण में सकीर्णता का दोष नहीं है। इसमें सब प्रमाणों का समावेश हो जाता है। हम या तो ज्ञेय को साक्षात् जानते हैं या किसी माध्यम से जानते हैं। जानने की ये दो ही पद्धतियाँ हैं। जैन-तर्क-परम्परा की देय के साथ-साथ आदेय की चर्चा करना भी अप्रासंगिक नहीं होगा। जैन-तार्किकों ने अपनी समसामयिक तार्किक परम्पराओं से कुछ लिया भी है। "इस अध्याय में विद्वान लेखक ने जैन-न्याय की उन नूतन संभावनाओं पर भी विचार किया है जो नित-नव सम्पर्क से इसके क्षितिज पर उदित हुई है। उसने कहीं भी किसी नावीन्य को उसके तर्क-संगत होने पर नकारा नहीं है। इस सन्दर्भ में उनके निम्न कथन विचारणीय है — "दार्शनिक वे हुए हैं जिन्होंने अपने सूक्ष्म निरीक्षणों के द्वारा प्रमेयों की खोज की है, स्थापना की है।" "वर्तमान विज्ञान ने नये प्रमेयों, गुण-धर्मों और सम्बन्धों की खोज की है, उसका कारण भी अतीन्द्रिय ज्ञान है। मैं नहीं मानता कि आज के वैज्ञानिक ने अतीन्द्रिय ज्ञान की पद्धति विकसित नहीं की है। "अतीन्द्रिय-बोध के दो अवसर होते है—किसी समस्या को हम अवचेतन मन मे आरोपित कर देते है। कुछ दिनो के लिए उस समस्या पर अवचेतन मन मे क्रिया होती रहती है। फिर स्वप्न मे हमे उसका समाधान मिल जाता है। एक संभावना थी स्वप्नावस्था की, जिसका बीज

अर्द्ध-जागृत अवस्था मे बोया जाता था। उसका प्रयोग भी आज का दार्शनिक नहीं कर रहा है। (२)—दूसरी सम्भावना थी निर्विकल्प चैतन्य के अनुभव की। जीवन मे कोई एक क्षण ऐसा आता है कि हम विचार-शून्यता की स्थिति मे चले जाते है। उस क्षण मे कोई नयी स्फुरणा होती है, असभावित और अज्ञात तथ्य, संभावित और ज्ञात हो जाते हैं।" दर्शन के जगत् मे मैं जिस वास्तविकता की अनिवार्यता का अनुभव कर रहा हूँ वह तीन सूत्रो मे प्रस्तुत है—(१) नये प्रमेयो की गवेषणा और स्थापना (२) सूक्ष्म निरीक्षण की पद्धति का विकास (३) सूक्ष्म निरीक्षण की क्षमता [चित्त की निर्मलता] का विकास।

अन्त में हम विद्वान लेखक की उस शैली का एक जीवन्त-ज्वलन्त उदाहरण दे रहे है जिसने दर्शन-जैसे शुष्क-नीरस-फीके क्षेत्र को भी रोचक-सरस और आकर्षक स्थिति/मुद्रा प्रदान की है "एक सिकोरा है जो अभी-अभी आँवे से निकाला गया है। उस पर जल की एक बूँद डाली गयी। वह सूख गयी। फिर दो-चार बूँदें डालीं, वे भी सूख गयीं। बूँदें डालने का क्रम चालू रहा। एक क्षण ऐसा आया कि सिकोरा गीला हो गया। क्या सिकोरा अन्तिम बूँद से गीला हुआ ? पहली बूँद से वह गीला नहीं हुआ ? हम केवल निष्पत्ति-काल को ही गीला होने का क्षण नहीं कह सकते। आरम्भ-काल भी उसके गीला होने का क्षण है। यदि सिकोरा पहली बूँद से गीला न हो, तो वह अन्तिम बूँदे से भी गीला नहीं होगा। अवग्रह के पहले क्षण मे यदि निर्णय होना प्रारम्भ न हो तो अवाय मे भी निर्णय नहीं हो सकता। अवाय एक धारागत निर्णयो की निष्पत्ति है, इसलिए स्थूल भाषा मे हम कहते है कि अवाय मे निर्णय होता है। यदि सूक्ष्म भाषा का प्रयोग करें तो अवग्रह और ईहा भी अपने-अपने ज्ञेय-पर्यायो के निर्णायक है।"

★

जैन-दर्शन : मनन और मीमांसा

—डॉ० नथमल टांटिया
(निदेशक जैन-विश्वभारती, लाडनूँ)

१—लेखक मुनिश्री तेरापथ-धर्मसंघ के प्रमुख विद्वान् है, जो सम्प्रति आचार्यश्री तुलसी द्वारा उत्तराधिकारी चुने जाने के कारण युवाचार्य पद को अलंकृत कर रहे है और सम्प्रति युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ के नाम से अभिहित है।

२—युवाचार्यश्री का समीक्ष्य-ग्रन्थ पाच खण्डो मे विभाजित है। पहले खण्ड का विषय "परम्परा और काल-चक्र" है, जो छ उप-विभागों मे विभक्त है। दूसरे खण्ड मे ग्यारह उप-विभागो मे जैन-दर्शन का सर्वांगीण तुलनात्मक अध्ययन लिपि-बद्ध है, जिसके अन्तर्गत कर्मवाद, स्याद्वाद और नयवाद को भी समुचित स्थान प्राप्त है। तीसरे खण्ड के पाँच उप-विभागों का विषय आचार-मीमासा है तथा चौथे खण्ड के दो उप-विभागो मे ज्ञान एवं उसके साधनों को मीमासा सागोपाग की गई है। पाचवें खण्ड के प्रमाण-मीमांसा के अन्तर्गत, आठ उप-विभागो मे जैन-न्याय एवं प्रमाण-शास्त्र का सूक्ष्म विवेचन किया गया है। ग्रन्थ के अन्त मे एक विस्तृत परिशिष्ट है, जिसमे पट्टावली, साहित्य, पारिभाषिक शब्द, कर्म-प्रकृतियो का विशेष विवरण, नामानुक्रम तथा प्रयुक्त ग्रन्थो की सूची, आदि दिये गये है। परिशिष्ट सहित यह विशाल ग्रन्थ जैन-दर्शन के प्राय सभी पहलुओ पर सम्पूर्ण प्रकाश डालता है। ग्रन्थ मे प्रयुक्त "दर्शन" शब्द का तात्पर्य अत्यन्त व्यापक है, जैसा कि उपर्युक्त विषय-सूची से स्पष्ट प्रतीत होता है। ग्रन्थ के प्रारम्भ मे आचार्यश्री ने जो आशीर्वचन लिखे है वे युवाचार्य श्री के साहित्य मे अक्षरश. प्रतिफलित प्रतीत होते है। अब हम कुछ विस्तार से समीक्ष्य-ग्रन्थ का पर्यालोचन करेंगे।

३—ग्रन्थ का प्रथम खण्ड छ उप-विभागों मे विभाजित है, जिसके प्रारम्भ मे 'दर्शन' शब्द के अर्थ का स्पष्टीकरण किया गया है। तत्वद्रष्टा की अन्तर्दृष्टि एव तार्किक की तार्किक प्रक्रिया—इन दोनों का समावेश आधुनिक दर्शन-शास्त्र मे परिलक्षित होता है। इस प्रसंग मे लेखक का कहना है—"भगवान महावीर अन्तर्द्रष्टा थे। उनके उत्तरवर्ती आचार्य तार्किक प्रतिभा के धनी थे। आज का जैन-दर्शन उन दोनों के निरूपण का प्रतिफलन है" [पृष्ठ-३५]। जैन-दर्शन-सम्बन्धी साहित्य मे अनुभूति [आगम] एवं तर्क दोनो समकक्ष माने गये है, यद्यपि दोनो के विषय भिन्न हैं। इस तथ्य का प्रतिपादन स्पष्ट रूप से पृष्ठ १८१ पर किया गया है। इस प्रारम्भिक स्पष्टीकरण के अनन्तर भगवान् ऋषभ से पार्श्व तक की जैन-परम्परा का एक सर्वेक्षण किया गया है, जिसके अन्तर्गत दर्शन-शास्त्र के शाश्वत प्रश्न, काल-चक्र, कुलकर-व्यवस्था, प्राचीन राजतन्त्र एवं दण्डनीति, शिल्प-कला तथा युद्ध-विद्या आदि का उल्लेख है। तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्व को ऐतिहासिकता सिद्ध करते हुए लेखक ने प्रतिपादन किया है कि अहिंसा और सत्य की साधना को समाज-व्यापी बनाने का श्रेय भगवान् पार्श्व को है [पृष्ठ-४६]। इस प्रसंग मे बौद्ध-भिक्षु धर्मानन्द कौशाम्बी की पार्श्वनाथ-सम्बन्धी कुछ महत्त्वपूर्ण मान्यताओ का भी उल्लेख किया गया है। [पृष्ठ-५०-५१]।

पहले खण्ड के दूसरे उप-विभाग मे भगवान् महावीर की संक्षिप्त जीवनी वर्णित है, जिसमे उनकी कठोर

तपश्चर्या का विस्तृत उल्लेख है। इस प्रसंग में भगवान महावीर की संघ-व्यवस्था पर विशेष प्रकाश डालते हुए आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, प्रवर्तक, गणि, गणधर एवं गणावच्छेदक—इन सात पदों के कर्तव्यों का निर्देश किया गया है तथा विनय, सामाचारी, आचार्य के कर्तव्य, दिनचर्या, शिष्टाचार आदि विषयो पर भी प्रकाश डाला गया है। प्रसंगवश तत्कालीन अन्य धर्म-सम्प्रदायो की मान्यताओ के रूप मे क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद तथा अज्ञानवाद जैसे सिद्धान्तो की स्पष्ट एवं सरल व्याख्या की गई है, जो अन्यत्र प्रायः दुर्लभ है। बौद्ध-साहित्य मे वर्णित छः श्रमण-सम्प्रदायो की मान्यताओं की ओर भी समुचित ध्यान आकृष्ट किया गया है [पृष्ठ ७४-७५]। भगवान् महावीर के धर्म पर गणतन्त्र के प्रभाव का निरूपण करते हुए लेखक ने निर्ग्रन्थ-धर्म की इन चार विशेषताओ का उल्लेख भी किया है—समानता, आत्म-निर्णय का अधिकार, आत्मानुशासन एव सापेक्षता। इस प्रसंग मे मनुष्य की ईश्वरीय सत्ता के सिद्धान्त को गणतन्त्र-व्यवस्था से प्रतिफलित बतलाया गया है [पृष्ठ-७७]। धर्म-साधना मे तप और ध्यान का तुलनात्मक महत्त्व बतलाते हुए लेखक कहते हैं—"ध्यान की कक्षा, तपस्या की कक्षा से ऊंची है भगवान् महावीर ने केवल उपवास को ही तप नहीं माना, उनकी तप की परिभाषा मे ध्यान भी सम्मिलित है। भगवान् महावीर ने अज्ञानमय तप का प्रबल विरोध किया और ज्ञानमय तप का समर्थन" [पृष्ठ-८२]। लेखक के अनुसार भगवान् महावीर ने "गृहलिंग-सिद्ध" की स्वीकृति देकर मोक्ष-सिद्धि के लिए मुनि-जीवन की एक-छत्रता को चुनौती दी है [पृष्ठ-८४]। भगवान् महावीर ने उसी शाश्वत सत्य का उपदेश दिया जिसका उनसे पूर्ववर्ती तीर्थंकर दे चुके थे, पर "इनकी वाणी मे अहिंसा की समग्रता के साथ-साथ वैषम्य, जातिवाद, भाषावाद और हिंसक मनोभावों के विरुद्ध क्रान्ति का उच्चतम घोष था। उसने समाज की अन्तश्चेतना को नव-जागरण का सन्देश दिया" [पृष्ठ-८८]।

तीसरे उप-विभाग मे भगवान् महावीर की उत्तरकालीन परम्परा के वर्णन के अन्तर्गत सात निह्नवो के सिद्धान्त तथा श्वेताम्बर-दिगम्बर सम्प्रदाय-भेद से लेकर तेरापंथ-धर्मसंघ के प्रवर्तन तक का सक्षिप्त किन्तु सुस्पष्ट विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

इसी प्रथम खण्ड के अन्तिम तीन उप-विभागों मे क्रमशः जैन-साहित्य, जैन-संस्कृति एव चिन्तन के विकास में जैनाचार्यो का योग विशद रूप से चर्चित है। [पृष्ठ १०५-१६१]।

चौथे उप-विभाग मे जैन-साहित्य के विवरण के प्रसंग मे दृष्टिवाद-अग के अन्तर्गत पूर्वगत साहित्य का विशेष उल्लेख किया गया है [पृष्ठ-१०६]। पूर्वगत के चौदह विभाग है, जो "पूर्व" कहलाते हैं। उनका परिमाण बहुत ही विशाल है। इनकी रचना के बारे मे दो विचार-धाराएं है—पहली के अनुसार भगवान् महावीर के पूर्व ही ज्ञान-राशिका यह भाग चला आ रहा था इसलिए उत्तरवर्ती साहित्य-रचना के समय इसे पूर्व कहा गया। दूसरी विचारणा के अनुसार द्वादशागी से पूर्व ये रचे गये—इसलिए इन्हें पूर्व कहा गया। यह युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि द्वादशागीका पल्लवन पूर्व गत-साहित्यके आधार पर ही हुआ था। इस प्रसगमे प्राचीन तीन आगम वाचनाओंके तथा आगम-विच्छेद के क्रम पर काफी प्रकाश डाला गया है तथा साथ-साथ श्वेताम्बर एवं दिगम्बर-सम्प्रदाय-मान्य अनुयोगो पर भी विचार किया गया है। अंग, उपाग, छेद, मूल, निर्युक्तिया और निर्युक्तिकार, चूर्णियाँ और चूर्णिकार, षट्खण्डागम, कषायपाहुड, महाबंध तथा जैन-संस्कृति-साहित्य एवं गुजराती, राजस्थानी आदि साहित्य का संक्षिप्त इतिहास भी लिपिबद्ध किया गया है।

पाँचवें उप-विभाग में जैन-संस्कृति की चर्चा के प्रसंग में श्रमण-संस्कृति से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया गया है। इस प्रसंग मे जैन-संस्कृति के हृदय को स्पष्ट करते हुए युवाचार्यश्री ने लिखा है—"सुख का वियोग और दुःख का संयोग मत करो, यह भावना आत्म-विजय की प्रतीक है [पृष्ठ-१२६]। इसके विपरीत "सुख दो और दुःख मिटाओ" की भावना मे आत्म-विजय का भाव नही होता [पृष्ठ-१२७]। दुःख मिटाने की वृत्ति और शोषण, उत्पीडन तथा अपहरण साथ-साथ चलते है, अतः ऐसी भावना को उच्च संस्कृति की आधार-भूमि मानना युक्ति-संगत नहीं है। संस्कृति की मूल आधार-विषयक यह चर्चा अत्यन्त गम्भीर है जो मानवीय संस्कृति की समीक्षा का एक नया मानदण्ड स्थापित करती है। जैन-संस्कृति को निराशावाद या पलायनवाद की प्रतीक मानने वालो के चिन्तन को अपूर्ण बताते हुए लेखक कहते है—"जैन-संस्कृति का मूल तत्त्ववाद है। कल्पनावाद मे कोरी आशा होती है। तत्त्ववाद मे आशा और निराशा का यथार्थ अंकन होता है" [पृष्ठ-१३०-१३१]।

छठे उप-विभाग मे चिन्तन के विकास मे जैनाचार्यों के योगदान के प्रसंग मे श्रद्धावाद-हेतुवाद पर विशद विवेचन किया गया है तथा जैन-धर्म को यथार्थवादी बताया गया है। सिद्धसेन दिवाकर-जैसे गंभीर दार्शनिको की सूक्तियोके आधार पर प्राचीनता-नवीनता पर हृदयस्पर्शी प्रकाश डाला गया है। सिद्धसेन कहते है [द्वात्रिंशिका ६/८]—

यदेव किंचिद् विषमप्रकल्पितं, पुरातनैरुक्तमिति प्रशस्यते।
विनिश्चिताप्यद्य मनुष्यवाक्कृतिर्न पठ्यते यत् स्मृतिमोह एव सः॥

अर्थात् "एक शास्त्र असम्बद्ध और अस्त-व्यस्त रचा हुआ होता है, फिर भी यह पुरातन पुरुषो के द्वारा रचित है, यह कह कर उसकी प्रशंसा करते है। आज का बना हुआ शास्त्र, सम्बद्ध और संगत है, फिर भी नवीन होने के कारण उसे नहीं पढते। यह मात्र स्मृति का मोह है, परीक्षा का विवेक नही है" [पृष्ठ-१४६]। इसी प्रकार "अध्यात्म के उन्मेष" शीर्षक के अन्तर्गत आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार से कई गाथाएं उद्धृत करके निश्चय और व्यवहार-नय के गहन तत्व पर प्रकाश डाला गया है। साधन-शुद्धि की व्याख्या के प्रसंग मे आचार्य भिक्षु के मन्तव्य को इस प्रकार उपस्थित किया गया है—"बाद मे धर्म या पाप होगा, इससे वर्तमान अच्छा या बुरा नही बनता, कार्य की कसौटी वर्तमान ही है" [पृष्ठ-१५८]। "सर्वधर्म-समभाव और शास्त्रज्ञ की संज्ञा के प्रसंग मे कहा गया है—

शमार्थं सर्वशास्त्राणि विहितानि मनीषिभिः।
स एव सर्वशास्त्रज्ञो यस्य शान्तं सदा मनः॥

अर्थात् मनीषियो ने शास्त्रों का निर्माण शांति के लिए किया है। सब शास्त्रो को जानने वाला वही है जिसका मन शान्त है [पृष्ठ-१६१]।

४—ग्रन्थ के दूसरे खण्ड का विषय है—"दर्शन"। दर्शन के दो कार्य है—(१) वस्तुवृत्त-विषयक निर्णय (२) मूल्य-विषयक निर्णय। भारतीय-दर्शन इन दोनो शाखाओ को छूते रहे है। लेखक ने आत्मवाद को आस्तिक-दर्शन की भित्ति बताई है। मोक्ष का अर्थ है—दुःख से सुख की ओर प्रस्थान और दुःख से मुक्ति [पृष्ठ-१७०]। इस प्रसंग मे सत्य की परिभाषा पर भी विशद प्रकाश डाला गया है। आगम को तर्क की कसौटी पर कसना भारतीय दार्शनिको को सदैव मान्य था, पर तर्क के दुरुपयोग की निन्दा की गयी है। आचार्य सिद्धसेन महान तार्किक होते हुए भी, शुष्क तर्कवाद के विषय मे विचार व्यक्त करते हुए लिखते है [वादद्वात्रिंशिका-७]

अन्यत एव अर्थास्त्यन्यत एव विचरन्ति वादिवृषा ।
वाक्-संरम्भः क्वचिदपि न जगाद मुनिः शिवोपायम् ॥

अर्थात्—श्रेयस्कर तत्त्व की दिशा अन्य है, परन्तु श्रेष्ठवादीगण अन्य दिशा में विचरण करते हैं। भगवान् जिनेन्द्र ने कहीं ऐसा नहीं कहा है कि वाक्-रूपी समारम्भ (बड़े-बड़े भाषण) मोक्ष-प्राप्ति के साधन हैं। यूनानी दर्शन का आरम्भ आश्चर्य से तथा पश्चिमी दर्शनों का उद्गम संशय से हुआ है, ऐसा बताकर लेखक कहते हैं—भारतीय दर्शन का स्रोत दुःख-निवृत्ति के उपाय की जिज्ञासा में निहित है [पृष्ठ-१७६]। भारतीय दर्शनों के विरुद्ध पलायनवाद के आरोप का खण्डन लेखक ने मार्मिक ढंग से पृष्ठ १८१-१८२ पर किया है।

दूसरे खण्ड का दूसरा उप-विभाग "विश्व-दर्शन" से सम्बन्धित है। इसमें परिणामी-नित्यत्व-वाद का प्रतिपादन करते हुए धर्म एवं अधर्म नामक गति-तत्त्व तथा स्थिति-तत्त्वों का निरूपण आधुनिक ढंग से किया गया है। इस प्रसंग मे आकाश, काल, पुद्गल एवं परमाणु-तत्त्व की व्याख्या विशद रूप से की गई है।

इसी खण्ड के तृतीय उप-विभाग मे जैन-दर्शन-सम्मत विश्व के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है तथा सृष्टिवाद-विषयक विभिन्न मान्यताओं का विश्लेषण करते हुए जैन-दृष्टि का निरूपण किया गया है।

चौथे उप-विभागका शीर्षक "विश्व - विकास और ह्रास" है। जैन-दृष्टिके अनुसार यह जगत् अनादि अनन्त है। इसकी मात्रा न घटती है न बढ़ती है, केवल रूपान्तर होता है। कभी ह्रास से विकास और कभी विकास से ह्रास होता रहता है। वैज्ञानिक विकासवाद बाह्य स्थितियों का आकलन है [पृष्ठ-२३५]। अतीत की अपेक्षा विकास की परम्परा आगे बढ़ती है, यह निश्चय सत्य नहीं है। पुद्गल की शक्तियों का ह्रास और विकास—ये दोनों सदा चलते हैं। जीव के विकास या ह्रास मे बाहरी प्रेरणा के अतिरिक्त आन्तरिक प्रेरणा भी होती है। जैन-दृष्टि के अनुसार चेतन और अचेतन—पुद्गल-संयोगात्मक सृष्टि का विकास क्रमिक ही होता है—ऐसा नहीं है। इस प्रसंग मे प्राणी-विभाग की सूची भी दी गई है तथा स्थावर-जगत् का भी वर्णन किया गया है। साधारण वनस्पति का जीव संघ-बद्ध होता है। डार्विन के क्रम-विकासवाद की समीक्षा भी इस प्रसंग में की गई है।

दूसरे खण्ड के पांचवें उप-विभाग मे जीवन-निर्माण की चर्चा की गई है। इस प्रसंग मे कृत्रिम गर्भाधान विषयक प्राचीन मान्यता का उल्लेख किया गया है [पृष्ठ-२५३]। जैन जीव-विद्या मे स्वीकृत दस प्राण-शक्तियां एव जीव के चौदह भेद और उनके आधारों का वर्णन विशेष महत्त्वपूर्ण है।

छठे उप-विभाग मे आत्मवाद की चर्चा है। भारतीय दर्शन में आत्मा एव पुनर्जन्म के साधक पन्द्रह तर्कों का विस्तृत उल्लेख किया गया है [पृ० २६६-२७०]। जैन-दृष्टि से आत्मा के स्वरूप पर भी विशेष प्रकाश डाला गया है तथा उसकी तुलना बौद्ध, न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग तथा वेदान्त के साथ की गई है। आधुनिक वैज्ञानिकों के मन्तव्यों का उल्लेख भी इसी प्रसंग मे किया गया है [पृ० २८७-२९३]।

सातवें उप-विभाग मे जैन-कर्मवाद की विशेष चर्चा की गई है, तथा इस प्रसंग मे "दैव-पुरुषार्थ" पर भी विशेष विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

आठवें एवं नौवें उप-विभागों का विषय क्रमशः स्याद्वाद एवं नयवाद है। लेखक के अनुसार जैन-दर्शन के चिन्तन की शैली का नाम स्याद्वाद है [पृ० ३३२]। स्यात् शब्द तिङन्त प्रतिरूपक अव्यय है। इसका अर्थ है

अनेकान्त। शांकरभाष्य से लेकर आज तक के समालोचना-साहित्य मे स्याद्वाद को "अनिर्धारित रूप-ज्ञान" या संशयवाद कहा गया है। इस प्रसंग में लेखक ने डॉ० देवराज, पं० बलदेव उपाध्याय, डॉ० राधाकृष्णन्, महापंडित राहुल साकृत्यायन आदि विद्वानो के स्याद्वाद-विषयक मंतव्यो की विस्तार से समीक्षा की है। स्याद्वाद विरोध लाता नहीं, किन्तु अविरोधी धर्मों मे जो विरोध लगता है उसे मिटाता है [पृ० ३४७]। अत स्याद्वाद पर विरोध नामक दोष का आरोप लगाना युक्तिसिद्ध नही है। विभिन्न अपेक्षाओ से वस्तु मे सत्-असत् शब्दो का प्रयोग होता है इसलिए वैयधिकरण्य दोष भी स्याद्वाद को नहीं छूता। इसी प्रकार अनवस्था, संकर, व्यतिकर आदि दोषो का भी लेखक ने प्राचीन परम्परागत ढग से निराकरण करके स्याद्वाद का समर्थन किया है। इस प्रसग मे विकलादेश और सकला-देश की भी चर्चा की गई है तथा अस्ति, नास्ति एवं अवक्तव्य—इन तीन भगो के आधार पर शेष चार भगो की उत्पत्ति का समाधान किया है। अन्त मे स्याद्वाद की प्रशस्ति इस प्रकार की गई है—

स्याद्वादाय नमस्तस्मै, य विना सकला क्रिया: ।
लोकद्वितयभाविन्यो, नैव सागत्यमासते ॥

अर्थात्—जिसकी शरण लिये बिना लौकिक और लोकोत्तर दोनो प्रकार की क्रियाएं संगत नहीं होतीं, उस स्याद्वाद को नमस्कार है।

नयवाद की चर्चा नोवें उप-विभाग मे की गई है। वस्तु, न नित्य, न अनित्य, किन्तु नित्यानित्य का समन्वय है। वस्तु के विशेष गुण का कभी नाश नही होता। इसलिए वह नित्य, और उसके क्रमभावी धर्म बनते-बिगडते रहते है इसलिए वह अनित्य है। अत नित्यता, अनित्यता मे कोई विरोध नहीं है। इस दार्शनिक समन्वय के आधार पर धर्म और समाज के क्षेत्र मे भी जैन-मनीषियो ने हमे समन्वय की भावना दी है। इन मनीषियो मे हरिभद्र-जैसे आचार्य अग्र-स्थानीय है। समाज की दृष्टि से व्यापार, खेती, शिल्पकारी आदि अल्प हिंसा या अनिवार्य हिंसा को अहिंसा माना जाता है, किन्तु आत्म-धर्म की दृष्टि से यह अहिंसा नही है। दण्ड-विधान की अपेक्षा से अपराधी को अपराध के अनुरूप दण्ड देना, न्याय माना जाता है किन्तु अध्यात्म की अपेक्षा से वह न्याय नही है। [पृ० ३६७]। इस प्रकार दृष्टि या नय के आधार पर ही हम सत्य को समझ सकते है। श्रद्धा और तर्क, जो परस्पर विरोधी माने जाते है, के बीच मे भी हम नय या अपेक्षा के आधार पर सामजस्य स्थापित कर सकते है। अतिश्रद्धावाद और अतितर्कवाद, ये दोनो मिथ्या है। प्रत्येक तत्त्व की यथार्थता अपने-अपने क्षेत्र मे होती है, इनकी भी अपनी-अपनी मर्यादाएँ है। श्रद्धा और तर्क परस्पर सापेक्ष है। यही नय-रहस्य है। इस प्रकार पदार्थ का प्रत्येक पहलू अपेक्षापूर्वक समझा जाय तो दुराग्रह की गति सहज शिथिल हो जाती है। नय-ज्ञान विश्लेषणात्मक होता है, इसलिए यह मानसिक ही होता है, ऐन्द्रियक नहीं होता [पृ०-३७१]। अखण्ड वस्तुग्राही यथार्थज्ञान प्रमाण होता है। परन्तु एक साथ अनेक धर्म कहे नहीं जा सकते, इसलिए प्रमाण का वाक्य नहीं बनता [पृ० ३७२]। वाक्य तो मात्र नय का ही बन सकता है। सत्य के दो रूप है इसलिए परखने की दो दृष्टियाँ है—द्रव्य-दृष्टि और पर्याय-दृष्टि। इस सन्दर्भ मे नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ एवं एवंभूत इन सात नयो का विस्तार से विवेचन किया गया है।

दसवें और ग्यारहवें उप-विभागो मे जैन-दर्शन के साथ बौद्ध एव वेदान्त मान्यताओ का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है जो इन तीनो दर्शनो के मौलिक साम्य-वैषम्य पर गम्भीर प्रकाश डालता है।

५—समीक्ष्य-ग्रन्थ का तीसरा खण्ड आचार-मीमांसा से सम्बन्धित है, जिसमें पाँच उप-विभाग हैं—साधना-पथ, मोक्ष के साधक-बाधक-तत्त्व, श्रमण-संस्कृति और श्रामण्य, जातिवाद एवं जैन-दर्शन वर्तमान समस्याओं के सन्दर्भ में।

"साधना-पथ" उप-विभाग में शील और श्रुत, अर्थात् आचार और ज्ञान के पारस्परिक सम्बन्ध पर विशेष प्रकाश डाला गया है। इस प्रसंग में सम्यग्दर्शन के स्वरूप पर भी मार्मिक विवेचन किया गया है। सम्यग्दर्शन का तात्पर्य है—सत्य के प्रति रुचि। यह रुचि कभी-कभी सहज ही प्राप्त होती है एवं कभी श्रुतज्ञान के आधार से। जैन-कर्म-सिद्धान्त का कहना है कि दर्शन-मोह-कर्म के शिथिल होते ही तत्त्व-रुचि प्रकट हो जाती है। परन्तु प्रश्न कुछ गम्भीर है। क्या कारण है कि यह तत्त्व-रुचि किसी-किसी साधक में सहज ही उत्पन्न हो जाती है और अन्य व्यक्तियों में वह कष्टसाध्य बनती है। इससे तो यह फलित होता है कि जैन-दर्शन मूल रूप से नियतिवादी है। जैन-दर्शन की अभव्य तथा अभव्य-सम-भव्य जीवराशि की कल्पना भी नियतिवाद की ओर इंगित करती है। परन्तु जैन-दार्शनिक स्वयं को शुद्ध नियतिवादी मानने को तैयार नहीं हैं। अत पुरुषार्थवाद से उपर्युक्त नियतिवाद का सामञ्जस्य-प्रतिपादन करना आवश्यक है। जैन-दर्शन दैव एवं पुरुषार्थ में अविरोध स्थापित करता है। तात्पर्य कि जीव-जगत् की कुछ घटनाएँ अवश्यंभावी हैं व कुछ को वह स्वातन्त्र्य-शक्ति द्वारा इच्छानुसार मोड़ दे सकता है। अब रहा सर्वज्ञता के प्रश्न के साथ इस दैव-पुरुषार्थवाद का सामञ्जस्य ? यद्यपि इस प्रश्न पर जैन-शास्त्रों में विशेष ऊहापोह उपलब्ध नहीं है, परन्तु यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि सर्वज्ञ के ज्ञान में भी नियत या अनियत घटनाएँ अपने ही रूप में प्रतिभासित होती हैं। ईश्वरवादी पाश्चात्य एवं भारतीय दर्शनों में भी ईश्वर के सर्व-ज्ञातृत्व एवं सर्व-कर्तृत्व के प्रश्नों का समाधान इसी प्रकार किया जाना चाहिए। अब रहा तत्त्व या सत्य-विषयक रुचि या श्रद्धा का उत्पत्ति-नियम। इस प्रश्न पर जैन-दृष्टिकोण को गहराई से अध्ययन करने पर ऐसा लगता है कि जैन दर्शन कुछ सीमा तक स्वभाववादी भी है। "स्वभावो दुरतिक्रम"—इस सिद्धान्त को मानने में जैन-दार्शनिक को कोई आपत्ति नहीं होगी, यद्यपि प्रत्येक जीव-तत्त्व में स्वभाव (वास्तव में विभाव) को बदलने की स्वातन्त्र्य-शक्ति का भी वह अपलाप नहीं करता। इस प्रसंग में सम्पूर्णरूपेण नियत प्राचीन कार्य-कारणवाद के विरुद्ध आधुनिक युग में अनियत कार्य-कारणवाद की जो स्थापना वैज्ञानिकों ने की है, वह मनन-योग्य है। यह प्रश्न अभी भी अनिर्णीत है एव वैज्ञानिक इस पर सहमत नहीं हो पाये हैं। वास्तव में इस प्रश्न का समाधान ज्ञान की पूर्णता पर निर्भर है।

सामान्यतया यह स्वीकार किया जा सकता है कि ज्ञान (श्रुत) और (क्रियाशील) में पारस्परिक सापेक्षता है। कभी ज्ञान से क्रिया का विकास और कभी क्रिया से ज्ञान का विकास देखा जाता है। अब रहा दर्शन या श्रद्धा या रुचि का प्रश्न। दर्शन एक प्रकार का ज्ञान ही है, यद्यपि वह ज्ञान जितना सुदृढ एवं परिष्कृत नहीं है। हमारे सभी ज्ञानों का आरम्भ दर्शन से होता है। दर्शन सुदृढ होकर ज्ञान में परिणत होता है, परन्तु वह ज्ञान भी अपने उत्तरवर्ती सुदृढतर ज्ञान की अपेक्षा से दर्शन ही है। व्यवहार में हम जिसे ज्ञान कहते हैं, तात्त्विक दृष्टि से वह एक प्रकार का दर्शन ही है। पारमार्थिक दृष्टि से वास्तविक ज्ञान की संज्ञा तो मात्र केवल-ज्ञान को ही दी जा सकती है। जैन-ज्ञान-मीमांसा का यही निष्कर्ष प्रतिफलित होता है।

उपर्युक्त प्रश्नो पर लेखक ने अपने विचार पृ० ४३३ पर इस प्रकार प्रकट किये है—रुचि ज्ञान को आगे ले जाती है, ज्ञान से रुचि को पोषण मिलता है, ज्ञान से क्रिया के प्रति उत्साह बढता है क्रिया से ज्ञान का क्षेत्र विस्तृत होता है, रुचि और आगे बढ जाती है। इस प्रकार रुचि, ज्ञान और क्रिया तीनो आपस मे सहयोगी, पोषक और उपकारक है। इस प्रसंग मे सम्यक्दर्शन का फल बताते हुए लेखक ने पृ० ४३६ पर भगवती-सूत्र से एक महत्त्वपूर्ण संदर्भ की व्याख्या की है जो निम्न प्रकार है—"भगवान ने कहा गोतम। दर्शन-सम्पदा से विपरीत दर्शन का अन्त होता है। दर्शन-सम्पन्न व्यक्ति यथार्थद्रष्टा बन जाता है, उसमे सत्य की लौ जलती है, वह फिर बुझती नही। वह अनुत्तरज्ञान-धारा से आत्मा को भावित किये रहता है। यह आध्यात्मिक फल है। व्यावहारिक फल यह है कि सम्यग्दर्शी देवगति और मनुष्यगति के सिवाय अन्य किसी भी गति का आयु-बंध नही करता।"

सम्यग्दर्शन का महत्त्व बौद्ध एवं ब्राह्मण-दर्शन ने भी स्वीकार किया है, इसे ही निर्वाण-मार्ग का प्रथम सोपान माना है। साथ-साथ क्रिया या चारित्र को भी मोक्ष-मार्ग का अनिवार्य अंग सभी भारतीय दर्शनो ने स्वीकार किया है।

"मोक्ष के साधक-बाधक तत्त्व"—शीर्षक के अन्तर्गत पुण्य-पाप और बन्ध की चर्चा की गई है। इस प्रसंग मे आस्रव-तत्त्व का भी विश्लेषण किया गया है तथा निर्जरा-तत्त्व पर भी प्रकाश डाला गया है। निर्जरा के साधन रूप मे तपस्या के विवेचन के प्रसंग मे ध्यान-तत्त्व पर, विशेषकर धर्म्य-ध्यान के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। इस धर्म्य ध्यान का संबंध प्राचीनकाल मे संभवत वस्तु के धर्म या स्वभाव के विचय या चिन्तन से रहा है। बौद्ध-धर्म मे भी धर्म-प्रविचय को क्लेशो के उपशमन का अनिवार्य अंग माना गया है। अभिधर्मकोश के प्रारम्भ मे आचार्य वसुबन्धु का निम्नोक्त कथन इस प्रश्न पर गम्भीर प्रकाश डालता है—

धर्माणां प्रविचयमन्तरेण नास्ति
क्लेशानामुपशान्तये यतोऽभ्युपायः।
क्लेशैश्च भ्रमति भवार्णवेऽत्र लोक—
स्तद्धेतोरत उदित· किलैष शास्त्रा ॥

अर्थात्, चूकि धर्म-प्रविचय से अतिरिक्त और कोई ऐसा साधन नही है जिससे क्लेशो का उपशम हो सके एवं चूकि क्लेशो के कारण ही प्राणी भवार्णव मे भ्रमण करता है, अत परम कारुणिक शास्ताने इस [अभिधर्मकोश] का उपदेश दिया है जिसमे वस्तु-धर्मो का स्वरूप एवं उनके उपशम का मार्ग बताया है।

निर्वाण की अवस्था का सक्षिप्त वर्णन भी इस उपविभाग मे किया गया है तथा ईश्वरवाद के प्रसंग मे कहा गया है कि "जैन-दर्शन ईश्वरवादी अवश्य है, परन्तु ईश्वरकर्तृत्ववादी नहीं" [पृ० ४४७]।

महाव्रत और अणुव्रत की भेदरेखा स्पष्ट रूप से खींची गई है तथा साधना के स्तरो का निरूपण किया गया है। पृष्ठ ४६४-४६५ पर आत्माकी त्रिविध अवस्थाओ—बहिरात्मा, अन्तरात्मा तथा परमात्मा—का वर्णन किया गया है। अक्रियावाद की व्याख्या के प्रसंग मे कहा गया है—"मुक्त जीव अक्रिय होते है। अयोगी [शैलेषी अवस्था प्रतिपन्न] जीवो को छोड शेष सब संसारी जीव सक्रिय होते है। ऐसे अक्रियावाद की स्थापना से पहले अक्रिया का अर्थ था—विश्राम या कार्यनिवृत्ति, परन्तु चित्तवृत्तिनिरोध, मौन और कायोत्सर्ग-एतद्रूप अक्रिया किसी महत्त्वपूर्ण

साध्य की सिद्धि के लिए है – यह अनुभवगम्य नहीं हुआ था। "अक्रिया" शब्द का यह अर्थ-परिवर्तन हमें चिन्तन की गहराई में ले जाता है। आत्मा का अभियान अक्रिया की ओर होता है, तब साध्य दूर नहीं रहता। इस अभियान में कर्म रहता है पर वह अक्रिया से परिष्कृत बना रहता है। प्रमाद कर्म है और अप्रमाद अकर्म [पृ०४६६]। इस प्रकार हम देखते है कि 'अक्रिया" शब्द, जो मूल मे अकर्मण्यता का वाचक था, किस प्रकार मोक्ष-मार्ग का एक महत्त्वपूर्ण साधन बन गया। व्यक्तिवाद और समष्टिवाद पर अपना चिंतन स्पष्ट करते हुए लेखक कहते है—"पारमार्थिक जगत् मे जो व्यक्तिवादी होता है, वह व्यावहारिक जगत् मे समष्टिवादी बन जाता है" [पृ० ४६८]।

"श्रमण-संस्कृति और श्रामण्य" नामक तीसरे उप-विभाग मे यह स्थापित किया गया है कि प्राचीन वैदिक संस्कृति म दो ही आश्रम –ब्रह्मचर्य और गृहस्थ –स्वीकृत थे। जब क्षत्रिय राजाओ से ब्राह्मण-ऋषियो को आत्मा और पुनर्जन्म का बोध मिला, तब से आश्रम परम्परा का विकास हुआ। वे क्रमश तीन और चार बने। प्रव्रज्या या संन्यास-आदर्श का पूर्ण विकास हम जाबाल-उपनिषद्-४ मे इस प्रकार पाते है—ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्—अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम से सीधा प्रव्रज्या ले, या गृहस्थाश्रम से या वानप्रस्थाश्रम से या जिस दिन विराग उत्पन्न हो उसी दिन प्रव्रज्या ग्रहण कर ले [पृ० ४७४ पाद-टिप्पण-३]।

जातिवाद से सम्बन्धित चौथे उप-विभाग मे "जन्मना जाति" तथा "कर्मणा जाति" के उद्गम पर प्रकाश डाला गया है। जैन-आगमो मे जिन जाति, कुल और गोत्रो का उल्लेख है, उनका अधिकांश आज उपलब्ध नहीं है [पृ० ४८७]। तत्त्व-दृष्ट्या व्यक्ति को ऊंचा या नीचा उसके आचरण ही बनाते है। जाति-गर्व का पहला परिणाम सामाजिक दुर्व्यवस्था और विद्रोह है। भगवान् महावीर ने इसका पारलौकिक फल भी बहुत अनिष्ट बतलाया है।

पाचवें उप-विभाग मे वर्तमान समस्याओ के संदर्भ मे जैन-दर्शन का अवलोकन किया गया है। दर्शन मूलत उन समस्याओ का समाधान देता है, जो मौलिक होने के साथ-साथ दूसरी समस्याओ को उत्पन्न भी करती है। साम्य-दर्शन समाज को अधिक समृद्ध बना सकता है। सब जीव समान है। निरपेक्ष-दृष्टि एक समस्या है। उसका समाधान है—सापेक्ष दृष्टिकोण का विकास। "व्यष्टि और समष्टि" तथा "अपरिवर्तन और परिवर्तन" के समन्वय से व्यवहार का सामजस्य और व्यवस्था का सन्तुलन होता है, वह इनके असमन्वय से नहीं होता [पृ० ४९७]। सामञ्जस्य का मार्ग मध्यम मार्ग है। सह-अस्तित्व का आधार सयम है। शाति का आधार व्यवस्था है। लेखक का निष्कर्ष है कि निरपेक्ष दृष्टि का त्याग ही समाज को शाति की ओर अग्रसर कर सकता है।

६. मनोरम ग्रन्थ के चौथे खण्ड का विषय "ज्ञान-मीमासा" है। प्राचीन भारतीय दार्शनिक परम्पराओ मे विशेषतया जैन एवं बौद्ध आगमो मे, इस विषय पर प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। आधुनिक विद्वानो ने इस पर विस्तृत प्रकाश डाला है। पर अब भी इस विषय के कई अंश शोध की अपेक्षा रखते है। जैन-आगमो मे आभिनिबोधिक या मतिज्ञान पर जो सामग्री उपलब्ध है, वह विशेष महत्त्वपूर्ण है। आधुनिक मनोविज्ञान के साथ इस सामग्री का तुलनात्मक अध्ययन अत्यावश्यक है। ज्ञान-मीमासा के प्रसग मे लेखक ने कई महत्त्वपूर्ण पहलुओ पर प्रकाश डाला है। उनकी कुछ उपलब्धियाँ निम्न प्रकार हैं—

अनावृत्त (केवल) ज्ञान एक है। आवृत्त दशा मे उसके चार विभाग होते है। दोनो को एक साथ गिनें तो ज्ञान पाँच होते है—मति, श्रुत, अवधि, मन पर्याय और केवल। मति और श्रुत—ये दो ज्ञान सब जीवों मे होते हैं।

प्राणी और अप्राणी में स्पष्ट भेदरेखा खींचने वाला चिह्न इन्द्रिय है। इन्द्रिय-विकास सब प्राणियों में समान नहीं होता। इन्द्रियाँ पाँच है, किसी प्राणी में एक इन्द्रिय, किसी में दो, इस प्रकार किसी मे पाँचों इन्द्रियाँ विद्यमान है। मन को अनिन्द्रिय कहा जाता है क्योंकि वह इन्द्रिय होते हुए भी इन्द्रिय से भिन्न है। मनन करना मन है अथवा जिसके द्वारा मनन किया जाता है वह मन है। मन पौद्गलिक-शक्ति-सापेक्ष होता है। इसीलिए इसके दो भेद बनते है। द्रव्यमन और भावमन [पृ० ५१३-१४]। जैनागमो मे मन की अपेक्षा संज्ञा-शब्द का व्यवहार अधिक हुआ है। समनस्क प्राणी को सज्ञी कहते है। ईहा, अपोह, मार्गणा, गवेषणा, चिन्ता तथा विमर्श—ये मनके ही कार्य है। मन का विषय श्रुत है। मन समूचे शरीर मे व्याप्त है। दिगम्बराचार्य द्रव्य-मन का स्थान नाभि-कमल मानते है [पृ० ५१८]।

मति और श्रुत का कार्य-कारण संबंध है। मति कारण और श्रुत कार्य। श्रुतज्ञान शब्द, संकेत और स्मरण से उत्पन्न अर्थबोध है। अवधिज्ञान मूर्त द्रव्यों को साक्षात् करने वाला ज्ञान है। मनःपर्यायज्ञान मन के प्रवर्तक या उत्तेजक पुद्गल-द्रव्यों को साक्षात् जानने वाला है। ज्ञानावरण-कर्म के सम्पूर्ण विलय होने पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह केवलज्ञान है। केवल शब्दका अर्थ एक या असहाय होता है। इसका दूसरा अर्थ "शुद्ध" है, तीसरा अर्थ "सम्पूर्ण", चौथा अर्थ "असाधारण" एवं पाँचवा अर्थ "अनन्त" है। जैन-परम्परा मे सर्वज्ञता का सिद्धात मान्य रहा है। केवलज्ञानी केवलज्ञान उत्पन्न होते ही लोक-अलोक दोनों को जानने लगता है। इस प्रसग में लेखक ने ज्ञान-दर्शन विषयक तीन मान्यताओं का उल्लेख किया है। मल्लवादी ने केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन के युगपत् होने और सिद्धसेन दिवाकर ने उनके अभेद का पक्ष प्रस्तुत किया। दिगम्बर-परम्परा में केवल युगपत् पक्ष ही मान्य रहा। श्वेताम्बर-परम्परा मे इसकी क्रम, युगपत और अभेद—ये तीन धाराएँ बन गई। विक्रम की १७वी शताब्दी के महान् तार्किक यशोविजयजी ने इन धाराओं का नय-दृष्टि से समन्वय किया [पृ० ५३०]।

इसी खण्ड में लेखक ने नियतिवाद की भी समीक्षा की है। उनके अनुसार, सर्वज्ञता के साथ जो नियतिवाद की बात जोड़ी जाती है, वह कोरा आग्रह है। नियतिवाद के काल्पनिक भय से सर्वज्ञता पर कटाक्ष नहीं किया जा सकता [पृ० ५३३]। इस विषय पर हमने ऊपर अपने विचार प्रकट किये है अतः उनकी पुनरावृत्ति अनावश्यक है।

इस खण्ड के दूसरे उप-विभाग में मनोविज्ञान की चर्चा है, जो विशेष महत्त्वपूर्ण है। जैन-मनोविज्ञान आत्मा, कर्म और नोकर्म की त्रिपुटी-मूलक है। चैतन्य-लक्षण, चैतन्य-स्वरूप या चैतन्य-गुण-पदार्थ का नाम आत्मा है। कर्म का प्रत्यक्ष प्रभाव आत्मा पर होता है और परोक्ष प्रभाव शरीर पर। कर्म-विपाक की सहायक सामग्री को नोकर्म कहा जाता है। चेतना-विकास के अनुरूप शरीर की रचना होती है और शरीर-रचना के अनुरूप चेतना की प्रवृत्ति होती है [पृ० ५४१]।

चेतना की प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है—सविज्ञान और अनुभव। वस्तु की उपलब्धि को सविज्ञान और सुख-दुःख के संवदन को अनुभव कहा जाता है। [पृ० ५५२]। इनकी तुलना मे बौद्ध-दर्शन के संज्ञा एवं वेदना स्कन्धों मे क्रमशः की जा सकती है। यहाँ यह जानना आवश्यक है कि जैन-दर्शन मे संज्ञा-तत्त्व का विवेचन कुछ विशेष प्रकार से किया गया है जो बौद्ध-दर्शन मे उपलब्ध नहीं है। जैनागमो मे दस संज्ञाओं का उल्लेख है जिनका विस्तृत विवेचन लेखक ने पृ० ५५३-५५ मे किया है। इस प्रसग मे कषाय, नोकषाय, उपयोग, व्यक्त-अव्यक्त

चेतना, मानसिक विकास, चेतना की विभिन्न प्रवृत्तियाँ, स्वप्न-विज्ञान, श्रद्धान, लेश्या और ध्यान परभी प्रकाश डाला गया है, जो मननीय है।

७—अब हम ग्रन्थ के अन्तिम खण्ड "प्रमाण-मीमांसा" पर आते हैं, जिसमे आठ उप-विभाग हैं।

पहले उप-विभाग मे जैन-न्याय के उद्गम और विकास पर प्रकाश डाला गया है। जैन-न्याय मौलिक है—इसे समझने के लिए हमे जैन-आगमो मे तर्क का क्या स्थान है—इस पर दृष्टि डालनी होगी। भगवान् महावीर के पास समृद्ध वादी-सम्पदा थी—चार सौ मुनि वादी थे। भगवान् महावीर ने आहरण (दृष्टांत) और हेतु के प्रयोग मे कुशल साधु को ही धर्म-कथा का अधिकारी बताया है। इसके अतिरिक्त आगमो मे चार प्रकार के आहरण और उसके चार दोष, चार प्रकार के हेतु, छ प्रकार के विवाद, दस प्रकार के दोष, दस प्रकार के विशेष, आदेश (उपचार) आदि-आदि कथागो का प्रचुर मात्रा मे निरूपण मिलता है। आगम-साहित्य म सिर्फ ज्ञान और ज्ञेय की प्रकीर्ण मीमासा ही नहीं मिलती, उनकी व्यवस्था भी मिलती है [पृ० ५७२]।

दूसरे उप-विभाग का विषय प्रमाण-मीमासा है। यथार्थ-ज्ञान प्रमाण है। ज्ञान और प्रमाण का व्यापक-व्याप्य सम्बन्ध है। आचार्य सिद्धसेन ने प्रमाण का लक्षण बतलाया है—प्रमाण स्वपराभासि ज्ञान बाधविवर्जितम्—स्व और पर को प्रकाशित करनेवाला अबाधित-ज्ञान प्रमाण है। आचार्य अकलक ने प्रमाण के लक्षण मे "अनधिगतार्थग्राही" विशेषण लगा कर एक नयी परम्परा शुरू कर दी। आचार्य हेमचन्द्र की परिभाषा—सम्यगर्थनिर्णय: प्रमाणम्—(अर्थ का सम्यक् निर्णय प्रमाण है)—जैन-प्रमाण-लक्षण का अन्तिम परिष्कृत रूप है [पृ० ५८८]। प्रामाण्य के स्वरूप और उसकी उत्पत्ति के प्रश्न पर भी लेखक ने प्रकाश डाला है, और स्वत -परत प्रामाण्य की चर्चा भी की है।

अयथार्थ-ज्ञान के दो पक्ष होते हैं—आध्यात्मिक और व्यावहारिक। आध्यात्मिक विपर्यय को मिथ्यात्व और आध्यात्मिक संशय को मिश्रमोह कहा जाता है। इनका उद्भव आत्मा की मोह-दशा से होता है। इससे श्रद्धा विकृत होती है। व्यावहारिक सशय और विपर्यय का नाम है "समारोप"। यह ज्ञानावरण के उदय से होता है। इससे ज्ञान-यथार्थ नहीं होता [पृ० ५९४]।

तीसरे उप-विभाग मे प्रत्यक्ष-प्रमाण के दो भेद—आत्म-प्रत्यक्ष एव इन्द्रिय-अनिन्द्रिय-प्रत्यक्ष—बताये गये हैं तथा उनके उपभेदों की चर्चा की गई है। इस प्रसंग मे अवग्रह, ईहा, अवाय एव धारणा के लक्षण तथा प्राप्यकारित्व के प्रश्न पर प्रकाश डाला गया है।

चौथे उप-विभाग का विषय परोक्ष-प्रमाण है, जिसके चार विभाग बताये गये हैं—स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क और अनुमान। इस प्रसग मे तर्क तथा अनुमान पर विशेष विवेचन किया गया है। नैयायिक तर्क को प्रमाण का अनुग्राहक या सहायक मानते हैं। जैन-दृष्टि के अनुसार तर्क एक स्वतन्त्र प्रमाण है। इस पर जैन-आचार्यों ने विस्तृत ऊहापोह किया है, जो जैन-न्याय के आधार को सुदृढ बनाता है। तर्क का अपना क्षेत्र कार्य-कारणवाद या अविनाभाव या व्याप्ति है। व्याप्ति का निश्चय तर्क के बिना और किसी से नहीं होता। अनुमान तर्क का कार्य है। तर्क द्वारा निश्चित व्याप्ति के आधार पर अनुमान उत्पन्न होता है। व्याप्ति के दो भेद है—अन्तर्व्याप्ति और बहिर्व्याप्ति। पक्षीकृत विषय मे ही हेतु की साध्य के साथ व्याप्ति मिले, अन्यत्र न मिले, यह अन्तर्व्याप्ति होती है। बहिर्व्याप्ति मे

पक्षीकृत विषय के सिवाय भी हेतु की साध्य के साथ व्याप्ति मिलती है। हेतु के दो प्रकार होते है—उपलब्धि और अनुपलब्धि। ये दोनो विधि और निषेध के साधक है [पृ० ६१७-२१]।

पाचवें उप-विभाग मे आगम-प्रमाण की चर्चा है। आगम-श्रुतज्ञान या शब्द-ज्ञान है। उपचार से आप्तवचन या द्रव्य-श्रुत को भी आगम कहा जाता है। जैन-दृष्टि के अनुसार आगम स्वत प्रमाण, पौरुषेय और आप्तप्रणीत होता है। वचन-रचना को सूत्रागम, ज्ञान को अर्थागम और समन्वित रूप मे दोनो को उभयागम कहा जाता है।

छठे उप-विभाग मे निक्षेप-पद्धति का वर्णन है जो जैन-दार्शनिको की एक असाधारण देन है। निक्षेप का फल है किसी शब्द के अप्रस्तुत अर्थ को दूर रखकर प्रस्तुत अर्थ का बोध कराना। निक्षेप चार है—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव।

सातवें उप-विभाग मे लक्षण का स्वरूप एवं प्रयोजन बताये गये है। इस प्रसंग मे लक्षणा-भास की भी चर्चा की गई है।

आठवें उप-विभाग मे कार्य-कारणवाद की चर्चा संक्षेप मे की गई है। प्रत्येक पदार्थ मे पल-पल परिणमन होता है। परिणमन से पौर्वापर्य आता है। पहले वाला कारण और पीछेवाला कार्य कहलाता है। यह कारण-कार्य-भाव एक ही पदार्थ की द्विरूपता है। परिणमन के बाहरी निमित्त भी कारण बनते है। किन्तु उनका कार्य के साथ पहले-पीछे कोई सम्बन्ध नहीं होता, सिर्फ कार्य-निष्पत्ति के काल मे ही उनकी अपेक्षा रहती है [पृ० ६५३]। कार्य-कारणवाद के भारतीय-दर्शन की मुख्य धाराएं ये है—न्याय-वैशेषिक का आरम्भवाद या असत्कार्यवाद, सांख्य-योग का परिणामवाद या सत्कार्यवाद, वेदान्ती का विवर्तवाद या सत्कारणवाद, बौद्ध का प्रतीत्यसमुत्पादवाद। जैन-दृष्टि के अनुसार कार्य-कारण रूप मे सत्, और कार्य-रूप मे (कारण मे) असत् होता है। इसे सत्-असत् कार्यवाद या परिणामी-नित्यत्ववाद कहा जाता है। निश्चय-दृष्टि के अनुसार कार्य और कारण एक है—अभिन्न है। पर्याय-दृष्टि की अपेक्षा सत् का विनाश और असत् का उत्पाद होता है [पृ० ६५५]। जैन-दर्शन के कार्य-कारणवाद को हम सांख्य-योग-दर्शन के कार्य-कारणवाद का ही एक युक्ति-सिद्ध परिस्कृत रूप कह सकते है।

८—समीक्ष्य-ग्रन्थ के विविध विषयो की एक संक्षिप्त रूप-रेखा ही हमने ऊपर प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। कहीं-कही अपने विचार भी लिपिबद्ध किये है, जिनका उद्देश्य उन विषयो की गम्भीरता की ओर पाठक का का ध्यान आकृष्ट करना मात्र है। ग्रन्थ की "प्रस्तुति" मे भी लेखक ने कुछ ऐसे प्रश्न उठाये है, जो जैन-दर्शन की मौलिक मान्यताओ पर आधुनिक मूल्यो के आधार पर पुन चिन्तन करने के लिए पाठक को प्रेरित करते है। उदाहरणार्थ युवाचार्यश्री लिखते है—कि यह आश्चर्य का विषय है कि निकट अतीत की कुछ शताब्दियो मे जैन-मनीषी भी एकांगी आग्रह मे फॅस गये। अनेकान्त की मर्यादा मे होने वाला उदार दृष्टिकोण और विशाल मानस इन शताब्दियो मे नहीं दिखाई देता। अनेकान्त का दर्शन के क्षेत्र मे जितना उपयोग हुआ उसका दसांश भी व्यवहार के क्षेत्र मे नही हुआ। इसीलिए दर्शन और जीवन-व्यवहार मे सामंजस्य नही हो पाया। फलतः अर्थ-शास्त्र, समाज-शास्त्र और राजनीति-शास्त्र, दर्शन-शास्त्र से विच्छिन्न हो गये यदि अनेकान्त दृष्टि से कर्म-शास्त्र का अध्ययन किया जाता, समाज-शास्त्री और अर्थ-शास्त्री अनेकान्त दृष्टि से देखते तो व्यवस्था-परिवर्तन के द्वारा गरीबी

समाप्त की जा सकती है—यह दृष्टि उन्हें प्राप्त हो जाती है। सम्पन्नता और विपन्नता कर्म-हेतुक होती है, पर कर्म हेतुक ही नहीं होती। समाज-व्यवस्था का भाव (पर्याय) समुचित होता है तो विपन्नता को फलित करनेवाले कर्म का विपाक ही नहीं होता [पृ० ८-१०]। ये विचार अत्यन्त गभीर एवं उदार हैं, जो हम परम्परागत मान्यताओं के मूल्यांकन में एक नवीन दृष्टि प्रदान करते हैं। विद्वान् लेखक की मनीषा अपने विविध रूपों में ग्रन्थ में सर्वत्र प्रकट हुई है, जो प्रस्तुति-अंश में और भी अधिक स्पष्टता से दृष्टि-गोचर होती है। प्राचीन दर्शनों में अनेक महत्त्वपूर्ण लोक-हितकर सिद्धान्त भरे पड़े हैं। परन्तु उनका आधुनिक चिन्तन-धाराओं के सन्दर्भ में विवेचन प्रायः उपेक्षित है। इस अवहेलना का निराकरण प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रचुर-मात्रा में उपलब्ध है। जैन-विद्या के क्षेत्र में यह ग्रन्थ एक विशिष्ट-रचना के रूप में स्वीकृत हो चुका है तथा अनेक विद्वानों ने इसकी गम्भीरता का मूल्यांकन किया है। इस क्रम में हम भी युवाचार्यश्री को हार्दिक अभिनन्दन एवं अभिवादन ज्ञापित करते हैं।

अहिंसा-तत्त्व-दर्शन

—डॉ० दयानन्द भार्गव
(अध्यक्ष : संस्कृत-विभाग, जोधपुर-विश्वविद्यालय)

१—वैदिक परम्परा मे भौतिकता और आध्यात्मिकता के जिस विरोध को 'प्रेयस्' और 'श्रेयस्' शब्दो द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है, जैन-परम्परा मे उसी विरोध को 'राग' और 'वीतरागता' शब्दो द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है। 'राग' और 'वीतरागता' के इस पारस्परिक विरोध को ही प्रकट करने के लिए 'हिंसा' और 'अहिंसा' शब्दो का भी प्रयोग किया जाता है। इस पारिभाषिक अर्थ मे राग और द्वेष दोनो हिंसा है, किन्तु हम सामान्यत द्वेष और उससे प्रेरित होने वाली क्रियाओ को तो हिंसा समझते है, राग और उससे प्रेरित होने वाली क्रियाओ को हिंसा नहीं मानते। यही नहीं, अनेक ऐसी क्रियाओ को भी, जो राग से प्रेरित होती है, हम अहिंसा की कोटि मे रखते है। मुझे लगता है कि सब उलझनें यही से उत्पन्न होती है।

२—मैंने कुछ क्रियाएँ राग से प्रेरित होकर की। उनसे कुछ व्यक्तियो को लाभ हुआ। वे मेरी उन राग-प्रेरित क्रियाओ की प्रशंसा करें, यह स्वाभाविक है। यदि उन राग-प्रेरित क्रियाओ को करने की प्रक्रिया मे मुझे कुछ हानि भी उठानी पडी तो मेरी ये क्रियायें और भी अधिक प्रशंसित हुई—उन्हें 'कर्त्तव्य' की गरिमामय संज्ञा प्राप्त हो गयी—कहा गया कि मैं कितना निःस्वार्थ हूँ कि अपने सुखो की चिन्ता न करते हुए भी मैंने दूसरो के लिये इतना कुछ किया। इसे त्याग और अहिंसा समझ लिया गया।

३—(अ) 'अपने सुखो की चिन्ता नहीं की'—क्यो? सुखो को हेय मानकर या उपादेय मानकर? सुखों को हेय माना—यह वीतराग दृष्टि है। सुखो को उपादेय मानकर भी छोडा—यह दृष्टि मूलत. रागात्मक है।

(आ) 'दूसरो के लिए इतना कुछ किया''—क्या किया? जो कुछ हमने दूसरो के लिए किया उससे यदि उनके राग को प्रश्रय मिला तो हमने वस्तुत उनका कुछ भला नही किया, बुरा ही किया, चाहे उन्हें स्वयं यही लगता हो कि हमने उनका भला किया है। यदि हमने उनकी वीतरागता मे वृद्धि की तो निश्चय ही हमने उनका भला किया।

४—फलितार्थ यह हुआ कि सुखो को हेय समझ कर छोडें—यह त्याग है, दूसरो मे वीतरागता की वृद्धि का निमित्त बनें—यह परोपकार है। ऐसा त्याग और परोपकार अहिंसा के अग है।

सुखो को उपादेय समझने पर भी छोड दें—उसके मूल मे त्याग नही है, राग-दृष्टि ही है। दूसरो की राग-वृत्ति मे निमित्त बनें—यह उपकार नहीं, अपकार ही है। सुखो के प्रति उपादेय-बुद्धि रखने वाले रागी व्यक्ति यदि उस प्रक्रिया को भी अहिंसा के अन्तर्गत मानें तो मानें—वीतरागी इसे कदापि अहिंसा नहीं मान सकता, चाहे इस प्रक्रियाके अन्तर्गत एक व्यक्ति कितना ही बडा दु:ख उठाकर, प्राण देकर भी—दूसरेको प्राण-दान ही क्यो न कर दे। यह अहिंसा नहीं है—वीतरागी का इतना ही आग्रह है—इसे सामाजिक अनुबन्ध या कर्त्तव्य माना जाये तो इस वस्तु-स्थिति का निषेध वीतराग भी नही करेगा। समाज के सम्बन्धो का आधार ही राग है—अत समाज-शास्त्री,

राग का निषेध नही कर सकता—केवल राग की दिशा बदलने की बात कह सकता है। अध्यात्म-शास्त्र का आधार ही सम्बन्धो की रागात्मकता का विच्छेद है—अत. अध्यात्म-शास्त्री राग की दिशा बदल देने मे कृत-कृत्यता नहीं मानता, प्रत्युत यह मानता है कि इस प्रकार हम मूल समस्या को केवल टाल रहे है। स्थूल राग सामाजिक हितो के विरुद्ध जाते है। अत. समाज शास्त्री भी उनका निषेध करता है और अध्यात्म-शास्त्री भी यह जानता है कि यदि राग, युगपत् छोडने की सामर्थ्य न होने से, क्रमश छोडता है तो पहले स्थूल राग को ही छोडना होगा। अत स्थूल रागो को छोडना है—यहाँ तक समाज-शास्त्री और अध्यात्म-शास्त्री दोनो सहमत है।

५—सूक्ष्म राग भी राग है—मनोवैज्ञानिक इसे तुरन्त मान जायेगा क्योंकि उसकी यह प्रतिबद्धता नहीं है कि वह अध्यात्म-शास्त्र से जुड़ा ही रहेगा। किन्तु जो अध्यात्म-शास्त्र से जुडे रहने के लिए प्रतिबद्ध भी है और सामाजिक भी बने रहना चाहते है, वे सूक्ष्म राग को, राग ही नही मानेंगे। उनके सामने एक विचित्र उभयतो-पाश है—*यदि सूक्ष्म राग को राग मानें तो उसे त्याज्य मानना होगा—यह अध्यात्म* का तकाजा है और यदि सूक्ष्म राग को भी त्याज्य मान लें तो सामाजिकता समाप्त हो जाती है, जिसे वे छोडने को तैयार नहीं। अत वे सूक्ष्म राग को राग नहीं मानेंगे—अहिंसा ही मान लेंगे। इस प्रसगमे उलझन इसलिये और बढ जाती है कि धर्म शब्दका प्रयोग हमारेदेश मे दोनो अर्थों मे हुआ है—समाज-शास्त्र के अर्थ मे भी और मोक्ष-शास्त्र के अर्थ मे भी। समाज-शास्त्र के अर्थ मे प्रयुक्त धर्म, सूक्ष्म राग को उपादेय बताता है। मोक्ष-शास्त्र के अर्थ मे प्रयुक्त धर्म, उसे हेय बताता है। मोक्षोन्मुख धर्म पर भी समाज-शास्त्रीय धर्म की छाया कभी-कभी पडती रही है। दोनो के बीच सामञ्जस्य बैठाने का आपात-रमणीय स्वर भी यदा-कदा सुनायी दे ही जाता है। इस स्वर के कलरव मे यह स्वर डूब ही जाता है कि राग चाहे कितना भी सूक्ष्म हो, अहिंसा नही हो सकता।

६—लौकिक पदार्थ—भोजन सदा रागात्मकतामे ही निमित्त बने—ऐसा नही है। जो सर्वतोभावेन वीतरागता की साधना को समर्पित है उसके लिये भी जीवन के अस्तित्व को बनाये रखने के लिये भोजनादि आवश्यक हो सकते है। वह जीवन का अस्तित्व इसलिये नहीं बनाये रखता कि उसे जीवन से लगाव है, अपितु इसलिये बनाये रखता है कि उसका जीवन वीतरागता की साधना है। जीवन के अस्तित्व के लिये आवश्यक ऐसे भोजनादि, जो व्यक्तिने अपने लिये तैयार किये है, उन पर से राग-भाव को छोडकर, उनका, सर्वतोभावेन वीतरागताकी साधना के लिये समर्पित व्यक्ति को दे देना—न राग-प्रेरित है न राग-वर्धक। अत यह अहिंसा की ही कोटि मे आयेगा।

सर्वतोभावेन वीतरागता की साधना के लिये समर्पित व्यक्ति तथा सामाजिक प्राणी दोनो को भोजन देने की प्रक्रिया का स्थूल फल एक ही है—दोनो के जीवन का अस्तित्व बना रहता है। किन्तु प्रथम के जीवन का बने रहना, वीतरागता की साधना है, दूसरे का जीवन बने रहना रागात्मकता है—इस महत्त्वपूर्ण अन्तर को भुलाकर हम दोनो क्रियाओ के परस्पर विरोधी परिणामो को नहीं समझ सकेंगे। हमारी रागात्मकता हमे किसी भी प्राणी की सहायता करने को प्रेरित करे तो हम वह सहायता करे परन्तु उसे अहिंसा कैसे समझा जा सकता है? यदि हमने इसे ही अहिंसा मान लिया तो वास्तविक अहिंसा के स्वरूप के समझ पाने का अवसर वहीं खो देंगे।

७—राग का भी कुछ उपयोग है—वह उपयोग सामाजिक है, समाजका आधार आदान-प्रदान है। जिस समाज मे जितने ही अधिक व्यक्ति, बिना प्रतिदान के मागे दान देने को तत्पर होगे, वह समाज उतना ही अधिक समृद्ध

तथा सुखी होगा। उस समृद्धि तथा सुख मे दान देने वाला भी भागीदार होगा—यह स्वार्थ सहज ही सिद्ध होता है। किन्तु इस स्वार्थ की ओर दृष्टि किये विना ही जो समाज की समृद्धि मे अपना योगदान देते है—समाज उन्हे नि स्वार्थ ही कहेगा। समष्टिके अभ्युदयके लिये, अपने लिये किसी फल की इच्छा किये विना, प्रयत्नशील रहना—निष्काम कर्म-योग है। समाज-शास्त्रीय धर्म का आदर्श इससे बढकर न कुछ हे—न हो सकता है।

८—मोक्ष-शास्त्रीय धर्म उस आदर्श के सामने भी कुछ प्रश्नवाचक चिन्ह लगाता है। (१) क्या समष्टि मे वे प्राणी भी शामिल है जो सुख-दु ख का अनुभव करते है किन्तु उन्हे अभिव्यक्त नही कर सकते? क्या ऐसे प्राणियो की कीमत पर, जो मूक है, सवाक् प्राणियो के अभ्युदय का प्रयत्न अहिंसा कहला सकती है? (२) सुख-सुविधाओ की वृद्धि, क्या वस्तुत प्राणियोके लिये कल्याणकर है? (३) समष्टि के हित मे अपना हित मानना, राग का विस्तार तो है किन्तु क्या उसे वीतरागता माना जा सकता है? (४) कर्त्तव्य-भाव से हम कोई कार्य करते है—उस कार्य का उद्देश्य क्या है और उस कार्य-सिद्धि के साधन क्या है? यदि कार्य का उद्देश्य अधिकतम लोगो को, अधिकतम सुख-सुविधा जुटा देना है तो यह उनकी देह की चिन्ता है, आत्मा की नही। फिर यदि उस कार्य के साधन ऐसे है जो अनजाने म भी किन्हीं प्राणियो को दु ख देने मे निमित्त बनते है तो यही कहना होगा कि यद्यपि हमने स्वार्थ का क्षेत्र बढा लिया किन्तु उसमे सभी प्राणियो का अन्तर्भाव नहीं हुआ है। अत उसे एक विस्तृत स्वार्थ ही मानना होगा, वह परमार्थ नहीं है।

स्पष्ट है—कर्त्तव्य-भाव से किये गये लोकोपकारक कार्य भी तभी अहिंसा की कोटि मे आ सकते है जबकि उनके द्वारा सर्वहित सम्पन्न हो—बहुजन-हित की कसौटी पर्याप्त नहीं है। दूसरे, लोकोपकार वह है जहाँ दूसरे की आत्मा को गिरने न देकर ऊपर उठाने की भावना हो। दूसरे भले ही राग मे जियें—लेकिन जियें या सुख-पूर्वक जियें—ऐसी कामना अहिंसा की कोटि मे नहीं आयेगी।

९—अहिंसक जहाँ राग से बचता है वहाँ द्वेष से तो बचता ही है। इसलिये उसका प्रयत्न रहता है कि उससे किसी प्राणी को कष्ट न हो। इस प्रकार वह अपनी आत्मा को द्वेष की अग्नि मे बचाने की चिन्ता करता है, किन्तु इस अहंकार मे नही रहता कि उसने प्राणियो को जीवन-दान दिया है। उसके उस मैत्री-भाव की कोई शर्त नहीं है। भले-बुरे, शत्रु-मित्र, सबके प्रति उसकी मैत्री है। यदि कही कोई शर्त है, तो उसकी अपनी कमजोरी के कारण है। उसकी कमजोरी के कारण अहिंसा की परिभाषा नही बदल सकती।

१०—ऐसा सकीर्ण है—अहिंसा-तत्त्व-दर्शन। कर्त्ता राग-रहित, साधन अहिंसामय और क्रिया का फल राग की परम्परा को कम करने वाला—ये तीन शर्तें पूरी है तो अहिंसा है, अन्यथा हिंसा। यह बाल की खाल निकालना नहीं है—यह अहिंसा की सर्वांगीण विवेचना है। मेरे लिये कोई बात गौण हो सकती है लेकिन दूसरे के लिये वही बात जीवन-मरण का प्रश्न है। अहिंसक की दृष्टि मे सब बराबर है, किसी एक की कीमत पर दूसरे का हित-साधन अहिंसा नहीं है।

११—ऐसी अहिंसा विरल है। इस अहिंसा के आधार पर समाज संचालित नही होता, किन्तु मुक्ति के लक्ष्य तक यही अहिंसा ले जाती है। उसका आधार समता है।

समाजमे अधिक के हितो के लिये थोडों का हित, और बडो के हित के लिये छोटो का हित, बलिदान किया

जाता रहा है। बलवान सदा निर्बलो को दबाता चला आया। इस दमन में जब अति होती है तब निर्बल समुदाय विद्रोह कर देता है। इस विद्रोह को शान्त रखने के लिये शक्तिशाली-वर्ग, निर्बलो को कुछ रियायतें देता रहता है। इस शताब्दी मे निर्बल-वर्ग सगठित होकर बलपूर्वक शक्तिशालियों से सुविधायें प्राप्त कर रहा है। वह दया मे कुछ माँगना नहीं चाहता, जो कुछ चाहता है अपने अधिकार के रूप मे, ससम्मान चाहता है।

समाज-शास्त्री सोचने लगे है कि ऐसी समाज-व्यवस्था दूषित है जो एक को भिखारी और दूसरे को दाता बना देती है, इसलिये भीख को अवैध घोषित कर दिया है। सामाजिक विषमता मे १०० का लाभ उठाकर १ देनेवाला व्यक्ति आज दाता नहीं, पाखण्डी समझा जाता है। आज मानव-संस्कृति इस निर्णय पर पहुँच चुकी है कि विषमता समाज को निर्बल बनाती है। किन्तु इस विषमता को मिटाने के लिये अधिकतर बल-प्रयोग ही किया जा रहा है। समता, अहिंसाका भी लक्ष्य है किन्तु उसके लिये बल-प्रयोग, अहिंसा-सम्मत नहीं है। अहिंसा हृदय-परिवर्तन मे विश्वास करती है, बल-प्रयोग मे नहीं। जिन देशों मे बल-प्रयोग द्वारा साम्यवाद लाया गया, वहाँ भी अब व्यक्ति की स्वतंत्रता को शनै शनै. महत्त्व दिया जाने लगा है।

१२—मानव-संस्कृति के इस मोड पर अहिंसावादी बहुत बडा योगदान दे सकता है। मानव-समाज मे विषमता मिटाना, हृदय-परिवर्तन द्वारा भी सम्भव है—यह अहिंसावादी को दिखलाना होगा। अन्यथा बल-प्रयोग से विषमता मिटायी जायेगी, किन्तु उसके पीछे प्रतिशोध की कटुता बनी रहेगी। मैं इसे अहिंसा के सिद्धान्त के लिये अग्नि-परीक्षा का समय मानता हूँ—यह समय अहिंसा के गुणानुवाद का नहीं। अहिंसा को अपरिग्रह के सिद्धान्त पर प्रतिष्ठित कर, आर्थिक विषमता को वर्ग-सघर्ष में से गुजरे बिना, उन्मूलित कर दिखाना है।

१३—इस विवेचन से यह सिद्ध है कि अहिंसा के सिद्धान्त का समाज से कोई सम्बन्ध नहीं ऐसा नहीं है, किन्तु समाज की सब अपेक्षाओ की पूर्ति अहिंसा करे—ऐसा भी नहीं है। यदि सम्पत्ति के प्रति अत्यधिक मोह नहीं है तो व्यक्ति, उचित अनुचित उपायो द्वारा, दूसरे के सुख-दु ख की चिन्ता किये बिना, आवश्यकता से अधिक सग्रह करने मे प्रवृत्त नहीं होगा—यह शोषण की सामाजिक समस्या का एक हल अहिंसा से प्राप्त होता है। किन्तु किस प्रकार सभी को अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये लौकिक सामग्री उपलब्ध होती रहे—यह विशुद्ध अर्थशास्त्रियों के सोचने की बात है, इसके बीच धर्म नहीं आयेगा।

१४—हमारे संविधान ने भारत को धर्म-निरपेक्ष राज्य घोषित किया—उसका यही अर्थ है। हमे धर्म की अपेक्षा नहीं है—यह धर्म-निरपेक्ष का अर्थ नहीं है। लौकिक विषयोंको लौकिक स्तर पर ही सुलझाया जायेगा, धर्म उसके बीच न साधक बनेगा न बाधक—यही धर्म निरपेक्षता है। इस सिद्धान्त की उपयोगिता बहुमुखी है। समाज परिवर्तनशील है। उसकी समस्या और उसके समाधान, बदलते समय के साथ बदलती विचार-धारा की अपेक्षा रखते हैं। धर्म की समस्या और उनके समाधान चिरन्तन है। सामाजिक समस्याओ के समाधानों को धार्मिक समाधानों से जोड देने से, समाज-व्यवस्था रुढि-ग्रस्त हो जाती है।

वर्ण-व्यवस्था विशुद्ध सामाजिक व्यवस्था है। उसे युगानुरूप ढालते चले जाने मे मैं कोई हानि नहीं समझता। किन्तु जो उस व्यवस्था को धर्म से जोडते है वे उसे दिव्य और अपरिवर्तनीय समझते हैं। उनके हिसाब से, संविधान का अस्पृश्यता को अवैध घोषित कर देना, धर्म विरुद्ध है।

समाज नित्य नये प्रयोग करता चला जायेगा। सम्भव है वह कुछ ऐसे प्रयोग करना चाहे जो हमारे पुराने मानस को बिल्कुल झकझोर देने वाले हो। जो समाज-व्यवस्था और धर्म को एक ही समझते हे उनके लिये ऐसे समस्त नये प्रयोग धर्म-विरुद्ध होगे। किन्तु जो इन दोनो के बीच विवेक कर सकता है उसके लिये किसी भी युगानुरूप सामाजिक व्यवस्था मे आपत्ति न होगी बशर्ते कि वह व्यवस्था, धर्म के मूलभूत सिद्धान्तो के सीधे विरुद्ध न हो।

१५—अहिंसा के शब्दार्थ से जन-साधारण मे इसके सम्बन्ध मे एक भ्रान्ति-सी फैली रही हे। कुछ लोगो के लिये अहिंसा एक रसोई-धर्म बन गया। भक्ष्याभक्ष्य-विचार तक ही अहिंसा की परिधि सीमित हो गई। कुछ लोग चींटियोको आटा डालनेमे स्वय को कृतकृत्य मानने लगे। कुछ लोगो ने औषधालय खोलना तथा विद्यालय चलाना अहिंसा-धर्म के अन्तर्गत माना। किन्तु अहिंसा वस्तुत एक पूर्ण जीवन-दर्शन हे। अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियो के झंझावातों मे हिमालय-सा अडिग रहना अहिंसा है। सुख-दुःख, लाभ-हानि, निन्दा-प्रशसा मे समभाव रखना अहिंसा है। चित्त मे चलने वाले सूक्ष्म-से-सूक्ष्म कषाय को जीतना अहिंसा है। राग-द्वेष से मुक्ति अहिंसा है। मन, वचन, कर्म का संयम अहिंसा है। इस प्रकार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे व्यापक होकर ही, अहिंसा पूरा-धर्म बन सकती है। कोई महावीर ही अहिंसा को साध सकता है लेकिन कापुरुषो ने सस्ती भावुकता को अहिंसा बना लिया। दूसरी ओर, समाजोपयोगी कार्यों पर धर्म की मोहर लगाने की प्रवृत्ति ने समाज-शास्त्र को धर्म का पिछलग्गू बना दिया। उसका स्वतंत्र विकास हो ही नहीं सका। उसका यह परिणाम होना ही था कि हमारे सामाजिक जीवन में दीनता व्याप्त हो गयी। उधर अहिंसा-धर्म ने भी लोकोन्मुख होकर अपनी वीतरागता की तेजस्विता खो दी।

१६—यह समस्या कोई जैन-धर्म तक सीमित नहीं है—पूरे राष्ट्र की समस्या हे। 'अहिंसा-तत्त्व-दर्शन' ने जिस स्पष्टता के साथ इस समस्या का समाधान प्रस्तुत किया है वह स्तुत्य है। महाप्रज्ञजी का व्यक्तित्व या कृतित्व शब्दो मे सिमट नहीं पाता। वे उस सत्य की सीमा का स्पर्श कर चुके है जो शब्द से परे है—सव्वे सरा णियट्टन्ति।

●

मुनि नथमलजी की 'अहिंसा-तत्त्व-दर्शन' पुस्तक पढी। जैन-धर्म में अनिमंत्रित घुस आने वाली प्रवृत्तियों का विवेचन, सभी के लिये शिक्षा-प्रद है क्योंकि वे जैन-धर्म तक सीमित नहीं हैं। मैं स्याद्वादी-दृष्टिकोण का आदर करता हूँ। कई स्थलों पर उसका उल्लेख मननीय है। हिंसा-अहिंसा, पाप-पुण्य, मोक्ष-बन्धन का निर्णय परिस्थितियों पर निर्भर है—इस सत्य का संकेत पुस्तक में कई जगह मिला जो अभिनन्दनीय है।

—डॉ० रामविलास शर्मा

तट दो : प्रवाह एक

—डॉ० महावीरसरन जैन
एम० ए०, डी० फिल०, डी० लिट्
(अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, जबलपुर-विश्वविद्यालय)

महाप्रज्ञ नथमलजी के अडतीस निबन्धो की इस पुस्तक को पढने पर पहली प्रतिक्रिया यह होती है कि इसके लेखक ने किसी विशिष्ट घाट पर बैठकर अवगाहन नही किया है अपितु अध्यात्म, धर्म, दर्शन, समाज एवं व्यक्ति के विविध रूपो, क्षेत्रो, एव आयामो मे गहन विचरण कर, आधुनिक सदर्भों के अनुकूल, उपयोगी सूत्रों को प्रकट किया है । इन विविधताओ के मध्य धर्माचरण के प्रवाह की अन्तवर्ती धारा सर्वत्र प्रवाहित है ।

इस सकलन मे "दर्शन और बुद्धिवाद", "जीवन और दर्शन", "जीव का तर्कातीत अस्तित्व", "जीव का अस्तित्व जिज्ञासा और समाधान" इत्यादि निबन्ध दार्शनिक कोटि के है । आज के दर्शन के सबन्ध मे लेखक ने यह स्थापना की है कि वह दर्शन, दार्शनिक प्रकृति का न होकर बुद्धिवादी प्रकृति का है । इसका कारण यह है कि आज के दर्शन मे बुद्धि के सहारे तत्त्वो का विश्लेषण एव जगत के अस्तित्व की व्याख्या की जाती है । दर्शन और धर्म का अन्तर प्रतिपादित करते हुए, मुनिश्री ने प्रतिपादित किया है कि दर्शन की साधना करते समय धर्म, साधन होता है तथा सिद्धि-काल मे अर्थात् दर्शन की सिद्धि होने पर, धर्म हमारा स्वभाव बन जाता है । जीवन के प्रति अधिकाश लोगो का दृष्टिकोण भौतिकवादी है । उनके जीवन मे आध्यात्मिक चेतना का अभाव है । इस स्थिति को लेखक ने पहचाना है तथा मनुष्य-मात्र को सचेत किया है कि आप खाते है, पीते है, श्वास-निश्वास लेते है केवल जीवित रहने के लिए परन्तु, किस लिए जीते है यह नहीं बता सकते । इस कारण व्यक्ति सत्य तक नहीं पहुँच पा रहा है । जीवन के प्रति मनुष्य का स्थिर और निश्चित दृष्टिकोण होना चाहिए । व्यक्तिगत स्तर के अतिरिक्त सामाजिक स्तर पर दर्शन की भूमिका के सम्बन्ध मे विचार करते हुए उन्होने उसकी तीन आधारभूत व्यवस्थाएँ मानी है—(१) सापेक्षता (२) व्यवस्था (३) शासन ।

सामाजिक प्राणी सर्वथा निरपेक्ष हो, यह सम्भव नहीं है । सामाजिक सन्तुलन के लिए सापेक्ष के साथ निरपेक्ष भाव की महिति को लेखक ने दर्शन की देन माना है । इसी आधार-भित्ति पर उन्होने सामाजिक दृष्टि से भी, आत्मानुशासन के मनोभाव को विकसित करना आवश्यक माना है । ऐसा होने पर नियमो के पालन की प्रेरणा का मूल, भय नहीं होता अपितु कर्तव्य-निष्ठा होती है ।

ज्ञान-मीमासा की दृष्टि से लेखक इन्द्रियातीत ज्ञान को वास्तविक ज्ञान मानता है । अतीन्द्रिय ज्ञान के प्रत्यक्ष होने पर ही आत्मानुभूति होती है, जिसके आलोक मे हमारे सस्कार विलीन हो जाते है तथा संस्कारो के विलीन होने पर हमारी मान्यताएँ समाप्त हो जाती है तथा प्रत्यक्ष ज्ञान का उदय होता है ।

जीव के वर्तमान व्यक्तित्व के संबन्ध मे लेखक की मान्यता है कि वह न तो सर्वथा पौद्गलिक है, न सर्वथा अपौद्गलिक है । यह मान्यता तर्क-सम्मत है । इसका कारण यह है कि यदि उसे सर्वथा पौद्गलिक मानें तो उसमे

चैतन्य नहीं हो सकता जबकि जीवन में चेतना का गुण है। इसी प्रकार यदि उसे सर्वथा अपौद्गलिक मानें तो उसमें संकोच, विस्तार, प्रत्यक्ष अनुभव, ऊर्ध्व गौरव-धर्मिता तथा रागादि नही हो सकते।

धार्मिक कोटि के निबन्धों मे 'जीवित धर्म, ''राष्ट्र-धर्म,' 'अहिंसा की सफलता या विफलता' तथा ''जीवन-विज्ञान के सूत्र' आदि निबन्ध है। धर्म को लेखक इसलिए जीवित एवं शाश्वत तत्त्व मानता हे क्योकि उससे हमारा वर्तमान उज्ज्वल होता है। धर्म का आधार व्यक्तिगत मानकर सम्प्रदायो की दृष्टि के परे अध्यात्म की भूमिका पर उसका संबन्ध आत्मा की पवित्रता से जोड़ा गया है। जीवन-विज्ञान के लिए लेखक ने तीन मूल्य स्वीकार किए हैं —

(१) समानता (२) स्वतन्त्रता एवं (३) प्रामाणिकता। इनको व्यापक रूप मे परिभाषित किया गया है। समानता की स्वीकृति अस्तित्व की दृष्टि से स्वीकार की गयी है। प्रत्येक का अस्तित्व है। मुझसे जो भिन्न है उसे अपना अस्तित्व उतना ही प्रिय है जितना मुझे अपना अस्तित्व प्रिय है। प्रत्येक जीव मे चेतना है और इस दृष्टि से सब समान है। इसी आधार-भूमि पर 'स्व' का 'तन्त्र' रह सकता है अर्थात स्वतन्त्रता स्थापित हो सकती है जिसमे कोई व्यक्ति दूसरे के अधिकार के अपहरण करने की कल्पना ही नही कर सकता। इसके पश्चात् प्रामाणिकता का गुण आ सकता है जिसका अर्थ है अपने प्रति सच्चा होना और अपने प्रति सच्चा होने का अर्थ सबके प्रति सच्चा हो जाना होता है।

लेखक ने केवल सिद्धान्त-परक निबन्ध ही नहीं लिखे है अपितु साधना-परक निबन्ध भी इसमे संकलित है। आत्म-ज्ञान के लिए जैन-परम्परा मे योग-साधना की जो परम्परा रही है, उस पर आज के मनीषी बहुत कम विचार करते है। जैन-योग का परम प्रासङ्ग एवं परम लक्ष्य आत्मोपलब्धि है। जैनानुशासनकी दृष्टिसे ध्येयतम है —आत्म-द्रव्य। आत्मद्रव्य मे ध्येय है पंच-परमेष्ठी। पचपरमेष्ठियो मे भी चार सकल परमेष्ठियो का त्याग करके, सिद्ध पर-मेष्ठी को ही ध्येय माना गया है। महाप्रज्ञ ने 'योग', 'कायोत्सर्ग', 'ब्रह्मचर्य', 'वासना-विजय' निबन्धो मे योगतत्त्व एवं साधना के सम्बन्ध मे विचार किया है। साधना-काल मे मन, आत्मा से जुडता हे, इसलिए जुडने के अर्थ मे आत्मा और मन के सम्बन्ध को योग कहा जाता है तथा मन समाविस्थ हो जाता हे, इस कारण समाधि के अर्थ मे उस समाधि-दशा को योग कहा जाता है। लेखक ने हठ-योग, लय-योग, मन्त्र-योग तथा राज-योग सभी पर विचार किया है और योग-चतुष्टय के परिवार के रूप मे बन्ध, नाडी, वायु, तत्त्व, जप तथा चक्र के प्रकार एव उनके अर्थो का प्रत्याख्यान किया है। ब्रह्मचर्य का महत्त्व जहाँ भारतीय साधना की परम्परा से प्रेरित हे, वही 'ब्रह्मचर्य का शरीर-शास्त्रीय अध्ययन' लेखककी, शरीर-विज्ञान एव शरीर-क्रिया-विज्ञान विषयो मे, गति का परिचय देता है।

लेखक ने सामाजिक समस्याओ पर भी विचार किया हे। मानवीय एकता की पुन स्थापना के लिए लेखक ने शक्ति-सगोपन, बुद्धि-सयम तथा भाव-पवित्रता की शिक्षा को अनिवार्य माना है। शक्ति के संगोपन से बहुमत, अल्पमत के प्रति कभी आक्रमणकारी नही हो सकता और अल्पमत, बहुमत के प्रति कभी उद्दण्ड नही हो सकता। इसी प्रकार बौद्धिक संयम तथा स्वभाव की पवित्रता से शोषण एवं सघर्ष समाप्त हो सकते है।

जीवन के नए मूल्यो के सम्बन्ध मे विचार करते समय लेखक ने आत्मानुशासन, विनम्रता, पारस्परिक विश्वास तथा सयम-शक्ति को स्वस्थ समाज की अनिवार्य अपेक्षाए माना हे। इनके अभाव मे सामाजिक जीवन किस प्रकार सुचारु रूप से नहीं चल सकता, इसकी भी विवेचना लेखक ने की है।

राजनैतिक निबन्धो मे 'एशिया में जनतन्त्र का भविष्य'' ''लोकतन्त्र और नागरिक अनुशासन'', ''स्वतन्त्रता और आत्मानुशासन'' आदि निबन्धो का उल्लेख आवश्यक है। शासको के लिए लेखक ने एक महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया है कि हमारा ध्यान वर्तमान की घटनाओं पर ही केन्द्रित नही होना चाहिये अपितु जिन कारणो से वे समस्याए घटित हो रही है, वहाँ तक पहुच कर उनका निवारण करना चाहिए।

''यदि मनुष्य क्रूर नहीं होता'', 'मानव-मन की ग्रन्थियाँ', 'सुख और शान्ति' शीर्षक निबन्धो मे उनके 'मनोविज्ञान' के परिपक्व ज्ञान की झलक मिलती है। 'युद्ध और अहिंसा' एवं 'अणु-अस्त्र और मानवीय दृष्टिकोण' शीर्षक निबन्धो मे सामयिक परिस्थितियो के सन्दर्भ मे युद्ध एव अणु-अस्त्र-सम्बन्धित विचार प्रस्तुत किये गये है।

जिस प्रकार विषयकी दृष्टि से हमें निबन्धों के अनेक प्रकार मिलते है उसी प्रकार शैली के भी। कुछ निबध, विश्लेषण-प्रधान है, कुछ निबन्धो मे लघु कथाओ के माध्यम से निष्कर्ष पर पहुँचा गया है, कुछ निबन्ध पडिताऊपन-रीति मे निबद्ध है तो कुछ सूत्रात्मक शैली मे लिखे गए है।

महाप्रज्ञजी ने प्रसगानुरूप उपयुक्त शब्दो का विधान किया है। समानार्थक शब्दो की भिन्न अर्थ-छायाओं को उघाडकर रखा गया है जिससे कथ्य एकदम स्पष्ट हो गया है। उदाहरण के लिए 'समज' एव 'समाज' की भिन्नता लेखक ने इस प्रकार वर्णित की है :—

''पशुओ का समूह'' समज कहलाता है और समाज उन मनुष्यों का समूह होता है जिनमे सापेक्षता होती है। समाज और सापेक्षता न हो, वह समाज नहीं, अस्थि-सघात मात्र है।''

साधारणत हम इस सत्य को भूल जाते है कि भाषा के प्रत्येक अवयव की भाति शब्दों के अर्थो मे भी परिवर्तन होता रहता है। शब्द के अर्थ को उसके ऐतिहासिक सन्दर्भ मे न ग्रहण कर, संकालिक स्तर पर लेने से अनेक भ्रान्तियाँ हो जाती है। लेखक का ध्यान इस पक्ष की ओर भी रहा है। इसी कारण 'आत्म-दमन' शीर्षक निबन्ध के अन्त मे विद्वान लेखक यह लिख सकने मे समर्थ हो सका है कि ''मैं अनुभव करता हूँ कि दमन का मूल अर्थ समझने के पश्चात् अब मेरा मन 'आत्म-दमन' का प्रयोग सुनकर, आहत नहीं होता है।''

महाप्रज्ञजी ने अपने निबन्धो में धार्मिक सत्योंको आधुनिक वैज्ञानिक निष्कर्षो पर कसने का सराहनीय प्रयास किया है। चिर सत्यो की अनुभूति के रहस्य को हृदयंगम करने के कारण ही वे आज के अनास्था एव निराशाजनक वातावरण के मध्य, आशा एवं आस्था के स्वरो मे अपना सन्देश मुखरित कर सके हैं —''जिस एशिया ने इस आध्यात्मिक मंत्र को पढा है—आत्मा का शासन, आत्मा के द्वारा, आत्मा के लिए, वह महा मनीषी लिंकन के उस वाक्य को अनादृत नहीं करेगा—जनता का शासन, जनता के द्वारा, जनता के लिए।

चाहे तटो की सख्या बढ़ जाए फिर भी सत्य की खोज का प्रवाह चलता रहेगा—इस भावना के साथ मैं इस पुस्तक का स्वागत करता हूँ।

✪

विचार का अनुबन्ध : एक मौलिक सृजन

डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल
एम० ए०, पी-एच० डी०,
इतिहास-रत्न, विद्यावारिधि (जयपुर)

हमारा देश सन्तो का देश है, श्रमणो एव महाश्रमणो की भूमि है, मुनियो-आचार्यो का विहार-स्थल है। अध्यात्म-ज्ञान यहाँ का प्रमुख ज्ञान है तथा आत्म-दर्शन यहाँ का प्रमुख दर्शन है। गत सैंकडो-हजारो वर्षों से इस देश मे होने वाले तीर्थकरो, गणधरो, आचार्यो एव साधुओ ने यहाँ अध्यात्म की गंगा बहायी और मानव को वास्तविक सुख-शान्ति प्राप्त करने का मार्ग बतलाया। मानव को, उसकी कमियो की ओर ध्यान दिलाकर, सतत सावधान रहने का पाठ पढाया। सत्-साहित्य का निर्माण किया और स्वाध्याय को मनुष्य का कर्त्तव्य बतला कर उनसे शिक्षा-ग्रहण करने की प्रेरणा दी। स्वाध्याय को परम तप भी कहा और निरन्तर अपने आपको स्वाध्याय मे लगाये रखने के लिये जोर दिया।

इसी जैन-परम्परा के आचार्य तुलसी एवं उनके शिष्यो ने गत अर्ध-शताब्दी से देश एवं समाज के वातावरण मे जो परिवर्तन लाने मे योगदान दिया है वह सर्वथा सराहनीय है। उन्होने अणुव्रत-आन्दोलन के माध्यम से जन-जन के जीवन को पावन एव परिस्कृत बनाने का प्रयास किया है तथा देश को इतना अधिक सत्-साहित्य दिया कि उसने एक नये सुगन्धित वातावरण को जन्म दिया जिसकी सुगन्ध से आह्लाद एवं आनन्दानुभूति होने लगी है।

महाप्रज्ञजी ऐसे ही सन्त है जिन्होने देश एवं समाज के नव निर्माण मे अपना समस्त जीवन समर्पित कर रखा है। उनका ज्ञान विशाल है तथा उनकी लेखनी मे आकर्षण है। वे दार्शनिक है। दर्शन-जैसे विषय पर जब बोलने लगते हैं तो घण्टो धारा-प्रवाह बोलते है। राजस्थान-विश्वविद्यालय के जैन-अनुशीलन-केन्द्र मे आयोजित दार्शनिक व्याख्यान-मालामे उनके प्रवचन, दर्शन-विषय की निधि मानी जाती है। वे आचार्यश्री तुलसीके प्रधान शिष्य है और अभी कुछ ही समय पूर्व उन्हें संघ का भावी आचार्य घोषित करके 'महाप्रज्ञ' की उपाधि से समलंकृत किया गया है। आचार्यश्री के इस चयन का सभी ओर से स्वागत हुआ है। हम भी उनका हार्दिक स्वागत करते है तथा आशा करते है कि वे धर्म, साहित्य एवं संस्कृति की विकास-गति मे ओर भी वृद्धि करेंगे। आगम-साहित्य मे उनकी गहरी पैठ है और उनके द्वारा सम्पादित आगम-ग्रन्थ, जैन-आगम-साहित्य की महान निधि मानी जाती है।

अब तक उनकी १०० से भी अधिक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी है। सभी मे उनकी दार्शनिकता देखी जा सकती है। वे मानव-जीवन की गहराइयो मे उतरते है और मानव को उसकी वास्तविकता का बोध कराते है। "विचार का अनुबन्ध" उनकी एक ऐसी ही कृति है जिसमे मुनिश्री के विचारो का अनुबन्ध करके पाठको के सामने प्रस्तुत किया गया है। 'अनुबन्ध' मे विभिन्न विषयो पर मुनिश्री का अपना चिन्तन है और ऐसे विषयो की संख्या ५७ है।

महाप्रज्ञ की पुस्तक के प्रथम सात निबन्ध युवको को लेकर लिखे गये है क्योंकि युवक ही देश के कर्णधार है तथा उसके रक्षक है। यदि उनमे जीवन है, कर्त्तव्य-शक्ति है तो देश का कोई भी कार्य कठिन नहीं है। इसलिये महाप्रज्ञ ने युवक की परिभाषा करते हुए लिखा है कि जिसमे धन का मोह नहीं होता, प्राणो का मोह नहीं होता तथा जिजीविषा (जीने की इच्छा) का मोह नहीं है वह युवक है। लेकिन आज युवक पुरानी पीढी को कोस रहा है तो पुरानी पीढी, नई पीढी को सर्वथा अयोग्य घोषित कर रही है—यह कैसी विडम्बना है। मुनिश्री के शब्दो मे आजका युग दो दोषो से आक्रान्त है, वे दोष है—आचरण की दुर्बलता और दृष्टिकोण का विपर्यास। आचरण की दुर्बलता को तो मिटाया जा सकता है किन्तु जब दृष्टि-दोष ही उत्पन्न हो जाय तो वहाँ बीमारी असाध्य हो जाती है। यह सब होता है युवक को अपने जीवन की सार्थकता का बोध नहीं होने से। इसलिये मुनिश्री नथमल के शब्दो मे, आज के युवक से जो सबसे बडी अपेक्षा है, वह है दृष्टिकोण का परिवर्तन। जब तक हमारा दृष्टिकोण नहीं बदलेगा तब तक कुछ भी नहीं बदलेगा। युवको के लिये यह बहुत जरूरी है कि उनमे ज्ञान आए, दृष्टिकोण बदले और जीवन का सम्यक् निर्माण हो।

महाप्रज्ञ का चिन्तन अत्यधिक गहरा है और समझाने की शक्ति भी निराली है। सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र वाले सिद्धान्त को उन्होने "दृष्टिकोण का निर्माण" मे इतने सुन्दर ढग से प्रस्तुत किया है कि पढने के पश्चात् एक अजीब आनन्दानुभूति होती है। सरल एव छोटे-छोटे वाक्यों मे कभी-कभी बहुत बडी बात कह जाते है। वे कहते है कि यदि आप सम्यक् देखना चाहें तो पहले आपका ज्ञान सम्यक् हो और उससे पहले आपका दर्शन सम्यक् हो क्योकि दर्शन सम्यक् हुए बिना ज्ञान सम्यक् नहीं हो सकता। इस प्रकार मुनिश्री ने तीनो ही बात, एक ही पंक्ति मे कह दी। आज हमे सचमुच अपने दृष्टिकोण को बदलने की जरूरत है, सम्यक् दर्शन की जरूरत है और अपने जीवन के प्रति दर्शन का उपयोग करने की जरूरत है।

भगवान महावीर की पच्चीसवी-निर्वाण-शताब्दी पर आयोजित अ० भा० तेरह-पथ युवक-परिषद् मे युवको के कर्त्तव्य पर उन्होने आत्म-सेवा, तीर्थ-सेवा, रूढियो का परित्याग और समता का प्रयोग, इन पर सबसे अधिक बल दिया और उनको देश एव समाज-सरचना के चार स्तम्भ बतलाये। जहाँ आत्म सेवा है वहीं तीर्थ-सेवा है। तीर्थ-सेवा सामाजिक सेवा है, संगठन की सेवा है, क्योकि जैन-धर्म एक सगठन है, समाज है और विशाल वट-वृक्ष के समान है जिसको सींचने के लिए, एक नही, सैकडो-हजारो हाथ चाहिए। इस प्रकार मुनिश्री ने युवको के समक्ष अनेक समस्यायें रखीं, साथमे उनका समाधान भी। उनको भटकने के लिये जंगल मे नहीं छोडा किन्तु जीवन-निर्माण एवं उत्कर्ष के लिये ककरीट की सडक बतलायी जिस पर चल कर वे अपने सुखद एव उज्ज्वल भविष्य का निर्माण कर सकते है, समाज एवं राष्ट्र का भला कर सकते है और विश्व की चुनौतियो का, दृढता के साथ मुकाबला भी कर सकते है।

व्यक्ति का समाजीकरण और समाज का व्यक्तिकरण मे मुनिश्री ने भगवान महावीर के समाजवाद की बहुत ही सुन्दर शब्दो मे व्याख्या की है। उन्होने कहा कि महावीर समाजवाद के व्याख्याता नहीं थे पर उन्होने एक और अनेक की सापेक्षता के उप-सिद्धान्त की व्याख्या की, जो समाजवाद का सशक्त आधार है। जो एक को जानता है वह सबको जानता है, जो सबको जानता है वह एक को जानता है। मुनिश्री के शब्दो मे—भगवान महावीर ने व्यक्ति

और समाज को विभक्त करके नही देखा। जहाँ व्यक्ति को विशिष्टता दी वहाँ समाज को उसकी पृष्ठ-भूमि मे रखा और जहाँ समाज को विशिष्टता दी वहाँ व्यक्ति को उसकी पृष्ठ-भूमि मे रखा। वास्तव मे महावीर ने व्यक्ति-निरपेक्ष समाज की, और समाज-निरपेक्ष व्यक्ति की परिकल्पना ही नहीं की। उन्होने व्यक्ति को समाज की पृष्ठ-भूमि मे रखा और उनके उपादान को कभी विस्मृत नहीं होने दिया। इस प्रकार महावीर के समाजवाद की मुनिश्री ने अपनी व्याख्या प्रस्तुत की है। वे अर्थ के चक्कर मे नही पडे किन्तु उनकी व्याख्या आध्यात्मिकता के आधार पर प्रस्तुत की है जिसे प्रकार कोई भी पाठक समाजवाद की व्याख्या को समझ सकता है।

"अणुव्रत-आन्दोलन" "कुछ प्रश्न जो समाधान चाहते है" "अणुव्रत-आन्दोलन की मजिल" "जीवन-निर्माण की दिशा" और "अणुव्रत" इन निबन्धो मे मुनिश्री ने अणुव्रत-आन्दोलन की स्पष्ट रूप से चर्चा की है। उन्होने जहाँ यह स्वीकार किया कि अणुव्रत आन्दोलन, तीसरे दशक मे भी कार्य-कर्त्ताओ की अभीप्सित शक्ति अर्जित नही कर पाया वहीं उन्होने अणुव्रत-आन्दोलन को एक ज्योति-प्रभा की सज्ञा दी है जिससे व्यक्ति आलोकित होता है और समाज भी आलोक प्राप्त करता है। अणुव्रत-आन्दोलन सामाजिक समानता मे विश्वास करता है। वह एक विचार-क्रान्ति का दर्शन है। कोई भी व्यक्ति धार्मिक बने या न बने किन्तु उसका नैतिक बनना आवश्यक है—यही अणुव्रत का प्रथम मार्ग है। अणुव्रत एक शाश्वत तत्त्व है जो भेद-रेखाओ को परस्पर मिलाता है।

मुनिश्री नथमलजी की प्रस्तुत पुस्तक मे "धर्म का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण" एवं "धर्म समस्या के सन्दर्भ मे" उनके गहन विचारो से अनुप्राणित है। धर्म की परिभाषा करते समय कोई सैद्धान्तिक व्याख्या मे नही पडे किन्तु उन्होने कषाय-मुक्ति को धर्म कहा है। उनके अनुसार क्रोध, मान, माया, लोभ, भय, घृणा, हीन-भावना की मनोवृत्ति अधर्म है। धर्म उनके मन मे टिकता है जो शक्तिशाली है, पवित्र है एव भय-रहित है। क्षमा-शीलता धर्म है, दूसरो की उन्नति देख कर स्वयं के विकास की इच्छा करना धर्म है। इस प्रकार मुनिश्री ने धर्म की व्याख्या बहुत ही सीधे-सादे शब्दो मे की है। यदि धर्म का, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन किया जाय तो निश्चित रूप से हम स्वस्थ, सुखी एवं सम्पन्न बन सकेंगे—ऐसा मुनिश्री का कथन है। हमे धर्म की समस्या सुलझाने का साधन बनाना चाहिये न कि उस स्वयं को ही समस्या बना डालें। और यह तभी सम्भव है जब कि हम धर्म के स्वरूप पर विचार करें और धर्म के आधार पर विचार करें।

मुनिश्री को अनुशासन बहुत प्रिय है क्योकि वे स्वय भी अपने गुरु एवं संघ के प्रति पूर्ण अनुशासित है। अनुशासन का मूल है विश्वास। विश्वास ही वह कडी है जिसके द्वारा अनुशासित अपने आपको अनुशास्ता के समक्ष समर्पित कर डालता है। तेरापंथ-शासन, अनुशासन का एक अनूठा उदाहरण है। इसी तरह मुनिश्री ने "जैन-धर्म और महात्मा गाधी" निबन्ध मे महात्मा गाधी के जीवन के जो सस्मरण लिखे है, वे ऐसे है जिनमे जैन-सिद्धान्तो की पूरी झलक मिलती है। मुनिश्री के अनुसार गाँधीजी के जो विचार थे, वही तो जैन-धर्म है। गाँधीजी ने राजनीति मे जिसका प्रयोग किया वह जैन-धर्म ही था। इस प्रकार मुनिश्री ने जिस शैली मे गाधीजी के विचारो का उल्लेख किया है, वे उनके गहन अध्ययन के परिचायक है।

मुनिश्री ने अपने गुरु आचार्य तुलसी के सम्बन्ध मे भी "आचार्य तुलसी . ज्योतिर्मय साधक", "आचार्य तुलसी यथार्थ की व्याख्या", "युग-प्रधान की पूर्व भूमिका", "मानवीय धरातल", "महान् स्वप्न-द्रष्टा", "तुम्हारा

शोषण वरदान बन जाता है", "पूर्णता के साधक आचार्य तुलसी", आचार्यश्री की दक्षिण भारत यात्रा" निबन्धों मे आचार्य तुलसी के जीवन का मूल्यांकन विभिन्न दृष्टिकोणो से किया गया है। यह तो सही है कि वे इस शताब्दी के महान् धार्मिक नेता है और उन्होने कुछ ऐसे मान-दण्ड प्रस्तुत किये है जो सर्वथा मौलिक है तथा जीवन की राह बदलने वाले है। मुनिश्री के शब्दो मे आचार्यश्री तुलसी को अपनी नौका को दो तटों के बीच मे खेनी पड़ रही है इसलिए आचार्यश्री के सम्बन्ध मे मुनिश्री की निम्न पंक्तियाँ वास्तविकता को लिये हुए है—

तुम पठार के रास्ते पर चलते हो
नुकीले पत्थर जब पैरों को छीलने लग जाते हैं
तब मखमली जूते पहन लेते हो
तुम दो घोड़ों पर एक साथ चलते हो
इसलिये यह युग तुम्हारे लिये भी अच्छा है
हमारे लिए भी अच्छा है।

लेकिन वैसे दोनो घोड़ों पर सवार रहने वाला व्यक्ति तो कष्ट ही पाता है। मुनिश्री ने आचार्यश्री को दो घोड़ो का सवार बताया—उचित नहीं जान पड़ता। फिर भी आचार्य तुलसी महान् स्वप्न-द्रष्टा है। उन्होने अपने सघ एवं साधुओ के जीवन-निर्माण की जो कल्पनाएँ कीं, वे आज मूर्त्त-रूप मे दिखायी दे रही है।

मुनिश्री ने वर्तमान शिक्षा और जनतन्त्र मे वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के प्रति जो विचार व्यक्त किये है वे उनके शिक्षा-जगत के प्रति पूर्ण ज्ञान का परिचायक है। उन्होने वर्तमान शिक्षा-प्रणाली की आलोचना ही नहीं की है किन्तु उसके सुधार के भी कुछ सुझाव दिये है। जिस शिक्षा से जीवन का निर्माण नहीं हो सके तथा जो उसे स्वावलम्बी एवं कर्त्तव्य-परायण नहीं बना सके—उस शिक्षा ने फिर लाभ ही क्या है? शिक्षा मे आमूल परिवर्तन करने मे ही देश का कल्याण है।

मुनिश्री नारी को ममता, करुणाशीलता, मातृत्व एव समर्पण की भावना का मूर्त्त-रूप मानते है। स्त्री होना कोई अभिशाप नहीं है। भगवान महावीर ने भी स्त्री के लिये धर्म-चर्चा और तत्त्व-चर्चा का द्वार खोल दिया था। फिर उसके जीवन की कितनी उपादेयता एवं सार्थकता है इसका प्रत्येक व्यक्ति को आभास होना चाहिये।

इस प्रकार मुनिश्री नथमलजी ने विभिन्न विषयो पर जो अपने विचार जन-सामान्य के समक्ष रखे है, वे अत्यधिक मौलिक है और उनसे कितने ही नवीन तथ्यों की जानकारी मिलती है। मुनिश्री की एक और विशेषता है और वह है अपने विचारो को सरल उदाहरणो एवं कहानियों के माध्यम से प्रस्तुत करना—इसमे वे पूर्ण सफल हुए हैं। वे चिन्तक है तथा गूढ विचारक हैं। वे गूढ-से-गूढ विषय को इतना अधिक खोल देते है कि श्रोता एव पाठक को सुनने एवं पढने मे आह्लाद का अनुभव होता है।

श्रमण महावीर—एक मूल्यांकन

—डॉ० निजामउद्दीन
एम० ए०, पी-एच० डी०
अध्यक्ष हिन्दी-विभाग इस्लामिया कालेज, श्रीनगर

"धार्मिक व्यक्ति को दोहरा जीवन जीना पड़ता है—एक भौतिक जीवन और दूसरा उसके भीतर छिपा हुआ चेतना का जीवन या आध्यात्मिक जीवन। जो भौतिक व्यक्ति है, वह केवल दृश्य-जीवन जीता है, शारीरिक जीवन जीता है या भौतिक जीवन जीता है। उसे बहुत अधिक गहराई मे जाने की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु आध्यात्मिक व्यक्ति उस भौतिक आवरण को चीर कर और चेतना की गहराई तक पहुँचने का प्रयत्न करता है इसलिये उसे बहुत सूक्ष्म और गहरे तल मे उतरना होता है (चेतना का ऊर्ध्वारोहण, पृ० ७०)। मुनिश्री नथमलजी के उपर्युक्त विचार उनके जीवन पर पूर्णत. चरितार्थ होते है। एक आध्यात्मिक जीवन जीने वाला ज्ञानी पुरुष ही महावीर के जीवन का अन्तस्तलीय अध्ययन प्रस्तुत करने की पूर्ण क्षमता एवं योग्यता रखता है। मुनिवर ने अपनी पुस्तक "श्रमण महावीर" मे भगवान महावीर के जीवन के विविधायामो के मानवीय चित्र अत्यन्त सूक्ष्म तथा रसात्मक शैली मे प्रस्तुत किये है जो पूर्वाग्रह एवं परम्परामुक्त है। ऐसा सरस जीवन-वृत्त पढ़ते हुए मालूम होता है जैसे लेखक ने भगवान महावीर के जीवन को, उनके युग को अपनी आँखों से देखा है। लेखक १०० से अधिक ग्रन्थो के रचयिता है और उनकी आलोच्य पुस्तक एक महत्त्वपूर्ण कृति है जिसका अंग्रेजी भाषा मे भी सुन्दर अनुवाद "मित्र-परिषद, कलकत्ता" द्वारा प्रकाशित हो चुका है। पुस्तक के २७६ पृष्ठो मे भगवान महावीर के जन्म से लेकर निर्वाण-प्राप्ति तक, अनेक प्रसंगो-घटनाओ को ४७ खण्डो मे विभक्त किया गया है। पुस्तक मे कुल ३६० पृष्ठ है और इसका प्रकाशन १९७४ मे किया गया। उनके रचनात्मक, धार्मिक, दार्शनिक अवदान को दृष्टि मे रखते हुए आचार्य श्री तुलसी ने उन्हें अपना सुयोग्य उत्तराधिकारी घोषित कर 'युवाचार्य महाप्रज्ञ' की उपाधि से सुशोभित किया।

'महाप्रज्ञ' मुनिवर ने पुस्तक के 'स्व-कथ्य' मे आयारो, आयारचूला, कल्पसूत्र (जीवन-वृत्त) भगवती-सूत्र, उवास-गदसाओ, नायधम्मकहाओ, सूयाडो, (जीवन-वृत्त और तत्त्वदर्शन), आचारागचूर्णि, आवश्यकचूर्णि, आवश्य-निर्युक्ति, उत्तरपुराण, चउवन्न महापुरिसचरियं, त्रिषष्टिशलाका पुरुष-चरित्र आदि ग्रन्थो से प्रामाणिक जीवन-वृत्त-विषयक प्रचुर सामग्री से मनचाहा लाभ उठाया है। इस बिखरी सामग्री को सुव्यवस्थित और पल्लवित किया है। लेखक ने भगवान महावीर के उपदेशो, सदेशो तथा सिद्धान्तो को रोचक घटनाओ, रसाप्यायित प्रसंगो से जोडकर अधिक ग्राह्य तथा प्रभविष्णु बनाया है। अपनी इस शैली को ऋणी माना है उन्होने बौद्ध साहित्य का, जिसमे भगवान बुद्ध की वाणी को घटनाओं-प्रसंगो मे शृंखलाबद्ध किया गया है। हिन्दी मे जीवन-वृत्त रचने की यह नवीन शैली है जिसे लेखक ने विविध रंगो से अनुरंजित कर एक चित्र-शाला बना दिया है। पुस्तक मे जादू-टोना, दैवी-घटनाओ, अति प्राकृतिक तत्त्वो, योगशक्तियो का यत्र-तत्र अभिनिवेश युगानुकूल है। महावीर से सम्बद्ध प्रसंग भी चामत्कारिक है जिनसे उनका पौरुषमय एवं ज्ञानमय व्यक्तित्व और अधिक प्रखर तथा तेजवत हो उठा है।

लेखक ने जहाँ त्रिशला के स्वप्नों का वर्णन किया है वहाँ दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो परम्परानुमोदित क्रमश १६ और १४ स्वप्नो को फुटनोट मे दिया है, परन्तु उनका वर्णन करते हुए उनकी संख्या १७ तक पहुँचा दी।[1] यह १७ की स्वप्न-शृंखला किस परम्परानुकूल है ? दूसरे, लेखक ने इस स्वप्न-शृङ्खला के भेद के कोई मनोवैज्ञानिक कारण भी नहीं व्यक्त किये। इस मत-वैभिन्न्य का कारण अस्पष्ट रह गया। श्वेताम्बरीय परम्परा मे जहाँ 'श्री-अभिषेक' लिखा है वहाँ आचार्य तुलसी ने 'लक्ष्मी' लिखा है।[2] एक ही परम्परा तथा सम्प्रदाय में यह भेद कैसा ? ऐसा ही मतभेद महावीर की जन्मतिथि को लेकर है। यहाँ उनको जन्म-तिथि चैत्र शुक्ला त्रयोदशी (३० मार्च ५९९ ई० पू०) दी गई है, मुनिश्री विद्यानन्दजी आदि जो दिगम्बरीय परम्परानुयायी है उन्होने चैत्र शुक्ला त्रयोदशी (२७ मार्च ५९८ ई० पू०) मानी है। अच्छा होता यदि पुस्तक मे इस प्रकार के मतभेदों को दृष्टि मे रखा जाता क्योंकि महावीर के जीवन की कई एक घटनाओ पर अद्यावधि मतभेद बना हुआ है। लेखक ने महावीर-युगीन धार्मिक, राजनीतिक वातावरण का चलता-सा वर्णन किया है।[3] गणतन्त्र की सफलता के लिए जो बातें उल्लिखित है उनकी अर्थवत्ता आज भी स्मरणीय है। सहिष्णुता, वैचारिक उदारता, सापेक्षता, स्वतन्त्रता और एक दूसरे को निकट से समझने की मनोवृत्ति का विकास आवश्यक माना है, इनके अभाव मे गणतत्र की सफलता संदिग्ध है। मैं यह भी शामिल करना चाहूँगा कि राष्ट्रीय एकता के ये मूलाधार है, भावात्मक एकता की ये धुरी है। भारत की वर्तमान विषम राजनीतिक और साम्प्रदायिक स्थिति को इन आदर्शो से सँभाला जा सकता है, बशर्ते कि सच्चे मन से, निःस्वार्थ भाव से इन्हें कार्यान्वित किया जाय। लेखक ने भगवान महावीर के पाँच नामों का उल्लेख तो अवश्य किया है लेकिन उनकी पृष्ठभूमि को स्पष्ट नहीं किया, उनके मनोवैज्ञानिक आधारो को अछूता छोड दिया। भगवान महावीर के महाभिनिष्क्रमण को नये रूप मे देखने का प्रयास किया है—उन्हें 'स्वतन्त्रता का अन्वेषी' माना है। स्वतन्त्रता का अन्वेषी घर, परिवार और वैभव तीनों को विसर्जित कर आगे बढ़ता है। परतंत्रता उसके लिये महापाप है, स्वतंत्रता ही उसके लिए जीवन का ध्येय है। महर्षि मनु के कथन का औचित्य स्वीकारते हुए परतन्त्रता मे दुःख और स्वतन्त्रता मे सुख माना है। राम और महावीर की तुलना मुनि नथमल ने स्वतन्त्रता के आधार पर करके राम को 'कर्मवीर' और महावीर को 'धर्मवीर' माना है। दोनो को भारतीय-संस्कृति के दो पहिए कहा है। राम ने बाह्य शत्रुओ को पराजित किया, महावीर ने अपने आन्तरिक शत्रुओं सस्कारो पर विजय प्राप्त की।

'शरीर धर्म का आद्य-साधन है', यह एक विवादास्पद विषय है। लेखक ने शरीर को अधर्म का आद्य-साधन मानते हुए कहा है कि अधर्म का मूल आसक्ति है जिसका प्रारम्भ शरीर से होता है, लेकिन शरीर को जड मानने पर यह संभव नहीं। जडत्व मे आसक्ति कैसे होगी ? आसक्ति तो चेतन मे होगी। यहाँ यह ध्यातव्य है कि मोह या आसक्ति की अधिकता वर्जित कही जा सकती है, बिना मोह, आसक्ति या प्रेम-ममत्व के, अपनेपन की भावना के (इसमें भी मोह है) कोई दूसरे की सेवा-सहायता क्या करेगा ? तरस खाकर, करुणा दर्शाकर कौन हमदर्दी दिखलायेगा ? हमारी सेवा-सहायता, करुणा-दया का कारण दूसरे की दीन दशा है, परन्तु उसके प्रति ममत्व भी तो

१. श्रमण महावीर—मुनि नथमल, पृ० २, ३
२. भगवान महावीर—आचार्य तुलसी, पृ० १६
३ श्रमण महावीर—मुनि नथमल, पृ० ७

है। यह ममत्व, प्रेम, दया त्याज्य नहीं, यह तो पुण्य के आदि स्रोत है। अधर्म, पाप, हिंसा—स्मृति मे माने जा सकते है, स्मृति चेतन है। मनुष्य स्वप्नावस्था मे शरीर से कोई पाप नहीं करता, वहाँ केवल स्मृति ही पाप करती है, कराती है। जागृतावस्था मे शरीर का योग हो सकता है। 'शरीर बेचारा जड है'—कहकर लेखक यह भी कहता है कि शरीर का एक भी अणु ऐसा नहीं है जिसमे चेतना अनुप्रविष्ट न हो।[1] यहाँ एक विरोधाभास है।

"भय से मुक्ति : अभय का आलोक"—मे भय-अभय के प्रसंग मे, शूलपाणि-यक्ष का व भूतप्रेतो का हिंसात्मक व्यवहार, चिर-अर्जित छिपे संस्कार माने है। यह प्रतीक अधिक मान्य नहीं, क्योकि परम्परा-पोषित, चिर-प्रतिष्ठित धारणा यही है कि इस प्रकार के उपसर्ग उन्हें सहन करने पडे, उन्हें प्रतीकार्थ देना हितकर नही। क्या चण्डकौशिक के प्रसंग को कोई प्रतीक-रूप मे ग्रहण कर सकेगा ? रौद्ररस की प्रतिमा दृष्टिविष चण्डकौशिक को अभय और मैत्री की कसौटी माना जा सकता है, उससे चार निष्पत्तियाँ सम्पन्न हुई—(अ) अभय-मैत्री (आ) बाह्य प्रभाव से मुक्ति (इ) क्रूरता का मृदुता मे परिवर्तन (ई) जनता के भय का निवारण। ऐसा माना गया है कि साधना-काल के साढे बारह वर्षो मे भगवान महावीर ४८ मिनट सोये और एक बार दस स्वप्न देखे।[2] इन स्वप्नो के प्रभाव का वर्णन पृ० ६६ पर किया है। लेखक ने तप-काल के उपवासो की तालिका भी दी है।[3] महावीर ने अपने सुदीर्घ साधना-काल मे केवल ३५० दिन भोजन किया। वह शरीर-धारणार्थ ही भोजन करते थे और शरीर-मन के बंधन तोडकर आत्मजगत् मे प्रवेश कर रहे थे। उन्होने सरस-नीरस, ताजा-बासी सभी प्रकार का भोजन ग्रहण किया। उन्होने १६ दिन-रात अबाध रूप से ध्यान-प्रतिमा की साधना की। वह ऊर्ध्व, तिर्यक और अध तीनो प्रकार का ध्यान करते थे। इस प्रकार महावीर की तपश्चर्या का यहाँ अच्छा वर्णन किया गया है।

इन्द्रभूति के प्रसंग मे मुनि नथमल ने मानसिक द्वन्द्व का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। इन्द्रभूति का अह इस प्रकार मुखरित हुआ है—"मुझे कौन नहीं जानता ? मेरे नाम से मालव तक के लोग काँपते है। सौराष्ट्र मे मेरी धाक है। काशी-कोशल के पंडितो का मैंने मान-मर्दन किया है। क्या सूर्य किसी से छिपा है ?"[4] मालूम होता है स्वयं 'अहं' के मुख से ये शब्द निर्गत हुए है। रावण जैसा अहंकारी इस प्रकार की अहं-गर्भित वाणी बोल सकता है। महावीर ने इन्द्रभूति के उस संदेह का निवर्तन किया जो उन्हें जीव के अस्तित्व के बारे मे था। इसी प्रकार अग्निभूति के कर्म के बारे मे सदेह को दूर किया। महावीर ने कैसी महत्त्वपूर्ण बात जीव के अस्तित्व मे कही है—"वर्तमान का अस्तित्व ही अतीत और भविष्य के अस्तित्व का साक्ष्य है। एक परमाणु भी अपने अस्तित्व से च्युत नहीं होता, तब मनुष्य अपने अस्तित्व से च्युत कैसे होगा ? xx यह जीव इन्द्रियातीत सत्य है।"[5] इसी प्रकार अग्नि-भूति की शका का निवारण इस प्रकार किया है—"कर्म और क्या है, क्रिया की प्रतिक्रिया ही तो है।" यहाँ लेखक ने एक सुन्दर बात कही है—शिष्यत्व और तर्कशीलता साथ-साथ नहीं चल सकते। शिष्यत्व के साथ तर्क से अधिक जिज्ञासा होना परम हितकर है।

---

१. श्रमण महावीर, पृ० ७५
२ वही पृ० ४८
३ वही पृ० ५०-५१
४ श्रमण महावीर, पृ० ६७
५ वही पृ० ६७

भगवान महावीर ने अपने समवसरण मे ज्ञान-त्रिपथगा यह कहकर प्रवाहित की—"उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य"। अर्थात् पदार्थ उत्पन्न होता है, वह विनाश को प्राप्त होता है—वह उत्पाद-व्यय धर्मा है, परिवर्तनशील है, परन्तु ध्रौव्य भी है। परमाणु ध्रुव है। लेखक ने इनका अति संक्षिप्त वर्णन किया है। ये तीन शब्द असीम गम्भीर अर्थ रखते है, महावीर का दर्शन इन पर काफी आधारित है। इनकी विशद व्याख्या अपेक्षित थी क्योंकि इन्हीं को आधार मानकर गणधरों ने बारह सूत्रो—द्वादशाग की रचना की।

महावीर ने 'संघ-व्यवस्था' का मूलाधार माना है—अहिंसा, स्वतंत्रता और सापेक्षता का दृष्टिकोण। व्यवस्था की दृष्टि मे उन्होने अपने गणो के नेतृत्व को सात इकाइयो मे विभक्त किया है—आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, प्रवर्तक, गणी, गणधर, गणावच्छेदक। संघीय व्यवस्था के लिये दिनचर्या, वस्त्र, भोजन, विहार, पात्र, अभिवादन, सामुदायिकता, सेवा पर अच्छा प्रकाश डाला है। यह मानने मे किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिये कि संघीय नेतृत्व का इतना सम्यक्-विकास किसी अन्य धर्म-परम्परा मे उपलब्ध नहीं। परिग्रह के मुख्य दो प्रकार—शरीर और वस्तु का स्पष्ट वर्णन है। परन्तु यह कारण स्पष्ट नहीं किया कि श्वेताम्बर-परम्परा मे वस्त्र-परिग्रह का उत्तरोत्तर विकास कैसे होता गया, यहाँ साधु के परिग्रह को ही लक्षित किया गया है। इसी प्रसंग मे 'अभिवादन' को लेकर यह कहा गया है कि उस समय लोकमान्यतानुसार पुरुष का प्राधान्य था। धर्म-प्रवर्तक पुरुष है, धर्मोपदेश पुरुष है, पुरुष ज्येष्ठ है और लौकिक पथ मे भी पुरुष प्रभु होता है। भगवान बुद्ध ने स्त्रियों के अभिवादन की मनाही की और ऐसा करने को 'दुक्कट का दोष' माना।[1] महावीर ने साधु-साध्वियो के परस्पर अभिवादन का कोई निर्देश नहीं दिया, लेकिन उत्तरवर्ती साहित्य मे 'सौ वर्ष की दीक्षित साध्वी आज के दीक्षित साधु को वन्दना करे।' अर्थात् साधु-साध्वी का दीक्षा-पर्याय छोटा या ज्येष्ठ होने पर अभिवादन करना मान्य है, परन्तु परस्पर वे एक दूसरे को कैसे अभिवादन करें, यह स्पष्ट नहीं किया। इस गुत्थी को लेखक नहीं सुलझा सका। अनजान, अपरिचित साधु-साध्वी का दीक्षा-पर्याय कैसे बिना बातचीत के मालूम हो सकता है? यह अच्छी बात है कि महावीर ने साधक को संघ मे रहकर या संघ से बाहर एकाकी साधना करने की छूट दी है।

'अतीत का सिंहावलोकन' में उन विशेष उपलब्धियों एवं उद्देश्यो की चर्चा की है जिनका लक्ष्य महावीर के साधना-काल मे था—(१) क्षत्रियो और ब्राह्मणों की प्रतिद्वन्द्विता समाप्त कर, उनमे एकता की स्थापना करना (२) १७५ दिन भोजन न करने पर अन्ततोगत्वा चन्दनबाला से मधुकरी ग्रहण कर नारी-जाति का पुनरुत्थान (३) दास-प्रथा का विरोध, समता-धर्म की प्रतिष्ठापना (४) चण्डकौशिक के डसने पर विषमता के आसन पर समता की स्थापना, हिंसा पर अहिंसा की, क्रोध पर प्रेम की विजय (५) ध्यान के साथ तप मिलाकर एकाग्रता की वेदी पर समन्वय (६) अहिंसा और सापेक्षता को जनता तक पहुँचाने के लिये संघ-निर्माण की आवश्यकता (७) महावीर द्वारा भविष्य-वाणी करना (८) नियतिवाद में आस्था (९) योग-शक्ति का प्रयोग। पुस्तक मे भगवान महावीर द्वारा की गई भविष्यवाणी का कई बार वर्णन हुआ है। सम्राट श्रेणिक के पुत्र मेघकुमार को कहा कि वह पूर्व-जन्म मे हाथी था (पृ० १९३)। इस प्रकार भगवान महावीर भूत, भविष्य, वर्तमान सभी के ज्ञाता थे। गोशालक को बतलाया कि अमुक तिलका पौधा नहीं फलेगा और वह भविष्य-वाणी सच निकली।[2] एक बार उन्होने गोशालकको

---

१ श्रमण महावीर, पृ० ११०

२ श्रमण महावीर, पृ० १२३

अपने बारे मे बतलाया कि वह १६ वर्षो तक जीवित रहेंगे।[1] यौगिक शक्तियो का प्रयोग महावीर भी करते थे। गोशालक पर फेंकी गई 'तेजोलब्धि' को रोकने, उसे हतप्रभ करने के लिए महावीर ने 'शीत तेजोलब्धि' नामक योगशक्ति का प्रयोग किया। महावीर ने गोशालक को 'अतीन्द्रिय-ज्ञान' का थोडा परिचय तथा आन्तरिक शक्ति के रहस्य सिखाये।

'क्रान्ति का सिंहनाद' पुस्तक का सबसे लम्बा (पृ० १३५ से १६६ तक) और महत्त्वपूर्ण अध्याय है। इसमे लेखक ने (१) जातिवाद (२) साधुत्व-वेश और परम्परा (३) सम्प्रदाय (४) धर्म और वाम-मार्ग (५) साधना-पथ का समन्वय (६) जनता की भाषा जनता के लिए (७) करुणा और शाकाहार (८) यज्ञ-समर्थन या रूपान्तरण (९) युद्ध और अनाक्रमण (१०) असंग्रह-आन्दोलन। इन सभी की चर्चा आधुनिक सन्दर्भ मे विशदता से की है। "महावीर का युग" जातिवाद और मतवाद के प्रभुत्व का युग था और नि सदेह हमारे युग मे भी इनके प्रभुत्व के दर्शन होते हैं। महावीर ने लोगो से कहा—कोई भी निर्ग्रन्थ किसी को गोत्र से सम्बन्धित न करे, क्योकि गोत्र मनुष्य के शरीर पर केंचुली है, इससे मनुष्य अधा हो जाता है, इसके टूटने पर ही वह देख सकता है। उनके धर्म-संघ मे दीक्षित होने पर न कोई सम्राट रहता है और न कोई नौकर, वे बाहरी उपाधियो से मुक्त होकर उस लोक मे पहुँच जाते हैं जहाँ सब सम है, कोई विषम नहीं।[2] उर्दू कवि डॉ० इकबाल ने भी जातीय एकता को लक्ष्य कर कहा—

एक ही सफ में खडे हो गये महमूदो अयाज
न कोई बन्दा रहा और न कोई बन्दा नवाज

आत्मा मे समता की स्थापना होने पर सम्राट और नौकर की विस्मृति हो जाती है, अहं का परिशोधन हो जाता है। जाति का चाण्डाल हरिकेशी महावीर के धर्मसंघ मे दीक्षित होने पर मुनि हो गया था। लेखक ने महावीर की बातो को कहीं-कहीं बहुत ही संक्षिप्त, नाटकीय शैली मे भी व्यक्त किया है। एक स्थान पर महावीर का कथन है—"श्रमण होता है समता से, ब्राह्मण होता है ब्रह्मचर्य से, मुनि होता है ज्ञान से और साधु उसे कहते हैं जो ज्ञान और दर्शन मे सम्पन्न हो, संयम और तप मे रहे। महावीर ने भिक्षु या गृहस्थ की श्रेष्ठता के स्थान पर संयम को श्रेष्ठ माना। 'संयम-रत ही श्रेष्ठ है।' धर्म और सम्प्रदाय के भेद को स्पष्ट करते हुए कहा—धर्म दीपक की लौ है, सम्प्रदाय उसका पात्र है। धर्म चैतन्य है, सम्प्रदाय उसको अभिव्यक्ति देने वाली भाषा है।[3] महावीर ने अहिंसा को शाश्वत-धर्म मानकर, मासाहार को पूर्णत निषिद्ध घोषित किया। अहिंसा या निरामिष की घोषणा संभवत जैन-धर्म मे ही सबसे प्राचीन है, वैदिक-धर्म मे मासाहार था, बौद्ध-धर्म के अनुयायी भी मासाहारी थे। इस प्रकार महावीर की यह—धर्म को, विश्व-धर्म को, विश्व-सस्कृति को परमोज्ज्वल देन है।

यहाँ युद्ध तथा आक्रमण को लेकर भी चर्चा की है। आक्रमण मे पहल नहीं करनी चाहिए, लेकिन प्रत्याक्रमण का, आक्रमण के प्रतिरोध का निषेध भी नहीं किया। मानवीय हितो के विरुद्ध अभियान को न रोकना कायरता है।[4] यहाँ नि शस्त्रीकरण तथा सह-अस्तित्व की नीति पर भी प्रकाश डाला गया है। इनके द्वारा समत्व की अनुभूति होती है और मैत्री-भाव का प्रादुर्भाव होता है। नि शस्त्रीकरण की समस्या आज कितनी महत्त्वपूर्ण है, यह किसी

---

१ श्रमण महावीर, पृ० २६८
२. वही पृ० १३८
३ श्रमण महावीर, पृ० १३८
४ वही पृ० १६१

से छिपा नहीं। नि शस्त्रीकरण की आधार-भित्तियाँ तीन मानी गई है—(१) शस्त्रों का अव्यापार (२) शस्त्रों का अवितरण (३) शस्त्रों का अल्पीकरण। युद्धाक्रान्त विश्व के लिये यह सिद्धान्त आज काफी उपयोगी है। इससे तृतीय विश्व-युद्ध के प्रलयंकारी मेघ छितराये जा सकते हैं।

परिग्रह को लेखक ने आज के युग की मूल समस्या माना है और एक अच्छी बात यह कही कि जो अपरिग्रह का आचरण नहीं करता वह धर्म का आचरण नहीं करता।[1] वस्तुत अपरिग्रह को धर्माचरण मानकर चलना समाज के के लिए परम उपयोगी है। परिग्रह लौकिक भाषा मे अर्थ एवं वस्तुओं के सग्रह पर अवलम्बित है। मिलावट, नाप-तौल मे कमी, नकली वस्तु का प्रचार, दूसरों की जीविका छीनना या श्रमिको से अधिक काम लेकर मजदूरी कम देना परिग्रह ही है। असंग्रह या अपरिग्रह को आन्दोलन के रूप में चलाना चाहिए, लेकिन इसे अहिंसा-आन्दोलन का ही एक अंग मानना श्रेयस्कर है।

मुनिश्री नथमलजी ने महावीर के अनेकान्तवाद के सिद्धान्त को सापेक्षवाद और सह-अस्तित्व से जोडकर मैत्री, अभय तथा सहिष्णुता के तीन समतामय आयामो के धरातल पर अभिव्यंजित किया है। मुनिश्री ने बात-बात मे जैन-दर्शन की गहन, सूक्ष्म गुत्थियो को सुलझाने का अच्छा प्रयास किया है। 'मुक्तमानस मुक्तद्वार' मे पचास्तिकाय का निरूपण है। दर्शन की यह चर्चा जटिल नहीं।[2]

महावीर को सर्वज्ञ, सर्वदर्शी मानते हुए उन्हें विचार और व्यवहार दोनों दृष्टियो से समन्वयवादी माना है। उन्होंने समन्वय के बोध को सत्य का बोध कहा है। उनका समन्वय वस्तु-जगत् के धरातल पर बौद्धिक है और प्राणी-जगत् के धरातल पर अहिंसक है। इसी आधार पर उन्होने दूसरे मतवादों, सिद्धान्तों को समन्वित करने की चेष्टा की, वेदान्त का अद्वैतवाद जैन-दर्शन का 'संग्रह-नय' है, चार्वाक के भौतिक दृष्टिकोण को जैन-दर्शन का 'व्यवहार-नय' माना है, बौद्धों का पर्यायवाद जैन-दर्शन का 'ऋजुसूत्र-नय' है, वैयाकरणो का शब्दाद्वैत, जैन-दर्शन का शब्द 'नय' है। इस प्रकार जैन-दर्शन ने विभिन्न दृष्टिकोणों की सत्यता स्वीकृत की और उन्हें समन्वय के सूत्र मे अनुस्यूत करने की कोशिश की। महावीर को अस्तित्ववादी मानकर भी अद्वैत और द्वैतवादी से पृथक नही माना। उनकी अहिंसा अभेदानुभूति के आधार पर अस्तित्ववाद के निकट ही है, उससे पृथक नहीं। व्यक्तित्व के धरातल पर महावीर 'संघ-शास्ता, धर्म-व्याख्याता और पथ-प्रवर्तक है। उनकी जीवन-यात्रा व्यक्तित्व से अस्तित्व की ओर जाती है। यदि हम बुद्ध को 'बहुजन-हिताय' को लेकर चलने वाला मानें तो महावीर को 'सर्वजन-हिताय' को लेकर चलने वाला माना जा सकता है। महावीर ने यह रहस्य भी समझाया कि सत्य, सत्य है, वह किसी व्यक्ति के परिनिरूपण से सत्य नहीं बनता। दूसरे यह भी कि व्यक्ति, व्यक्ति ही नहीं, वह चैतन्य तथा सत्य का आलोक-पुज भी है।

पुस्तक में 'बौद्ध-साहित्य मे महावीर' शीर्षक से जो एक प्रकरण है, उसके विषय-प्रतिपादन मे विशदता, गहनता, ऐतिहासिकता, सामग्री की यथेष्टता नहीं। इस विषय पर बहुत कुछ लिखा जा सकता था और यह पाठको के लिए अधिक ज्ञान-वर्धक भी होता। इतना कहने से कि बौद्ध-पिटकों मे महावीर की कटु आलोचना की गई या महावीर ने मधुकरी-वृत्ति का प्रतिपादन किया जो बौद्धों मे प्रचलित नहीं थी—काफी नहीं, महावीर और बुद्ध दोनो समकालीन थे, उनके युग की, साहित्य की, ज्ञान की, दर्शन की, तुलनात्मक चर्चा अपेक्षित थी।

---

१. श्रमण महावीर, पृ० १६७

२. श्रमण महावीर, पृ० २११-२१३

'निर्वाण' नामक प्रकरण मे लेखक ने स्वास्थ्य के तीन लक्षण बतलाये है—(क) अहार-सयम, (ख) शरीर और आत्मा के भेद-विज्ञान की सिद्धि (ग) राग-द्वेष ग्रन्थि का विमोचन। इन लक्षणो के आधार पर शारीरिक और मानसिक दोनो ही प्रकार के रोगो का परिशमन किया जा सकता है। तनाव और बिखराव से अभ्याक्रान्त इस युग मे स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिए इनसे अच्छे और क्या नियम-लक्षण हो सकते है ? पुस्तक के ४८वें प्रकरण 'जीवन का विहंगावलोकन' मे महावीर के कर्तृत्व, तप-ध्यान, मौन, निद्रा, ममत्व-प्रेम, आहार, अध्यात्म आदि पर विभिन्न पुस्तको से उद्धरण सानुवाद दिये है। पाठको के लिए यह उपयोगी सामग्री है।

ग्रन्थ का परिशीलन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि विद्वान लेखक को महावीर के युग की विभिन्न प्रकार की सामाजिक समस्याओ का अच्छा ज्ञान है। अनेक स्थानो पर, भिन्न-भिन्न प्रकरणो मे तत्-युगीन रीति-रिवाजो, प्रथाओ आदि पर सम्यक् प्रकाश डाला गया है। इनसे हमे तत्कालीन संस्कृति का भी ज्ञान प्राप्त हो जाता है। उन दिनो दास-प्रथा का जोर था, इसका ब्योरा चन्दना के प्रसंग[1] मे मिलता है। इसके अतिरिक्त एक बार राजकुमार महावीर उद्यान-क्रीडा को जा रहे थे तो उन्हें एक दास का करुण-क्रन्दन सुनाई पडा जिसे उसका स्वामी पीट रहा था[2]। दूसरे, उस समय नौका-विहार किया जाता था। स्वयं महावीर ने कई बार गंगा, नौका द्वारा पार की[3]। इससे ज्ञात होता है कि नौका बनाने की कला, नौका-विहार करने की रुचि उन दिनो लोगो मे कितनी अधिक थी। एक प्रसग आदिवासी जाति के विषय मे आया है जिसमे वर्णित है कि आदिवासी घास के प्रावरण ओढते थे, कपास नहीं होती थी, भोजन घी-तेल रहित प्रयोग करते थे, भोजन मे अम्लरस के साथ ठंडा भात खाते थे, नमक नहीं होता था, मध्याह्न के भोजन मे रूखे चावल और मास खाया जाता था। गाली देना, मारपीट करना उनमे साधारण बात थी।[4] बहुपत्नी-विवाह उस दिनो प्रचलित था। जलाशय का पानी पिया जाता था, परन्तु महावीर ने उसका निषेध किया। चोरी करने की बुरी आदत भी उस युग मे थी। वारिषेण के राजगृह मे 'विद्युत्' नामक चोर का उल्लेख किया गया है। वह छद्मवेष धारण कर अन्त पुर से हार चुरा कर भाग गया था।[5] यहीं इस बात का भी पता चला कि नगर-वधू या वेश्यावृत्ति भी उस युग मे पाई जाती थी। धर्म-परिवर्तन भी उन दिनो लोग करते थे। वह युग जादू-टोने, चमत्कारी क्रियाएँ करने, भविष्यवाणी करने, योग-शक्ति का प्रदर्शन करने के लिए भी प्रसिद्ध था। तस्कर रोहिणेय के पास गगन-गामिनी पादुकाएँ थी और वह रूप-परिवर्तिनी-विद्या जानता था।[6] उसने शालग्राम की जनता पर जादू भी कर रखा था।[7] गोशालक ने अपने तप-तेज से महावीर के दो साधुओ को भस्म कर दिया था।[8] वैश्यायन तपस्वी ने गोशालक पर तैजस शक्ति का प्रयोग किया। महावीर भी योग-शक्तियों के परम ज्ञाता तथा प्रयोक्ता थे।[9]

पुस्तक मे सभी प्रकार की बातें, किसी प्रसंग, घटना, कथा से सम्बद्ध है। कुछेक प्रसंग तथा कथाएँ बडी ही

---

१ श्रमण महावीर, पृ० ८५
२ वही पृ० १६
३. वही पृ० ३५, ७१।
४ वही पृ० ४६
५. वही पृ० २५०
६. श्रमण महावीर, पृ० २५३
७. वही पृ० २५५
८. वही पृ० २६८
९ वही पृ० २६८

रोमाचकारी है । इनमे मेघकुमार के पूर्व-भवो का वर्णन[1], वारिषेण का चोरी के अपराध मे वध का प्रयत्न[2] गोशालक द्वारा लालची व्यक्तियो की कथा[3], आदि उल्लेखनीय है । इनसे उस युग की चमत्कार-प्रियता का, अति प्राकृतिक तत्त्वो मे आस्था का पता भी चलता है ।

मुनि नथमलजी प्रकृति के पुजारी है । उन्होने 'श्रमण महावीर' मे कई-एक स्थानो पर प्रकृति की सुषमा का भिन्न-भिन्न रूपों में चित्रण किया है । यहाँ एक-दो चित्रो को प्रस्तुत करना न्याय-सगत होगा । सन्ध्या का वर्णन करते हुए लेखक कहता है —"सूरज पश्चिम की घाटियों के पार पहुँच चुका था । रात ने अपनी बाहें फैला दीं । तमस् ने भूमि के मुँह पर श्यामल घूघट डाल दिया" (पृ० २५) । प्रात काल का वर्णन देखिए—"नवोदित सूर्य की रश्मियाँ व्योमतल मे तैरती हुई धरती पर आ रही है । तिमिर का सघन आवरण खण्ड-खण्ड होकर शीर्ण हो रहा है " पृ० ८२ । वर्षा के एक-दो चित्र भी अवलोकनीय नही (पृ० २६, १६५) ।

'श्रमण महावीर' की भाषा प्रसाद-गुण से युक्त अत्यन्त प्राञ्जल है । वह भावों की परतो को खोलने मे सक्षम है । लेखक ने यथावश्यक अन्य ग्रन्थों से उद्धरण भी दिये है और एक-दो स्थानो पर गीतों की योजना भी दर्शनीय है । इससे ज्ञात होता है कि लेखक को कवि-हृदय प्राप्त है, तभी तो इस ग्रन्थ की भाषा मे कवित्वमय शैली के दर्शन होते है । लेखक ने दार्शनिक शब्दावली के अतिरिक्त कुछ अप्रचलित शब्दो का प्रयोग भी इस पुस्तक मे किया है जैसे 'सद्यस्क', 'कजावा', 'शकटिका', 'हलद्दुक' आदि । कुछेक सूक्तियाँ अवश्य सुन्दर है और मुहावरे के रूप मे प्रयुक्त होने की क्षमता रखती है । कुछ सूक्तियाँ यहाँ उद्धृत करने का लोभसवरण नही कर पा रहा हूँ—

१. 'धर्म का क्षेत्र अस्तित्व का क्षेत्र है' (पृ० २२१) ।

२. 'प्रवृत्ति के सत् या असत् होने का मानदण्ड मन है' (पृ० २४२) ।

३ 'वेश व्यक्ति की आन्तरिक भावना का प्रतिबिम्ब है' (पृ० १४५) ।

४. 'धर्म की ज्योति सम्प्रदाय की राख को ढक जाती है' (पृ० १४५) ।

पुस्तक के अन्त मे दिये गये ६ परिशिष्ट भी पाठको के लिए उपयोगी है । इनमे महावीर के जीवन की कुछ विशेष बातें परिशिष्ट हैं । इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का व्यापक आदर और प्रसार होगा, ऐसा विश्वास है ।

✪

---

१. श्रमण महवीर पृ० १९३

२ वही पृ० २५१

३. वही पृ० २६५

आत्म-साधना के मर्मज्ञ : महाप्रज्ञ

('महावीर की साधना का रहस्य' के परिप्रेक्ष्य में)

—डॉ० प्रेम सुमन जैन
अध्यक्ष जैन-विद्या एवं प्राकृत-विभाग,
उदयपुर-विश्वविद्यालय

जैन-दर्शन मे साधना के विभिन्न रूप वर्णित है। उन सबका लक्ष्य आत्म-स्वरूप की उपलब्धि करना है। साधक आत्म-साधना मे जितना गहरा उतरेगा उसकी स्वानुभूति उतनी ही यथार्थ होगी। 'स्व०' एवं 'पर' की पहचान उसे कठिन नहीं रहेगी। भगवान महावीर ने अपनी तपस्या का अधिकाश समय आत्म-साधना मे ही व्यतीत किया था। साधना के कई रहस्यों से उनका साक्षात्कार था। साधना की वे पद्धतियाँ एवं उपलब्धियाँ समय के अन्तराल मे धूमिल हो गयी थीं, उन्हें प्रकाश मे लाने का कार्य कोई आत्म-साधक ही कर सकता था। महाप्रज्ञ उन आत्म-साधकों मे प्रमुख है। उन्होने 'महावीर की साधना का रहस्य' नामक इस समीक्ष्य पुस्तक मे ऐसे कई तथ्य उद्घाटित किये है जो सामान्य श्रावक व पाठक के लिए अज्ञात थे।

साधना : चित्त की अखण्डता

साधना की कई दुरूह परिभाषाएँ शास्त्रो मे वर्णित है। सामान्य जन के लिए साधना की बात सोचना कठिन लगता है। किन्तु महाप्रज्ञ ने साधना के स्वरूप का इतना सरल विवेचन किया है कि व्यक्ति हर धरातल से साधना के पथ पर बढ सकता है। महाप्रज्ञ का कथन है कि—

'जिनका मन एकाग्रता के बिन्दु पर नहीं पहुँचा है, वे सब लोग खण्डित जीवन जीते है। समग्रता का जीवन वे ही जी सकते है, जिन्होने एकाग्रता की साधना की है। यदि मुझसे कोई पूछे कि साधना की परिभाषा क्या है, मैं इसका सीधा और सरल उत्तर दूँगा कि साधना की परिभाषा है—चित्त की अखण्डता का अभ्यास। खण्ड-खण्ड मे बँटे हुए चित्त को जोडकर अखण्ड कर लेना ही साधना है। चित्त की अखण्डता, आत्म-साधक के लिए ही आवश्यक नहीं है, उन सबके लिए आवश्यक है जो कला, शिल्प, गणित, अनुसंधान या किसी भी विषय मे सफलता के शिखर पर पहुँचना चाहते है।'

चित्त की अखण्डता अथवा लक्ष्य के प्रति एकाग्रता प्राप्त करने के अनेक साधन हैं। कोई एकान्त द्वारा इसे पाता है तो कोई तप द्वारा पाना चाहता है किन्तु महाप्रज्ञ का अनुभव है कि चित्त की अखण्डता के लिए हमे कुछ करना नहीं है। शक्ति के अपव्यय से अखण्डता नहीं आती। आँख फोड लेने से गलत वस्तुएँ दिखना बन्द नही हो जातीं। हमे मन की आँख की दिशा बदलनी होगी। अत साधना का दूसरा सूत्र है—दिशा का परिवर्तन, सम्यग्दृष्टि की उपलब्धि।

जागरिका : सत् से साक्षात्कार

साधना के क्षेत्र मे सुषुप्ति एवं जागृति की बहुत चर्चा होती है। इन्हें चेतना की बहिर्मुखता एवं अन्तर्मुखता भी कहा गया है। महाप्रज्ञ ने भगवान महावीर के साधना-काल के कई उदाहरण देते हुए जागरिका के स्वरूप को स्पष्ट किया है। आपने सम्यक्-दर्शन के लिए जागरिका शब्द का प्रयोग किया है। महाप्रज्ञ का कथन है कि—

साधना के क्षेत्र मे जागृति वहीं से होती है, जहाँ शरीर और आत्मा इन दोनो का भेद-ज्ञान हो जाता है। जब तक इनका भेद-ज्ञान नहीं होता, जागृति नहीं होती। चैतन्य-द्रव्य की अन्य द्रव्यो से पृथक प्रतीति होना सम्यक्-दर्शन है। अत आत्मा के प्रति सम्पूर्ण जागरण ही जागरिका है। इसी से शरीर, प्राण, मन आदि सभी पदार्थों का सही ज्ञान हो सकता है, जो साधना के लिए अपरिहार्य है।

शरीर : शक्ति का स्रोत

आत्म-साधना के लिए जिन साधनों का प्रयोग होता है उनमें शरीर प्रमुख है। शरीर के सम्बन्ध मे जो प्रचलित भ्रांतियाँ हैं उनका निराकरण महाप्रज्ञ ने उक्त पुस्तक मे किया है। भगवान महावीर के कथन का उद्धरण देते हुए वे कहते हैं कि जिन द्वारो से कर्म और बन्धन आते हैं उन्हीं द्वारो से मुक्ति भी आती है। शरीर अनित्य, अशुद्ध आदि दोषो से युक्त होता हुआ भी शक्ति का अनन्त स्रोत है। आत्मा का यह मंदिर है। शरीर मे ऐसे कई केन्द्र हैं, जिनको जाग्रत करने से आनन्द का अनुभव हो सकता है। तपस्या करने का प्रमुख उद्देश्य यही है कि हम अपनी शक्ति का सही उपयोग करना सीख जायें। स्थूल शरीर एवं सूक्ष्म शरीर की सही जानकारी प्राप्त करने से ही काया का संवर हो सकता है। अत साधना द्वारा स्थूल शरीर का सवर कर, सूक्ष्म शरीर को जागृत कर, आत्मा के अस्तित्व तक पहुँचा जा सकता है।

आत्मोपलब्धि : संवर तरह-तरह के

महाप्रज्ञ ने प्रस्तुत कृति मे भारतीय साधना-पद्धति का तुलनात्मक मूल्यांकन किया है। आत्मोपलब्धि के लिये अनेक साधन अपनाए जाते है। आसन, प्राणायाम, आत्म-दर्शन आदि अनेक उपायो मे मन की शान्ति खोजने का प्रयत्न होता है। श्वास-संवर का मतलब है—शरीर को तनाव से मुक्त रखना। श्वास की कमी मे कषायो की कमी निश्चित है। कायोत्सर्ग श्वास-सवर के लिए उत्तम साधन है।

इन्द्रिय-सवर बहुत सूक्ष्म दृष्टिकोण होने पर किया जा सकता है। इन्द्रियों से विषयो को ग्रहण न करने से साधना पूरी नहीं हो सकती। इन्द्रियो मे विषयो का अग्रहण थोडे समय के लिए हो सकता है। अत अग्रहण का दूसरा विकल्प है—विषयों के प्रति अनासक्ति। अनासक्ति तभी हो सकती है जब हम विषयों के सही स्वरूप और उनके परिणामों से परिचित हों। वाक्-संवर से मौन उपलब्ध होता है। मौन से विचारो का विसर्जन होता है। विचारो के विसर्जन मे मन की एकाग्रता बढती है, जो साधना के लिए दृढ आधार है।

अस्तित्व-बोध : विवेक-जागरण

साधना के लिए व्यक्ति के चरित्र-निर्माण की प्रक्रिया को भी समझना आवश्यक है। व्यक्ति का चरित्र तीन स्तरो पर विकसित होता है। भय एव प्रलोभन के वशीभूत होकर व्यक्ति कई कार्यों मे प्रवृत्त हो जाता है। धर्म एवं

धर्म के प्रति कई लोगों का आचरण भय और प्रलोभन के कारण ही होता है। दूसरे स्तर के लोग दायित्व-बोध के कारण अपने आचरण को विकसित करते हैं, तथा तीसरे स्तर का व्यक्ति अस्तित्व-बोध के कारण विकसित होता है। उसकी धार्मिक चेतना जागृत होने से उसके आचरण में परिवर्तन आता है। इसे विवेक-जागरण भी कह सकते है। साधना के द्वारा इसी विवेक को जागृत करने का प्रयत्न होता है। आत्मा के अस्तित्व की अनुभूति एवं उसके गुणों का स्पष्टीकरण ही साधना का सही फल है।

लेखक महाप्रज्ञ ने इस पुस्तक में ध्यान के कई प्रयोगों की चर्चा की है। 'तप एवं चरित्र-समाधि' की व्याख्या द्वारा महावीर की साधना के कई रहस्य इसमें उद्घाटित हुए हैं। अत पुस्तक अपने नाम को सार्थक करती है एवं पुस्तक में लेखक महाप्रज्ञ का समग्र साधक-जीवन उसमें प्रतिबिम्बित होता है। साधना जैसे गूढ विषय को इतनी सरल शैली में प्रस्तुत करना महाप्रज्ञ जैसे साधक द्वारा ही सम्भव है।

महाप्रज्ञ का प्रेक्षा-योग

('मन के जीते जीत' के परिप्रेक्ष्य में)

—डॉ० प्रभाकर माचवे
निदेशक . भारतीय भाषा-परिषद
कलकत्ता

युवाचार्य महाप्रज्ञ मुनि नथमलजी मे मेरा परिचय और स्नेह अब दो दशको मे ऊपर का है। जब दिल्ली मे था तो आचार्य तुलसी और उनकी शिष्य-मंडली के कार्यक्रम मैं सुनता, उनमे भाग भी लेता था। कई बार महाप्रज्ञ ने अकादेमी के दिल्ली-स्थित कार्यालय मे और इन पंक्तियों के लेखक के घर पर भी पधारने की कृपा की। उनसे नीति-शास्त्र और दर्शन पर कई बार बहस भी हुई, और उनसे बहुत कुछ सीखा। ऐसे महान साधक और शतावधानी व्यक्ति के लिए प्राकृत के विद्वान प्रो० दलसुख भाई मालवणिया ने ठीक ही कहा है—"जैन-संघ में संयम की साधना विविध प्रकार से होती है। किन्तु इस साधना मे जो ध्यान-साधना की कमी थी और जो प्राय विस्मृत हो चुकी थी, उसका पुनरुत्थान मुनिश्री नथमलजी ने किया है।" डॉ० छगनलाल शास्त्री के अनुसार—"तेरापथ मे एक प्रबुद्ध लेखक के रूप मे युवाचार्य महाप्रज्ञ का अपना गौरवपूर्ण स्थान है। जैन-तत्त्व-दर्शन को आज की भाषा व समीक्षात्मक शैली मे प्रस्तुत करने का अभिप्रेत लिए उन्होंने अपनी लेखनी उठाई, फलत "जैन-दर्शन के मौलिक तत्त्व", "अहिंसा-तत्त्व-दर्शन" जैसे अनेक ग्रन्थ विद्वज्जगत् के सामने आये। विद्यालंकार प्रो० एम० के० रामचन्द्र राव के अनुसार "मुनिश्री नथमलजी का स्वभाव सच्चे अर्थो मैं वैज्ञानिक है। वे विविध आधुनिक वैज्ञानिक खोजों, विशेषत मनोविज्ञान और चिकित्सा-शास्त्र के क्षेत्र की उपलब्धियो को, पौर्वात्य-दर्शन और जन-साधारण की सुगम-बुद्धि के सहज भाव से विश्लेपित करते है।" ये तीनों ही उद्धरण तुलसी-प्रज्ञा', युवाचार्य-विशेषांक (फरवरी-मार्च १९७९) से लिये गये है।

मुनि नथमलजी की पुस्तक 'मन के जीते जीत' मेरे सामने है। इसमे विविध साधना-शिविरो मे हुए अट्ठाईस 'साधना-वाचन' संकलित है। अन्तिम अंश मे २५ पृष्ठ जिज्ञासा के, प्रश्नोत्तर-शैली मे जोड़े गये है, जो बहुत मूल्यवान हैं। यदि ग्रन्थ के अन्त मे शब्दानुसारिणी उपक्रमणिका भी होती तो बडा लाभ होता। इस २७६ पृष्ठ की पुस्तक का मुख्य विषय है प्रेक्षा-योग। मुनि के ही शब्दों मे—

प्रश्न है —"क्या देखने मात्र से अनुप्रेक्षा-कृत कार्य हो जाते है ?"

उत्तर है—"अनुप्रेक्षा मे चार बातें जुडी होती है। पहली बात है कि जो जैसा है, उसे देखो। दूसरी बात है—संकल्प। देख लेने के बाद उसे बदलने के लिए संकल्प का सहारा लो। तीसरी बात है—ध्वनि। और चौथी बात है—भावना। ये चारो बातें जुडकर अनुप्रेक्षा को पूर्ण बनाती हैं।" (पृष्ठ २६८)

मुनि ने सबसे पहले चर्म-चक्षुओं से देखने और उसके मन, चित्त, अहंकार तक की प्रक्रिया को समझाया है।

क्रम-संख्या	जूडो क्यूसोम	ग्लैंड्स	योग-चक्र
१.	तेन्दो	पिनिअल ग्लैण्ड	सहस्रार चक्र
२	ऊतो	पिरिट्यूअरी ग्लैण्ड	आज्ञा चक्र
३	हिचू	थाइरौइड ग्लैण्ड	विशुद्धि चक्र
४	क्योतोत्सु	थाइमस ग्लैण्ड	अनाहत चक्र
५.	मुइगेत्सु	सोलर प्लेक्सस	मणिपूर चक्र
६.	माइओजो	ऐड्रिनल ग्लैण्ड	स्वाधिष्ठान चक्र
७	त्सुरिगेन -	पेल्विस प्लेक्सस गौनैड्स	मूलाधार चक्र

मुनिजी ने इस पर टिप्पणी बहुत अच्छी की है—'देखने के लिए यह शरीर ही पर्याप्त है। देखने के लिए कोई वस्तु निकम्मी नहीं है। जिस वस्तु को हम निकम्मी-से-निकम्मी मानते हैं, घृणित-से-घृणित मानते है, उसके दर्शन से भी हमें सत्य का दर्शन होता है।' सच्चे प्रेक्षायोगी के निकट सत्य ही प्रधान दर्शनीय हेतु, उद्देश्य और इष्ट है। अन्य सब बातें, जैसे 'अच्छा-बुरा', 'सुन्दर-असुन्दर' गौण हो जाते है।

पश्चिम और पूर्व के मनोविज्ञान मे यही अन्तर है। अब पश्चिम के मनोवैज्ञानिक, विशेषत जर्मन-दार्शनिक जिस 'गेस्टाल्ट' (समग्र की बात करते है) उसकी बात हमारे यहाँ उपनिषद, साख्य, बौद्ध, जैन सभी दर्शन-पद्धतियो ने पहले से की है। यहूदी-ईसाई दुनिया की जो सबसे बड़ी समस्या तन और मन के भेद और परस्पर विरोध की खडी हुई, जिसमे से काम का निषेध और वर्जना, दमन और 'फ्रॉयड' निकले—हमारे यहाँ कभी मान्य नहीं था। हाल मे आचार्य रजनीश के तात्रिक 'संभोग से समाधि' के उत्तर मे मुनि नथमल के लेख ने यह—अकाट्य तर्कों से सिद्ध कर दिया कि दो परस्पर विरोधी तत्त्वो का इस प्रकार से घालमेल, समस्या को सुलझाने का तरीका नही है। सच्चा समाधान सयम और समन्वय से आयेगा। फ्रायड जिसे उत्तोलन या 'सब्लिमेशन' कहते ह, उससे आयेगा। जिस डाल पर बैठे है उसे काटने मे नही। कई 'तसव्वुफ' को ठीक तरह से न समझने वाले शराब मे ही डूब गये .

साकी तू दिये जा मै,
जिस-जिस को दिया चाहे।
हर शै में सुहागिन है,
जिस-जिस को पिया चाहे॥

यानी 'प्रतीको वै स.' मे प्रतीक या विग्रह ही प्रधान हो गया, 'स' को लोग भूल गये। उपचार, अभिचार, (उसीमे से चीनाचार, वामाचार) सब तरह के आचारो की मरुबालु-राशि मे विचारो का स्रोत-पथ खो गया।' यह रवीन्द्रनाथ की पक्ति है—

जेथा तुच्छ आचारेर मरु-बालु-राशि
विचारेर स्रोतः पथे फेले नाहि आशि

मुनि नथमल के इस ग्रंथ मे 'शब्द के साथे', 'प्रेक्षा का प्रयोग', 'अनुप्रेक्षा' आदि अध्याय बहुत मूल्यवान है।

के साहस की भी प्रशंसा करती है। साहित्य और कला के इतिहास में ऐसे अनेक सर्जक रहे है, जिनका वैयक्तिक जीवन अत्यन्त व्यसनासक्त, चरित्रहीन, विक्षिप्त, अप-मानव जैसा था परन्तु उनकी रची हुई कालजयी कृतियाँ बहुत महान है। कीचड मे से जैसे कमल उगता है, वैसे ही ये गालिब, दास्तोवास्की, निराला और वैन-गो रहे है। अब इनका क्या करें ? ये अपवाद मुनिजी के 'सिद्धि' और 'सयम' के सरल नीति-पाठ के साँचे म कैसे बैठेंगे ?

फिर भी 'मन के जीते जीत' पुस्तक मे बहुत गुण है। एक तो वह अत्यन्त पठनीय है। यहाँ बोला हुआ शब्द और लिखा हुआ शब्द एकाकार है। दूसरे शब्दों के पीछे एक पारदर्शी हृदय और बुद्धि का समन्वित व्यक्तित्व स्पष्ट दिखाई देता है। यहाँ विद्वत्ता का प्रदर्शन नहीं, मताग्रह का दर्प या अहकार नहीं है। कहीं भी दूसरे या अपने से भिन्न या विरोधी मतवाद की निंदा या खिल्ली उडाना नहीं है। अपनी बात को अत्यन्त नम्रतापूर्वक परन्तु दृढता के साथ कहने की निर्भीकता और साहस है।

सबसे आकर्षक बात इस पुस्तक की यह है कि वह सूक्तियों और सुभाषितो से भरी हुई है। कोई भी पृष्ठ उठाकर पढिये। दो-चार सूक्तियाँ एकदम मन को छू लेंगी। उदाहरण के लिये मैं बिना किसी पूर्व योजना के पृष्ठ पलटते-पलटते ये दस-बारह सूक्तियाँ सहज पा जाता हूँ, जिन पर विचार और मनन करना आवश्यक है। जो मन को सोचने के लिए बाध्य करती हैं, चूंकि वे स्वयम् उनके दीर्घकाल के विचार और मनन का फल है :—

(१) 'युद्ध का अवसर दुर्लभ है, इसे मत खोओ।' (अहिंसक महावीर की उक्ति है प्राथमिकी)

(२) 'धर्म के परम अर्थ को जानना है तो प्रज्ञा के द्वारा उसकी समीक्षा करो।' (पृ० ४)

(३) 'स्रोत के प्रतिकूल चलना यही है शान्ति। यही है पार पा जाना' ('अणुसो ओ संसारो, पडिसो ओ तस्स उत्तारो (पृ० ३३)

(४) 'यदि कोई पंडित मिल जाए, निरा भाषाशास्त्री मिल जाए, केवल तर्क के बल पर ही विवाद को बढाना चाहे तो मौन हो जाओ, वाग्-गुप्ति कर लो।' (पृ० ५५)

(५) 'एक मछली ने पानी मे पड़े आदमी के प्रतिबिम्ब को देखा। उसने जान लिया कि आदमी वह होता है जिसका सिर नीचे और पैर ऊपर होता है।' (पृ० ६६)

(६) 'हमारे पास देने को दो बडे साधन है—हाथ और पैर' (पृ० १२०)

(७) 'समूची जिम्मेदारी, समूचा दायित्व आत्मा पर है' (पृ० १३६)

(८) 'लोक' शब्द के अनेक अर्थ है। उनमे से एक है शरीर।'

(९) 'हृदय-कमल, नाभि-कमल—ये कमल एक रूपक के रूप मे प्रयुक्त है। कमल वह है जो विकसित होता है और सिकुडता है।' (पृ० १५४)

(१०) 'बाती दीप नहीं है जो पात्र है वही दीप है' (पृ० १५८)

(११) 'भावना का तात्पर्य है—चेतन मन को सुला देना और अवचेतन मन को जागृत कर देना।' (पृ० १७८)

(१२) 'चाहे आँख बन्द करें या आँख पर पर्दा डालें—एक-सी बात है। पर्दा, पर्दा है। जिसमे यह क्षमता पैदा हो गई है कि दृष्टि में विकार नहीं आता, रूप-सम्पर्क के प्रति राग-द्वेष नहीं आता, उसके लिए पर्दे की आवश्यकता ही नहीं है, उसे आँख मूँद कर साधना करने की आवश्यकता नहीं है।' (पृ० १८५)

ऐसे अनेकों उदाहरण है। मुनि नथमलजी की यह नवीनतम पुस्तक उनके परिपक्व दर्शन, प्रेक्षा-योग का उत्तम प्रमाण है। यह सोये हुए को जगायेगी, जागे हुए की आँखें खोल देगी। हम खुली आँखो से सत्य का साक्षात्कार करें। जैसे आकाश और हिमालय, समुद्र और गंगा को उतनी छोटी-सी आँख से देखने पर हमारी आँखें नीली और शीतल, विस्तृत और निर्मल हो जाती है वैसी ही यह पुस्तक पढकर चित्त को प्रसन्नता और सौम्यता प्राप्त होती है।

मुनि का निरीक्षण कितना सूक्ष्म है, अध्ययन कितना गहरा है। उनकी प्रज्ञा 'प्रतिष्ठित' है, कहीं भी वह विचलित नहीं होती। ऐसे महाप्राज्ञ को पुनः नमस्कार।

युवाचार्य महाप्रज्ञ और उनकी कृति 'जैन योग'

—डॉ० दामोदर शास्त्री
एम ए, पी-एच डी., अध्यक्ष जैन दर्शन-विभाग
लालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत-विद्यापीठ, नई दिल्ली

संसार क्या है ? जीव और अजीव की नाट्यशाला है। इस संसार मे दो ही प्रकार के पदार्थ है—एक तो जीव जो संसार के पदार्थो का उपभोग करने वाला है, दूसरा वह—जो जीव का उपभोग्य पदार्थ है, या फिर जीव के उपयोग मे किसी-न-किसी रूप मे उपकारी है। जीव और अजीव के परस्पर सम्बन्ध से ही इस संसार की प्रवर्तना अनवरत होती रहती है।

अध्यात्म-योग क्यों ? (योग की पृष्ठभूमि)

जीव है तो शुद्ध, चित्स्वरूप, आनन्द-सागर—(सच्चिदानन्द रूप), अखण्ड, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख आदि गुणो से युक्त, किन्तु संसार मे जन्म लेते ही वह स्वरूप-च्युत हो जाता है।

माँ के पेट से जन्म लेते ही शिशु को 'मैं' की अनुभूति होती है। क्रमश अन्य आत्मेतर पदार्थो के प्रति भी उसकी ममत्व-बुद्धि जागृत व परिवर्द्धित हो जाती है। 'मैं' के साथ-साथ 'मेरा' यह भाव पैदा होता है। यह मेरा घर है, यह मेरे बान्धव है, यह संपत्ति है—इस प्रकार की तीव्र तृष्णा के वश मे जीव धर्म-बुद्धि से हीन हो जाता है, जिससे ससार-बन्ध होता है। यहीं से वह उन्मार्ग का पथिक होता चला जाता है। ममत्ववाले पदार्थो मे कुछ ऐसे होते है जो इन्द्रियो को सुखकर प्रतीत होते है और कुछ दु खदायी भी। सुखकर पदार्थो मे 'राग' (स्नेह) पैदा होता है तो दु खदायी पदार्थो मे 'द्वेष'। जहाँ राग होगा, वहाँ प्रतिद्वन्द्वी द्वेष भी नियमत आ खडा होता है और दोनों के आश्रय से 'मन' का चंचल व क्षुब्ध होना स्वाभाविक है।

इस प्रकार प्रत्येक शरीरी जीव के लिए सासारिक पदार्थ विभिन्न श्रेणियो मे बँट जाते है —(१) इष्ट (रागयुक्त पदार्थ) (२) अनिष्ट (द्वेषयुक्त या इष्ट-वस्तु की प्राप्ति मे बाधक पदार्थ) (३) उपेक्ष्य—मध्यश्रेणी वाले पदार्थ, जिन पर न प्रबल राग होता है और न प्रबल द्वेष ही। इष्ट-वस्तु की प्राप्ति से सुख, और अनिष्ट वस्तु के संसर्ग से दु ख होता है। चूँकि सुख सभी को प्रिय और दु ख अप्रिय होता है, इसलिए सासारिक प्रवृत्ति-निवृत्ति होती रहती है। इस प्रकार, राग-द्वेषरूपी दो लम्बी डोरियो से मथनी के दण्ड की तरह, जीव ससार मे घूमता रहता है और संसार-चक्र का परिवर्तन बन्द नहीं होता।[1]

(१) तेहिं दु विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा।
जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि ॥ (पचास्तिकाय, १२९-३०)

अगर सभी को सभी इष्ट-वस्तु मिल जाती तो संसार सुखी होता। किन्तु होता यह है कि जीव को कुछ इष्ट-वस्तु मिल भी जाती है तो असंख्य इष्ट वस्तुएँ अप्राप्त रह जाती हैं। प्राप्त होने वाली इष्ट-वस्तुएँ भी अभीष्ट समय तक स्थिर नहीं रह पातीं। वे वस्तुएँ स्थिर भी रहे तो मानव-जीवन स्थिर नहीं रह पाता। जितने दिन तक जीवन स्थिर रहता भी है तो उन वस्तु के उपभोग मे अनेक विघ्न बाधक बनते है। इधर, जीव की कामनाओ का अन्त ही नहीं। वह अतृप्त ही रहता है। विषय-भोग क्षणमात्र सुख देते है तो बहुत काल तक दु:ख के कारण भी बनते है। विषयो से थोडा बहुत जो सुख मिलता भी है तो वह बाधायुक्त और नश्वर होता है। जीवन की सुख-प्राप्ति की दौड मे, पेट भरने, प्रशसा, सम्मान, पूजा आदि के लिए तथा दु:ख-प्रतीकार हेतु अनेक शुभ-अशुभ कर्मो का बन्धन हो जाता है, जिसे भोगने के लिये जीव को नई गति मे जन्म लेना पडता है। उस गति मे भी पुराने कर्मफल भोगते हुए नवीन कर्मो का बन्धन भी जारी रहता है, इस प्रकार जन्म-मरण का चक्र कभी बन्द नहीं हो पाता। इन सब कारणो मे, अंततोगत्वा, संसार दु:ख का पर्याय बन जाता है। मनीषियो की दृष्टि मे सासारिक पदार्थ सुख के कारण नहीं माने गये[1], जिसका उक्त कारण स्पष्ट है।

इस स्थिति मे संसार से वैराग्य-भावना का उदय होना स्वाभाविक है। भारतीय तत्व-चिन्तको का प्रयत्न रहा है कि ऐसा मार्ग खोजा जाय जिससे सासारिक दु:खो से छुटकारा (मुक्ति) हो और साथ ही परमसुख की स्थिति प्राप्त हो। उनके चिन्तन, मनन और तत्व-साक्षात्कार का निष्कर्ष यह रहा कि दु:ख की जडें बाह्य-वस्तुओ मे नहीं, बल्कि सासारिक प्रवृत्ति मे—कषायेन्द्रियवशता मे है, अज्ञान के कारण अन्तर मे पैदा होने वाले राग व द्वेष मे है। ये दु:ख आत्मकृत ही है। परमसुख (आनन्द) का स्रोत सच्चिदानन्द आत्मा मे है। ससार से मुक्ति पाने का उपाय यह है कि सासारिक पदार्थो के प्रति राग-द्वेष का भाव हटाया जाय, असंयम से निवृत्ति और सयम म प्रवृत्ति की जाय तथा परम सुख की स्थिति पाने के लिए निज शुद्ध आत्मा का साक्षात्कार किया जाय। शुद्ध आत्मा के साक्षात्कार के बाद, अनासक्त (ममत्वहीन) व्यक्ति के लिए ससार दु:खदायी नहीं रह जाता, और परमानन्द की स्थिति हमेशा-हमेशा के लिए स्थिर हो जाती है।

चिन्तन की उक्त धारा इतनी व्यापक रही है कि कोई भी भारतीय धर्म हो, उसकी साधना का लक्ष्य सासा-रिकता से—सुख-दु:ख के चक्र से—ऊपर उठना या छुटकारा पाना रहा है।

अध्यात्म-योग क्या है?

(सासारिक योग बनाम अध्यात्म-योग)

सासारिकता का मूल कारण है—हमारी इन्द्रियो व मन का (आत्मेतर) सासारिक पदार्थो के प्रति आसक्त होना। इन्द्रियो का स्वभाव है – बहिर्मुखता। यह आसक्ति ही सासारिक पदार्थो से 'योग' करा देती है। इन्द्रिया-

(१) सव्वे कामा दुहावहा (उत्त० १३ १६)।

थीन जीव मे ही राग-द्वेषादि उपजते है। उक्त 'योग' से ही राग-द्वेषादि मे वृद्धि, उस वृद्धि से पुन कर्म-बन्ध—इस प्रकार 'संसार-योग' प्रवर्तित होता रहता है। अत उक्त योग ही सासारिकता का—कर्मबन्ध का द्वार है। साधना का लक्ष्य है—उक्त 'योग' को तोडना। चूँकि अनासक्ति के कारण 'योग' का अभाव हो जाता है और 'योग' के अभाव मे कर्म-बन्धन नहीं अत अनासक्ति सहित इन्द्रिय-सयम को महत्त्व दिया गया।

मन, इन्द्रियादि का निर्विषय, निष्क्रिय रहना कठिन है, अत सासारिक पदार्थो से 'योग' तोडकर इन्द्रिय व मन को कहाँ लगाया जाय—यह जिज्ञासा स्वाभाविक थी। समाधान यह निकला कि चित्त-मन पर निग्रह किया जाय, पहले इन्द्रियों को मन के अनुकूल बनाया जाये[1] और वशीभूत मन को सासारिक पदार्थों से निवृत्त कर आत्म-चिन्तन की ओर मोड लिया जाय। दूसरे शब्दो मे इन्द्रियादि को बहिर्मुखता से हटा कर अन्तर्मुखी बनाया जाय।

अन्तर्मुखता की स्थिति मे सारा चिन्तन-मनन सासारिक पदार्थो पर नहीं, वरन् आत्म-परक होगा। बहिर्मुखता की स्थिति मे लौकिक संसर्ग से अत्यासक्ति तथा उत्तमोत्तम दिव्य विषय-भोगों के उपयोग की वृत्ति रहती है, किन्तु अन्तर्मुखता की स्थिति मे विषय-भोगों से छूटने का भाव रहता है तथा आत्मा व अनात्मा के भेद-ज्ञान का प्रादुर्भाव व मध्यस्थ-वृत्ति की सत्ता दृढता की ओर उन्मुख रहती है। अन्तर्मुखी व्यक्ति का चलना, उठना, बैठना आदि सभी कियाएँ होगी तो सही, पर वे सयत होगी और राग-द्वेष की हीनता से अनासक्त भी। ऐसे आत्म-द्रष्टा के लिए समस्त जगत् इन्द्रजालवत् प्रतीत होगा—स्वात्म-स्वरूप की प्राप्ति-हेतु उसकी अभिलाषा होगी, अन्य किसी वस्तु के लिए नही। जन-साधारण की भोग-मार्ग की ओर 'अनुस्रोत'-प्रवृत्ति रहती है, वहाँ अन्तर्मुखी व्यक्ति की 'प्रतिस्रोत' प्रवृत्ति देखी जाती है। लौकिक-ससर्ग से विरक्ति भी अन्तर्मुखी व्यक्ति का लक्षण है।

इन्द्रिय-संयम व तपस्यापूर्ण साधना के बल से नये कर्म-बन्धन का रुकना तथा पुराने कर्मो का क्षय सरल हो जाता है। किन्तु इन्द्रियातीत आत्मा का साक्षात्कार या उससे 'योग' बैठाने की विधि क्या हो? इस दिशा मे चिन्तन चला और आत्म-ध्यान व समाधि का एवं ध्यान की स्थिरता हेतु 'धारणा' आदि का उपदेश प्रतिफलित हुआ।

साधना की उच्च कोटि मे पहुँचते-पहुँचते अन्तरग विकल्प व शरीरादि-सम्बन्धी बाह्य विकल्प समाप्त हो जाते है। कर्म-बन्धनों के अभाव से वह व्यक्ति लोक-व्यवहार की सीमा-रेखा को लाँघ जाता है। अन्त मे ऐसी स्थिति आ जाती है कि शुद्ध आत्मा का आराधक आत्म-स्वरूप की निरन्तर भावना व ध्यान के सतत प्रयास से आत्म-द्रष्टा और अन्तत स्वयं आत्ममय व परमात्मा बन जाता है।

सासारिक योग और आध्यात्मिक योग—दोनों है तो योग ही किन्तु दोनो मे महान् अन्तर है। एक (सासारिक) बन्धन का कारण, प्रवृत्ति-परक (बहिर्मुखी) तथा अनित्य है, तो दूसरा (आध्यात्मिक योग) मुक्ति

---

(१) योग-सूत्र (पातजल-२ ५४), श्वेताश्व० उप० २ १०

का हेतु, निवृत्ति-परक (अन्तर्मुखी) तथा चिर-स्थायी व नित्य परिणति वाला है। मुक्ति-दायक योग को सांसारिक योग से पृथक् बताने के लिये इसे 'अध्यात्म-योग' (आत्म-परक योग[१]) नाम दिया गया। यही अध्यात्म-योग मोक्षार्थियों के लिए उपादेय है। इसे ध्यान-योग के नाम से भी अभिहित किया गया है। (श्वेता० उप० १·३)।

अध्यात्म-योग—मूलतः जैनों की ही देन

अध्यात्म-विद्या विशेषतः क्षत्रियों की सम्पत्ति रही है। बृहदारण्यक उपनिषद् में प्रवाहण का कथन इस तथ्य को पुष्ट करता है। क्षत्रियों में आत्म-साधिक धर्म के प्रतिष्ठित होने का उल्लेख महाभारत में है।

जैन-परम्परा के प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ (ऋषभदेव) क्षात्र-धर्म के प्रथम प्रवर्तक थे[२], और क्षत्रिय-जाति में श्रेष्ठतम इक्ष्वाकुवंश के प्रथम व सर्वश्रेष्ठ सम्राट थे[३], अतः यह स्वयंसिद्ध है कि वे ही अध्यात्म-विद्या के आदि-प्रवर्तक, उपदेशक रहे हैं। उन्हें योगीश्वर, योगिनाथ के रूप में ख्याति भी प्राप्त है। ऋषभदेव ने अध्यात्म-विद्या का उपदेश दिया था—ऐसा भागवत-पुराण में उल्लेख है। उनके द्वारा उपदिष्ट उक्त अध्यात्म-विद्या की परम्परा वैदिक क्षत्रियों में भी प्रवर्तित होती रही, जिनका उदाहरण उपनिषदों में अध्यात्म-विद्या (परा-विद्या) का निरूपण है। जैन-तीर्थंकरों का, क्षत्रिय-कुल में नियमतः जन्म लेने की, मान्यता भी अध्यात्म-विद्या व क्षत्रिय-जाति के सम्बन्ध को पुष्ट करती है। इस सन्दर्भ में अन्य तथ्य भी मननीय है —जैसे, उपनिषदों में अध्यात्म-विद्या। ब्रह्म-विद्या के अधिकारी का जो स्वरूप निर्धारित किया गया है वह श्रमण-परम्परा के साधक के स्वरूप से साम्य रखता है। आत्मा ही ध्येय है, उसी का साक्षात्कार मुक्ति है, आत्मा ही परमात्मा है[४], पुण्य-पाप से ऊपर की स्थिति मुक्ति है—इत्यादि अध्यात्मवादी स्वर वैदिक उपनिषदों तथा जैन आगमों व साहित्य में समान रूप से प्रतिध्वनित हुए हैं। इसी प्राचीन परम्परा में (तथा उक्त इक्ष्वाकु-कुल में) अन्तिम तीर्थंकर अध्यात्मविद् (अयोग व्यव० १) भगवान् महावीर हुए थे, जिन्हें भी इसी अध्यात्म-साधना से परम-पद प्राप्त हुआ था।

---

(१) बृहदा० उप० २·५·१ (यश्चायमध्यात्मं शारीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स सोऽयमात्मा इदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम्)।

(२) क्षात्रो धर्मो ह्यादिदेवात् प्रवृत्तः, पश्चादन्ये शेषभूताश्च धर्माः (महाभा० शान्ति-पर्व, ६४ २०)।

(३) ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूजितम् (ब्रह्माण्ड-पुराण, २·१४, लिंग-पुराण ४७·२)।

(४) (क) एष म आत्मान्तर्हृदय एतद् ब्रह्म (छान्दोग्य उप० ३ १४·४)। तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् (श्वेता० उप० ३·१९)। अहं ब्रह्मास्मि (बृहदा० उप० १ ४ १०)। श्वेता० उप० १ १२, मुण्डकोप० २·२·९।
(ख) कम्मकलंकविमुक्को परमप्पा भण्णए देवो (मोक्षप्राभृत-५)। समाधिशतक-९८, योगसार-४२।

जैन-योग

जैन अध्यात्म-साधना की परम्परा मे विविध साहित्य लिखे गये है, किन्तु युवाचार्य महाप्रज्ञश्री की 'जैन-योग' शीर्षक कृति की अपनी विशेषता है। इस कृति का 'समीक्षात्मक अध्ययन' यहाँ प्रस्तुत करना उद्देश्य है। मेरा अध्ययन मुख्यत ४ भागो मे विभक्त है—

(१) ग्रन्थ की प्रस्तुति

(२) विषय-वस्तु का उपस्थापन व प्रतिपादन

(३) जैन-योग-साधना की क्रमिक परिणतियाँ/भूमिकाएँ

(४) 'जैन-योग' कृति का मूल्यांकन (उल्लेखनीय विशेषताएँ)

(१) ग्रन्थ की 'प्रस्तुति'

आलोच्य-ग्रन्थ मे मुख्यत चार अध्याय है—(१) साधना की पृष्ठभूमि (२) साधना की भूमिकाएँ (३) पद्धति और उपलब्धि (४) प्रयोग और परिणाम।

ग्रन्थ के अन्त मे परिशिष्ट रूप मे भगवान महावीर के 'साधना-सम्बन्धी-प्रयोग' तथा 'आचारांग मे प्रेक्षाध्यान के तत्त्व' दिए गये हैं। इन सबके (सम्पूर्ण-ग्रन्थ के) आदि मे आचार्य तुलसीजी का 'आशीर्वचन' तथा उसके बाद लेखक की ओर से 'प्रस्तुति' शीर्षक से संक्षिप्त निवेदन है।

'प्रस्तुति' के अन्तर्गत ४ बातें उल्लेखनीय है—(क) जैन परम्परा के योग-शास्त्रकारो के प्रयासो का ऐतिहासिक सर्वेक्षण तथा तेरापंथ की योग-साधना मे रुचि (ख) जैन-साधना का 'योग' नामकरण (ग) प्राचीन साहित्य मे जैन साधना-पद्धति के बीज (घ) 'जैन-योग' कृति का उद्देश्य।

(क) ऐतिहासिक सर्वेक्षण

इसके अन्तर्गत जो विषय व सामग्री प्रस्तुत की गई है, उसे यहाँ कुछ सरल (एवं बोधगम्य कराने की दृष्टि से विस्तृत) रूप मे पाठकों के हित के उद्देश्य से दिया जा रहा है .—

जैन योग-परम्परा और तेरापंथ

अध्यात्म-योग की परम्परा भारत मे प्राचीनकाल से प्रवर्तित होती रही है। इस परम्परा का स्वतन्त्र प्रतिनिधित्व भारतीय दर्शनों मे 'योग-दर्शन' करता है। जिस अध्यात्म-योग-प्रक्रिया का व्यवस्थित प्रतिपादन इसके द्वारा हुआ है, वह सभी वैदिक दर्शनों को मान्य (प्राय) रही है। किन्तु मूल-प्रवर्तक जैन-परम्परा की अध्यात्म-साधना भी स्वतन्त्र रूप से प्रवहमान रही। बौद्धों ने भी अपनी साधना-पद्धति को पृथक् रूप मे विकसित किया।

जैन-परम्परा-सम्मत अध्यात्म-योग (साधना) के बीज जैन-आगम-साहित्य मे प्राप्त है। आचार्य कुन्दकुन्द (वि० प्रथमशती), पूज्यपाद देवनन्दि (४-५ शती) आदि आचार्यों ने इसका पल्लवित रूप प्रस्तुत किया। आचार्य हरिभद्र सूरि (८वीं शती) तथा आचार्य हेमचन्द्र (वि० १२वीं शती), उपा० यशोविजयजी (१८वीं शती) आदि ने इसका युगानुकूल विकसित रूप प्रस्तुत किया। अन्य भी अनेक व्याख्याता आचार्य हुए, जिनमे आचार्य

शुभचन्द्र (११वीं शती), सोमदेवसूरि (११वीं शती), आ० अमितगति प्रथम (१०वीं शती), पं० आशाधर (१३वीं शती), योगीन्दु देव (ई० छठी शती), गुरुदास आदि के नाम उल्लेखनीय है।

वर्तमान युग मे जैन-श्वेताम्बर-तेरापंथ-सम्प्रदाय मे कई दशको पूर्व से, जैन-योग-परम्परा का पुनर्मूल्यांकन करने की रुचि जाग्रत रही है। इस सम्प्रदाय के वर्तमान आचार्य (नवम) श्री तुलसी योग-विद्या के क्षेत्र मे सतत् अनुसंधानात्मक प्रयत्न स्वय भी करते रहे है और अपने अनुयायियो को भी इस कार्य मे प्रेरित करते रहे है। अनेक प्रयोगो द्वारा ध्यान-साधना की अनुभूत-पद्धति प्रतिपादित करने तथा अध्यात्म-नीडम् (जैन-विश्वभारती, लाडनूं) के माध्यम से शिविरों के आयोजन एवं उनके सफल परीक्षण करने मे उनकी प्रेरणा स्तुत्य है। आचार्यश्री का 'मनोऽनुशासनम्' ग्रन्थ नई शैली से जैन-योग का प्रतिपादन करता है।

जैन-श्वेताम्बर तेरापंथी-महासभा आदि सस्थाओं के सहयोग से भी अन्य साहित्य प्रकाशित हुए है जिनमे योग-सम्बन्धी सामग्री पर्याप्त मात्रा मे दी गई है।[1]

इसी सम्प्रदाय मे युवाचार्य, महाप्रज्ञ जैन-योग-साधना की जीती-जागती प्रतिमूर्ति है। लेखक को कई बार इनसे सम्पर्क का सुअवसर मिला है। लेखक को विश्वास है कि उन्हें कुछ यौगिक सिद्धियाँ भी प्राप्त है। उनके अनुभवों व अनुसंधानो का प्रतिफल यह हुआ है कि योग-साधना के क्षेत्र में 'प्रेक्षा-ध्यान-साधना' के नाम से एक परिष्कृत-पद्धति सामने आई है, उनसे विलुप्त ध्यान-पद्धति का पुनरुज्जीवन हुआ है। संस्कृत, अंग्रेजी, हिन्दी साहित्य के क्षेत्र मे उनकी १०० से ऊपर की कृतियाँ हैं जो उनके गम्भीर चिन्तन तथा गम्भीर योग-साधना मे पारंगतता को उजागर करती हैं। जैन-योग के क्षेत्र मे तो उनका विशिष्ट योगदान भुलाया नहीं जा सकता। योग-सम्बन्धी उनकी प्रमुख कृतियाँ है—'मैं मेरा मन मेरी शान्ति' 'अस्तित्व का बोध', 'चेतना का ऊर्ध्वारोहण', 'महावीर की साधना का रहस्य', 'मन के जीते जीत' 'प्रेक्षा-ध्यान', 'किसने कहा मन चंचल है ?' आदि। इन कृतियो मे योग-साधना को सहज बोध-गम्य बनाने का सफल प्रयास हुआ है।

आलोच्य कृति 'जैन-योग'

जैन-योग-साधना के क्षेत्र मे ऐसी पुस्तक की नितान्त आवश्यकता थी जो संक्षिप्त हो, सरल भाषा मे हो, किन्तु विषय को स्पष्ट करती हो—विषय के किसी पहलू को अछूता न छोडती हो, प्राचीन परम्परागत रूप को नये प्रश्नो के सन्दर्भ मे प्रस्तुत करती हो— अर्थात् प्राचीन परम्परा से जुडी होने के साथ-साथ वर्तमान युगानुकूल व विज्ञान-सम्मत भी हो, तथा कुछ अनुत्तरित प्रश्नो का समाधान भी प्रस्तुत करती हो। इस आवश्यकता को महाप्रज्ञश्री ने 'जैन-योग' नामक' कृति की रचना कर पूरा किया है जो विद्वानो, साधको तथा इतिहासज्ञो के लिए पठनीय व मननीय है।

---

(१) आ० भिक्षुस्मृति-ग्रन्थ—ई० १९६१, द्वि० खड मे 'जैन-परम्परा मे योग' (मुनि नथमल), आराध्ययन . एक समीक्षात्मक अध्ययन' मे (ई० १९६८) पृ० १३२-२०३ 'साधना-पद्धति' के अन्तर्गत। 'श्रमण महावीर' (मुनि नथमल) ई० १९७४ मे भी भ० महावीर की साधना का निरूपण है।

(ख) जैन-साधना का नामकरण

लेखक (युवाचार्य महाप्रज्ञ) की दृष्टि मे "जैन-धर्म की साधना-पद्धति का नाम मुक्ति-मार्ग था" (देखें ग्रन्थ की 'प्रस्तुति'), जिसके सम्यग्दर्शन आदि तीन रत्न अंग थे।

कुछ विद्वानो का विचार है कि साधना के अर्थ मे "जैन योग" नामकरण परवर्ती है। मूलत जिस अर्थ मे 'योग' शब्द प्राचीन जैन-शास्त्रो मे प्रचलित है, उस अर्थ मे वह साधना मे बाधक ही है। (भगवती-सूत्र १८·१० ६ मे तप, सयम व ध्यान का 'योग' रूप से निरूपण है, जो इस सन्दर्भ मे मननीय है।)

ग्रन्थ मे साधना-मार्ग को 'आध्यात्मिक विकास की प्रक्रिया' या 'अन्तर्यात्रा' के रूप मे प्रस्तुत किया गया है, इससे लेखक की दृष्टि मे जैन योग और अध्यात्मयोग दोनों एकार्थक है—ऐसा सिद्ध होता है।

'योग-नामकरण', 'योग' शब्द का विभिन्न अर्थो मे प्रयोग तथा 'अध्यात्म व जैन-योग की समान विशेषताएँ' इन विषयों का स्पष्टीकरण प्रस्तुत करना प्रासगिक है और ग्रन्थकार के आशय को स्पष्टता देने की दृष्टि से औचित्यपूर्ण भी।

'योग' शब्द का विभिन्न अर्थों में प्रयोग

'योग' शब्द 'युज' या 'युजिर' धातु से निष्पन्न होता है। युजिर धातु (रुधादिगण पठित, सिद्धान्तकौमुदी धातु-क्रमसंख्या—१४४४) का अर्थ जोडना, मेल कराना है। 'युज' धातु (दिवादिगण पठित, धातु क्रमांक ११७७) का अर्थ समाधि (अर्थात् चित्तवृत्तिनिरोध) है। 'युज' धातु (चुरादिगण पठित, धातु क्रमाक १८०७) का एक अर्थ और भी है, वह है—संयमन अर्थात् संयतवृत्ति। इन तीनों धातुओं से करण व भाव—इन दोनो अर्थो मे घञ् प्रत्यय होकर 'योग' शब्द निष्पन्न हो सकता है, अत 'योग' शब्द के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ ६ होंगे—(१) जोडने का साधन (२) जुडा होना (३) समाधि का साधन (४) समाधि या अन्तर्मुख चित्त की एकाग्रता की स्थिति (५) सयत-वृत्ति का साधन (६) संयत-वृत्ति।

जैनेतर ग्रन्थों मे 'योग' निम्नलिखित अर्थो मे प्रयुक्त हुआ है —

(१) सयोग अर्थ में 'योग' का सामान्य अर्थ है जुडना, एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ से सम्बन्ध होना। गणित-शास्त्र मे यही अर्थ अभिप्रेत है। आयुर्वेद मे भी औषधियों के मिश्रण को 'योग' कहा जाता है। ज्योतिष के क्षेत्र मे वर्षा का योग, ग्रहण का योग, भाग्य-योग, ग्रह-योग आदि शब्द प्रयुक्त है। योग, युक्ति, समाधान—एकार्थक माने गए है। महाभारत मे 'रथ जोतने' के अर्थ मे 'योग' शब्द प्रयुक्त हुआ है। हमारे दैनिक व्यवहार मे और भी अनेक ऐसे शब्द खोजे जा सकते है।

(२) चित्तवृत्ति-निरोध अर्थ में · चित्तवृत्तिनिरोध, समाधि, समतावस्था, एकाग्रता, ध्यान—ये सब एकार्थवाची है। योग-सूत्र (पातंजल) मे चित्तवृत्तियो के निरोध को 'योग' कहा गया है। इस ग्रन्थ के व्यास-भाष्य मे योग का अर्थ समाधि किया गया है। गीता मे भी 'योग' आत्म-ध्यान व समता इन अर्थों मे प्रयुक्त हुआ है।

(३) समाधि-साधन के अर्थ में · योग की साधना मे कई परिणतियो/स्थितियो से गुजरते हुए पूर्णता को प्राप्त किया जा सकता है। पूर्णता की स्थिति तो 'योग' है ही, पूर्ववर्ती सभी परिणतियो/स्थितियों को भी

'योग' कहा जाता है। गीता मे पूर्णता (योग-संसिद्धि) की स्थिति का क्रम इस प्रकार है—

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)
समता-योग	कर्म-सन्यास	योगारूढ़ता	प्रशान्तचित्तता	आत्मस्वरूपस्थिति[1]
(संयम आदि तथा रागादि परिहार का अभ्यास)	(फलासक्ति अभाव)	(अन्तःकरण-विशुद्धि)	(समता, शम, समाधि की पूर्ण स्थिति)	

उक्त क्रम मे समता/समाधि की पूर्ण स्थिति तक पहुँचने के लिये जो साधन है वह 'योग' ही है।

अन्तःकरण-विशुद्धि भी योग-साध्य है। कर्म-सन्यास भी योग-स्थित होकर सम्भव है। आत्म-स्वरूप-स्थिति या आत्म-साक्षात्कार के पूर्ववर्ती सभी क्रियाएँ व साधन भी 'योग' है।

(४) सयम अर्थ में : योग-साधना मे मन व इन्द्रियो को बहिर्मुखता से हटाकर अन्तर्मुख करना है। फलस्वरूप चित्तवृत्तियो का चित्त मे ही लय हो जाता है।[2] यह सब इन्द्रिय-संयम के विना सम्भव नही। अत संक्षेप मे योग की प्रारम्भिक अवस्था सयम है और इन्द्रिय-संयम की पूर्णता ही योगारूढ़ता व स्थितप्रज्ञता है। इस प्रकार योग और संयम-वृत्ति एकार्थक कहे जा सकते है।

(५) (परम) आत्म साक्षात्कार-साधन के अर्थ में : योग का अन्तिम लक्ष्य आत्मा या परमात्मा का साक्षात्कार है। गीता मे योग को आत्मसाक्षात्कार का साधन[3] बताया गया है। समाधियोग, भक्तियोग, कर्मयोग, ध्यानयोग आदि शब्दो का प्रयोग भी आत्म-साक्षात्कार मे समाधि आदि की साधनता को व्यक्त करते है।

जैन-ग्रन्थों में प्रयुक्त योग शब्द (विविध अर्थों में) : जैन-ग्रन्थो मे योग शब्द विविध अर्थो मे प्रयुक्त हुआ है :—

---

(१) यततो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थिता। (गीता १५ ११)
तुलना 'तदा द्रष्टु स्वरूपेऽवस्थानम्' (योग-सू० १ ३)
यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृह सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥ (गीता ६ १८)
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता (गीता ६ १९)
यत्रो परमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥ (गीता ६ २०)
सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्वत.॥ (गीता ६·२१)

(२) ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति, केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥ (गीता १३ २४)

(३) गीता १३·२४

(१) **सामान्य सम्बन्धार्थक :** 'युजिर योगे' (रुधादिगणीय धातु) से बने 'योग' शब्द के दो अर्थ जैन-शास्त्रों मे प्राप्त है[1]—(१) योग, जोडना (जुडना), (२) योग को प्राप्त होना। नक्षत्रयोग, मंत्रयोग, अंगारयोग आदि शब्दो मे योगार्थक 'योग' पद है। औषधियो आदि के नियत-मात्रा मे मिश्रण को भी 'योग' कहा जाता है। ऐसे ही 'रसाल्' योग का संकेत चूर्णि-साहित्य मे प्राप्त होता है।

(२) **वशीकरण अर्थ में :** मत्र, चूर्ण आदि के प्रयोगो से वशीकरण (या उसकी पद्धति) को भी 'योग' कहा गया है।

(३) **प्रमाणोपेत और (४) सामर्थ्य के अर्थ में** 'योग' का मूल अर्थ 'सामर्थ्य' भी प्राप्त है। इसी स्थल पर अन्य टीकाकार ने 'योग' का प्रमाणोपेत या अन्यूनातिरिक्त (न कम, न अधिक मात्रा मे) यह अर्थ किया है।

(५) **समाधि/ध्यान आदि अर्थों में** जैनाचार्यो ने 'योग' शब्द की निष्पत्ति दिवादिगणीय 'युज्' समाधौ से भी मानी है।[2]

'योग' का अर्थ 'शुद्धोपयोग' भी किया गया है। समाधि, शुद्धोपयोग, सम्यक् प्रणिधान, ध्यान, चित्तैका-ग्रता, चित्त-निरोध, समताभाव, स्वास्थ्य ये सभी शब्द एकार्थवाचक है।

'युक्त', 'समाहित' (समाधि-अवस्थापन्न) भी इसी दृष्टि से एकार्थक है।

योग और साधन की एकार्थता को लक्ष्य कर कहा गया है—'जो ध्याता है वह योगी है'। समाधिस्थ योगी वह है जो काय के समस्त व्यापार से रहित है, निष्पन्द नेत्र वाला है, जिसने श्वास को जीत लिया है, जो काम व अभिमान, दम्भ आदि से रहित है और जिसका शरीर उग्र तप से दीप्त हो रहा होता है।

समाधि व ध्यान अर्थ वाले योग के आधार पर योगी के दो भेद किए गए है—(१) प्रारब्ध योगी (सविकल्प समाधिस्थ) (२) निष्पन्न योगी (निर्विकल्प समाधिस्थ)।

(६) **सम्बन्ध कारक अर्थ में :** 'योग' का अर्थ 'योग कराने वाले' अर्थ मे भी प्रयोग हुआ है। 'योग दो पदार्थो मे होता है। इनमे एक पदार्थ तो आत्मा (स्वयं साधक है ही, दूसरा पदार्थ, जिसके साथ साधक आत्मा का योग होगा, कौन हो—इसमे विभिन्न दृष्टियाँ है। कुछ आचार्यो के मत मे वह पदार्थ स्वयं आत्मा (परमात्मा) है तो कुछ के मत मे मोक्ष। मूलत तत्त्वार्थ-सूत्र मे वह पदार्थ 'कर्म' या पौद्गलिक (भौतिक) संसार है। इस प्रकार 'योग' वह है जो परमात्मा, मोक्ष, या संसार इनमे से किसी एक से सम्बन्ध करावे।

---

(१) योजनं योग . सम्बन्ध इति यावत् (राजवार्तिक—७ १३)। जोगो संबंधो (दश वै ८·३ पर अगस्त्य-चूर्णि) जोगं च समणधम्मम्मि जुंजे अणलसो धुवं (दश वै ८ ४२) युज्यते इति योग (धवला—१·१·१ ४)।

(२) क। युजे समाधिवचनस्य योग समाधि ध्यानम् इत्यनर्थान्तरम् (राजवार्तिक ६·१२)
ख। उत्त० ११ १४ ;
[तुलना—स्वयोगनिस्त्रिंशनिशात धारया निशात्य यो दुर्जयमोहविद्विषम् (स्वयम्भू-स्तोत्र १३३)
स्वदोषमूलं स्वसमाधितेजसा निनाय यो निर्दयभस्मसात्क्रियाम् (स्वयम्भू-स्तोत्र ४)।]

(अ) सासारिक योग कारक 'योग'. तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार कायिक, वाचिक, मानसिक—इन सभी क्रिया-कलापो का आधार 'योग' है।

जैन दार्शनिक शब्दावली मे, मनोवर्गणा, कायवर्गणा, कर्मवर्गणा के निमित्त से होने वाले आत्म-प्रदेशो का हलन-चलन, परिस्पन्द या संकोच-विस्तार 'योग' है। चूकि यह 'योग' संसार से बन्धन का सूत्रपात है, अत 'योग'—यह संज्ञा सार्थक है। 'योगात्मा' का तात्पर्य उस आत्मा से है जिसमे कर्मो का आस्रव (आगमन) हो रहा हो। 'योग' के मुख्य तीन प्रकार है—(१) मनोयोग (२) काययोग (३) वचनयोग। इनमे से प्रत्येक शुभ व अशुभ भेद से दो-दो प्रकार के है। अन्य दृष्टियो से भी योग के अनेक भेद शास्त्रो मे वर्णित है, कही १३ भेद तो कहीं १५ भेद। योग के द्रव्ययोग, भावयोग—ये दो भेद विशेष उल्लेखनीय है। संसारी जीव की कर्मो के ग्रहण करने मे कारणभूत शक्ति 'भावयोग' है, आत्म-प्रदेशों का वचन-वर्गणा आदि के निमित्त से होने वाला परिस्पन्द 'द्रव्य-योग' है।

केवली के दो भेद है—(१) सयोगी, (२) अयोगी। 'अयोग' की स्थिति तव होती है जब जीवप्रदेशो मे कर्मोदय निमित्तक परिस्पन्द नहीं होते। अयोग की स्थिति मे, आत्म-द्रव्य मे स्वस्थित प्रदेशो को न छोडते हुए, अथवा छोडकर भी अपने अवयवो द्वारा परिस्पन्द होता है। योग की स्थिति मे तप्त जल-प्रदेशो के समान उद्वर्तन व परिवर्तन रूप क्रिया होती रहती है, अयोग मे वह कर्म-क्षय के कारण नही होती। (स्वाभाविक गति या ऊर्ध्वगमनोपलम्वी क्रिया तो होती है।[1])

(ब) शुद्धात्मा (परमात्म) स्थिति से सयोजक के अर्थ में

आचार्य कुन्दकुन्द के मत मे आत्मा का वह निज भाव, जो विपरीत-अभिनिवेश का परित्याग कराकर जिनोक्त तत्त्वो मे आत्मा को जोडता है, 'योग' है।

(स) शुद्धात्म-ज्ञान के साधन के अर्थ में

'योगसार प्राभृत' के कर्ता के अनुसार शुद्ध (विविक्त) आत्मा का परिज्ञान जिससे होता है, वह 'योग' है।

(द) मोक्ष से सम्बन्ध कराने वाले के अर्थ मे

आचार्य हरिभद्रसूरि तथा आचार्य हेमचन्द्र आदि के मत मे 'योग' नाम की सार्थकता उसकी मोक्ष-योजकता मे निहित है।

पर मोक्ष से योजना (सम्बन्ध) कराने वाला तत्त्व कौन है ? इस सम्बन्ध मे कई दृष्टियाँ है। योग-शास्त्र (आ० हेमचन्द्र) के मत मे 'रत्नत्रय' (सम्यक्-दर्शन-ज्ञान-चारित्र) 'योग' है। अकलंक के अनुसार निरवद्य अनुष्ठान 'योग' है। योगविंशिका के अनुसार सभी धर्म-व्यापार 'योग' है। भगवती-सूत्र मे तप, नियम, स्वाध्याय, ध्यान, आवश्यक आदि अनुष्ठान 'योग' रूप मे परिगणित है। योगविन्दु मे समदृष्टि (सम्यग्दृष्टि) का सभी योग (कायिकादि व्यापार) 'योग' (मोक्ष-साधक) है।

---

(१) धवला ७ २ १ १५

आचार्य हरिभद्र ने 'योग' के अन्तर्गत (१) अध्यात्म, (२) भावना, (३) ध्यान, (४) समता, (५) वृत्तिसंक्षय— ये पांच तत्त्वो का निरुपण किया है।

निष्कर्ष (अयोग ही योग)

जैन सम्मत 'योग' जहाँ सासारिक योग से विच्छेद है, वहाँ वह अध्यात्म से, सुद्धात्म-स्थिति से योग कराने कराने वाला है। अत 'अयोग' ही 'योग' है। जैन सम्मत योगाराधक रागादि का परिहार तथा सर्वविकल्पों के परित्याग करने के साथ-साथ आत्मा से सम्बन्ध स्थापित करने का यत्न करता है।

योगी कौन ?

संक्षेप मे योगी वह है जो स्वयं को 'योग'-साधना द्वारा निज-आत्म-स्वरूप से जोड़े, यह 'योग' स्थापित करने से ही आत्म-स्वरूप की प्राप्ति सम्भव है। एक बार परमात्म-स्थिति से योग हुआ तो हमेशा के लिए 'संसार योग' निर्मूल हुआ।

अध्यात्म-योग—'जैन योग'

जैन ग्रन्थों मे 'अध्यात्म' शब्द के निम्नलिखित अर्थ है—

(१) प्रशस्त ध्यान

(२) शुद्धात्मा

(३) तत्त्व-चिन्तन, (जपादि)

(आ० हरिभद्र की योग-साधना मे यह प्रथम सोपान है।)

अध्यात्म-योग से तात्पय उस साधना-पद्धति से है जो साधक को शुद्धात्म की स्थिति, या प्रशस्त ध्यान की स्थिति से योग करावे। 'तत्त्व-चिन्तन' इस पद्धति मे प्रथम सोपान है।

सच्चा ज्ञान वही है जो अध्यात्म-ज्ञान में नित्य प्रवृत्त कराता रहे, अध्यात्म-योग से अव्यय-पद तथा परमात्म-ज्ञान प्राप्त हो सकता है—जैनेतर ग्रन्थों के इन वचनो की तरह, जैन-ग्रन्थों मे भी अध्यात्म-चिन्तन को एकमात्र मोक्ष का सदुपाय घोपित किया गया है तथा अध्यात्म-ज्ञान रहित जीवों के शास्त्र-ज्ञान को संसार-रूप मान्य किया गया है।

'जैन योग' का वैशिष्ट्य

ऐसे तो दार्शनिक योग (साधना-पद्धति) मे मोक्षहेतुता समानत. होने तथा उनमे परस्पर विरोध न होने के कारण समानता है, परन्तु जैन-योग की अपनी विशेपता है। इसमे एकान्तिकता नहीं है। श्रद्धा (रुचि), ज्ञान व सदाचार का समन्वित प्रयास है। न कोरा ज्ञान, न कोरा कर्मकाण्ड।

जैन-साधक को मुक्ति के लिए किसी अन्य की शरण मे नहीं जाना होता, स्वयं ही स्वयं की शुद्धि कर परमात्मा-पद प्राप्त करना होता है।

इसकी विशेपता को लक्ष्य मे रखकर ही आचार्य हेमचन्द्र ने कहा था—अन्य योगी भले ही हजारों वर्षों तक तप करते रहें किन्तु 'जैन-योग के आश्रय लिए विना उन्हें मोक्ष-प्राप्ति नहीं हो सकती। आचार्य पद्मनन्दी के अनुसार अन्य धर्मों से जैन अहिंसा-धर्म मे वही अन्तर है जो मदार (आक) के दूध और गौ के दूध मे है।

महाप्रज्ञश्री की दृष्टि में 'जैन-योग एक स्वतन्त्र साधना-पद्धति है, इसलिए इसकी व्यवस्था-पद्धति भी भिन्न है'' (जैन-योग, प्रस्तुति-१)। जैन-योग, हठ-योग भी नही, यह तो सहज योग है। महाप्रज्ञजी के शब्दो मे ''क्या ससार के प्रवाह से विपरीत चलना ही अध्यात्म है ? यदि यह है तो वह बहुत तथ्यपूर्ण नहीं है।'' (जैन-योग, पृ० ६९)। आचार्य श्री तुलसी के शब्दो मे जैन-योग का साधक ''अज्ञात को ज्ञात कर यथार्थ के उस धरातल पर पहुँच जाता है जहाँ सत्य को जाना नही जाता, जिया जाता है'' (जैन-योग, आशीर्वचन)। महाप्रज्ञ का यह कथन ''ध्यान के आचार्यों ने अनेक प्राकृतिक नियमो की खोज की है। यह जो कुछ घटित होता है, वह प्राकृतिक नियमो का उल्लघन नही है, किन्तु प्रकृति के सूक्ष्म नियमो का अवबोध है'' जैन-ध्यान-पद्धति को चामत्कारिक कोटि मे नहीं, वरन् स्वाभाविक व वैज्ञानिक नियमो के अनुकूल सिद्ध करता है।

जैन-योग की शाखाएँ

जैन-योग की कई शाखाओ के नाम प्राप्त होते हैं—दर्शन-योग, ज्ञान-योग, चारित्र-योग, तपो-योग, स्वाध्याय-योग, भावना-योग, ध्यान-योग, स्थान-योग, गमन-योग, आतापना-योग आदि।

(ग) प्राचीन साहित्य में जैन साधना-पद्धति के बीज

महाप्रज्ञजी के शब्दो मे ''जैन-आगमो मे गम्भीर अध्ययन से हर कोई अनुभव करेगा कि उनमे ध्यान की प्रचुर सामग्री है'' (जैन-योग, प्रस्तुति)। ''आगम-साहित्य मे साधना-तत्त्वो के बीज मिलते है, उनका विस्तार और प्रक्रियाएँ प्राप्त नही है'' (वही, प्रस्तुति)। ''यम, नियम, आसन, प्रत्याहार, ध्यान—इनका भी योग-दर्शन की भाँति क्रमिक प्रतिपादन नही है'' (वही, प्रस्तुति)।

महाप्रज्ञजी के उपर्युक्त विचारो के परिप्रेक्ष्य मे जैन-शास्त्रो मे प्राप्त साधना-पद्धति के सूत्रो का सर्वेक्षण करना यहाँ प्रासंगिक होगा—

(१) **'रत्नत्रय' का मार्ग**—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्-चारित्र—इन तीनो के समन्वित रूप के आश्रयण से मुक्ति प्राप्त हो सकती है। जिनोक्त-तत्त्वो मे श्रद्धा, रुचि, निश्चय के साथ सही-सही उनका ज्ञान तथा सदाचार—इनसे साधक मुक्त हो सकता है।

(२) **ज्ञानादि चतुष्टय का मार्ग**—कुछ स्थलो पर ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप—इन चार को मोक्ष का साधन बताया गया है।

(३) **सवर-निर्जरा से मोक्ष**—'पंचास्तिकाय' आदि ग्रन्थो मे साधना-पद्धति के दो सूत्रो का उल्लेख है (१) संवर और (२) निर्जरा। 'सवर' से नए कर्मो का आना रोक कर निर्जरा से बँधे कर्मों को नष्ट करने से मोक्ष मिल सकता है।

(४) **क्रमिक विकास की साधना-पद्धतियाँ :** कुछ स्थलो पर क्रमिक विकास करने की पद्धति निरूपित की गई है। जैन-आचार्य क्रमिक विकास के प्रमुख सोपानो का निर्देश करते है, जिससे साधक को अपने मध्यवर्ती पडावो को जानने व तय करने मे आसानी होती है।

'उत्तराध्ययन' मे आर्किचन्य, लोभनाश, तृष्णा-नाश, मोहनाश, दु खनाश इस तरह ५ सोपानो का संकेत

है। प्रथम सोपान पर चढ़कर दूसरे सोपान पर, इस क्रम से आगे-आगे के सोपान पार करना सरल हो जाता है। पूर्ववर्ती सोपान को पार किए बिना उत्तरवर्ती सोपान पर पहुँचना कठिन है।

एक स्थल पर बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा—इन तीन सोपानो का निर्देश है। बहिरात्मा से अन्तरात्मा की स्थिति का आश्रय लेकर परमात्मत्व तक पहुँचना शक्य है।

योगशास्त्र (आ हेमचन्द्र) मे एक सोपान-क्रम इस प्रकार है—(१) भावना, (२) समता, (३) ध्यान, (४) आत्म-ज्ञान, (५) कर्मक्षय, (६) मोक्ष। मूलाचार मे ज्ञानरूपी जहाज, ध्यानरूपी हवा, चारित्ररूपी नाव—इनके आश्रय से भवसागर पार किया जा सकता है।

गुणस्थान-पद्धति . जीव के बन्ध मे ५ हेतु है—(१) मिथ्यात्व, (२) अविरति, (३) प्रमाद, (४) कषाय, (५) योग।[1] इन्हें तोडने के लिए भी ५ कारण है—(१) सम्यक्त्व, (२) विरति, (३) अप्रमाद, (४) अकषाय (क्षमादिभाव), (५) अयोग।[2] ये ही एक प्रकार से ५ सोपान है। इन्हें क्रमश पार किया जाता है। इन्हीं ५ सोपानों को १४ भागों मे बाँटा गया है जिनकी संज्ञा 'गुणस्थान' है। ४थे सोपान पर मिथ्यात्व का नाश, ६ठे मे अविरति का, ७वें मे प्रमाद का, ११-१२वें मे कषाय का, १४वें मे योग का समूल नाश हो जाता है। मिथ्यात्वादि ५ मालिन्य हैं। जितना-जितना मालिन्य हटता है, उतनी-उतनी, आत्म-विशुद्धि होती जाती है, इन्हीं विशुद्धियो का नाम 'गुणस्थान' है।

रोग-शमन हेतु भेषज-शास्त्र (डाक्टरी) की कई शाखाएँ है—जैसे होम्योपैथी, एलोपैथी, आयुर्वेद, प्राकृतिक चिकित्सा आदि। इनमे से प्रत्येक शाखा की कार्यपद्धति व आधारभूत सिद्धान्तो मे पारस्परिक अन्तर है, किन्तु रोग-शमन प्रत्येक करती है। जैन-शास्त्रो मे मोक्ष-प्राप्ति के विविध मार्गों व सोपानो मे, परस्पर भिन्नता होते हुए भी लक्ष्यप्राप्ति एक-जैसी अनुभवसिद्ध है। उक्त सभी मार्गो मे दृष्टि-पार्थक्य तो है, पर परमार्थत अविरोध ही है। केवल प्रस्तुति-प्रकार ही भिन्न है।

(५) आ० हरिभद्र की पंचाङ्ग साधना-पद्धति और उसके तीन सोपान :

योग के आठ अगों का निरूपण 'पातंजल योगदर्शन' मे प्राप्त होता है। जैन-आगमों मे योग के १२ अग निरूपित हैं। ६ प्रकार के बाह्य तप, ६ प्रकार के आभ्यन्तर तप—कुल मिलाकर ये १२ प्रकार के तप ही १२ योगाङ्ग हैं।

आचार्य हरिभद्र ने योग के ५ अग प्रतिपादित किये। वे है—(१) अध्यात्म, (२) भावना, (३) ध्यान, (४) समता, (५) वृत्तिसंक्षय। आध्यात्मिक विकास के ये विभाजक सोपान है।

---

(१) मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतव (तत्वार्थ-सूत्र-८ १)। योगशास्त्र—४·७८

(२) मिच्छत्ताविरदीहिं य कसायजोगेहिं ज च आसवदि।
दंसणविरमणणिग्गहणिरोधेहिं तु णासवदि ॥ (मूलाचार, २४१)

महाप्रज्ञजी के अनुसार आ० हरिभद्र का उक्त वर्गीकरण जैन और पातंजल योग-परम्परा, इन दोनों से प्रभावित है (देखें—प्रस्तुति)।

आचार्य हरिभद्र ने तीन सोपानो का भी निर्देश किया है। वे है—(१) इच्छा-योग, (२) शास्त्रयोग, (३) सामर्थ्य-योग। योग-तत्व की ओर उन्मुख होना प्रथम सोपान, आध्यात्मिक वृत्ति को जीवन मे उतारने के लिए अनुभवी योगियो या शास्त्र के उपदेशो का सहारा लेना—दूसरा सोपान, तथा अनुभवो के निर्देशन तथा अपने उत्साह एवं पुरुषार्थ के द्वारा स्वाधीन सामर्थ्य आत्मसात् करना, तीसरा सोपान है। इसी सन्दर्भ मे आठ दृष्टियो का निरूपण भी उल्लेखनीय है। आ० हरिभद्र द्वारा आठ दृष्टियो के नाम इस प्रकार है—मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा, परा। ये बोध के आठ प्रकार हैं जो तारतम्य व आरोह-अवरोह के सकेतक है।

(घ) 'जैन-योग' कृति का उद्देश्य :

(१) प्राचीन जैन-शास्त्रो मे विविध मार्ग निरूपित है अवश्य, परन्तु वे अपूर्ण-से है। लेखक के ही शब्दो मे 'आध्यात्मिक साधना का स्वरूप हमें उपलब्ध है, किन्तु उसका विधि-तंत्र उपलब्ध नहीं है'' (प्रस्तुति)। आलोच्य कृति का एक उद्देश्य इस विधि-तंत्र का निरूपण करना है। लेखक के अनुसार ''इस पुस्तक से जैन-योग के शास्त्रीय स्वरूप को ही नहीं, किन्तु अनुभूत-स्वरूप को जानने मे भी सहयोग मिलेगा।''

(२) दूसरा उद्देश्य 'ध्यान-योगपद्धति' को पुनरुज्जीवित करना है। लेखक के अनुसार 'जैन-शासन मे ध्यान की धारा अवरुद्ध होकर बहने लगी—या शास्त्र-ज्ञान की तुलना मे ''गौण हो गई थी''[1]। जैन-आगमों मे प्राप्त ध्यान की प्रचुर सामग्री का भी ''ध्यान-परम्परा की विस्मृति और अभ्यास के अभाव मे मूल्याकन नहीं हो पा रहा है'' (प्रस्तुति)। ''ध्यान, सत्य को खोजने की प्रक्रिया है'' (पृ० ७४)। 'प्रेक्षा-ध्यान-पद्धति का विशेष रूप से निरूपण इस कृति मे किया गया है। लेखक के शब्दो मे ''प्रेक्षा-ध्यान', जैन-योग की महत्त्वपूर्ण पद्धति है'' (प्रस्तुति)। लेखक ने भद्रबाहु द्वितीय द्वारा 'महाप्राण-ध्यान', तथा अन्य आचार्यो द्वारा की गई 'सर्वसवर-योग-ध्यान' की साधना का भी उल्लेख (प्रस्तुति मे) किया है।

(३) अशान्त-जगत् को शान्ति का मार्ग दिखाना—इस कृति का सामान्य उद्देश्य है। दुःख का निदान, सुख का स्रोत—इन दोनो की जानकारी इस कृति के माध्यम से दी गई है। आचार्य श्री तुलसी ने अपने 'आशीर्वचन' मे शुभाशंसा प्रकट की है—''इसके पाठक अपने मन की जागरूकता, आत्मा की समता और चित्त की निर्मलता को उत्तरोत्तर विकसित करते हुए तनाव-मुक्त जीवन जीने मे सफल हो।''

लेखक अपने उद्देश्य को स्पष्ट करता है—''एक लम्बी अवधि से यह माना जाता रहा है कि 'अपनी खोज' की आवश्यकता मुनिगण को है, गृहस्थ के लिए आवश्यक नहीं है। 'आज यह माना जाने लगा है कि हर व्यक्ति को योगी बनने की जरूरत है '' (पृ० ८)।

---

(१) ये विचार 'तीर्थंकर' पत्रिका के फरवरी-७७ के अङ्क मे प्रकाशित महाप्रज्ञजी के लेख 'जैन-परम्परा मे ध्यान · इतिहासिक विश्लेषण' से लिए गये है।

(२) विषय-वस्तु का उपस्थापन व प्रतिपादन

विषय-वस्तु की उपस्थापना मनोवैज्ञानिक रूप से की गई है। दु ख है, दु ख के हेतु है, दु ख-निरोध के उपाय हे, दु ख-क्षय के उपाय है—"इन चार तत्त्वों को जानना अध्यात्म-साधना के लिए आवश्यक है' (पृ० ६८)।

लेखक के शब्दो मे विषय-वस्तु की उपस्थापना का स्वरूप इस प्रकार होगा (कोष्टक मे 'जैन-योग' कृति की पृष्ठ-सख्या अकित है)।

वर्तमान युग की सबसे बडी चिन्ता है—मनोविकार, आधि, मानसिक रोग (३१)। आज के युग की सबसे बडी समस्या है—मानसिक विकृति। अशान्ति का मूल, अपने-आपसे परिचित न होना है, तुम्हारे दु ख का मूल तुम्हारा अज्ञान है (४) शान्ति और सुख की उपलब्धि के लिए अपनी खोज उतनी ही अनिवार्य है जितना अनिवाय है स्वास्थ्य के लिए समीचीन श्वास (१)। आत्मा चिन्मय, आनन्दमय व शक्तिमय है (१२)। आनन्द-आत्मा का सहज धर्म है। वह हर मनुष्य के अन्तस्थल मे विद्यमान है (११)। हमारा आनन्द मोह के द्वारा विकृत बना हुआ है (२७)। आत्मा के चैतन्य और बाह्य-जगत् के बीच कर्म-शरीर के बादल छाये हुए है (१२१)।

आत्मा की सहज क्रिया है—जानना और देखना। अहमस्मि—मैं हूँ अहं करोमि—मैं करता हूँ। 'हूँ—वहाँ द्वैत नहीं है।' किन्तु जहाँ 'मैं काम करता हूँ' वहाँ कर्ता अलग हो गया, कर्म अलग हो गया। यह स्वाभाविक क्रिया नहीं रही, वैभाविक क्रिया हो गई (२०-२१)। जहाँ प्रवृत्ति होगी वहाँ बन्धन होगा (२२)। हमने एक प्रवृत्ति की, बाहर से कुछ आया। पुद्गल आये और हमारे साथ जुड गये। किन्तु भीतर मे एक चिकनाहट ऐसी है कि वह आने वाली धूल को, आने वाले पुद्गलो को पकड लेती है। वह चिकनाहट है—राग और द्वेष (२२)। राग-द्वेष की ग्रन्थियों से मूर्च्छा की धार निकलती रहती है (३२)। मूर्च्छा की तरगें सघन होते-होते जम पर जम जाती है। उस अवस्था का नाम है मूढता (३२) मूर्च्छा इतनी सघन होती है कि मनुष्य के समझ मे नहीं आ सकता कि इन्द्रियों के परे भी कुछ हो सकता है (६८)। मूर्च्छा इतनी घनीभूत हो गई है कि उसने अशाश्वत मे शाश्वत का आरोप कर डाला। मनुष्य अत्राण को त्राण मान लेता है और जब उसे त्राण नहीं मिलता तब बेचैनी पैदा होती है (६०)। ममकार और अहकार—ये दो बीमारियाँ उत्पन्न हो जाती है, तब इनका विस्तार हो जाता है। उनमे से छोटी-छोटी असख्य धाराएँ निकलती है (३४) मानसिक विकृतियो की कुछ धाराओं मे एक है बडप्पन की भावना (३४)। कहीं अहंभावना की बीमारी है तो कहीं हीन-भावना की बीमारी है। तीसरी विकृति है—प्रतिशोध की भावना, मन की एक विकृति है—आक्रमण की भावना (३५)। ये मानसिक विकृतियाँ तनाव पैदा करती है (३६)। कर्म-ग्रहण और कर्म-परिणमन का चक्र निरन्तर चलता रहता हे (२६)।

चिकित्सा की अनेक पद्धतियाँ प्रचलित है। एक चिकित्सा भीतर की है। आत्मा के द्वारा चिकित्सा हो सकती है (६६)। सबसे बडी भावना है—अध्यात्म की, भीतर मे जाने की (६७)। भीतर यात्रा करने का अर्थ है कि जो ऊर्जा बाहर की ओर प्रवाहित हो रही थी, उसे मोडकर भीतर ले जाना, हमारे शरीर की विद्युत को समूचे शरीर मे ले जाना (६६)। सामान्यत बाहर की ओर प्रवाहित होने वाली चैतन्य की धारा को अन्तर की ओर प्रवाहित करने का प्रथम साधन स्थूल शरीर है। स्थूल शरीर की क्रियाओं और संवेदनाओ को देखने का अभ्यास करने वाला क्रमश तैजस और कर्म-शरीर को देखने लग जाता है। जैसे-जैसे साधक स्थूल से सूक्ष्म दर्शन की ओर आगे बढता है, वैसे-वैसे उसका अप्रमाद बढता जाता है (१०५)। देखने की प्रक्रिया बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इस प्रक्रिया

से मूर्च्छा टूटती है और सुप्त चैतन्य जागृत होता है (१०६)। शान्ति पर किसी व्यक्ति का एकाधिकार नही है। वह उनको प्राप्त है, जिन्होंने अपने भीतर खोजा है और गहराई मे उतरने मे सफल हुए हैं (५)। इसलिए अध्यात्म-साधना जरूरी है, उसके माध्यम से व्यक्ति अपने अन्तराल तक पहुँच सकता है (६३)। अध्यात्म की समूची योजना, समूची परिकल्पना और व्यवस्था इस आधार पर है कि आत्मा को कर्म से मुक्त करना है (१६)। आध्यात्मिक व्यक्ति सत्य का अन्वेषी होता है, वह चेतना के सूक्ष्मतम स्तरो से गुजरता है (आशीर्वचन—आ० तुलसी)। अन्तर्दृष्टि अध्यात्म की पहली भूमिका है (४१)। अन्तर्दृष्टि का जागरण होता है तब मनुष्य को यह भान होता है कि मैं शरीर नहीं हूँ (४२)। हमारा चैतन्य कर्म-पुद्गलो के द्वारा आवृत्त है। तपोयोग के द्वारा उसे अनावृत्त किया जा सकता है उसे विपुल किया जा सकता है (२७)। जब तक आस्रव-जनित वृत्तियाँ और कर्म रहते है तब तक आत्मा के मौलिक स्वरूप का साक्षात्कार नहीं होता। चित्त की निर्मलता, एकाग्रता, तपस्या, प्रतिपक्ष-भावना या ध्यान-साधना के द्वारा आस्रव की शक्ति को क्षीण करने पर ही आत्मा के स्वरूप की अनुभूति हो सकती है (१८)।

जैन साधना-पद्धति का स्वरूप

जैन-योग-साधना का लक्ष्य द्विविध है—आत्मा पर नये कर्मावरण न चढ़ने देना तथा अर्जित कर्मावरण का क्षय। यह सब समता या वीतरागता के वातावरण मे जीते हुए 'तपोयोग से सम्भव है। समता या वीतरागता से नये कर्मों का आवरण रुकता है, साथ ही आवरण-क्षय मे भी सहायता मिलती है (६८, १०३)। तपोयोग के अन्तर्गत, अन्तर्दर्शन की, स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने की प्रक्रिया भी समाहित है। साधक का अन्तिम लक्ष्य होता है—सुप्त चैतन्य पर पड़े कर्म-आवरणो को भेद कर शुद्ध चैतन्य की ओर क्रमश बढ़ते हुए अनन्त शक्ति के स्रोत—'आत्मा' तक पहुँच जाना। तपोयोग से चैतन्य को भी अनावृत्त किया जा सकता है (२७)।

तपोयोग के ४ सूत्र हैं—(१) आहार-शुद्धि, (२) आसन, काय-क्लेश, (३) इन्द्रिय-संयम, (४) ध्यान की स्थिति। इनमे इन्द्रिय-संयम और ध्यान की स्थिति—समता की भूमिका पर ही सम्भव है। ध्यान की स्थिति का भी क्रम है—(१) चिन्तन, (२) अनुप्रेक्षा, (३) भावना और (४) ध्यान (९९-१००)।

सम्पूर्ण तपोयोग शक्ति का स्रोत है (१३०), पर संयम, भावना व ध्यान का विशिष्ट स्थान है। आहार-शुद्धि व काय-क्लेश—इनसे साधक की सामान्यत पात्रता निष्पन्न होती है। इन्द्रिय-सयम से ध्यान की सामान्य भूमिका तैयार होती है। आहार-शुद्धि नाड़ी-संस्थान के कार्य मे होने वाले अवरोध को समाप्त करने की प्रक्रिया है (९९)। साधना के उद्देश्यो के लिए शरीर की क्षमता को विकसित करने की प्रक्रिया कायक्लेश है (९९)। इसी दृष्टि से संयम का ध्यान मे प्रथम स्थान है। संयम के बिना ध्यान की साधना हानिकारक भी हो सकती है (१३२)।

इन्द्रिय-संयम विषयो मे आसक्ति का परित्याग, मन को बाहरी आकर्षण से हटा कर अन्तर्मुखी करने की साधना (९९)। सयम से शक्ति का जागरण शुरू हो जाता है (१०७)। समत्व की विकसित अवस्था मे इन्द्रिय-संयम अनायास-साध्य हो जाता है (८४)।

इन्द्रिय व मन को संयत करने की प्रक्रिया मे जैन-योग, 'हठ-योग' से बिल्कुल भिन्न है। मन को बलपूर्वक निग्रह करने मे जैन-आचार्यों का आदर नहीं है। जैसे तरल पारद को घनीभूत कर बाँधा जा सकता है, वैसे

अन्तर्दृष्टि का जागरण कर अनुप्रेक्षा के सहारे मन की चंचलता की समाप्ति, तथा कषाय की शान्ति करते हुए मन की गम्भीरता (घनीभूतता) को बढ़ाया जा सकता है जिससे मन को वशीभूत करना सरल हो जाता है[1] (७३)। संकल्प की सिद्धि संयम द्वारा प्राप्त हो जाती है (१४४)।

देखा जाय तो 'ध्यान' ही योग-साधना का महत्त्वपूर्ण भाग है, इसलिए 'ध्यान' ही तपो-योग का आदि, मध्य व अन्त माना जाता है (प्रस्तुति-५)। ध्यान सत्य को खोजने की प्रक्रिया है (७४)। ध्यान आत्मा पर आवरण रूप मे पड़े हुए शिला-खडो को हटाने मे समर्थ है (४-५)। उन शिला-खण्डो के हटते ही शान्ति की अतल गहराई मे लहराते हुए सुख के सागर को प्रत्यक्ष देख सकते है (५)। चिन्तन, अनुप्रेक्षा, भावना—ये स्थितियाँ चचल चित्त की है (९९)। चिन्तन मे आत्मादि तत्वो पर मुक्त भाव से विचार चलता है (१००)। अनुप्रेक्षा की स्थिति में विचार किसी निश्चित विषय पर केन्द्रित किये जाते है। कायोत्सर्ग की मुद्रा मे बैठ कर अनित्यता, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, अशौच—इनमे से किसी एक पर, जैसे पदार्थों की अनित्यता का चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है (१४५)। अनुप्रेक्षा में विषय भले ही एक होता है, पर चिन्तन, मुक्त-रूप से किया जाता है। अनेक विकल्प उठते रहते हैं, विषय नहीं बदलता (१००)।

भावना मे एक-विषयक विकल्प की पुनरावृत्ति होती है, अनुप्रेक्षा-सम्बन्धी विकल्पो को दुहराया जाता है। जप भी इस भावना का एक प्रकार है। भावना-योग मे शुद्ध आत्मा, जल मे नौका के समान, सन्तरण-योग्य हो जाती है (११०)। भावना मे, अशुभ अभ्यास मे विरति, शुभ अभ्यास मे अनुकूलता तथा मन की संकल्प-शक्ति मे दृढता क्रमश बढती जाती है (१४४)। प्रतिपक्ष की भावना मे स्वभाव, व्यवहार और आचरण को बदला जा सकता है, जैसे उपशम की भावना से क्रोध को दबाया जा सकता है। प्रतिपक्ष-भावना चेतना की जागृति का उपक्रम है (११०)। भावना-प्रयोग गुण-संक्रमण का सिद्धान्त है। हम जिसकी भावना करते है उसका गुण, हमारी आत्मा मे परिणत हो जाता है (१४६)। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य—ये चार भावनाएँ भावनीय है, इनका जितना अभ्यास पुष्ट होगा, उतना ही ध्यान पुष्ट होगा। कुछ प्रतिपक्षी भावनाएँ भी है जो त्याज्य है, जैसे—काम-सम्बन्धी, युद्ध-सम्बन्धी आदि भावनाएँ।

मानसिक एकाग्रता की दूसरी भूमिका ध्यान है (प्रस्तुति)। ध्यान की स्थिति मे किसी एक आलम्बन पर चित्त को एकाग्र करना होता है (१००)। घनीभूत अनुप्रेक्षा ही ध्यान बन जाती है (७३)।

भावना मे राग-द्वेष-मोह से रहित होकर, तटस्थ भाव से देखना (दर्शन), जानना (ज्ञान), आचरण करना (चारित्र) तथा अनासक्ति, अनाकाक्षा व अभय—इनका अभ्यास किया जाता है (१०९)। चिन्तन, अनुप्रेक्षा, भावना—इनमे क्रम से चित्त की चचलता क्षीण से क्षीणतर होती जाती है और जब चित्त की एकाग्रता, एकतानता, एकलयता,

---

(१) योगशास्त्र-१२ २८-३८

एक चित्त-वृत्ति, एक ज्ञान-वृत्ति बनती है तब ध्यान सधता है (७३)। ध्यान की प्रगाढ़ता में चित्त निवृत्ति-गृह में स्थित दीपक की भाँति लीन हो जाता है (७३)।

ध्यान की प्रक्रिया से गुजरता हुआ साधक दो-राहे की स्थिति पर जा खड़ा होता है। एक मार्ग ऋद्धिप्राप्ति का, और दूसरा वीतरागता का होता है (१३१)। योग के ग्रन्थों में धारणा व योग के साधक की कई विशिष्ट सिद्धियों का होना बताया है। 'जैन-योग' में पृ० १३२, १३४-१३६ में कुछ प्रमुख ऋद्धियों का नाम-निर्देश भी है। जैन-साधना का आराधक संयम की भूमिका को पार कर 'ध्यान' पर आरूढ़ होता है, अतः वह सभी ऋद्धियों के प्रति अनासक्त-भाव ही रखता है। ऋद्धि-प्राप्ति की प्रायोगिक पद्धति प्रायः लुप्त हो चुकी है—जैन-योग, १३३)। दशवैकालिक में भिक्षु को ऋद्धि आदि के प्रति अनाकांक्षी बताया है तथा इहलोक, कीर्ति, प्रतिष्ठा आदि के हेतु तप व समाधि न करने का निर्देश है। भागवत-पुराण में उल्लेख है कि भ० ऋषभदेव को भी साधना में सिद्धियाँ सुलभ हो गई थीं, पर उन्हें तनिक भी उनके प्रति आदर नहीं था।

उक्त दो-राहे से वीतरागता का मार्ग श्रेयस्कर है। ध्यान की पद्धति में चार तत्त्व समाविष्ट है—(१) कायोत्सर्ग, (२) भावना, (३) विचय, (४) विपश्यना[1]। ध्यान की प्रक्रिया स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ने की अन्तर्यात्रा है। इस अन्तर्यात्रा की भूमिका कायोत्सर्ग, भावना व विचय है। असली अन्तर्यात्रा तो विपश्यना है। कायोत्सर्ग में चेतना व शरीर—इन दोनों के भेद-ज्ञान का स्पष्ट अनुभव होता है। कायोत्सर्ग की सिद्धि होने पर स्थूल शरीर से ममत्व टूट जाता है और अन्तर्यात्रा सहज हो जाती है। भावना से दर्शन, ज्ञान, चारित्र व वैराग्य के अभ्यास की पुष्टि हो जाती है जिससे ध्यान की योग्यता बढ़ती है।

'विचय' एक पद्धति है जिससे द्रव्यों पर ध्यान केन्द्रित कर उनके स्वरूप जाने जाते हैं।

प्रेक्षा-ध्यान :

विपश्यना आत्म-साक्षात्कार की एक प्रक्रिया है। विपश्यना का अर्थ है—स्वयं को देखना। भ० महावीर की साधना का मौलिक स्वरूप अप्रमाद है। अप्रमत्त रहने के लिए जो उपाय बताए गए हैं उनमें शरीर की क्रिया और संवेदना को देखना मुख्य उपाय है। जो साधक वर्तमान क्षण में शरीर में घटित होने वाली सुख-दुःख की वेदना को देखता है, वर्तमान क्षण का अन्वेषण करता है, वह अप्रमत्त हो जाता है। विपश्यना का स्थूल शरीर से भी परे-स्थित चैतन्य का अनुभव करना लक्ष्य होता है। उसकी विधि यह है कि सालम्बन से निरालम्ब तक पहुँचा जाए। स्थूल शरीर में होने वाली घटनाओं को, संवेदनाओं की घटनाओं को देखना, फिर सूक्ष्म शरीर को देखना, मानसिक ग्रन्थियों, कर्म व वासनाओं को देखना, चित्तवृत्तियों को देखना, उनके हेतुओं को देखना, इस प्रकार क्रम से बढ़ते-बढ़ते उन सबको पार कर, शुद्ध चैतन्य तक पहुँचना, उसका साक्षात्कार करना। विपश्यना ही प्रेक्षा-ध्यान है (१०१)।

---

(१) जैन-परम्परा में ध्यान : इतिहासिक विश्लेषण—मुनिश्री नथमल, (तीर्थंकर पत्रिका, फरवरी—१९७७, पृ० १७)।

इसे विचय-ध्यान के अभ्यास का एक प्रकार भी कहा जाता है (१०१)। प्रेक्षा-ध्यान के अन्तर्गत (१) श्वास-प्रेक्षा, (२) अनिमेष-प्रेक्षा, (३) शरीर-प्रेक्षा तथा (४) वर्तमान क्षण की प्रेक्षा आदि समाविष्ट है (१०४-१०६)।

प्रेक्षाध्यान की दो पद्धतियाँ है—(१) सम्पूर्ण शरीर-प्रेक्षा, (२) चैतन्य-केन्द्र-प्रेक्षा। दूसरी पद्धति पहली की तुलना मे सरल है (१२३)। प्रथम पद्धति से पूरा शरीर अतीन्द्रिय ज्ञान का साधन बन जाता है (१२३) और उससे अतीन्द्रिय ज्ञान की प्रकाश-रश्मियाँ बिखरने लगती है (१२३)। दूसरी पद्धति मे किसी विशिष्ट चैतन्य-केन्द्र से ही प्रकाश-रश्मि बाहर फैलती है (१२३)। नाभि, हृदय, नासाग्र, कंठ, भृकुटि, तालु, सिर—ये कुछ चैतन्य-केन्द्र हैं। स्थूल शरीर (प्राण-शरीर) वासना-शरीर मे स्थित, परिष्कृत व निर्मल बने हुए परमाणु-स्कन्ध भी चैतन्य-केन्द्रो की तरह अतीन्द्रिय ज्ञान की अभिव्यक्ति के माध्यम बनाए जा सकते है (१२४)।

जैन-ध्यान का क्षेत्र इतना व्यापक है कि इससे पृथक् समाधि की आवश्यकता ही नहीं रही। शुक्ल-ध्यान के चरण मे पातंजल-योग की सम्प्रज्ञात समाधि अन्तर्भूत हो जाती है और शुक्ल-ध्यान के उत्तर चरण मे असम्प्रज्ञात समाधि। ध्यान से समाधि को पृथक् मानने की स्थिति उत्तरवर्ती है। केवली के निरोधात्मक प्रकार का ही ध्यान होता है, जब कि छद्मस्थ को एकाग्रतात्मक व निरोधात्मक—दोनो प्रकार का ध्यान होता है। जैन-आचार्यो की दृष्टि मे न तो चिन्तन-शून्यता ध्यान है और अनेकाग्र चिन्तन भी ध्यान नहीं। एकाग्रचिन्तन, भावक्रिया तथा चेतना के व्यापक प्रकाश मे चित्त का विलीन हो जाना—इन्हें ध्यान की कोटि मे परिगणित किया जा सकता है। साथ ही 'चित्त की घनीभूत अवस्था' यह 'ध्यान' का स्वरूप-लक्षण भी है, इसीलिए स्वाध्याय मे मन की एकाग्रता होते हुए भी उसे 'ध्यान' की कोटि मे नहीं माना जाता।

एक परम्परा के अनुसार उत्तम संहनन (वज्रऋषभनाराच, ऋषभनाराच, नाराच) वाला व्यक्ति ही ध्यान का अधिकारी होता है। अत वर्तमान काल मे ध्यान नहीं हो सकता। किन्तु दूसरी परम्परा के अनुसार सामान्य अस्थिरचना वाले को शुक्ल-ध्यान भले ही न हो, धर्मध्यान तो हो ही सकता है। आचार्य हेमचन्द्र के मत मे वर्तमान काल मे साधकों के लिए शुक्लध्यान अति दुष्कर है। आचार्य कुन्दकुन्द ने पचम काल मे साधु को धर्मध्यान होना स्वीकार किया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने उन लोगो की आलोचना भी की जो पंचम-काल मे ध्यान का अभाव मानते है। महाप्रज्ञ श्री युवाचार्य जी के मत मे ध्यान की दुष्करता व असम्भवपने के निरूपण से साधको के मन मे निराशा व शिथिलता घर कर गई[1]।

जैन योगसाधना-पद्धति का उक्त समग्र निरूपण 'दशवैकालिक' की प्रथम गाथा मे समाविष्ट है—"धम्मो मगलमुक्किट्ठं अहिंसा, सयम और तप—ये तीन उत्कृष्ट मंगलरूप धर्म हैं। अहिंसा से तात्पर्य समता, वीतरागता की पृष्ठभूमि से है, संयम का अर्थ इन्द्रिय-सयम है, तप से तपोयोग (जिसके अन्तर्गत 'ध्यान' का प्रमुख स्थान है) है।

(१) जैन-परम्परा मे ध्यान इतिहासिक विश्लेषण (मुनि नथमल, तीर्थंकर पत्रिका, फरवरी-१९७७, पृ० २०)।

(३) जैन-योग-साधना की क्रमिक परिणतियाँ/भूमिकाएं

'जैन-योग' कृति मे 'साधना की भूमिकाएं' परिच्छेद के अन्तर्गत मूढ़ता, अन्तर्दृष्टि (१-५), 'समत्व, अप्रमाद, वीतराग और केवली इन ८ अध्यायो (पृ० २६-८६) मे योग-साधना की क्रमिक परिणतियो/भूमिकाओ का निरूपण हुआ है। उसका संक्षिप्त निरूपण इस प्रकार है—

(१) अन्तर्दृष्टि अध्यात्म की प्रथम भूमिका है। पौद्गलिकता से परे कुछ है—इसका भान अन्तर्दर्शन है। शरीर व आत्मा की भिन्नता का भान इस भूमिका मे हो जाता है। अन्यत्व अनुप्रेक्षा-रूपी चिन्तन का एक स्रोत निकलता है। अहंकार की गाढ़ ग्रन्थि खुल जाती है। अनादिकालीन भ्रम दूर हो जाता है और नई रोशनी प्राप्त होती है। जीवन-धारा मे नया परिवर्तन आता है। निराविल अवस्था का सूत्रपात होता है, क्योकि वह सत्य का द्रष्टा बनने की भूमिका पर आ जाता है।

(२) विवेक-चेतना जागृत हो जाने पर कायोत्सर्ग की भूमिका दृढ़ होती है। शरीर के साथ एकता के सम्बन्ध का विच्छेद हो जाता है। अप्रमाद का बीज पड़ जाता है। विकास की नयी-नयी दिशाएं उद्घाटित होने लगती हैं। 'अभय' की स्थिति का पदार्पण हो जाता है। भय का, परिग्रह की मूर्च्छा से सम्बन्ध रहता है, अपरिग्रह की स्थिति से भय, तनाव, (शारीरिक व मानसिक दोनो) दूर हो जाते हैं। चिन्तन मे भी स्थिरता आ जाती है। करुणा व मैत्री के स्रोत फूट पड़ते हैं। सत्य-निष्ठा का आचार-विचार मे दर्शन होने लगता है।

(३) उक्त स्थिति के बाद 'एकत्व' का चिन्तन फूट पड़ता है। 'मैं अकेला हूं' यह चिन्तन दृढ़ हो जाता है। स्व-पर का चिन्तन समाप्त हो जाता है। असंग भावना भी पुष्ट हो जाती है। अन्यत्व, एकत्व, अनित्यत्व व असंगता की भावनाओं का अभ्यास (३ से ६ मास तक किये जाने पर) मानसिक विकृतियो से मुक्ति दिलाता है। सम्यग्दर्शन की पूर्णता प्राप्त होती है जिससे सुख-दुःखादि की धारणाओं मे परिवर्तन आ जाता है। पदार्थ से होने वाले सुख को सुख नहीं समझना, निमित्तो से हट कर 'उपादान' (आत्मा) पर ध्यान जाना—ये कुछ लक्षण हैं जो साधक की इस स्थिति मे प्रादुर्भूत हैं।

(४) उक्त स्थिति के बाद, सम्यग्दर्शन की प्राप्ति पूर्णता पर पहुँचती है। आग्रह टूट कर अनेकान्त-दृष्टि विकसित होती है। अतीन्द्रिय-ज्ञान की सत्ता का विश्वास जमता है। अतीन्द्रिय सत्य की उपलब्धि-हेतु चेतना गतिशील हो जाती है। अनन्तानुबन्ध (नये मोहों के निर्माण) की समाप्ति होती है। प्रवृत्तियो के जाल बुनने की प्रवृत्ति समूल नष्ट हो जाती है। लेश्या भी परिवर्तित होने लगती है। तेजोलेश्या की स्थिति से अध्यात्म-दृष्टि का विकास प्रारम्भ होता है। उपवास, दीर्घ-श्वास तथा आतापना से तेजोलेश्या विकसित हो जाती है। इस स्थिति मे भीतर के सुखद स्पन्दन जाग उठते हैं। पदार्थ-निरपेक्ष सुख की यह झलक इतनी मधुर होती है कि साधक का उसे छोड़ने को मन नहीं करता। ध्यान की धारा भी बदल जाती है।

(५) घनीभूत अनुप्रेक्षाएं ध्यान बन जाती है। ध्यान की अवस्था मे ही वास्तविक सत्य उभरता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कोई अदृश्य-शक्ति सत्य को सम्प्रेषित कर रही हो। सारी सचाइयाँ प्रकट होने लगती है। चिन्तन चलता है और वह चिन्तन लम्बे काल मे ध्यान बन जाता है।

ध्यान की स्थिति के लिए राग-द्वेष-राहित्य जरूरी है, ध्यान का विषय चाहे जो कुछ भी हो। ध्यान, ध्यान है, एक परमाणु का भी ध्यान, ध्यान है और आत्मा का ध्यान भी 'ध्यान' है—दोनों की शुद्धता मे कोई फर्क नहीं (यदि राग-द्वेष रहितता हो)। अपाय-विचय, विपाक-विचय, संस्थान-विचय आदि ध्यान के भेद एक दृष्टि से सत्य को खोजने के उपाय हैं। इस प्रकार 'धर्म-ध्यान' का क्रम गतिशील होता जाता है। इसमे वस्तु-धर्मों के ध्यान की प्रक्रिया होती है जिससे रहस्यों का उद्घाटन होता है। धर्म-ध्यान की स्थिति मे पदानुसारिता, बीज-बुद्धि, कोष्ठ-बुद्धि आदि लक्षण प्रादुर्भूत होते है। शरीर की निश्चलता, कायादि का संयम, श्वास की मन्दता, वृत्तियों की स्थिरता, व्यवहार मे उत्तेजना का सर्वथा अभाव—ये धर्म-ध्यान वाले योगी की बाहरी कसौटियाँ है। लेश्या मे शुद्धता बढती जाती है। शुक्ल-लेश्या की स्थिति विकसित होने पर वीतरागता, कषायों की निर्मलता, चित्त की शुद्धि आदि स्वत. प्रकट होते हैं। इस स्थिति मे साधक निरन्तर आनन्द अनुभव करने लगता है।

(६) ध्यान की क्षमता विकसित होते-होते चित्त की स्थिरता व मन की क्षमता मे वृद्धि स्वाभाविक रूप से हो जाती है और फल-स्वरूप मन मे विशेष प्रकार के चैतन्य का जागरण होता है, वह है—समत्व की प्रज्ञा। अध्यात्म-विकास का पहला मोड था—भेद-ज्ञान (आत्मा व शरीरादि को भिन्न-भिन्न समझना) अब इस दूसरे मोड—'समत्व' से जीवन का नया अध्याय शुरू हो जाता है। हेय को जानने की ही नहीं, अपितु हेय को छोडने की क्षमता आ जाती है। अहिंसा, संयम, तटस्थता—के भाव 'समत्व' से अनुस्यूत है। समस्त सावद्य प्रवृत्तियों का विसर्जन तथा मन की समाहित स्थिति—समता के लक्षण है। पर अभी समत्व का शिखर दूर रहता है। अत समत्व के शिखर पर पहुँचने-हेतु, ध्यान की धारा का निरन्तर प्रवाह चालू रहता है।

(७) अप्रमाद पर विजय प्राप्त होती है तब हिंसा, असत्य आदि सभी दोष शान्त हो जाते है। समत्व की स्थिरता तथा वीतरागता का विकास—ये उत्तरोत्तर वृद्धिशील रहते हैं। अप्रमाद के विकास से चैतन्य की सुषुप्ति से होने वाले दु खो का अर्जन समाप्त हो जाता है। शुद्ध चैतन्य की अनुभूति से शुद्ध चैतन्य स्वरूप की प्राप्ति सम्भव है। साधना-काल का साध्य अब स्वभाव बन जाता है। अप्रमाद के विकास से जागरूकता का विकास, जागरूकता के विकास से राग-द्वेष-मुक्त क्षणों के अनुभव मे वृद्धि, फल-स्वरूप कषाय-बन्धनों मे शिथिलता एवं वीतरागता का विकास—इस क्रम से वीतरागता की स्थिति प्राप्त हो जाती है। आत्मा मे अनन्त चतुष्टय का प्रादुर्भाव (अनन्त दर्शन-ज्ञान-वीर्य-चारित्र) हो जाता है। इस अनन्त चतुष्टयी का अनुभव ही आत्मा का साक्षात्कार या आत्मोपलब्धि है।

अवशिष्ट आयु का भोग कर, स्थूल शरीर के साथ सूक्ष्म शरीर को भी छोड कर, सर्वथा अमूर्तिक आत्मा, सहज-स्वरूप मे स्थित हो जाता है।

(४) 'जैन-योग' कृति का मूल्यांकन (उल्लेखनीय विशेषताएँ)

आलोच्य कृति के 'आशीर्वचन' मे आचार्य श्री तुलसी ने इस पुस्तक की उल्लेखनीय विशेषताओं का संकेत किया है—"साधना उनकी (महाप्रज्ञ युवाचार्यजी की) विशेष रुचि का विषय था। मेरे निर्देश का योग मिलने से वह अधिक पुष्ट हो गई। उनके अनुसंधान की विधा रही—शास्त्रों का दोहन, तथ्यों का समाकलन, पद्धति का

निर्धारण, वैज्ञानिक तथ्यो के साथ तुलना, प्रयोग और अनुभव। इन सबके आधार पर एक परिष्कृत पद्धति का स्थिरीकरण हुआ, जो आज 'प्रेक्षा-ध्यान-साधना' के नाम से प्रयुक्त हो रही है।''

आचार्यश्री के उक्त कथन से इस कृति का उद्देश्य यह है कि प्राचीन शास्त्रो का दोहन कर तथा समस्त तथ्यो का समाकलन कर, जैन-साधना-पद्धति की परिष्कृत पद्धति का निरूपण, जो वैज्ञानिक तथ्यो के साथ तुलनात्मक दृष्टि रख कर किया गया हो और साथ ही स्वयंकृत साधना-अनुभवो व प्रयोगो से परिष्कृत हो। आलोच्य कृति इस उद्देश्य मे सफल कृति है—इसमे तनिक भी सन्देह नहीं। संक्षेप मे, आलोच्य कृति की निम्नलिखित विशेषताएँ है—

(१) प्रेक्षा-ध्यान-पद्धति का निरूपण :

वर्तमान युग की सबसे बडी समस्या या चिन्ता हे—मनोविकार, आधि, मानसिक रोग। मानव इस चिन्ता से छूटने के लिए प्रयत्नशील है। महाप्रज्ञ युवाचार्यश्री का, इस समस्या का समाधान प्रस्तुत करने की दृष्टि से, चिन्तन चला और 'जैन-योग' कृति उसका फलित-रूप सामने आया। आचार्य श्री तुलसी ने 'आशीर्वचन' मे इस कृति की पृष्ठभूमि व स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है—''यह एक चिरन्तन प्रश्न का समाधान है और अन्तर्यात्रा का सोपान। इसका आरम्भ होता है अस्तित्वबोध के आत्मलक्षी बिन्दु से··· ''। ''प्रेक्षाध्यान की पूरी प्रक्रिया ही 'जैन-योग' है।''

चिन्ताओ से मुक्ति 'अन्तर्यात्रा' से ही प्राप्त हो सकती है। किन्तु सामान्य जन, तब तक इस अन्तर्यात्रा के लिए सन्नद्ध नही हो सकता, जब तक उसे कोई साधक अनुभव की दिशा न बता दे। स्वयं महाप्रज्ञजी ने 'जैन-योग' मे स्वीकार किया है—''साधना का पहला क्रम है—साधना के जिज्ञासु को, छोटा या बडा, कोई-न-कोई अनुभव करा देना चाहिए जिससे उसकी प्रेरणा जागृत हो कि यह मार्ग मेरे लिए श्रेयस्कर है। यतिभोज ने लिखा है—आचार्य का कर्तव्य है कि वे शिष्य को कोई-न-कोई अनुभव करा दें जिससे कि वह उस दिशा मे गति कर सके'' (पृष्ठ ९५)। अत सामान्य जन के लिए यह कृति लिखकर एक निर्देशक या आचार्य की भूमिका निभाई गई है।

इस कृति के माध्यम से ऐसी पद्धति प्रस्तुत की गई है जिसके माध्यम से साधक चेतना के सूक्ष्म-से-सूक्ष्मतम स्तरो से गुजरते हुए चैतन्य-केन्द्र तक पहुँच सके और आत्म-साक्षात्कार के अनिर्वचनीय आनन्द को पा सके। वह पद्धति ध्यान-योग की 'प्रेक्षाध्यान-पद्धति' है। प्रेक्षाध्यान-पद्धति का विस्तृत व सुव्यवस्थित निरूपण इस कृति के पृष्ठ १०१ से १०५ तक किया गया है। परिशिष्ट-२ (पृष्ठ १५५-१८२) भी 'आचाराग मे' प्रेक्षाध्यान के तत्त्व शीर्षक से उद्धरण व उनके अर्थ संगृहीत है जो काफी उपयोगी व ज्ञानवर्द्धक है।

(२) शास्त्रों का दोहन :

इस कृति का प्रणयन प्राचीन योग-शास्त्रीय ग्रन्थो के गम्भीर अध्ययन का प्रतिफल है। उनका अध्ययन एकागी नहीं, व्यापक है और साथ ही उदार दृष्टिकोण से ओतप्रोत। उन्होने, जैनेतर ग्रन्थो का और सभी जैन-सम्प्रदायो की कृतियो का जो उत्स था—उसे इस कृति मे अन्तर्हित किया है। [पीछे के पृष्ठो मे जो समीक्षा प्रस्तुत की गई है, उसमे नीचे टिप्पण के रूप मे जो उद्धरण दिए गए है वे उनके प्रतिपाद्य विषय की शास्त्र-सहमति व प्राचीन परम्पराबद्धता को पुष्ट करते है।] ग्रन्थ के परिशिष्टो (१-२) मे शास्त्रीय उद्धरण संगृहीत भी है जिनसे ग्रन्थ की

प्रामाणिकता मे वृद्धि हुई है। आ० हरिभद्र के अनुसार शास्त्रो की उपयोगिता वैसे ही है जैसे किसी अन्धे को, उसका हाथ पकड कर, अभीष्ट वस्तु तक पहुँचा देना, हाथ का स्पर्श कर देना।

लौकिक उदाहरण : विषय को स्पष्ट व बोधगम्य बनाने की दृष्टि से यत्र-तत्र लौकिक उदाहरण प्रस्तुत किए गए है। जैसे (पृष्ठ ५० पर) अभय कौन होता है ? जो शास्त्रो का सहारा नहीं लेता—इस तथ्य को पुष्ट करते हुए सैनिको की निर्भीकता को अभयाभास सिद्ध किया गया है। इस प्रसंग मे अनेक लौकिक उदाहरणों के माध्यम से यह स्पष्ट किया गया है कि जहाँ भी अशान्ति है, शास्त्रों का आश्रयण है, वहाँ भय की स्थिति है ही।

इसी तरह (५१-५२ पर) सेठ व भिखारी के एक उदाहरण द्वारा संस्कारो का परिग्रहपना सिद्ध किया गया है।

दो होने की स्थिति मे टकराव होगा ही, इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए शेर की कथा का संकेत किया गया है जिसमें अपनी परछाई देखकर शेर के कुएँ मे कूद पडने की घटना है (पृष्ठ ५६ पर)।

(३) प्रयोग और अनुभव :

आलोच्य कृति की 'प्रस्तुति' में लेखक ने आश्वासन दिया है—"इस पुस्तक से जैन-योग के शास्त्रीय स्वरूप की ही नहीं, किन्तु अनुभूत स्वरूप को जानने मे भी सहयोग मिलेगा", इस आश्वासन को पूरी तरह इस कृति मे निभाया गया है। "जैन-योग, स्वाध्याय की ही नहीं, प्रयोग की भी प्रक्रिया है" (आचार्य तुलसी, 'आशीर्वचन')। इस कथन से 'जैन-योग' विषय की प्रयोगानुबद्धता स्पष्ट है।

कोरा शास्त्रीय ज्ञान-साधना का एकांगी ज्ञान है। जब तक उस ज्ञान के साथ प्रयोग व अनुभव का पुट न हो, वह पूर्ण नहीं कहा जाएगा। आचार्य समन्तभद्रकी दृष्टि मे भगवान (महावीर) का युक्ति-शासन प्रत्यक्ष व आगम—दोनों से अविरुद्ध होता हुआ अर्थ-प्ररूपक है। महाप्रज्ञ जी के शब्दो मे साधना का समूचा मार्ग अनुभव का मार्ग है, (पृष्ठ ६५)। यद्यपि "भौतिक सिद्धान्त की भाँति सब पर समान रूप से घटित होने वाला निश्चित सिद्धान्त नहीं, वह व्यक्तिगत प्रश्न है (पृष्ठ-७), तथापि किसी अनुभवी व्यक्ति के मार्ग-निदेशन के बिना तत्त्व-दर्शन सुलभ नहीं। इष्टोपदेश मे गुरु-उपदेश व अभ्यास—इन दोनों से आत्म-अनात्म-विवेक का होना बताया है। सज्ज्ञान की सार्थकता इसी मे है कि उसका अभ्यास या क्रियान्वयन हो। आचार्य हरिभद्र के मत मे शास्त्र-तर्क, ध्यानाभ्यास—इस त्रिविध प्रज्ञा के द्वारा उत्तम 'योग' प्राप्य है।

संसार मे दो प्रकार के विद्वान होते है, एक तो वह जो स्वयं तो समाधान पाए हुए होते है एवं विद्वत्ता से पूर्ण भी, किन्तु दूसरे को समझाने के कौशल की कमी के कारण अपने ज्ञान को दूसरे मे संक्रान्त नहीं कर पाते। दूसरे प्रकार के विद्वान् वे होते है जो स्वयं कम भी जानते हो, पर दूसरों को समझाने का कौशल उनमें अच्छा होता है, जिससे वे अपने ज्ञान को, उसी रूप मे (या कभी-कभी अधिक स्पष्टता से) दूसरे में संक्रान्त करने मे सफल होते है। महाकवि कालिदास ने उस विद्वान् को सिरमौर बताया है जिसमे दोनों प्रकार की विशेषताएँ हों—अर्थात् जो स्वयं भी विज्ञ हो और दूसरों को समझाने मे भी कुशल[1]। महाप्रज्ञ युवाचार्य मुनि श्री नथमलजी

(१) शिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था, संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता।
यस्योभय साधु स शिक्षकाणां धुरिप्रतिष्ठापयितव्य एव ॥
—मालविकाग्निमित्र

वैसे ही विद्वन्मूर्धन्य है जो स्वयं भी योग-विद्या-पारंगत है और इस 'जैन-योग' कृति से उनकी योग्यतम प्रशिक्षकता उजागर हुई है।

जैन-योग कृति के पृष्ठ १४९-१५४ पर 'भ० महावीर के साधना-प्रयोग' का निरूपण हुआ है। साथ ही, 'प्रयोग और परिणाम' शीर्षक परिच्छेद के अन्तर्गत तीन अध्यायो मे अर्हंविसर्जन (पृ० १३९-१४१), कायोत्सर्ग (पृ० १४२-१४३), तथा संकल्प-शक्ति (पृ० १४४-१४८), इन तीनो के अभ्यास-क्रम का प्रयोगात्मक निरूपण प्रस्तुत किया गया है।

(अ) अर्हंभाव-विसर्जन का अभ्यास-क्रम—

भेद-ज्ञान का ६ मास तक दृढ अभ्यास करें। फिर आत्मानुभूति के ध्यान का अभ्यास प्रारम्भ किया जाय। सुखासन पर बैठ कर दोनो नथुनो के नीचे-ऊपर के ओठ पर मन को केन्द्रित करें, मानस-चक्षु से श्वास-प्रश्वास के आवागमन को देखें, दस मिनट तक श्वास-क्रिया को चलने दें, तदनन्तर चैतन्य के स्पन्दन का अनुभव करें। इस अनुभव की स्पष्टता आने पर, शुद्ध चैतन्य की अनुभूति का यत्न करें। शरीर के अवयवो मे, और अन्त मे समग्र शरीर मे चैतन्यानुभूति का उदय होने पर आत्मावलम्बी ध्यान की सिद्धि होगी। कुम्भक का अभ्यास ध्यान मे सहायक होगा। कुम्भक द्वारा लीन मन को आत्मानुभूति की अजस्र-धारा मे प्रवाहित करने से अहंवृत्ति स्वत उन्मीलित होगी। इसके बाद परमशून्यता की स्थिति तक पहुँचने का प्रयास प्रारम्भ करें। 'अहं-प्रत्यय' का विलय होने पर परम-शून्यता की स्थिति प्राप्त हो सकती है। कायोत्सर्ग से दैहिक-शून्यता, ममत्व-विसर्जन से मानसिक-शून्यता तथा अहप्रत्यय के विलय से, चिन्मय-स्वरूप से तादात्म्य होने पर, परम-शून्यता की स्थिति प्राप्त होती है। उक्त शून्यता मूर्च्छा या निद्रा नही, चैतन्य की तीव्रतम अनुभूति या मन का चैतन्य के साथ माध्यम-विहीन सम्पर्क है (अत शून्याशून्य की स्थिति कही जा सकती है)।

(ब) कायोत्सर्ग : अभ्यास-क्रम—

दशवैकालिक मे भिक्षु को बार-बार कायोत्सर्ग का साधक कहा गया है। कायोत्सर्ग-साधना के चार (प्रक्रियाएँ) स्तर है। प्रथम स्तर मे शरीर का शिथिलीकरण, द्वितीय स्तर मे स्थूल शरीर से सम्बन्ध-विच्छेद कर, सूक्ष्म-शरीर से दृढ सम्बन्ध स्थापित करने का यत्न, तीसरे स्तर मे तैजस-शरीर से सम्बन्ध की स्थापना, कार्मण-शरीर के साथ सम्बन्ध की स्थापना, भेद-विज्ञान का अभ्यास, ममत्व-विसर्जन की स्थिति, चौथे स्तर मे कायोत्सर्ग-विधि के साथ-साथ संकल्पो को दोहराना—(जैसे मेरे शरीर का विसर्जन हो रहा है, ममत्व विसर्जित हो रहा है तथा मैं आत्मस्थ हो रहा हूँ—इन संकल्पो को बार-बार दोहराना) होता है।

(स) संकल्प-शक्ति : अभ्यास-क्रम—

संकल्प-शक्ति या निश्चय-दृढता से 'योग' की सिद्धि मे सहायता होती है। मन मे अपने विचार को कुछ क्षणो तक ऊँचे स्वर से बोलें, कुछ क्षणो तक मन्द स्वर मे दोहराएँ, फिर मानसिक रूप मे दोहराएँ। यह भावना भी करें कि मस्तिष्क के पृष्ठ भाग से रश्मियाँ निकल रही हैं। (ये संकल्प श्वास के रेचन-काल (निकालते समय) नहीं दोहराने चाहिएँ।) संयम-निष्ठा से भी संकल्प-शक्ति विकसित होती है। भावनाओ के पुट से संकल्प-शक्ति मे प्रचुर वृद्धि होती है। जप भी भावना का एक प्रकार है। किसी एक विषय की भावना का प्रतिदिन कम-से-कम

एक घंटा, और पूर्ण सफलता के लिए तीन घंटे का अभ्यास करना चाहिए। कायोत्सर्ग कर ५-१० बार दीर्घ श्वास लें, जिस संस्कार को मन मे दृढ करना चाहते है, उसे दोहराना शुरू करें, धीरे-धीरे तन्मय हो जाएं—यह अभ्यास की विधि है।

(द) ध्यान-शक्ति के अनुभूत चमत्कार—

महाप्रज्ञजी ने यत्र-तत्र अनुभवो के उदाहरण प्रस्तुत कर 'योग-विधि' के प्रति आकर्षण जगाया है। पृष्ठ-५४ पर ध्यान के अभ्यास से शरीर मे होने वाले दर्द की अनुभूति के समाप्त होने का उल्लेख है। जिस स्थान पर दर्द हो, उसी स्थान पर ध्यान (५-१० दिनो तक) करते रहने से कष्ट का भान ही समाप्त हो जायेगा।

(४) नवीन तथ्यों का समाकलन—

'जैन-योग' कृति मे कई नवीन तथ्यो का समाकलन है, जैसे—(१) कुडलिनी, (२) भावधारा, आभामण्डल, (३) चैतन्य-केन्द्र, (४) लेश्या और मानसिक चिकित्सा।

(क) भावधारा और आभा-मंडल—

'जैन-योग' कृति के पृष्ठ १११ से १२० तक 'भावधारा और आभामंडल' विषय का निरूपण है। पौद्गलिक-द्रव्यों से प्रभावित होकर हमारे विचार जो आकार लेते हैं, उसे 'चैतन्य-लेश्या' कहा जाता है। हमारे विचारो से प्रभावित होकर पौद्गलिक-द्रव्य जो आकार लेते हैं, वह पुद्गल-लेश्या है, इसे ही आभा-मण्डल कहा जाता है। यह आभा-मण्डल चर्म-चक्षु से नहीं देखा जा सकता, उसे देखने के लिए अतीन्द्रिय प्रतिभा का विकास जरूरी है और यह प्रेक्षा-ध्यान से सम्भव है। आभा-मण्डल को देखकर सम्बद्ध व्यक्ति के विचारो को भी देखा जा सकता है। आभा-मण्डल का निर्माण तैजस शरीर से निष्पन्न होता है, व्यक्ति की मृत्यु पर ही इस आभा-मण्डल का क्षय होता है। (वस्तुत तो यों कहना चाहिए कि इस आभा-मण्डल की क्षीणता पर ही वास्तविक मृत्यु कही जाती है)।

विशुद्ध-लेश्या की भावधारा द्वारा चैतन्य-केन्द्र स्वत जागृत हो जाते है, चैतन्य-केन्द्रो पर अवधान का नियोजन करने पर भी वे जागृत हो जाते है। जागृत चैतन्य-केन्द्रो की स्थिति मे तेजस् आदि शुद्ध-लेश्याएं प्रकट होती है। इस प्रकार हमारी भाव-धाराओ—लेश्याओ की शुद्धता चैतन्य-केन्द्रो की जागृति से सम्बद्ध है। शुभ-भावनाओ से हमारे आभा-मण्डल मे निर्मलता आती है। अशुभ भावना से बचने के लिए बाहरी निमित्तो का भी उपयोग किया जाता है। निर्मल भावना, ध्येय और उसके अनुरूप रगो का चयन कर, अनेक मानसिक समस्याएं सुलझाई जा सकती है। विशिष्ट ज्ञान या अतीन्द्रिय-ज्ञान पढने, या चिन्तन-मनन से नहीं, अध्यवसाय और लेश्या की विशुद्धि होने पर सम्भव है।

(ख) चैतन्य-केन्द्र—

जैन-योग (पृ० १२१ से १२४ तक) 'चैतन्य-केन्द्र' सम्बन्धी निरूपण है। आत्मा के चैतन्य और बाह्य जगत् के बीच मे कर्म-शरीर के बादल छाए हुए है, पर जैसे बादलो के होने पर सूर्य का पूरा प्रकाश ढँक नहीं जाता, वैसे ही चैतन्य पूरा आवृत्त नहीं होता। कर्म-शरीरगत ज्ञानावरण की क्षमता जितनी विलीन होती है, उतने ही स्थूल शरीर मे ज्ञान की अभिव्यक्ति के केन्द्र निर्मित हो जाते हैं—ये केन्द्र ही चैतन्य-केन्द्र है। इन्हें ही हठयोग व

तन्त्र-शास्त्र मे 'चक्र' की संज्ञा प्राप्त है। शंख, कमल, स्वस्तिक, ध्वज, कलश—इन विविध आकार वाले चक्रो—चैतन्य-केन्द्रो के माध्यम से इन्द्रियातीत-ज्ञान (अवधि-ज्ञानादि) की रश्मियाँ छन-छन कर बाहर आती है। एक मनुष्य मे एक चैतन्य-केन्द्र भी विकसित हो सकता है, अनेक भी विकसित हो सकते है। इनके विकास का हेतु ध्यान है। ध्यान की धारा जिस दिशा मे प्रवाहित होती है, उस दिशा के चैतन्य-केन्द्र जागृत हो जाते है और वे चैतन्य रश्मियो के बहिर्निर्गमन के माध्यम बन जाते है। चैतन्य-केन्द्र की प्रेक्षा से कारण-विशुद्धि और आवरण-विशुद्धि दोनो सम्भव होते है। आवरण की विशुद्धि होने पर चैतन्य का प्रवाह उपलब्ध हो जाता है, पर शरीर-प्रदेश की विशुद्धि भी आवश्यक है, अन्यथा बाह्य अर्थ को जानना सम्भव नही होगा।

नाभि, हृदय, कंठ, नासाग्र, भृकुटि, तालु और शिर—ये चैतन्य-केन्द्र है। इन ज्ञात चैतन्य-केन्द्रो के अलावा स्थूल-शरीर के ऐसे अन्य परमाणु-स्कन्ध है जो अतीन्द्रिय-ज्ञान के माध्यम बनते है। चैतन्य-केन्द्रो की जागृति कितनी जल्दी हो सकती है—यह बात सम्बद्ध व्यक्ति की आवरण की, सघनता और विरलता पर निर्भर करती है।

(ग) तेजोलेश्या (कुंडलिनी)—

पाचन, सक्रियता व तेजस्विता का मूल तैजस शरीर है। यह पूरे स्थूल शरीर मे व्याप्त है। विद्युत, प्रकाश या ताप की त्रिविध शक्ति इस तैजस शरीर मे होती है। स्वाभाविक तैजस शरीर सब प्राणियो मे होता है और यह कभी स्थूल शरीर से बाहर नही निकलता। किन्तु तपस्या से प्राप्त तैजस शरीर मे शरीर से बाहर निकलने तथा अनुग्रह व निग्रह करने की शक्ति होती है। तप द्वारा प्राप्त यह लब्धि ही तेजोलेश्या कही जाती है।

सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होने पर भी तैजस शरीर के दो विशेष केन्द्र है—मस्तिष्क और नाभि का पृष्ठ-भाग। ये दोनो स्थान तेजोलेश्या के महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन जाते है।

तेजोलेश्या के विकास के कई साधन है—संयम, ध्यान, वैराग्य, भक्ति, उपासना, तपस्या आदि। आतापना, शांति-क्षमा तथा निर्जल-तपस्या ये तीन इसके विकास-स्रोत है। तेजोलेश्या की विद्युत-धारा जिस शक्ति-संस्थान या चैतन्य-केन्द्र पर पडती है, वह उपलब्ध क्षमताओं की अभिव्यक्ति का माध्यम बन जाता है, इस लिए तेजोलेश्या का अतीन्द्रिय ज्ञान की परस्पर-सम्बन्धता कही जाती है। तेजोलेश्या एक चुम्बकीय स्थान का निर्माण करती है, वही-क्षेत्र अवधिज्ञान के प्रस्फुटित होने का माध्यम बनता है।

कुंडलिनी—

तेजोलेश्या ही कुडलिनी है। प्राचीन साहित्य मे 'कुडलिनी' नाम नहीं प्राप्त होता, पर तंत्रशास्त्र व हठ-योग के प्रभाव से उत्तरवर्ती साहित्य मे इसका उल्लेख है। अग्नि-ज्वाला के समान लाल वर्ण वाले पुद्गलों के योग से होने वाली चैतन्य की परिणति का नाम तेजोलेश्या है जो तपस्या की विभूति से होने वाली तेजस्विता है।

(५) वैज्ञानिक तथ्यों के साथ तुलना—

आज का मानव केवल श्रद्धा या अन्धविश्वास पर चलना नहीं चाहता। वह तर्क या युक्ति से जिसे सही समझता है, उसे स्वीकारता है। वैज्ञानिक पद्धति या व्यवस्थित पद्धति द्वारा प्रतिपादित तथ्य को वह पसन्द करता है। स्वयं योगशास्त्र के आचार्यो ने, श्रद्धा-मात्र से बोधगम्य पदार्थ को इष्ट मानने से नकारा है। किसी वस्तु की

परीक्षा करने के उपरान्त ही उसे ग्राह्य करना चाहिए। जैन-दृष्टि दुराग्रह-हीनता के साथ पदार्थ की समीक्षा करने पर बल देती है। युक्ति को पूर्णत: जैनाचार्यों ने नहीं नकारा। आचार्य हरिभद्र ने योगशास्त्र के निरूपण के प्रारम्भ मे कहा—"मैं युक्ति-मार्ग का अनुसरण कर योग-मार्ग का निरूपण कर रहा हूँ।"

महाप्रज्ञ युवाचार्य मुनि श्री के मत मे अनुभव ही हमारे पास एक मात्र साधन बचता है जब हम चेतना की समाधि मे जाते है (पृ-९५)। अनुभव करा दिया जाय तो वह पदार्थ प्रत्यक्ष की अनुभूति में आ जाता है। जहाँ प्रत्यक्ष है, वहाँ तर्क के लिए अवकाश ही नहीं रहेगा। फिर भी जहाँ हम स्थूल बातों पर चर्चा करते है, युक्ति की उपयोगिता रहती है और वैज्ञानिक पद्धति से तुलना भी, तथ्य की पुष्टि मे सहायक बनती है। यही कारण है कि 'जैन-योग' कृति मे यत्र-तत्र वैज्ञानिक तथ्यो के साथ तुलना या वैज्ञानिक आविष्कारों से सामंजस्य स्थापना करने का यत्न दृष्टिगोचर होता है।

(१) पृष्ट ३३ पर ऊर्जा द्रव्य के वैज्ञानिक सापेक्षवाद के सिद्धान्त को उल्लेख कर मूर्च्छा व मूढता का परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट किया गया है। जैसे—ऊर्जा (Energy) का घनत्व या द्रव्य मे परिवर्तन, और द्रव्य (Mass) का ऊर्जा मे परिवर्तन, विज्ञान-सम्मत प्रक्रिया है, वैसे ही मूर्च्छा की सघन-ऊर्मियो का मूढता मे, और मूढता का मूर्च्छा की तरंगों मे परिवर्तन समझना चाहिए।

(२) मनोबल लब्धि वाला व्यक्ति एक अन्तर्मुहूत मे चौदह पूर्वो का परावर्त्तन कर सकता है। इस विशिष्ट शक्ति पर सामान्यत भरोसा या विश्वास नहीं किया जा सकता। किन्तु इसे (पृष्ठ ४२-४३ पर) कम्प्यूटर के आविष्कार का उल्लेख कर बोधगम्य बनाना सरल है। कम्प्यूटर द्वारा एक सैकेण्ड मे एक-लाख-छियासी-हजार गणित के भागो (विकल्पों) का समाधान सम्भव हो सकता है तो लब्धियुक्त व्यक्ति के लिए ४८ मिनट मे चौदह पूर्वो (शास्त्रों) का परावर्तन कैसे असम्भव है?

(३) तेजोलेश्या की जागृति आतापना है—इसकी पुष्टि मे वैज्ञानिको द्वारा चूहो के भोजन पर किये गए प्रयोगों का उल्लेख (पृष्ठ-७१ पर) किया गया है।

(४) समता-प्रतिष्ठित व्यक्ति के लिए संसार का छोटे-से छोटा प्राणी, यहाँ तक कि सामान्य वनस्पति भी, अवध्य हो जाती है, किसी प्राणी के वध से द्विविध प्रभाव होता है, एक तो उस प्राणी की मृत्यु और दूसरा उस वध-कर्ता की आत्मा के स्वाभाविक स्वरूप का हनन—इस तथ्य को (पृष्ठ-८२ पर) वैज्ञानिक पर्यावरण-विज्ञान (Ecology) के सिद्धान्त से अधिक बोधगम्य बनाया गया है। पर्यावरण-विज्ञान के अनुसार प्रकृति का कोई भी अंश यदि अस्तव्यस्त रहता है तो प्रकृति का सारा चक्र ही अस्तव्यस्त हो जाता है।

(५) योगाचार्यों द्वारा निरूपित चक्रों की तुलना व समता वर्तमान विज्ञान-सम्मत 'सिक्रिशन आफ ग्लैण्ड्स' से (पृ०-९६ पर) बताई गई है, और विज्ञान व अध्यात्म की खाई पाटी गई है। आज वैज्ञानिक जिन्हें शरीर-ग्रन्थियाँ कहते हैं, उन्हें प्राचीन योगाचार्य 'चक्र' कहते है।

(६) पौद्गलिक-लेश्या या आभा-मण्डल को, वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा प्राणियो व पौधों के आसपास देखी गई सूक्ष्म विद्युतीय गतिविधियों का उल्लेख कर (पृष्ठ ११२ पर), विश्वसनीय बनाने का यत्न किया गया है।

ऐसे और भी उदाहरण है जिनसे विज्ञान की, अध्यात्म के क्षेत्र में उपयोगिता सिद्ध की गई है और विषय को सहज बोधगम्य भी बनाया गया है।

इस प्रकार जैन-योग कृति अत्यन्त उपादेय बन पडी है, लम्बे समय से चली आ रही कमी की पूर्ति करती है और योग-साधना-पद्धति का सुस्पष्ट व सुव्यवस्थित स्वरूप उपस्थित करती है।

मेरी कामना है—

महाप्राज्ञो युवाचार्यः, योग-विद्योपदेशकः।
मुनिर्धीमान् नथमलः, चिरं जीयाद् विदाम्बरः ॥

卐

किसने कहा मन चंचल है ?

—डॉ० वचनदेव कुमार
एम० ए०, पी-एच० डी०, डी-लिट्०
अध्यक्ष हिन्दी-विभाग राँची-विश्वविद्यालय

अनादि-काल से ही भारतवर्ष मे योग की साधना प्रचलित रही है। फलत योग विषयक धारणाओ के स्पष्टीकरण के प्रयत्न मे ढेर सारी पुस्तको का लेखन किया गया। युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ-कृत 'किसने कहा मन चंचल है ?' योग-सम्बद्ध विषयो के आवश्यक उपादानो की चर्चा से समन्वित एक ऐसी पुस्तक है जो साधना, ध्यान, तपस्यादि की जटिलतम और उलझी हुई कड़ी को, सरलतम व्याख्या के द्वारा, सहज-सरल भाषा मे सुस्पष्टता प्रदान करती है।

साधना की उच्च भावभूमि मे प्रविष्ट होकर सफलता की उपलब्धि कर लेना, कम दुष्कर और दुरूह कार्य नहीं। साधना, ध्यान अथवा तपस्या एक ऐसी प्रणाली है, ऐसी प्रक्रिया है, शान्ति-प्राप्ति का एक ऐसा सक्षम मार्ग है—जिसकी सफलता एक दिन मे सम्भव नहीं, इसके निमित्त सतत प्रयत्नशील और सचेष्ट रहने की जरुरत है। वर्षों साधना मे लीन रहने के बावजूद साधक, साध्य की प्राप्ति मे असफल ही रहता है। लेकिन इतना-भर तय है कि अपने उद्देश्य की सिद्धि मे साधक सफल हो सकता है—अगर नियमानुकूल सदाचरण मे बँधकर वह साधना के प्रति समर्पित भाव रखे।

आज का मानव-समुदाय निरन्तर भौतिक उपलब्धियो के प्रति साकाक्ष रहता है। उसकी प्रतीति ऐसी कि जीवन की समस्त एषणाओं और कामनाओ की परितुष्टि भौतिक सम्पदाओ के माध्यम से ही हो सकती है परन्तु मनुष्य जिस वेग और तीव्रता के साथ भौतिकता के पीछे दौड रहा है, वह उतना ही अशान्त और उलझनो मे फँसता जा रहा है। वस्तुत अगर व्यक्ति सुख-शाँति का आकाक्षी है, उसका अन्वेषी है तो निश्चित तौर पर उसे आध्यात्मिकता के घेरे का संस्पर्श करना होगा, उसमे प्रविष्ट होकर सुख-शान्ति की खोज करनी पड़ेगी।

प्रस्तुत पुस्तक मे जिन ध्यान-सूत्रो की चर्चा उपलब्ध होती है, जिन प्रयोगों की ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट किया गया है, अगर उसे अमल मे लाने का प्रयत्न मानव-जाति करे तो उसमे दु खों और कष्टों से उबरने की क्षमता उत्पन्न हो सकती है और वह सुखपूर्वक अपना जीवन व्यतीत कर सकता है। क्योकि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन-काल मे सुख-शान्ति की प्रबल आकांक्षा से परिचालित होता है।

पुस्तकीय सामग्री का विभाजन तीन खण्डों में, शिविरों के आयोजन के क्रमानुसार, किया गया है। इन तीन खण्डों—दर्शन का नया आयाम, शक्ति-जागरण, मानसिक प्रशिक्षण—मे अलग-अलग विषय-सूत्रों पर प्रकाश डाला गया है। ज्ञातव्य है कि—'समय-समय पर प्रेक्षा-ध्यान के शिविर आयोजित होते हैं। उनमे ध्यान के प्रयोग चलते हैं और साथ-साथ ध्यान के विषय मे चर्चा भी मिलती है। उक्त तीन खण्डों को पुष्टता प्रदान करने के निमित्त

प्रथम खण्ड के अन्तर्गत नौ, द्वितीय खण्ड के अन्तर्गत दस तथा तृतीय खण्ड के अन्तर्गत बारह उपशीर्षक समाविष्ट है।

प्रथम खण्ड के प्रत्येक उपशीर्षक के विषय का प्रारम्भ प्राकृत के ध्यान-सूत्रो से किया गया है जिसका हिन्दी-रूपान्तर भी प्रस्तुत है। पश्चात् इसके हिन्दी के वाक्यो मे ध्यान-सूत्रो को, मूल-मंत्रो को निबद्ध किया गया है। पुन उन्ही बिन्दुओ का विवेचन-विश्लेषण, उदाहरण सहित किया गया है। ये सूत्र-वाक्य पाठक के मन मे यह बोध उत्पन्न करने मे समर्थ है कि किस उपशीर्षक मे किन विषयो की विवेचना प्रस्तुत की गयी है। विवेचित विषय के मूल तत्त्वो की जानकारी इन सूत्रो से भी उपलब्ध होती है। द्वितीय और तृतीय खण्ड मे प्राकृत के ध्यान-सूत्रो का उल्लेख प्राप्त नहीं होता, मात्र हिन्दी मे ही विषय से सम्बद्ध मूल-तत्त्वो अथवा आवश्यक विचार-बिन्दुओ को उपस्थित करने का प्रयत्न किया गया है।

प्रथम-खण्ड सम्यक् दर्शन, संयम, अप्रमाद, समता, तप, आध्यात्मिक सुख, सत्य की खोज आदि विषयो का आलेख प्रस्तुत करता है। द्वितीय खण्ड शक्ति-जागरण के विविध-सूत्रो का संधान तो करता ही है साथ ही शक्ति-जागरण के मूल्य और प्रयोजन, मानसिक तनाव का विसर्जन, मानसिक सन्तुलन, अध्यात्म की यात्रा, आजादी की लडाई, साधना की निष्पत्ति आदि विषयो की प्रस्तुति भी करता है। तृतीय खण्ड मानसिक प्रशिक्षण भाव-धारा से जुडा हुआ है जिसके अन्तर्गत चेतना का तीसरा आयाम, मानसिक शक्ति का विकास और उपयोग, व्यक्तित्व का नव-निर्माण, मानसिक स्वास्थ्य, अध्यात्म का रहस्य-सूत्र, अध्यात्म और व्यवहार पर अभिमत प्रकट किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक मे इस सत्य को स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है कि मन की चंचलता ही समस्त अवगुणो को उत्पन्न करने वाली है। अगर इसकी चचलता को अवरुद्ध कर दिया जाय, इसे स्थिरता प्रदान किया जाना अगर सम्भव हो सके तो व्यक्ति विविध अवगुणो और दोषो के जाल से उबर सकता है। मायावी और छद्मवेष-धारी संसार, व्यक्ति को अपने झूठे आकर्षण मे आजीवन कैद करना चाहता है। मनुष्य अपनी अज्ञानता-वश उस कथित आकर्षण मे इस प्रकार लिप्त हो जाता है कि अन्य कष्ट-निवारक मार्गों का अनुसंधान नहीं कर पाता और न ज्ञानियो और योगियो द्वारा निर्देशित पथ का अनुसरण ही कर पाता है।

साधक के लिए विवेक-चेतना के जागरण के साथ-ही-साथ साधना-क्षेत्र मे सफल होने के लिए नाडी-संस्थानो का परिज्ञान भी आवश्यक है। पुस्तक मे तपस्या के अर्थ की व्याख्या नये सिरे से उपस्थित की गयी है। तपस्या का अर्थ शरीर क्षीण करना नहीं। 'शक्ति का ह्रास जिससे हो वह धर्म का कार्य नहीं हो सकता।'

संयम की साधना-विधि पर भी विचार किया गया है। कृतिकार ने बताया है कि प्रमाद के कारण व्यक्ति को अपनी अनन्त शक्ति का बोध नही हो पाता। प्रमाद से आच्छादित हो जाने पर चेतना लुप्त हो जाती है। इस सन्दर्भ मे प्राचीन साधको की प्रणालियो तथा तीर्थंकरो के आचार-व्यवहार की भी चर्चा की गयी है। जगह-जगह पर पुस्तक मे महावीर, बाहुबली, पतंजलि जैसे साधको की साधना और उनके सदाचरण के द्वारा इस बोध को जागृत करने की चेष्टा की गयी है कि वे सभी अपनी अनन्त और अजस्र शक्तियो से भलीभाँति परिचित और जानकार थे। सहिष्णुता, संयमशीलता आदि गुणो से उनका व्यक्तित्व आपूरित था।

आज का साधक तत्क्षण परिणाम की आकाक्षा से निकल, बेचैन हो उठता है। परिणामत उसे सफलता की प्राप्ति नही होती, उसकी साधना भंग हो जाती है। पुस्तक-प्रणेता के विचारानुसार विपरीत और प्रतिकूल

परिस्थितियो मे भी साधक को गम्भीर और धैर्यवान बना रहना चाहिए। साध्य तक पहुँचने के लिए साधक को ध्यान मे विशिष्ट दक्षता प्राप्त करने की जरूरत होगी। इसके लिए कुछ ध्यान-सूत्रो का सहयोग आवश्यक है जिसके माध्यम से उसमे शक्तियो का विकास होता है। शक्ति सुषुप्तावस्था मे रहती है फलत उसे जाग्रत करने के लिए साधक को सजग-सावधान रहना चाहिए।

चेतना को विकास की उच्चतम भूमि तक पहुँचने मे एक लम्बी यात्रा तय करनी पडती है। यात्रा के इन सभी पडावो की पुस्तक मे सविस्तार चर्चा की गयी है। ऊर्जा की ऊर्ध्व-यात्रा के विभिन्न पहलुओ को भी स्पष्टता प्रदान की गयी है। शक्ति-जागरण तथा मानसिक प्रशिक्षण के विविध आयामो को भी उजागर करने का प्रयत्न है।

पुस्तक जैन-धर्म से प्रेरित और प्रभावित है। विषय की गम्भीरता और दुरूहता को बोध-गम्य बनाने के निमित्त वैसे सरल, सहज और सम्प्रेषणीय उदाहरणो का प्रस्तुतीकरण किया गया है जिनका सम्बन्ध मानव के दैनन्दिन व्यवहार मे आने वाली वस्तुओ तथा पारिवारिक-सामाजिक जीवन से जुड़े हुए सन्दर्भो से है। कुछ वैसे उदाहरणो की प्रस्तुति भी की गई है जिसके अन्तर्गत आधुनिक वैज्ञानिको के विचारो को समाविष्ट किया गया है। स्थान-स्थान पर शरीर-वैज्ञानिको, मनोवैज्ञानिको, तर्क-शास्त्रियो की अवधारणाओ का भी विवेचन-क्रम मे सन्निवेश किया गया है। आधुनिक विकसित जीवन मे हम जिस परिवेश और वातावरण मे अपना समय व्यतीत करते है उसी परिवेश के बीच से उदाहरणों को मणिकार की भाँति चुनकर सुगुम्फित किया गया है।

आधुनिक वैज्ञानिक व्याख्या के सन्निवेश के कारण ही पुस्तक मे रोचकता और आकर्षण का निर्माण सम्भव हो सका है। अत्याधुनिक विचारो और सन्दर्भो से जुडे हुए उदाहरणो के समायोजन से योग, साधना, तपस्या, ध्यान जैसे क्लिष्ट विषय को समझने के लिए माथा मारने की जरूरत नहीं होती। इस प्रकार के जटिल विषय के बीच भी वाक्य अपने कथ्य की अभिव्यक्ति वेगवती नदी की तरह करते चले जाते है और पाठक तन्मयतापूर्वक उसी तीव्र और प्रखर धार के साथ प्रवाहित होता हुआ दिखलायी पडता है।

यद्यपि पुस्तक सम्प्रदाय-विशेष की चेतनागत प्रवृत्तियो से प्रवाहित और अनुप्रेरित है फिर भी सम्प्रदायेतर व्यक्तियों के लिए भी यह पुस्तक पठनीय है। आधुनिक सन्दर्भो को दृष्टि-पथ मे रखकर ही पुस्तक की संरचना की गयी है। योग-विषयक पुस्तक के बावजूद पूरी पुस्तक के पठन-क्रम मे आद्योपान्त रोचकता-सरसता का अनुभव तो होता है ही साथ-ही-साथ कुछ विषयेतर ज्ञान-विवर्धन करने वाले तथ्यो की सुस्पष्ट जानकारी भी प्राप्त होती है। पुस्तक के वाक्य छोटे-छोटे पर बिहारी के दोहे की तरह 'घाव करैं गम्भीर' वाली उक्ति को चरितार्थ करते हैं। ये वाक्य पूर्णतया विषय-प्रतिपादन मे अतीव सक्षम और समर्थ है। प्रतीत होता है कि जैसे शब्दों का सुनियोजन माप-तौल कर किया गया हो। विषय-प्रतिपादन की विशिष्ट शैली, शब्द-चयन, वाक्य में शब्दों का संगुम्फन, वाक्य-संरचनादि कृतिकार के विलक्षण प्रतिभा-ज्ञान के परिचायक है। पुस्तक-पठन की परिसमाप्ति के पश्चात् भी पाठक इस भाव से परिबद्ध हो जाता है कि वह स्वयं पूरी तरह से उक्त विषयो मे निष्णात है।

पुस्तक जिस प्राचीन भावधारा से सचालित होकर विषयो की सुस्पष्टता के लिए नवीन व्याख्याओ का आधार-ग्रहण करती है वह सर्वथा स्तुत्य और श्लाघनीय है।

—०—

चेतना का ऊर्ध्वारोहण एक : एक तेजस्वी विचारणा

—डॉ० विजेन्द्र नारायण सिंह
रीडर हिन्दी-विभाग
हैदराबाद-विश्वविद्यालय

मनुष्य की आध्यात्मिक जययात्रा का इतिहास उसकी चेतना की ऊर्ध्व-यात्रा का इतिहास रहा है। प्राणि-जगत् मे मनुष्य भी एक पशु ही है और जीवशास्त्रियो ने बतलाया है कि किस प्रकार जीवो का धीमी गति से विकास होता आया है, और मनुष्य शनै शनै इस रूप को प्राप्त हो सका है। जो जीव केवल सहजात-वृत्ति की भूमि पर रहता है वह पूर्णत पशु है। उसमे केवल अवचेतन का तत्त्व रहता है और वह नैसर्गिक क्रियाओ के संदर्भ मे प्रतिक्रियाएँ किया करता है। किन्तु चेतना का ज्यो-ज्यो विकास होता जाता है, उसकी ऊर्ध्वयात्रा चलती चली जाती है, उसी क्रम मे वह मनुष्य, सामान्य मनुष्य और आध्यात्मिक मनुष्य मे रूपान्तरित होता जाता है। धर्म की सारी साधना चेतना का ऊर्ध्वारोहण रही है, और जिस किसी भी उपादान से चेतना को ऊर्ध्वमुखी यात्रा को उत्कोचित किया जा सकता है वे ही उपादान धर्म के रहे है। योगियों ने योग के द्वारा, भक्तो ने भक्ति के द्वारा, ज्ञानियो ने ज्ञान के द्वारा, और प्रेमियो ने प्रेम के द्वारा चेतना के ऊर्ध्वारोहण के महा अभियान मे योगदान किया है और जीव-जगत् के सबसे विकसित प्राणी मनुष्य को देवत्व की ओर ढकेला है।

पूर्वी गोलार्ध के महानतम धर्मो मे जैन-धर्म रहा है और चेतना के ऊर्ध्वारोहण का जैसा महत् प्रयत्न इस धर्म के तीर्थंकरों और मुनियो ने किया है वैसा महत् प्रयत्न संसार की धर्म-साधना के इतिहास मे अन्यत्र क्वचित्-कुत्रेचित ही दीख पडता है। जैन आचार्यों ने उन साधनाओ की खोज की जिनसे चेतना को ऊर्ध्वमुखी उत्कोच दिया जा सकता है। सहस्राधिक वर्षों से चली आने वाली उस महान् परम्परा के आधुनिक श्री महाप्रज्ञ है और उन्हें ठीक ही महाप्रज्ञ की संज्ञा दी गई है। जैन-साधना मे जो कुछ श्रेष्ठ और महत् है, सबको आत्मसात कर उन्होंने चिन्तना के नए गवाक्ष खोले है और अपने तेजस्वी विचार, साधना, लेखन और प्रवचना से हमारी महान् आध्यात्मिक परम्परा को समृद्ध किया है। 'चेतना का ऊर्ध्वारोहण' नामक उनकी प्रस्तुत आलोच्य पुस्तक उन साधनाओं और पद्धतियो पर विचार करती है जो साधनाएँ और पद्धतियाँ चेतना को उदात्त कर सकती है। पुस्तक स्पष्टत: दो खण्डो मे विभक्त है। प्रथम मे चेतना के ऊर्ध्वारोहण की समस्या पर विचार किया गया है, और दूसरे खण्ड मे चेतना और कर्म के परस्पर संबंध का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

महाप्रज्ञ श्री ने समस्या की तह मे जाते हुए यह बतलाया है कि जब तक चंचलता है तब तक चेतना की ऊर्ध्वमुखी यात्रा का आरम्भ नही हो सकता है। जीव-जगत मे यह देखा गया है कि बंदर बहुत ही चचल होते है और जिस अनुपात मे वे चंचल होते है उसी अनुपात मे उनका बन्दरत्व भी सुरक्षित रहता है। केवल पूँछ झड़ जाने से ही नहीं वरन् उसी अनुपात मे चंचलता के सीमित होने से ही बन्दर मनुष्य मे रूपान्तरित हो सके है।

किन्तु मनुष्य अभी भी पशु है। उसकी पूँछ तो झड़ गयी है लेकिन उसके व्यक्तित्व का आभ्यन्तरिक बंदरत्व अब भी बरकरार है। वह अतीत की स्मृतियों में जीता है, भविष्य की कल्पनाओं में जीता है और विचारों की शृंखला में जीता है। ये तीनों उसकी चंचलता को उत्कोचित करते रहते हैं और वह प्रशांत नहीं बन पाता है। उसका मन उस समुद्र की तरह रहता है जिसमें ढेर-के-ढेर ज्वार-भाटे उठ रहे हों और एक ज्वार को रौंदता हुआ दूसरा ज्वार चला जाता हो और दूसरे को तीसरा। मन होता है चंचल और यह चंचलता तब छूटती है जब मन की गति अवरुद्ध हो जाय। मन की गति अवरुद्ध होने का एक ही ढंग है और वह है अतीत और भविष्य में उसकी यात्रा स्थगित हो जाय। मन की अतीत यात्रा का नाम है स्मृति और उसकी भविष्य यात्रा को कल्पना कहते हैं। जब तक मन इन दोनों यात्राओं से वीतराग नहीं बन जाता है, तब तक चेतना की धारा नीचे की ओर बहेगी। चेतना की ऊर्ध्व-मुखी यात्रा के लिए यह आवश्यक है कि हम न तो कल्पना का भार ढोएँ और न तो स्मृति का भार ढोएँ। अतीत और भविष्य दूषित होते हैं। केवल वर्तमान का क्षण शुद्ध होता है। केवल वर्तमान के क्षण में जीने वाला व्यक्ति ही उच्चतर आध्यात्मिक यात्रा की ओर बढ़ सकता है। महाप्रज्ञ जी ने ठीक ही लिखा है कि "वर्तमान का पवित्र पानी, वर्तमान की गंगा का निर्मल जल अतीत की गन्दगी और भविष्य का गँदले-से-गँदला हो जाता है, मलिन हो जाता है और पानी की स्वच्छता चली जाती है।" जीवन-मुक्त वही पुरुष हो सकता है जो अतीत के अनुसंधान और भविष्य की विचारणा से मुक्त हो।

किन्तु, मनुष्य की कठिनाइयाँ अनन्त हैं। वह न तो अतीत से मुक्त हो पाता है और न भविष्य से। यह तभी सम्भव है जब हम वर्तमान के प्रति पूरी तरह समर्पित हो जायँ। इसके लिए महाप्रज्ञ जी प्राणायाम की पद्धति का परामर्श देते हैं। प्राणायाम की पद्धति जैन-परम्परा की पद्धति नहीं है। यह योग-परम्परा की मुख्य भावना है और इस भावना से मन की स्मृति और कल्पना पर नियन्त्रण हो जाता है और चेतना की ऊर्ध्वमुखी यात्रा का आरम्भ हो जाता है। शनै-शनै प्राणायाम मन की चंचलता को शमित कर उसे स्थैर्य प्रदान करता है। स्थिर मन वह मन है जिस मन में स्मृति न हो, कल्पना न हो और विचारणा न हो।

जीव की अधोगति कर्म-दोष से होती है और आचरण का स्रोत जन्म-जन्मान्तर के कर्मों में प्रच्छन्न है। महावीर तीर्थंकर ने यह बतलाया था कि कर्म के भी पुद्गल होते हैं और आत्मा जब शरीर छोड़ती है तब भी कर्म के पुद्गल उसका साथ नहीं छोड़ते हैं। इस प्रकार किसी भी मनुष्य में अनेक जन्मों के कर्म के पुद्गल संपृक्त रहते हैं। और वे उसके आचरण को अनजान रूप से प्रभावित करते रहते हैं। इस प्रकार यह आवश्यक है कि चेतना की ऊर्ध्वमुखी यात्रा तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि जन्म-जन्मान्तर के कर्मों को दग्ध न कर दिया जाय। उनसे राग-द्वेष के सतत् चक्र का संबंध बना रहता है और प्राणी की ऊर्ध्व-मुखी यात्रा हो नहीं पाती है। कर्म की चर्चा का अर्थ है अतीत की चर्चा। इसलिए कर्मों का क्षय आवश्यक है। हमारा आज का कर्म हमारे भविष्य के आचरण को प्रभावित करता है और हमारे अतीत का कर्म, हमारे वर्तमान आचरण का कारण है।

किन्तु एक आयाम ऐसा भी है जो कर्म-चक्र से परे है। कर्म बहुत ही महत्त्वपूर्ण चीज है किन्तु वही सब-कुछ नहीं है। एक और आयाम है और वह है काल का आयाम। विज्ञान के तीन आयाम रहे थे। जब आइन्स-टीन आए तब उन्होंने लम्बाई, चौडाई और ऊँचाई के सिवा काल के आयाम का भी संधान किया। काल का

आयाम भी जीवन-मुक्ति के सन्दर्भ मे उतना ही महत्त्वपूर्ण है। केवल कर्म-दग्धता से ही मुक्ति नही हो पाएगी। कर्म-दग्धता वैसे है जैसे साँप पुराने केंचुल को छोड देता है। किन्तु केंचुल छोडने से ही नही हो जाता, नयी त्वचा भी तो आए। नयी त्वचा कभी-कभी काल-लब्धि पर आती है। जिनकी काल-लब्धि परिपक्व हो चुकी है वे ही जीवन-मुक्ति प्राप्त कर पाते है। अन्य लोग काल-लब्धि के परिपाक की प्रतीक्षा करते रहते है।

• इस शताब्दी मे अरविन्द ने चेतना के आरोहण और अवरोहण पर बहुत कुछ लिखा है। वे योग की परम्परा के आचार्य थे और बडा ही गम्भीर विचार कर गये है। लेकिन दुर्भाग्य से उनका सारा विचार-साहित्य मूलत अंग्रेजी भाषा मे लिखा गया। हिन्दी मे विचार-साहित्य की परम्परा बहुत समृद्ध नहीं है। जैनेन्द्र ने थोडा बढिया लिखा है, लेकिन उनकी अपनी सीमाएँ है। महाप्रज्ञ जैन-धर्म की परम्परा के विचारक है, किन्तु उन्होने योग की परम्परा के श्रेष्ठ तत्त्वो को भी ग्रहण कर बडा ही तेजस्वी चिन्तन किया है। चेतना के ऊर्ध्वारोहण के लिए उन्होने अवचेतन के तिरोभाव को आवश्यक बतलाया है। अध्यात्म की साधना और कुछ नहीं, चैतन्य का निरन्तर, अनवरत अनुभव है और जिस शरीर मे अवचेतन पूर्णत भस्मसात् हो जाता है वह शरीर दिव्यता की प्राप्ति कर लेता है। महाप्रज्ञजी श्रेष्ठ साधक, प्रखर विचारक और श्रेष्ठ वक्ता है। भाषा पर उन्हें जबर्दस्त अधिकार है और भाषा वे लिखते नहीं वरन् उनसे वह प्रवाहित होती है। 'चेतना का ऊर्ध्वारोहण' नामक उनकी पुस्तक से न केवल हिन्दी भाषा का विचार-साहित्य ही समृद्ध हुआ है वरन् हमारी सारी आध्यात्मिकता भी पुष्ट हुई है।

विजय-यात्रा : एक रहस्यवादी गद्य-काव्य

—डॉ० भागचन्द्र जैन भास्कर, डी० लिट्
अध्यक्ष पालि-प्राकृत-विभाग
नागपुर-विश्वविद्यालय

महाप्रज्ञ युवाचार्य कुशल तत्त्वदर्शी और विशुद्ध मानवतावादी संवेदनशील दार्शनिक कवि है, जिन्होंने नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा मे अपना सारा जीवन समर्पित कर दिया है। उनका कवि और लेखक "सत्यं-शिवं-सुन्दरम्" की आस्था मे प्रदीप्त ज्ञान-दीपक की एक अजस्र लौ को संजोये, साहित्य के क्षेत्र मे अवतरित हुआ और क्षीण काया के बावजूद लगातार लेखनी का धनी बना रहा। उनका मंगलमय नैतिक बोध अविकसित, आवृत्त एवं आध्यात्मिक चिन्तन से अनियन्त्रित व्यक्ति को, सांस्कृतिक बोध का जागरण कराता हुआ, आत्म-बोध तक ले जाने का एक अथक प्रयास है।

अन्तर्विरोध से जलता हुआ आज का समाज कितना सतर्क और कितना उदार है, यह इस पर निर्भर करता है कि वह लेखक अथवा कृतिकार को कितना पचा सका है। उसकी मूल्यांकन की कसौटी भले ही अलग हो पर कृतिकार निश्छल भाव से समाज-कल्याण की पृष्ठभूमि मे उतर कर आत्म-चेतना व्यक्त करता आगे बढता चला जाता है। इस आत्म-चेतना की अभिव्यक्ति मे उसकी सांस्कृतिक चेतना की गहराई दिखाई देती है। उसकी हर कृति को पढने के बाद यह आभास होना कठिन नहीं कि कृतिकार, सांस्कृतिक चेतना मे समृद्ध आत्म-चेतना को मानववादी प्रवृत्तियो के आधार पर अभिव्यक्ति देने के लिए कृतसकल्प है।

आलोच्य कृति "विजय-यात्रा" मे युवाचार्य प्रज्ञामनीषी ने आत्मा की, अथ-से-इति तक यात्रा को प्रस्तुत कर दिया है। इसमे तीर्थंकर महावीर के बोधि-लाभ से लेकर सिद्धि-लाभ तक की यात्रा का आलेखन है। यह आलेखन यद्यपि उनकी वाणी पर आधारित कहा गया है पर वस्तुत इसमे कवि की स्वय की कल्पनायें अधिक स्फुरित हुई है। सरस गद्य-गीतों के माध्यम से नये-नये प्रतिमानों का आश्रय लेकर मानव मन मे बैठे सुप्त-अज्ञान प्रमाद को झकझोरने का भरसक प्रयत्न किया है। पृथक्जन के पुनरुज्जीवन का नव-निर्माण उसके हर शब्द मे भरा हुआ है।

'विजय' का तात्पर्य है आत्मा किंवात्मा की साक्षात् अनुभूति और विजेता का तात्पर्य है परमात्मा/विशुद्ध आत्मा। आत्मा से परमात्मा तक की यात्रा का वर्णन 'विजय-यात्रा' का अभिधेय रहा है। भगवान का मोमिल के लिए यह प्रतिबोधन "किं ते भंते। जत्ता! ज मे तवनियमसंयमसज्झायझाण-वस्सय मादीएसु जोगेसु जयणा सेत्तं जत्ता (भग० १८ १० ६४६) कवि का आलंबन है।

कवि ने इस चिन्तन-यात्रा के पाँच विश्राम निर्धारित किये हैं—

(१) बोधि-लाभ

(२) शान्ति-लाभ

(३) दृष्टि-लाभ

(४) समाधि-लाभ और

(५) सिद्धि-लाभ

आगमों में तत्त्वसम्बन्धी उलझनों को प्रस्तुत कर कवि ने उन्हे मूर्त एव सशक्त शब्दो तथा कल्पनाओ के माध्यम से आध्यात्मिक अनुभूति को आत्म-विश्लेषणात्मक मनोरम गद्य-गीतो मे गूँथ दिया है। उनमे व्यक्त चिन्तन, जीवन-बोध और दार्शनिक दृष्टिकोण बडे आकर्षक व हृदयग्राही बन पडे है।

१. बोधि लाभ (पहला विश्राम)

इसमें १७ स्वर हैं जिनके शीर्षक है—(१) अमिट लौ, (२) बादल से घिरा आकाश, (३) अकेला चल, (४) मेरा देश, (५) अन्तर्द्वन्द्व, (६) अभिनय, (७) बन्दी-गृह, (८) बन्दी-गृह के द्वार, (९) संयुक्त राज्य, (१०) चिर-जागर (११) हृदय का [illegible]-आह्वान, (१२) अवगुंठन, (१३) आँख-मिचौनी, (१४) बीज का विकास, (१५) मानवता की विजय, (१६) जागरण का सन्देश, (१७) विजय-दुन्दुभि के स्वर।

प्रथम विश्राम का प्रारम्भ "अमिट-लौ" और अन्त "विजय-दुन्दुभि के स्वर" से होता है। "अमिट-लौ" से साधारणजन को यह प्रतीति करा दी गई कि आत्मा का स्वरूप मूलत अजर, अमर और परम विशुद्ध है परन्तु मिथ्यात्व के कारण उसके ज्ञानात्मक स्वरूप की खिडकियाँ खुल नहीं पातीं। आलोक अमिट है। अन्तर्मुखी होने से ही बाह्यान्धकार का विनाश और अन्तर्ज्ञान-आलोक का जागरण हो सकेगा। जब तक मोह-बन्धन नही टूटता, तब तक काल, स्वभाव, नियति, संचित कर्म, भाग्य (प्रारब्ध-कर्म) और पुरुषार्थ—इस समवाय के सहारे जन्म और बन्धन का अभिनय मिटता नहीं। कवि ने इस अभिनय को फूल के स्वभाव से जोडकर एक सुन्दर कल्पना के साथ स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है—

यह फूल
वृन्त से बँधा हुआ आया है
खिला है
और वृन्त की गोद में ही
सिकुड जायेगा
मिट जायेगा
खिलना भी निसर्ग है
सिकुडना भी निसर्ग है
नियति की कडी से जुडा हुआ यह फूल
वसन्त की गोद में

पलता भी है लुटता भी है,
यह उद्देश्य नहीं जानता,
लक्ष्य नहीं जानता,
यह वृन्त से बँधा हुआ फूल
उन्मेष और निमेष के आवर्त में
फँसा हुआ फूल
खिलता भी है
सिकुड़ता भी है।

संसार के स्वरूप का चित्रण करने के बाद कवि ने शरीर को बन्दी-गृह, स्पर्श, रस आदि को उसके द्वार, वर्गणाओं की सांयोगिक क्रिया को संयुक्त-राज्य, चार गतियों को चार प्रान्त तथा पंचेन्द्रियों को पाँच जातियों का रूप दिया। इसी को विश्वराज कहकर उसकी नागरिकता को निर्बाध बताया। यही संसार है जो द्वन्द्व की ईंटों से बना है, द्वन्द्व का क्रीड़ा-प्राङ्गण है सुख-दु ख आँखमिचौनी-सा है। मिथ्यादृष्टि-जीव इसी में आसक्त है। उसके अज्ञानान्धकार का अवगुण्ठन जैसे ही हटता है, शाश्वत् सुख की अनुभूति का प्रारम्भ हो जाता है। यही मानवता की विजय है। यही जागरण का सन्देश है।

२. चरित्र-लाभ (दूसरा विश्राम)

इसमें १२ स्थल हैं—(१) विजय का अभियान, (२) समर्पण, (३) याचना, (४) वन्दना, (५) शरण, (६) विश्वास-व्यञ्जना, (७) विजय का अधिकार, (८) गहरी डुबकियाँ, (९) आशीर्वाद, (१०) विघ्न-बाधाओं को चीरकर, (११) पवन और प्रकाश, (१२) एक और सब। इस विश्राम का प्रारम्भ परमात्मा से पथ-दर्शन की विनम्र याचना से होता है और अन्त समर्पण, वन्दना, शरण-गमन आदि के माध्यम से तत्त्व-श्रद्धा मे गहरी डुबकियाँ लेता हुआ सम्यग्दर्शन-प्राप्ति के पथ-दर्शन से। इन स्थलों में कवि ने महाव्रतों, परिग्रहों आदि को प्राकृतिक प्रतीकों के माध्यम से स्पष्ट किया है।

३. दृष्टि-लाभ (तीसरा विश्राम)

इसमें ५ स्थल है—(१) विशाल दृष्टिकोण, (२) मूल्यांकन, (३) आलोक-आलोक के लिए, (४) भाग्य-विधाता, (५) लौहावरण से परे। इन स्थलों मे कवि ने अनेकान्तवाद आदि को समझाते हुए धर्म की वास्तविक दृष्टि को प्रस्तुत किया है। यहाँ कवि यथार्थवादी और समसामयिक-सा दिखाई देता है और अनेक प्रकार से धर्म के आनुषंगिक फल को समझाता है। वह द्रष्टा से बार-बार कहता है कि वह रंगीन चश्मे को उतार फेंक दे और स्वयं का दर्शन करे। तभी परमात्मा बन सकेगा—

मैं कमरे के भीतर हूँ,
यहाँ अँधेरे की निरकुशता और उजेले का अंकुश नहीं है,
और नहीं है—

अकेलेपन की निडरता और ताराओं का संकोच,
किवाड खुले हों या वन्द,
कोई आनेवाला नही है,
नहीं है कोई लाने वाला,
दोनों चले गये अपने देश,
तेरे घर की उल्टी रीत है,
मेरे कमरे में घुसा कि घिर गया—
डर से, लाज से,
वाहर खड़े लोगो ने पुकारा,
वह भाग गया,
अन्धेरे की दुनियाँ से,
छुई-मुई की दुनियाँ से,
मैं आ गया अपने घर।

४. समाधि-लाभ (चौथा विश्राम)

इस विश्राम मे २० स्थल है—(१) सत्यं, शिवं, सुन्दरम्, (२) विदेशी सत्ता का प्रदेश, (३) अपने घर मे आ, (४) अकेलापन, (५) रगमंच, (६) द्वन्द्व से निर्द्वन्द्व की ओर, (७) वायु-मण्डल से परे, (८) रूढिवाद की अन्त्येष्टि, (९) उच्छृङ्खलता से परे, (१०) नींद से विदा, (११) जहाँ इन्द्र-धनुष नहीं होता, (१२) जहाँ स्पन्दन नही है, (१३) ममता का देश, (१४) आक्रमण की शल्य-क्रिया, (१५) रेचक प्राणायाम, (१६) यात्रा का निर्वाह, (१७) तट की रेखा, (१८) क्षमा दो, (१९) मैं और मेरा, (२०) आलम्वन की डोर। इन स्थलो मे कवि ने सत्यं, शिवं, सुन्दरम् के प्राप्त करने के लिए साधक के लिए यह सुझाव दिया है कि वह वाहर की ओर न झाँके। उसे जिसे पाना है वह तो भीतर ही है। विदेशी सत्ता का आवाहक तू स्वयं है। अव उससे मुँह मोड ले। कवि के आवाहन का स्वर कितना मार्मिक है, इसे देखिए—

तू ही वता—विदेशी सत्ता को तेरे देश में लाने वाला कौन है?
विजातीय तत्त्वों का आयात तेरे सिवा कौन करता है?
इस अभिनिवेश का निर्माता तू ही तो है,
दुर्ग का सिंह-द्वार किसने खोला?
तू ही तो मदिरा का विक्रेता रहा है,
उस सतरंगी इन्द्र-धनु के सामने तेरे सिवा कौन सिर झुकाता था?
तू ही वता—आत्म-समर्पण की रस्म किसने अदा की?

इस आवाहन के स्वर मे कितनी ममता, कितनी आत्मीयता सत्य की कितनी प्राणमयी प्रतिष्ठा कवि ने

की है, यह द्रष्टव्य है। प्रतिक्रियावादी विजातीय तत्त्वो को दूर कर द्वन्द्व से निर्द्वन्द की ओर, मन्थन से ताप, ताप से कष्ट, और कष्ट सहन से पवित्रता की ओर कैसे साधक को बढना चाहिए, यह कवि के हर शब्द अपनी मान्यता को रूपायित कर रहे है। भेद-विज्ञान प्राप्त कर अप्रमादी महाव्रती शैलेशी अवस्था को प्राप्त कर लेता है। यही समाधि है।

५. सिद्धि-लाभ (पाँचवाँ विश्राम)

इसमे १२ स्थल हैं—(१) उदासीन सम्प्रदाय, (२) निराशा की रेखा, (३) आश्वासन, (४) कुजी नहीं, (५) आशा का द्वीप, (६) चलता चल, (७) क्षितिज के उस पार, (८) प्रतिक्रिया, (९) उलाहना, (१०) आरोहण सोपान, (११) चरम-दर्शन, (१२) विजय का गीत। इसका प्रारम्भ "उदासीन सम्प्रदाय" से हुआ है जहाँ यह कहा गया है कि जड और चेतन मे द्वन्द्व होता है और द्वन्द्व का कारण कर्म है। कर्म का वियोग होने पर ही जीव मुक्त हो जाता है। चार घातिया कर्मो का पूर्ण क्षय होने पर ही आत्म-स्वरूप का पूर्ण विकास होता है। चार अघातिया कर्मो के विनाश होने पर तो वह आत्मा निरावरण बन जाता है, ज्ञाता के साथ ज्ञान का सीधा सम्पर्क हो जाता है, उसे किसी माध्यम की अपेक्षा नहीं रहती और वह क्षितिज के उस पार पहुँच जाता है, अपने स्वरूप मे अवस्थित हो जाता है। यह अमृत का देश है, यह समता का देश है, यह अनन्त का देश है, यह प्रकृति का देश है, यह मुक्ति का देश है।

कवि ने इस स्थल के अन्त में 'विजय का गीत' गाया है जिसमे ससारियो को, प्रमादियों को एक हृदय प्रेरक सन्देश/आह्वान गूँथ दिया है—

मुक्ति के लिए प्रयाण नहीं करता, वह नीद में है।
प्रयाण करता है, किन्तु कष्टों से घबडा पीछे लौट आता है,
वह कायर है।
प्रयाण करता है, पीछे नहीं सरकता,
वह वीर योद्धा है।
ओ वीर!
इन विजातीय तत्त्वों से लड,
नकली लड़ाई से क्या होगा?
युद्ध की सामग्री जो मिली है, वह बार-बार कब मिलेगी?
ओ वीर सैनिको!
यह सर्वस्व-युद्ध का मौका है
यह रहा सामने घर,
जो सर्वस्व त्यागी हैं वे इस घर में रहते हैं,
पूरा साम्य यहीं है,
मैंने इसी अट्टालिका के शिखर से
विजातीय तत्त्वों को उस पार फेंका।

महाप्रज्ञ जी की यह कृति, इस प्रकार, विरोधोक्ति गम्भीरता, पाण्डित्य तथा कल्पनाशीलता को भरपूर संजोये हुए है। विवेचन-शैली में सरलपन है। भाषा में प्राञ्जल एवं अर्थवत्ता है। कवि का समूचा काव्य माधुर्य, लालित्य, प्रतीकात्मक व व्यञ्जक गुणों से आपूर है। शैली विशद, विषयानुकूल और ओजपूर्ण है। रचना स्वस्थ, सजीव और सुसंस्कृत है। भाव-बोध को सम्प्रेषित करने में पूर्ण सक्षम है।

• लाक्षणिक प्रतीकों के प्रयोग में भी कवि का वैशिष्ट्य दृष्टव्य है। पुष्प के माध्यम से संसार/पदार्थ के संयोग-वियोग के भावनाओं का विश्लेषण, रत्न-प्रकाश के माध्यम से आत्मा की चर्चा का स्पष्टीकरण, महासिंधु, दीपशिखा, जल-बुद्बुद आदि जाने-माने प्रतीकों के माध्यम से संसार की नश्वरता की अभिव्यक्ति ने काव्य में एक नये आयाम का विस्तार किया है।

अभिप्रेत को स्पष्ट करने में कवि ने प्रकृति के कोमल और परुष, दोनों रूपों का स्पर्श किया है। [illegible] ही नहीं लिया, उनका मानवीकरण प्रस्तुत कर प्रतीकों को नया रूप-विधान प्रदान किया है। आत्मा से परमात्मा तक की यात्रा में इन प्रतीकों और रूप-विधान के साथ बौद्धिक चेतना की विशेष जागृति और आत्मा की सत्ता व विशुद्ध अभिव्यक्ति की प्रस्तुति कविता का प्रतिपाद्य रहा है। विविध अप्रस्तुत-योजना और उपमान-योजना ने इस प्रतिपादन को और भी सरस व आकर्षक बना दिया है। कवि का बिम्ब-विधान भी विषय के प्रतिपादन में अत्यन्त सहायक रहा है। उसने काव्य में प्राणवत्ता, प्रभविष्णुता और संवेदनात्मकता को बनाये रखा है। बिम्ब-विधान परम्परागत होते हुए भी नया-सा लगता है। उसमें सौष्ठव और नवीनीकरण इतना अधिक हो गया है कि उसे सहज ही अभिधा से ग्रहित नहीं किया जा सकता। उसकी मौलिकता को कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। इस सम्पूर्ण काव्य में अन्तःप्रतिष्ठित संगीत भी कवि की भाव-शक्ति और नव-निर्माण की प्रतिभा को अभिव्यक्त करता है।

"विजय-यात्रा" आद्योपान्त पठन से इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यह वस्तुतः रहस्यवादी काव्य है जिसका मूल कथ्य है विदेशी मार। विजातीय तत्त्व को अपने देश से निष्कासित करना। इसमें सन्निहित भावों विचारों के "आत्मा" जीवन-सौन्दर्य में संगमरमरी ताज की संरचना करते हैं और उसे शाश्वत प्रतिष्ठित करने का स्वाभाविक प्रयत्न करते हैं। कवि का यह गद्य-काव्य जीवन-मूल्यों की तलाश का काव्य है, आत्म-बोध का काव्य है, आत्म-रक्षा का काव्य है जिसमें सैनिक अपनी सुरक्षा और शक्ति की दिशा में कृत-संकल्प है, प्रतिकार व प्रतिशोध से दूर है, आक्रान्ता-प्रत्याक्रान्ता की प्रकृति से परे है। राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय विचारधारा में घूमता कवि मानव को एक नये क्षेत्र में खींच लाना चाहता है जहाँ अकर्मण्यता और निष्क्रियता से दूर रहकर विशुद्ध ज्ञान की, परिपूर्ण प्रज्ञा की प्रतिष्ठा की जा सके। कवि इसमें निःसन्देह सफल हुआ है। इसके लिए उसके व्यक्तित्व को विनम्र प्रणाम।

★

'मैं, मेरा मन, मेरी शान्ति'—

—डॉ० विजयेन्द्र स्नातक
अध्यक्ष . हिन्दी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय

महाप्रज्ञ जी आधुनिक युग के उन चिन्तकों मे अन्यतम है जो भारतीय अध्यात्म-दर्शन की परम्परागत उपलब्धियों से केवल परिचित ही नहीं, वरन उन उपलब्धियो को बहुताश मे आत्मसात् कर विचार तथा कर्म के क्षेत्र मे उन्हें प्रस्तुत करने की क्षमता रखते हैं। मैं उनकी कृतियो के आधार पर उन्हें उच्च कोटि का विचारक और चिंतक तो मानता ही हूँ किन्तु जैन मुनि की कठोर तप-साधना की सिद्धि के कारण अनुकरणीय एवं आचरित सत्य का आदर्श भी मानता हूं। उनकी पुस्तको मे मैंने यह पाया है कि वे जैन-धर्म की परम्परा मे दीक्षित होने पर भी किसी शास्त्रीय जडता से जुड़े नही हैं। सत्य की सतत शोध मे निरत उनकी अनाविल दृष्टि, किसी अवरोध को स्वीकार नहीं करती। किसी भी रूढि या जड मान्यता मे लिप्त नहीं होती। किसी अंधी गली में पहुँच कर, स्थावर की भांति अविचल हो जाना उन्होने सीखा ही नहीं है। मैं जितना अधिक उन्हें पढता हूँ उतना ही आलोक मुझे मिलता है। स्निग्ध, शीतल, शान्तिदायक आलोक विकीर्ण करने वाली उनकी कृतियाँ इस तथ्य का प्रमाण हैं कि उनके पास जो ज्योति है वह बाहर का प्रकाश ही नहीं, मनका प्रकाश देती है।

महाप्रज्ञजी की 'मैं, मेरा मन, मेरी शान्ति' नामक पुस्तक का शीर्षक इतना सीधा, सहज, सरल और स्पष्ट है कि उसकी व्याख्या अनपेक्षित है। किन्तु शीर्षक की ऋजुता मे चिन्तन का गाभीर्य भी अनुस्यूत है, इसे भूलना नहीं चाहिए। 'मैं' का बोध, शास्त्रो द्वारा होता है ऐसा कहना कदाचित् 'मैं' को समझना नहीं है। 'मैं' को जिन दार्शनिको ने 'अहं ब्रह्मास्मि' कहकर ब्रह्म का ही माया शबलित रूप सिद्ध किया था वे भी शायद 'मैं' के अस्मिता जन्य अहंकार की सीमा तक नहीं पहुँचे थे। 'मैं' के भीतर व्याप्त अस्मिता की पहचान के लिए अद्वैत दर्शन का ज्ञान सार्थक नहीं होता। शरीर को 'मैं' के साथ बाँधा नहीं जा सकता। शरीर जो विनश्वर है, अचेतन है, जरा-मरण की उपाधि से संसिक्त है— 'मैं' के अहंकार को जो चेतन, अविनाशी और अजर-अमर है, कभी तदाकार करके देखा नहीं जा सकता। सच भी है जो पुद्गल है उसे भोग्य कहा जाता है, वह 'मैं' को समेट नहीं पाता, जो द्रष्टा और भोक्ता है वह आत्मा है। 'मैं' को उसके द्वारा समझने का प्रयास करना चाहिए। किन्तु दार्शनिक आत्मा के साथ 'मैं' का अविच्छिन्न, तदाकार रूप मे ज्ञान भी सुगम नहीं है। इन्द्रिय और मन का ज्ञान संशय और विपर्यय से युक्त होता है अत वह निर्भ्रान्त नहीं होता फिर किस पद्धति से संशय रहित सत्य ज्ञान प्राप्त करें ? महाप्रज्ञजी का कहना है, यथार्थ का दर्शन इन्द्रियो से नहीं, माध्यम निरपेक्ष चेतना से होता है।

'मैं' एक अहंकारावृत चित् शक्ति है जो वास्तव मे मेरे शरीर एव तज्जन्य व्यापारो से पृथक है। चित् को स्थूलत हम देख नहीं सकते। वह अमूर्त है। यदि 'मैं' की विश्लेषण करते समय चित् के साथ उसका सम्बन्ध निरू-

पित किया जाय तो प्रतीत होगा कि वह जबतक सासारिक बंधनो मे है तबतक सुख-दुःख का भोक्ता तथा परतंत्र है। इसको मोटे तौर पर हम मन के रूप मे चीन्हते है। मन को चंचल, दुर्निग्रह आदि कहा गया है। यह मन भी 'मैं' का सम्पूर्ण रूप से प्रतिनिधित्व नहीं करता। ऐसी स्थिति मे 'मैं' को न तो परिभाषित किया जा सकता है और न उसे किसी रूप मे देखा-परखा जा सकता है। 'मै' को समझने के लिए अपने भीतर ही पैठना होगा और पाना होगा कि किन शक्ति-सकेतो से परिचालित होकर मनुष्य कार्यरत होता है, क्या उन्ही के भीतर 'मैं' का कोई अंश विद्यमान नहीं है ?

'मैं, मेरा मन' मेरी शान्ति मे पहला खंड 'मै और मेरा मन' शीर्षक से लिखा गया है। जिसमें १८ विषयो पर विचार व्यक्त किये गये है। यो ऊपर से देखने मे इन विचार विन्दुओ को परस्पर सम्बद्ध नही कहा जा सकता किन्तु आभ्यन्तर दृष्टि से इनमे कही न कही एक दूसरे को स्पर्श करने, पूरा करने की स्पृहा है। अर्थात 'मैं और मेरा मन' के चतुर्दिक घूमने वाले प्रश्नो से इन विषयो का सम्बन्ध अवश्य है। मेरा अस्तित्व, सुख की जिज्ञासा, मन की चंचलता का प्रश्न, मनोविज्ञान की भूमिकाएँ, तथा अहिंसा विषय की तीनो टिप्पणियाँ इस खंड के मननीय गंभीर चिन्तन की भूमिकाएँ है।

दूसरे खण्ड को धर्म-क्रान्ति शीर्षक दिया गया हैं। धर्म-क्रान्ति शीर्षक कुछ चौकाने वाला प्रतीत हो सकता है किन्तु जिस सहज सरल शैली मे धर्म का स्वरूप इन लेखो मे उद्घाटित किया गया है वह इतना बोधगम्य तथा अनुकरणीय है कि किसी भी पाठक को इसे पढ़कर प्रकाश मिल सकता है। धर्म के सम्बन्ध मे अनेकानेक विभिन्न कल्पनाएँ एव धारणाएँ देखी सुनी जाती है। तब यथार्थ धर्म, सच्चा धर्म क्या है ? धर्म को न छोडने वाला और धर्म को पालन करने वाला व्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार का क्यों होता है ? धर्म को कभी न छोडने वाले अर्थात् हर सम-विषम परिस्थिति मे धर्म पर अडिगरूप से आरूढ रहने वाले व्यक्ति का धर्म क्या केवल "अछूत के हाथ का न खाना है।" यदि यही धर्म है तो धर्म की परिभाषा और क्षेत्र पर पुनर्विचार की आवश्यकता होगी। धर्म का प्रज्ज्वलित रूप महाप्रज्ञ के मत मे एकत्व या समत्व की अनुभूति है। ऐसी स्थिति मे अछूत को अस्पृश्य मान कर समत्व से परे रखना अधार्मिकता का काम होगा। परलोक को सुधारने के लिए चिन्तित रहने वाले तथाकथित धार्मिक व्यक्ति यह भूल जाते है कि इहलोक के बिगडने या विकृत हो जाने पर परलोक नही सुधरता-धर्म इहलोक की नैतिकता पर अवस्थित होकर ही धर्मात्मा का पथ प्रशस्त करता है। किसी कल्पित परलोक के लिए दान-पुण्य, तीर्थ-व्रत आदि से धर्मचर्या सम्पन्न नही होती। जो परलोक के भय से आक्रान्त रहते है वे धर्म-पालन का मिथ्या दम्भ करते है।

धर्म का अध्यात्म से क्या सम्बन्ध है ? क्या अध्यात्म-विहीन धर्म की कल्पना संभव है ? इस प्रश्न को मोटे तौर पर यो समझा जा सकता है कि धर्म का शरीर है सम्प्रदाय और उसकी आत्मा है अध्यात्म। साम्प्रदायिक धर्म कृत्रिम विधि-विधानो और संकुचित दृष्टियो का पुजवन जीता है वह क्रिया-कांड की तत्परता मे अपने वास्तविक अस्तित्व को भुला देता है। धर्म किन्हीं कामनाओ की पूर्ति का साधन न बने वरन् वह स्वतंत्रता, पूर्णता और आनन्द की अनुभूति उत्पन्न करने मे समर्थ हो तभी हम धर्म को लोक-मंगल का साधन मान सकते है। धर्म और उपासना के सम्बन्ध मे व्यावर्तक रेखा द्वारा महाप्रज्ञजी ने उपासनागत-धर्म और आचारगत-धर्म को स्पष्ट किया है।

उनकी मान्यता है कि उपासनागत-धर्म विशिष्ट पद्धतियो से बँधा होता है जब कि आचारगत-धर्म मे आचार की मर्यादा या आचार की पवित्रता पर बल दिया जाता है। अत उपासना गौण है और चरित्र मुख्य। क्रिया-काडो का पुलिन्दा धर्म अवैज्ञानिक है। "धर्म-सम्प्रदाया से ऊपर है, शुद्ध चैतन्य का अनुभव है इस लिए सब देशों और सभी कालो मे वह समान परिणाम उत्पन्न करता है। उसका परिणाम देश कालातीत है, इसलिए वह वैज्ञानिक है।"

धर्म-पालन के लिए जिन-जिन नियमो, व्रतो, सयमो आदि की आवश्यकता होती है उनका स्वरूप भी इस खण्ड मे पृथक्-पृथक् शीर्षक से स्पष्ट किया गया है। क्षमा, मुक्ति, आर्जव, मार्दव, लाघव, सत्य, संयम, तप, त्याग, ब्रह्मचर्य आदि का विवेचन करते हुए धर्म-मार्ग की ओर महाप्रज्ञजी ने पाठक का ध्यान आकृष्ट किया है। ये सभी कर्तव्य है जो धर्म के मार्ग की ओर अग्रसर करने वाले है।

पुस्तक का तीसरा खण्ड 'मानसिक शान्ति के सोलह सूत्र' शीर्षक से लिया गया है। पहले व्यक्तिगत साधना के आठ सूत्रो का विश्लेषण है। वे सूत्र है—उदर-शुद्धि, इन्द्रिय-शुद्धि, प्राणापान-शुद्धि, अपान-वायु और मन शुद्धि, स्नायविक तनाव का विसर्जन, ग्रन्थि-मोक्ष, संकल्प-शक्ति का विकास और मानसिक एकाग्रता। इन आठ सूत्रो मे शरीर और मन दोनो की परिशुद्धि के लिए उपायो का निर्देश किया गया है। मैंने अपने व्यक्तिगत अनुभव से जाना है कि आभ्यन्तर मनः शुद्धि से पहले शारीरिक अवयवो का परिशोधन अनिवार्य रूप से आवश्यक है। उदर, इन्द्रिय, प्राणापान, अपान आदि की शुद्धि के बाद ही मन शुद्धि का मार्ग प्रशस्त होता है। इन शारीरिक शुद्धियो का धर्म से भले ही कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध लक्षित न हो किन्तु मानसिक शान्ति के लिए इन सभी अंगो और साधनो की शुद्धि अपरिहार्य है। संकल्प-शक्ति का विकास शीर्षक लेख मे महाप्रज्ञजी ने सकल्प, जप और भावना को समानार्थक माना है। जप का अर्थ योग-दर्शन मे 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' किया है किन्तु संकल्प का अर्थ तदर्थ भावन नहीं है। सम्यक् कल्पना का बहुत व्यापक क्षेत्र है। स्वयं महाप्रज्ञ श्री ने संकल्प को त्रि-रूपात्मक लिखा है, वाचिक, उपांशु और मानसिका मकल्प का घनात्मक होना अधिक अच्छा है किन्तु कभी-कभी वर्जनाओ के संदर्भ मे हमे ऋणात्मक संकल्प भी करने होते है। अस्तेय इसी प्रकार का ऋणात्मक संकल्प है। अपरिग्रह तो भारतीय धर्म साधना के मूलभूत आदर्शो मे से एक है। संकल्प को मैं जीवनचर्या के संदर्भ मे एक शक्ति के रूप मे स्वीकार करता हूँ। मनुष्य प्रतिदिन जिन नाना विकल्पो मे फँसा रहता है और जिनके कारण वह प्राय कर्तव्याकर्तव्य का सही निर्णय नहीं ले पाता, उसका समाधान एक सत्संकल्प मे है। शत्-सहस्र विकल्पों की अपेक्षा एक दृढ संकल्प की शक्ति कहीं अधिक होती है। भीष्म के सामने जब आत्म-संघर्ष का द्वन्द्व उपस्थित हुआ तब वह विकल्पो से मुक्ति पाने के लिए एक संकल्प की दृढ भूमि पर खडा हो गया। वह संकल्प था मैं विवाह नहीं करूँगा—सत्यवती की संतान राज्याधिकारी होगी। मानस-संघर्ष पल भर मे पिघल गया, पिच्छल मन निर्मल हो गया। शुद्ध सात्विक संकल्प से हृदय-सरोवर तरंगायित हो उठा। संकल्प के मूल मे तो घनात्मक ब्रह्मचर्यव्रत ही था किन्तु वाचिक स्तर पर 'अविवाहित रहूँगा' का ऋणात्मक रूप उसे ग्रहण करना पडा।

मानसिक एकाग्रता को संवाद-शैली मे प्रस्तुत किया गया है। मन को एकाग्र करना प्रत्येक मनुष्य के लिए परमावश्यक है। मन तो चञ्चल वृत्ति के कारण इतस्तत. विषयो मे दौडता ही है। कहने को वह शरीर रूपी रथ का सारथी है। इन्द्रिय-रूपी घोडों पर वही शासन करता है किन्तु उसका निग्रह, वायु के निग्रह के समान कठिन है।

जैन-शास्त्रो मे 'सर्वेन्द्रियोपरम' की साधना का विधान है। यह विधान साधारण जन के लिए दुर्वह होने पर भी काम्य तो है ही।

इसी अध्याय मे सामुदायिक साधना के आठ सूत्रो का विस्तारपूर्वक वर्णन है। सद्व्यवहार, प्रेम का विस्तार, ममत्व का विसर्जन या विस्तार, सहानुभूति, सहिष्णुता, न्याय का विकास, परिस्थिति का प्रबोध और सर्वांगीण दृष्टिकोण। इन आठ सूत्रो की व्याख्या कही सम्वाद-शैली मे है तो कही व्याख्या-शैली मे। सद्व्यवहार शब्द से साधारणत पाठक परिचित होंगे किन्तु व्यवहार मे 'सापेक्षता' की ओर कम लोगो का ही ध्यान जाता है। स्मरण रखना चाहिए कि कृतार्थता, सापेक्षता से आती है। सहानुभूति मानव-समाज की अनिवार्य आवश्यकता है, यह परस्परता के भाव को अक्षुण्ण रखने पर ही अर्जित होती है, विस्तार पाती है, सामाजिक चेतना को संश्लिष्ट करती है। सहिष्णुता तो समाज मे रहने के लिए अपरिहार्य भाव है। विभिन्न प्रकृति, स्वभाव, गुण, कर्म और रुचिवाले व्यक्तियो मे यदि एक दूसरे को सहने की शक्ति न होगी तो सामाजिक व्यवहार असभव हो जायगा। इस सन्दर्भ मे एक बहुत ही उपयुक्त शब्द नारद मुनि ने दिया है—'अनायस-शस्त्र'—बिना लोहे का शस्त्र। यह कौन सा शस्त्र है जो बिना लोहे के भी शत्रुओं को पराजित करता है—विरोधियो को यथाशक्ति अन्नदान, तितिक्षा, ऋजुता, मृदुता, बडों की पूजा—यही अनायस-शस्त्र है। न्याय का विकास और परिस्थिति-प्रबोध, दोनो व्यक्तिगत गुण होने पर भी सामाजिक स्तर पर नितान्त वाञ्छनीय है। सर्वांगीण दृष्टिकोण मे महाप्रज्ञजी ने यह बताया है कि जीवन में मानसिक शान्ति के लिए एकांगी, संकीर्ण और आत्मनिष्ठ दृष्टिकोण बहुत बाधक है। यदि जीवन मे सुख-शान्ति की आकाक्षा है तो स्वस्थ एवं सर्वांगीण दृष्टिकोण अपना कर ही चलना होगा। मानसिक शान्ति के परिगणित इन सोलह सूत्रो को व्यवहार्य बनाने की आवश्यकता को जानते हुए भी हम जीवन मे इनका प्रयोग नहीं कर पाते, फलत अशान्त रहते हैं, दु खी रहते है, बेचैन रहते हैं। मेरा परामर्श है कि शान्ति का वातावरण बनाने के लिए "मै, मेरा मन, मेरी शान्ति", पुस्तक का पारायण करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए कल्याणप्रद सिद्ध होगा। इस प्रकार चिन्तनपूर्ण पुस्तक वही व्यक्ति लिख सकता है जिसने अपने जीवन मे इन समस्त सूत्रो को चरितार्थ किया हो। महाप्रज्ञजी केवल चिन्तक या विचारक नहीं, वे कर्म-योगी, तपस्वी और सच्चे साधक हैं। जीवन के गहन-कान्तार मे प्रवेश कर उन्होने दुर्गम-पथ को देखा और समझा है। उनकी साधना व्यक्ति-निष्ठ होने के साथ समष्टि-कल्याण को लेकर चली है अत उनका प्रत्येक शब्द, प्रत्येक वाक्य और प्रत्येक प्रवचन सामाजिक स्तर पर संवेदनीय, प्रेषणीय एवं मननीय बन गया है।

★

सम्बोधि

—डा० राममूर्ति त्रिपाठी
एम० ए, पी एच० डी०, डी० लिट्
अध्यक्ष हिन्दी विभाग,
विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

प्रस्तुत कृति महाप्रज्ञ जी के चिन्तन से प्रसूत एक नव्यतम उपलब्धि है। मुनि जनो का जीवन ही चिन्तन और ध्यान के माध्यम से स्वरूपोपलब्धि की ओर स्वयम् जाना और दूसरो को भी ले जाने के लिए होता है। कहा जा सकता है कि प्रस्तुत कृति मे जिन शाश्वत सत्यों का समुद्घाटन हुआ है वह कोई नूतन नही है, उसका उल्लेख पहले के सत्यदर्शियो ने भी किया कराया है। स्वयम् महाप्रज्ञ ने इस आक्षेप का उत्तर "दो शब्द" में देते हुए कहा है यह स्याद्वाद ही तो है कि कोई नया ही नही होता और कोई पुराना नहीं होता। एक समय आता है पुराना-नया बन जाता है, नया पुराना बन जाता है। यह ग्रन्थ न नया है और न पुराना। पुराना इसलिए नहीं है कि इसकी भाषा अर्धमागधी नहीं है, भगवान् की भाषा मे नही है। वस्तुत उक्त आक्षेप इसी कृति के लिए नहीं, प्रत्येक धारा के मूल प्रवर्तक ग्रन्थ की परवर्ती व्याख्याकृतियों के लिए समान रूप से लागू होता है। गोस्वामी तुलसीदास की "मानस" जैसी कृति सारी सामग्री नानापुराणनिगमागम सम्मत होने से तत्वत अनूदित ही है-पर क्या उस प्रयास का "नये" की तरह अभिनन्दन नहीं हुआ ? और भारतीय संस्कृति का काल चक्र इतना पुराना है कि हर धार्मिक प्रवक्ता या प्रवर्तक यही मानता है कि वह जो कुछ कह रहा है- अनादि परम्परायात है- समय के प्रवाह से या तो वह विस्मृत हो गया था या छिन्न मूल हो गया था। गीताकार कृष्ण ने जिन नैष्कर्म्ययोग का व्याख्यान गीता के माध्यम से किया, वह विस्मृत का उद्धार ही था—

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदु: ।
स कालेनेह महता योगो नष्ट: परन्तप ॥
स एवायं मयातेऽद्य योग: प्रोक्त: पुरातन: ।

एक और बात भी महत्वपूर्ण है और वह यह कि शाश्वत धर्मो का आख्याता शाश्वत ही हो सकता है-कोई निर्दिष्ट व्यक्ति ही कैसे हो सकता है-ऐसा होने से तो उपदिश्यमान तत्व की शाश्वतता हो जाती रहेगी। ब्राह्मणधर्म मे ही नहीं, बौद्धधर्म मे भी मिलिंद ने कहा कि बुद्ध ने प्राचीन अवरुद्ध मार्ग को ही पुन अनावृत किया है। जैन परम्परा भी स्वीकार करती है कि तीर्थंकर किसी एक देश और काल मे नहीं होते। वे समय-समय पर आते हैं और सत्य का उद्घाटन कर चले जाते है। जिसका अन्तस् ज्ञान से आलोकित है वह अकारण मानवजाति के दुख से दुखी होकर उन्हें "सत्य" की याद दिलाता है।

ज्ञानालोकित चेतस्क महाप्रज्ञों के निरूपण मे यद्यपि "सत्य-भेद" नहीं होता, प्रतिपाद्य एक ही रहता है'

परन्तु प्रतिपादन की शैली बदल जाती है, उपस्थापन पद्धति या निरूपण की योजना बदल जाती है—अत प्रतिपादन नया सा लगने लगता है—इसी नयेपन के अनुभव से लिखने की प्रेरणा होती है और पाठक मे पढने की भी रुचि पैदा होती है। बात यह है कि समय-भेद से समझने-समझाने की शैली और भाषा मे पर्याप्त परिवर्तन हो जाता है। इस परिवर्तन को लक्षित कर जनता का कल्याण करने वाला महापुरुष अपने समय की भाषा और शैली मे बोलता है और जनता के गले के नीचे बडी सहजता से उतार देता है। प्रस्तुत कृति की भाषा-शैली, टीका-टिप्पणी ऐसी ही है।

प्रस्तुत ग्रंथ-निर्माण की प्रवृत्ति मे तीसरा कारण यह है कि इसमे "दर्शन" नहीं, "जीवन-दर्शन" को प्रस्तुत करने का संकल्प अधिक प्रखर है। शुद्ध "दर्शन" के प्रस्तोताओ मे स्वपक्ष-परपक्ष, खण्डन-मण्डन का आग्रह प्रतिपाद्य विषय को कभी-कभी आग्रह के अतिरेक से चिन्तन बोझिल तथा जीवन से दूरगामी बना देता है—प्रस्तुत कृति मे यह बात नहीं है। इसीलिए ग्रन्थ की भूमिका इस तरह प्रस्तुत की गई है जिसमे हर व्यक्ति अपने को सम्मिलित कर लेता है—वह स्वयम् एक पक्ष बन जाता है और समस्त पुस्तक के साथ सहचिन्तन करने लगता है, योग देने लगता है, उसमें रम जाता है। जिस प्रकार "गीता" मे "अर्जुन" कार्यक्षेत्र मे सक्रिय किन्तु कर्माकर्म का निर्णय करने मे व्यामुग्ध जनों का प्रतीक है और गत्यावरोध को दूर करने के लिए, गंतव्य तक पहुचने के लिए व्यग्र है। सत्यासत्य का मर्म जिज्ञासु है और कृष्ण उसे अपने उपदेश से छिन्न-संशय कर देते है, उसी प्रकार भगवान महावीर भी बंधन और स्वातंत्र्य-कामिता के बीच अधीर श्रेणिक-पुत्र मेघकुमार को सत्यान्वेषी जिज्ञासु छात्र का प्रतीक बनाकर उपदेश दे रहे है। आवश्यकता थी उस भावना को आज की भाषाशैली मे उतारने की, और इस आवश्यकता की पूर्ति प्रस्तुत कृति ने की है। एक बात और, प्रत्येक गभीर चिंतक किसी बात को अपने ढग से सोचता है और समझता है कि संभव है इस ढंग से वही बात पुन: उपस्थापित की जाय तो अधिक-से-अधिक लोगो को सुख-संवेद्य बन सके। महापुरुष इसलिए भी पुरानी बात को फिर से नया कर प्रस्तुत करता है।

ग्रन्थ की संज्ञा है— 'सम्बोधि"। महाप्रज्ञ ने इसका आशय व्यक्त करते हुए कहा है कि "संबोधि" मानव की वह आँख है जो संशय का समुच्छेद कर देती है। यही वह आँख हे जिसमे देखता हुआ धीर पुरुष, हर वस्तु की गहराई में पहुँचता हे और वहीं से चलता हे और दु:खो का अन्त कर देता है।

स हि चक्षुर्मनुष्याणां काङ्क्षामन्तं नयेत य: ।
लुंठति चक्रमन्तेन वहत्यन्तेन चक्षुर: ।
धीरा अन्तेन गच्छन्ति नयत्यन्तं ततो सव्य ।
अन्तं कुर्वन्ति दु:खानां, सम्बोधिरिति दुर्लभा ।।

आचार्य तुलसी ने इस शीर्षक (सम्बोधि) के गंभीर आशय का निर्वचन करते हुए कहा है कि संबोधि आत्ममुक्ति का मार्ग है। वे सारे मार्ग जो हमे आत्ममुक्ति की ओर ले जाते है—'सम्बोधि' कहलाते है। यह शब्द सम्यक् ज्ञान, सम्यग् दर्शन तथा सम्यक् चारित्र—तीनों को आत्मसात् किए हुए है—ठीक वैसे ही, जैसे पातंजल दर्शन मे 'संयम' शब्द धारणा, ध्यान और समाधि को। कहा है—'त्रयमेकत्र संयम:'।

प्रस्तुत कृति में कुल १६ अध्याय है और ७०२ श्लोक। इस सीमा मे असीम को बाँधकर प्रस्तुत कर दिया गया है। सारांश यो है—प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच संशयात्मा मेघकुमार को समझाते हुए तीर्थंकर कहते है कि उस जैसे सम्यक् दर्शन-सम्पन्न पुरुष को इस प्रकार विचलित नहीं होना चाहिए और वास्तविक तथा स्वभावभूत सुख का आकांक्षी होकर तदनुरूप भावना करनी चाहिए। स्वभाव पर आवरण डालने वालो के पीछे दौडना सुख नहीं है। जिस तरह गीले वस्त्र, तैलाक्त शरीर पर गर्द चिपक जाती है उसी प्रकार कषाय-सिक्त आत्मा पर पौद्गलिक कर्म चिपक जाते है। कलाप, मोह मूलक राग-द्वेष या आसक्ति की आर्द्रता सूख जाय, तो कर्मात्मक आवरण वैसे ही अलग हो जायेंगे जैसे सूखी भीत पर फेंकी जाने वाली बालुका। आत्मा और कर्म का अनादि संबन्ध है पर भावना से इस संबन्ध का विलय किया जा सकता है। दु भोग इसी सबंध की अनिवार्य परिणति है। कहा गया है—"सुखस्य दु खस्य न कोऽपि कर्ता परोददातीति कुबुद्धिरेषा। अहंकरोमीति वृथाभिमान स्वकर्म सूत्रग्रथितोहिलोक ॥" भाव-चक्र कर्म प्रधान है। हमारे सुख-दुख का कर्त्ता हमारा कर्म ही है। इसे दूसरे ने दिया है ऐसा सोचना कुबुद्धि है।

वास्तव मे प्राणीमात्र ऐसा सुख चाहता है जो कभी समाप्त न हो। शाश्वत सुख—पर दौडता रहता है जिस सुख के लिए वह अशाश्वत या भौतिक सुख है, परिणाम मे जो दु खकर होता है। असल मे पुरुष तीन प्रकार के होते है—जाग्रत, अर्धि-जाग्रत तथा अजाग्रत। पहला शाश्वत सुखाकांक्षी होता है, वह अपने विवेक को जाग्रत रखता है और उसका प्रयत्न इसीलिए सतत होता है। अर्धिजाग्रत संशयालु है, वह पौद्गलिक सुख के लिए प्रयत्न करता हुआ जब दु खी होता है तब व्यग्र होकर उससे मुक्त होने की दिशा मे दौडता है। अजाग्रत को शाश्वत और अशाश्वत सुख का विवेक ही नहीं होता। अपने अविवेक के कारण वह पौद्गलिक दु ख की आग मे गलता-पचता रहता है।

यह तो निर्विवाद है कि शाश्वत सुख साध्य है—जो श्रद्धा, ज्ञान तथा आचार की समन्विति से ही सभव है और एतदर्थ साधन है—अहिंसा। अहिंसा स्थूल और सूक्ष्म द्विविध है। द्विविध अहिंसा सिद्ध हो जाने पर समता की लहरें उठने लगती है। पूर्व-जन्म में आस्था रखने वाले पूर्ण धार्मिक मुनिजन अहिंसात्मक सत्कर्म करते है, अपूर्ण धार्मिक सद्गृहस्थ उसे अपूर्ण रूप मे करते है और अधार्मिको की तो बात ही अलग है।

गृहस्थ-जीवन के लिए कभी-कभी समस्या खडी होती है कि जीवन मे हिंसा अनिवार्य है। बिना हिंसा के समूचा गृहस्थ-जीवन बिता लेना असंभव है अत शाश्वत सुख का, अहिंसात्मक सत्कर्म का, गृहस्थ कैसे आचरण करें? तीर्थंकर ने इसका उत्तर देते हुए कहा 'आणाए मामगं धम्मं'। आज्ञा मे कर्त्तव्याकर्त्तव्य का संकेत मिल जाता है—आज्ञा अर्थात् वीतराग का कथन, जिसके मूल में सत्य का सम्यक्-बोध प्रतिष्ठित है। वीतराग-मुनि का कथन है कि यह सही है कि गृहस्थ पूर्ण हिंसा से नहीं बच सकता, पर उस हिंसा से बच सकता है जो अनयकारिणी है। आसक्ति ही, मूल हिंसा है—उससे बचना विवेक और साधना से संभव है। स्थूल हिंसा, हिंसा नहीं है, यदि उसकी प्रवृत्ति आसक्ति-मूलक है। इस प्रकार यदि अनासक्ति की पूर्णत सिद्धि हो जाय तो उसके लिए हिंसा भी अहिंसा ही हो जाती है। अनासक्त साधक स्वशास्त्री है, उस पर शासन नहीं होता। मुक्त का यही अर्थ है। आसक्त दशा सावरण दशा है और अनासक्त निरावरण। निरावरण दशा मे ही ज्ञान, श्रद्धा और शक्ति का पूर्ण विकास होता है। सावरण आत्मा मे तृष्णा सक्रिय रहती है इसीलिए वह प्रवृत्तिमार्गी होता है और प्रवृत्ति से जीव बंधता है—बंधन मे आता है। यह प्रवृत्ति स्थूल और सूक्ष्म दो प्रकार की होती है—योग स्थूल प्रवृत्ति है और

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय सूक्ष्म प्रवृत्ति है। इनकी सामूहिक संज्ञा है—आश्रव। आश्रव से आत्मा पर आते हुए का 'संवरण' और आए हुए की 'निर्जरा' करनी पडती है तभी निरावरण दशा का समुदय होता है।

उक्त साम्य की स्थिति तक पहुँचने के लिए आचरण आवश्यक है और आचरण ज्ञानपूर्वक होता है। ज्ञानपूर्वक किया गया आचरण ही चरितार्थ होता है। परन्तु क्या ज्ञान-मात्र प्रामाणिक होता है, सच्चा प्रकाश होता है? यदि ऐसा ही होता तो ज्ञान को संशयात्मक ज्ञान, विपर्ययात्मक ज्ञान, अनध्यवसायात्मक ज्ञान क्यो कहा जाता? ज्ञान मे संशयात्मकता वैपरीत्य तथा अतिशय अनिश्चय का अश भी मिला रहता है—ज्ञान धुँधला भी होता है। वस्तुत साधक के ज्ञान मे जब आत्मा से सीधा प्रकाश आता है तब तो वह ज्ञान प्रामाणिक होता है अन्यथा अप्रामाणिक। जो साधना से जितना ही अधिक आत्मा का सामीप्य साधता जायगा, आवरण क्षीण करता जायगा—उसका ज्ञान उतना ही प्रकाशमय होगा और ऐसे ज्ञान के आलोक मे किया गया आचरण उतना ही आवरण-ध्वंसक होगा। जिस दिन साधक आवरणो का क्षय कर सर्वथा आत्मलीन हो जायगा, उस दिन ज्ञान और आचार का सम्यक् समन्वय हो जायगा। ऐसे साधक की नैश्चयिक और व्यावहारिक साधना रत्नत्रय-मूलक होती है—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र-मूलक होती है। एक बात और, ऊपर कहा गया है कि प्रवृत्ति, बध का और निवृत्ति मुक्ति का कारण है साथ ही यह भी कि ज्ञान स्वच्छ हो तो आचरण स्वच्छ होगा—इन दो की उपपत्ति किस तरह संभव है? साधना या आचरण से आत्मा का सन्निधान मिलेगा और आत्मा के सन्निधान से वह ज्ञानालोक—जिससे साधना साधना होगी; फलत एक अन्योन्याश्रय होता है। अत इसमे निपटने का एक ही रास्ता है और वह यह है कि यथासंभव "वीतराग-कथन" के आलोक मे आचरण करे। इसी तरह यद्यपि "प्रवृति" कर्म-मूलक है और जब तक कर्मक्षय न होगा, निवृत्ति न आयेगी और निवृत्ति से ही मुक्ति संभव है अत इस ग्रन्थि से छुटकारा पाने के लिए भी आचार्यगण कहते है कि सत्-प्रवृत्ति मे असत् का निरोध होता है और निवृति के क्षण से पूर्व क्षण तक प्रवृत्ति का क्रम चलता रहता है। फलत सत्प्रवृत्ति-निवृत्ति के अतिम विंदु तक पहुँचा जा सकता है।

स्वभाव के विपरीत एक शब्द है—विभाव। कर्मचक्र के कारण आत्मा की वैभाविक विशेषताएँ उत्पन्न होती जो स्वभाव को ढँक देती है, आत्मा बंधन मे आ जाती है। असल मे बंधन मे कर्म का शासन आत्मा पर चलता है और मुक्ति मे आत्मा के शासन मे कर्म चलता है। इस अनुशासन के लिए आवश्यक है कि वह कर्म और कर्म की प्रतिक्रिया के स्वरूप से अधिगत हो। ऐसा अधिगत जिसे हो जाता है वह कर्म-प्रकार को रोककर अकर्मा हो जाता है, विभाव से मुक्त होकर वह स्वभावस्थ हो जाता है।

जैसे ज्ञान के लिए आचार की आवश्यकता होती है वैसे ही आचार के लिए ज्ञान की भी आवश्यकता है। आचरणवान को जानना चाहिए कि "ज्ञेय" क्या-क्या है—तभी साधनोपयोगी अर्थात् "उपादेय" और बाधक अर्थात "हेय" का ज्ञान होगा। महाप्रज्ञ ने इस सदर्भ मे ज्ञेय, उपादेय और हेय की विस्तृत चर्चा की है।

इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ मे दर्शन नहीं, जीवनदर्शन की अत्यत रोचक शैली मे, बोधगम्य ढंग से उपस्थापना की गई है। ऐसे उपादेय और उत्तम ग्रन्थ के निर्माण के लिए महाप्रज्ञ युवाचार्यश्री सहस्रश साधुवाद के भाजन है।

★

जैन-दर्शन और महाप्रज्ञ का प्रमाण-वार्तिक : "सम्बोधि"

—वासुदेव पोद्दार
(कवि, लेखक, गम्भीर-चिन्तक)

महाप्रज्ञ युवाचार्य का श्रेष्ठ काव्य "सम्बोधि" जैन-दर्शन की परम्परा में अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसका एक आयाम जहाँ अध्यात्म की गहनगहराइयों में प्रवेश करता है, वहाँ दूसरा आयाम जैन-न्याय के दिगन्त-व्यापी विस्तार का स्पर्श। महाप्रज्ञ में जहाँ एक ओर आचार्य पूज्यपाद की अभेद्यभेदी दृष्टि है, तो दूसरी ओर आचार्य हेमचन्द्र का सुस्पष्ट प्रांजल प्रवाह। "सम्बोधि" के भीतर दर्शन के विषय को काव्य की ललित विधा में प्रस्तुत किया गया है। अत इतना दुरूह विषय भी अपनी सम्प्रेषणीयता के बल पर प्रांजल और भावपूर्ण हो उठा है। काव्य का कथा-भाग पारम्परिक होते हुए भी अपने परिवेश की अपेक्षा से महाकवि के जीवन का भोगा हुआ यथार्थ है—इस काव्य का लेखक स्वयं एक मुनि है—जिसने स्वयं मुनि के जीवन में उभरने वाली पीडा को भोगा है—उसे अपने चतुर्दिक देखा है, सुना है, जाना है - उस उपेक्षा और अवमानना के विष दंश को झेला है—जो अन्य मुनियों से प्राप्त होती है। अर्हन्त पद-वाच्यता के अर्थ को समझने के लिए महाकवि ने उसे उपादान-गर्भित करते हुए-काव्य के व्यपदेश से अपनी आत्म-यात्रा के उदात्त ऊर्ध्व संतरण के रूप में उसे प्रस्तुत किया है। विश्व-साहित्य में उन काव्यों की एक सुविशाल परम्परा है—जिनकी सचेतन चिन्तन-धारा का मूल विन्दु आत्म-यात्रा के ऊर्ध्व संतरण का महाविषय है, जिनमें महाकवि दाँते की "डिवाइन कॉमेडी", जॉन बनियन की—पिल्ग्रिम्स प्रोग्रेस, मिल्टन का "पैराडाइज लॉस्ट और "रिगेन", कुछ अंशों में गोइटे का "फाउस्ट्स" आदि विशेषतया उल्लेखनीय हैं। इस नवीन काव्य का प्रवर्तन राजा श्रेणिक के पुत्र मेघकुमार की आत्म-यात्रा का महाविषय है। महाकवि अश्वघोष के सौन्दरानन्द में नन्द अपनी आत्म-यात्रा को भगवान बुद्ध की सहायता से सम्पन्न करता है। अर्जुन का मोह-भंग, भगवान श्रीकृष्ण के द्वारा गीता में होता है। मेघकुमार की आत्म-यात्रा भगवान महावीर की अनुकम्पा से सम्पन्न होती है। आचार्यश्री तुलसी ने यही कार्य, लगता है—महाप्रज्ञ की इस काव्यमय आत्म-यात्रा में सम्पन्न किया है। महाकवि की 'सम्बोधि' उसी का परम फल है।

काव्य का कथा-सूत्र अपनी परम्परागत मिथिकल विशेषताओं से युक्त होकर आगे बढता है—महाराजा श्रेणिक के पुत्र मेघ ने भगवान के अमृतमय उपदेश से प्रभावित होकर गृह-त्याग कर दिया। वह मुनियों के कठोर व्रत की चर्या की धारणा कर चुका था। पर प्रथम रात्रि का अनुभव ही उसके लिए विचित्र था। भिक्षु एक के पश्चात् एक आते चले जा रहे थे। पर अब तो कोई उसकी ओर देखता भी न था—कोई उससे बोलता तक नहीं। कहाँ चला गया अब वह सम्मान, वह स्नेह-भरी दृष्टि का मूक आमन्त्रण, इनके हृदय का उदार सम्मोहन। मेघकुमार के भीतर शंका के महामेघों का गर्जन और विद्युत-प्रहार हो रहा था—क्या यही है इनका यह सम्यक् चरित्र—क्या यही है वह सुविशाल सम्यक् दृष्टि। स्वयं को भीतर ही अपमानित और उपेक्षित अनुभव कर रहा था मेघकुमार।

कल तक उसे देखकर मुनि-गण उसे सम्मान दिया करते थे, पर अब तो उससे कोई बोलता भी नही । मेघकुमार इस सारे चिन्ता-मन्थन मे विक्षोभित और विकल होता हुआ प्रात भगवान के चरणो म आकर नत हो गया । भगवान कुमार के भीतर की व्यथा को जान रहे थे । उसके हृदय की यह चित-ग्रन्थि भगवान के नेत्रो से छिन्न-भिन्न होती जा रही थी । उनका वात्सल्य उद्गार मेघ के हृदय के मोह-आवरण को तोडता जा रहा था । मेघ ! तू पूर्व-जन्म मे हाथी था —वन मे व्याकुल होकर जब तू दलदल के भीतर धँसता चला जा रहा था—उसी समय तुम्हारे साथी गज ने तुम पर प्रहार किये थे—तुमने सहन किया । पुन तुम्हारा जन्म एक महागज के रूप मे हुआ । तुम्हारे पास पूर्वजन्म की स्मृति सुरक्षित थी, तुमने अपनी सुरक्षा के लिए एक सुविशाल समतल भूमि का निर्माण करवाया । एक बार जगल म भयकर आग लग गई । वहाँ सारे पशु-पक्षी आत्म-सुरक्षा के लिए एकत्र हो गये । तुमने खुजलाने के लिये ज्यो ही अपना पैर ऊपर उठाया—नीचे एक खरगोश आकर बैठ गया । तुमने उस असह्य वेदना को सहते हुए भी ढाई दिन तक अपना पैर भूमि पर नही रखा—तुम्हे उस क्षुद्र जन्तु के प्राण-विनिपात का भय था । दावाग्नि के शान्त हो जाने पर खरगोश चला गया । जब तुमने धरती पर पैर रखने का प्रयत्न किया—तुम्हारा पैर अकड चुका था—सन्तुलन-विहीन होकर तुम अपने भारी वजन के कारण लडखडाकर गिर पडे और अन्त मे तुम्हारी मृत्यु हो गई । इस प्रकार पशु होकर भी तुम्हारी चेतना कितनी समुन्नत थी, पर आज तुम मुनि होकर भी छोटी-छोटी बातो से विचलित हो रहे हो । यही इस 'सम्बोधि' के उदात्त काव्य की दर्शन-गर्भित महान गाथा है । सम्पूर्ण काव्य का सारशिखर है—'आत्म-सम्बोधि' ।

जैन-दर्शन के अनुसार यह विश्व 'जीव' और 'अजीव' दो स्वरूपो मे विभक्त है । इसका सम्यक्-ज्ञान ही आत्म-तत्त्व की प्राप्ति है । 'अजीव-तत्त्व' को जान लेने पर वहाँ आत्म-बुद्धि स्वत निवृत्त हो जाती है—अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाता है जो स्वयं आत्म-तत्त्व है । अजीव तत्त्व से आत्म-बुद्धि हटते ही वहाँ से आसक्ति ही समाप्त हो जाती है—जो मनुष्य के राग और विद्वेष का प्रधान कारण है । उन ग्रन्थियो के अभाव मे कर्मो के आस्रव का आधार ही छिन्न-भिन्न हो जाता है । आस्रव और बन्ध के प्रहार समाप्त हो जाते है । आत्म-तत्त्व के इस स्वरूप का परम ज्ञान ही निवृत्ति या मुक्ति है । यह परम ज्ञान ही 'सम्बोधि' पद-वाच्य है । इस सम्बोधि को प्राप्त करने का उपायभूत-साधन, जैन-दर्शन मे इस प्रकार स्पष्ट है—

"सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणामप्राप्त प्रापणं बोधिः"[1]

महाकवि महाप्रज्ञ के इस काव्य का उपादान यह सम्बोधि है—जिसका आधार तत्त्व है—सम्यक्-दर्शन-ज्ञान और चरित्र की सम्प्राप्ति । कवि बडी कुशलता से अपने कथ्य का निर्वर्त्तन करने के लिए जैन परम्परा के उपर्युक्त प्राचीन कथा-सूत्र का क्षीण सा आश्रय लेता है । काव्य मे Motif की दृष्टि से भारतीय दर्शन के सर्वमान्य—'जातिस्मर' ज्ञान के सिद्धान्त को काव्य-रूढि के रूप मे स्वीकार करते हुए—कथानक को मेरुदण्ड प्रदान किया गया है । काव्य का कथा-तन्तु यहाँ पहुँच कर यथार्थ की सीमा को प्राप्त कर लेता है—जिसे हम आज की भाषा मे भोगे हुए जीवन का यथार्थ कहते है—महाप्रज्ञ स्वयं भिक्षु है—वे मुनियो के मनोविज्ञान से स्वयं भलीभाँति परिचित है

(१) द्रव्य सं० टी०—३५ १४४

वे उस पीटा से परिचित है जो एक मुनि दूसरे मुनि से उपेक्षा-भाव के रूप मे प्राप्त करता है। इस हीनता-बोध की ग्रन्थि से प्रपीडित होकर ही काव्य का नायक मेघ, भगवान महावीर के पास जाता है। यही कथा का वह प्रवर्तक विन्दु है—जहाँ से कथा सम्वादात्मक शैली मे अपने दार्शनिक काव्य-प्रवाह के साथ सुस्थिर होकर आगे बढ़ती है। कवि का यह सहज मुक्त जीवन बडी सहजता के साथ काव्य की भूमिका बनकर प्रस्तुत होता है—जिसके भीतर भूतल के कठोर स्पर्श से होनेवाली व्याकुलता है, निर्ग्रन्थ संकुल स्थान की भयावह उपेक्षित नीरसता है, वहाँ—कहाँ है सुखद निद्रा—कहाँ है सुखद मसृण, सज्जित शयन-कक्ष—मध्य मार्ग मे ही व्याप्त है शयनका तिरस्कृत बाधा सकुल प्रदेश। छोटी-सी तीन प्रहर की वह रात—महत्वाकाक्षी नये मुनि की प्रथम रात्रि को ही सौ प्रहरवाली काल-रात्रि मे बदल देती है। मुनियो का सहज-सिद्ध-निस्पृह भाव उस भूतल के कठोर स्पर्श को और भी शूल-विद्ध बना देता है—इस वेदना की अति तीव्रता के साथ महाकवि ने अपने उदात्त काव्य की अभिव्यंजना को असीमित विस्तार प्रदान किया है। महान काव्यो के उत्क्रमण की भूमि, वेदना की तीव्र अनुभूति के विना न तो रस-पिच्छल ही हो पाती है—और न काव्य का लोकोत्तर विभावन-व्यापार ही अपरिमित सम्प्रेपण की दृष्टि से सम्भव हो पाता है। महाकवि के इन समर्थ शब्दों का विभावन-व्यापार अपनी गहन वेदना का सहभोक्ता बनाकर हमे मेघकुमार की आत्म-यात्रा का सहयात्री बनने के लिए बाध्य कर देता है—

कठोरो भूतलस्पर्शः स्थान निर्गन्थ-संकुलम् ।
मध्येमार्गं शयानस्य, विक्षेप निन्यतुर्मनः ॥
त्रियामा शतयामाऽभूत्, नाना संकल्पशालिनः ।
निस्पृहत्वं मुनीना तं, प्रतिपलमपीडयत् ॥[१]

पर विपाद का यह क्षण तो मेघकुमार का उसी क्षण समाप्त हो जाता है—जब भगवत्कृपा से उसके भीतर जातिस्मर-ज्ञान का उदय होता है—पश्चात् भावी उदात्त-काव्य तो जैन-दर्शन के तत्त्व-चिन्तन की महती भूमिका है, जिसके भीतर आचार्य हेमचन्द्र-जैसी गहन दृष्टि ही नहीं—भापा मे भी वही सामर्थ्य है—वही प्रवाह। लगता है—महाप्रज्ञ का यह परम श्रेष्ठ काव्य आचार्य उमास्वाति (गृद्धपिच्छ) के तत्वार्थ-सूत्र के इस प्रथम सूत्र पर एक सुविशाल काव्य-वार्तिक बन गया है—

"सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्ष मार्गः"[२]

भारतीय-दर्शन मे भाष्य और वार्तिक की परम्परा—गुरु-शिष्य परम्परा की तरह आगे बढी है। आचार्य श्री तुलसी ने 'तत्वार्थ-सूत्र' पर भाष्य रचना की—शिष्य महाप्रज्ञ ने उस पर वार्तिक का निर्माण कर दिया—जो एक प्रसिद्ध प्राचीन कथानक को अपना आश्रय बनाकर समग्र जैन-दर्शन का उपबृंहण करता है। जैन-दर्शन के इस प्रथम संस्कृत सूत्र-ग्रन्थ का स्थान जैन-धर्म की दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो ही परम्पराओ मे अन्यतम है। वैदिक दर्शन मे जो स्थान महर्षि बादरायण के ब्रह्म-सूत्र का है—वही स्थान जैन-दर्शन मे तत्वार्थ-सूत्र का है।

---

(१) सम्बोधि—१ ६,७

(२) आचार्य उमास्वाति तत्वार्थ-सूत्र—१ १

जैन-दर्शन की अनेकान्त-दृष्टि सर्वत्र आग्रह-मुक्त और परम-उदार है—महाप्रज्ञ ने इसे सम्बोधि मे और भी प्रगाढ किया है। कहना न होगा इस ग्रन्थ पर शिल्प की दृष्टि से ही नहीं—भाव और भाषा की दृष्टि से भी अनवरुद्धता का प्रभाव है। दिगम्बर और श्वेताम्बर-परम्परा के प्रति भी कवि के भीतर कही कोई आग्रह नही—तात्त्विक दृष्टि से उनमे कोई उल्लेखनीय अन्तर भी नहीं है, जो विभेद है वह क्षीण और औपचारिक ही है। अत काव्य के मूल दार्शनिक प्रतिपाद्य पर विचार करते समय हम सोद्देश्य दिगम्बर-सम्प्रदाय के दार्शनिको के सिद्धान्तो का ही अलग रूप मे प्रधान रूप से व्यवहार करेंगे—जिससे ग्रन्थ की गरिमा का मूल्यांकन सम्प्रदायवाद के आग्रह से मुक्त होकर किया जा सके।

'सम्बोधि' के दार्शनिक प्रतिपाद्य पर आने के पूर्व अति संक्षिप्त रूप मे जैन-दर्शन की वैज्ञानिकता पर यहाँ विचार कर लेना समीचीन होगा—किसी भी दर्शन के वैज्ञानिक आधार को भली-भाँति समझे बिना हम यथार्थ-रूप से उसके आध्यात्मिक गाम्भीर्य के भीतर प्रवेश नहीं कर सकते। आज पश्चिम के ज्ञान, विज्ञान और दर्शन ने मानवीय ज्ञान के अपरिमित क्षितिज का वैज्ञानिक उद्घाटन किया है। इस सुविशाल विश्व-ब्रह्माण्ड की इयत्ता को नापा है। उसके अनन्त विस्तार और जटिल रहस्यो को देखा है—फिर भी उसकी समग्रता का रहस्य आज भी सम्पूर्ण रूप में ज्ञान की सीमा से परे है। भारतीय दर्शन की जैन-धारा ने इन समग्र प्रश्नो पर अपने ढंग से सोचा है, उसे देखा है और जाना है। कहना न होगा जहाँ यह वर्तमान विज्ञान पहुँच नहीं पाया—वहाँ भी भारतीय दर्शन के महान आचार्यो की सूक्ष्म-दृष्टि अप्रतिहत है—चाहे सूक्ष्मतम जीवाणुओ के भीतर D. N A और R. N A की विश्लेषित दृष्टि हो, चाहे परमाणुवाद का सिद्धान्त, चाहे वह प्रतिक्षण पर्याय-रूप से प्रवहमान परिणामवाद—'विकास का सिद्धान्त', चाहे आकाश मे मृद्भाण्ड की तरह बिखरे हुए—इन अनन्त महापिण्डो का रहस्य—यह सब जैन-दर्शन की नय के भीतर सुव्यक्त और स्पष्ट है। सम्पूर्ण विश्व उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के व्यापक सिद्धान्त मे बँधा है—चाहे वह प्रोटीन की सिन्थेसिस से युक्त D. N. A की सीमा का Gene जगत हो—चाहे Hoyle की गगातिक धुरियो पर घूमता हुआ आकाश-गगा का विस्तार। सम्पूर्ण पदार्थ, जगत् अपने गुण और पर्याय-रूप मे उत्पाद और व्यय मे युक्त है। जैन-दर्शन, अनन्त चेतन और अनन्त पुद्गल पर सोचता हुआ—एक धर्म-द्रव्य और एक अधर्म-द्रव्य के सिद्धान्त तक चला आया है। काल की, असंख्य कालाणु के रूप मे—Time Atom अवधारणा जितनी वैज्ञानिक है, उतनी ही असाधारण और रहस्यमय है। काल की अन्तहीन धारा-वाहिकता के मध्य उसके समग्र स्वरूप को अनन्त कालाणुओ की गाणतिक अवधारणा के साथ ग्रहण कर लेना सामान्य कार्य नहीं। पर प्रत्येक परमाणु के पारिमाण्डल्य के भीतर काल की नियामकता तो इलैक्ट्रोन की गति के साथ ही स्वय सिद्ध है। जैन-दर्शन के अनुसार प्रत्येक परमाणु, कालाणु की नियामकता के बिना कार्यशील नहीं हो पाता, वह अविभाज्य-रूप से एक नियामक इकाई बन कर उससे युक्त है। आज का सम्पूर्ण विज्ञान प्रतिपरमाणु की काल चेतना तक सीधा नहीं पहुँच पा रहा है—जहाँ जैन-दर्शन पहुँच चुका था। उदाहरण के लिए 'ऐटोमिक वॉच या परमाणु-घडी'' की सैद्धान्तिक प्रतिच्छाया प्रकारान्तर से जैन-दर्शन के इस वैज्ञानिक सिद्धान्त मे प्रतिनिहित है—काल के उत्क्रमण का वैज्ञानिक आधार जैन-दर्शन मे परमाणु की धारणा के साथ प्रतिबद्ध है—

"परमाणु प्रचलनायत्त: समय:"[1]

विज्ञान की सम्पूर्ण शक्ति के साथ Fred L. Polak ने मानवीय चेतना और उपलब्धियों के प्रामाणिक भविष्य ज्ञान को जानने के लिए—Prognostics के नाम से नये विज्ञान का शिलान्यास हाल ही में किया है—पढते समय लगा—यदि उन्हें उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के रूपकात्मक परिवेश के साथ—यदि जैन-दर्शन के काल-सिद्धान्त की तुलनात्मक जानकारियाँ होतीं तो विश्व के समक्ष ऐसे नये तथ्यों का उद्घाटन होता, जो बहुत सम्भव है, मानव-ज्ञान और विज्ञान को चौंका देने वाले होते। जैन-दर्शन में जहाँ काल अमूर्तद्रव्य है, वहीं आकाश भी द्रव्य है। आकाश की द्रव्यगत धारणा पर विज्ञान अभी तक नही पहुँच पाया। मानवीय ज्ञान के क्षेत्र में जैन-दर्शन की इस अति सामान्य भूमिकाओं पर सोचते-सोचते अनेक बार ऐसा लगता है, इस गम्भीर दर्शन को यदि सम्पूर्ण विश्व के ज्ञान, विज्ञान और दर्शन के ऐतिहासिक विकास के तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में आधुनिक विज्ञान की सैद्धान्तिक दृष्टि के साथ सोचा जाय तो मानवीय चिन्तन के वे नवीन रहस्य उद्घाटित होंगे—जिसकी आज के विश्व को परम आवश्यकता है।

महाप्रज्ञ की 'सम्बोधि' के गहन मनोविज्ञान के मूल में जैन-दर्शन की इस वैज्ञानिक अवधारणा का स्वरूप सुस्थिर है। वे स्वयं जैन-दर्शन के महापंडित हैं। कवि ने अपने इस आध्यात्मिक काव्य में 'आचार' को सर्वत्र प्रधानता दी है। जैन-दर्शन के तत्त्व-ज्ञान की महाभूमि—उसका आचार दर्शन है—आचार से रहित वहाँ तत्त्व-ज्ञान का कोई अर्थ नहीं। आचार से हट कर इस दर्शन में सम्बोधि की कल्पना करना कठिन ही नहीं, असम्भव है। इस आचार-दर्शन का सम्पूर्ण विस्तार अहिंसा के भीतर समाहित है—जैन-दर्शन के अनुसार जीवन में जो अहिंसा है, वही सिद्धान्त-पक्ष में अनेकान्त और वही व्यवहार-नय में स्याद्वाद का भाषा-शास्त्र है, जिसे महाप्रज्ञ ने कथा-रूपक के विस्तार द्वारा स्पष्ट किया है। जैन-दर्शन में आचार या चरित्र को ही मोक्ष के अन्तिम साधन के रूप में स्वीकार किया गया है। इस सन्दर्भ में आत्मा पर भी स्पष्ट विचार कर लेना उपयुक्त होगा। धर्म की परिभाषा स्थिर की गई—वस्तु का जो मूल स्वरूप है, उसका अपने स्वरूप में स्थिर हो जाना ही धर्म है। सत् की सत्ता का बाध नहीं—

"नासतो विद्यतेभावो नाभावो विद्यते सत:"[2]

"भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो"[3]

इस सिद्धान्त पर पहुँच कर जैन-दर्शन में आत्मा और पुद्गल दोनों की ही स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार कर ली गई। शुद्ध आत्मा तो विभाव-परिणाम से सर्वथा मुक्त है और आचार के अभाव में वही आत्मावद्ध है। शुद्ध आत्मा के स्वरूप तक पहुँचने में आचार एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। अशुद्ध आत्मा का बन्धन पुद्गल का वृत्त है, जिसे व्यक्ति आचार के गतिशील मनोविज्ञान से तोड देता है। जैन-दर्शन में व्यवहार-नय के द्वारा मूर्तिक मानने का

(१) पचास्तिकाय त० प्र०—२५
(२) भगवद्गीता—२ १६
(३) पचास्तिकाय ग०—१५

तात्पर्य, उसकी शरीर-सम्बद्ध स्थिति को स्वीकार करते हुए ही है। देहान्तर के उपरान्त स्थूल शरीर के विनष्ट होने पर भी—सूक्ष्म कर्म-देह विनष्ट नही होती, इसका विच्छेद होने पर ही व्यक्ति मुक्त होता है। मिथ्या ज्ञान-दृष्टि जहाँ नये बन्धन का निर्माण करती है, वहीं सम्यक्-दृष्टि पूर्व-कर्म के उदय जन्य राग-विद्वेष आदि भावो को सम्यक्-ज्ञान से उन्हे उपशान्त कर देती है, और फलतः वहाँ नवीन राग उत्पन्न ही नहीं हो पाता। कर्मों के बन्धन को काटने का अर्थ है—कर्म-पुद्गल को जीव से पृथक कर देना—

"जीवाद् विश्लेषण भेदः सतोनात्यन्त संक्षय."[1]

ऊपर कहा जा चुका है—सत् का अभाव नहीं होता, यहाँ पर्यायान्तर का अर्थ ही नाश है। जो पुद्गल यहाँ आत्मा के गुणो को प्रच्छन्न कर रहे थे, उनका कर्मत्व-पर्याय नष्ट कर दिया जाता है। जैन-दर्शन मे आत्मा और कर्म-पुद्गल के अनादि सन्बन्ध का उच्छेद ही मोक्ष है। ऐसी अवस्था में इन दोनो तत्वो की सत्ता का अभाव नहीं होता, केवल पर्यायान्तर होता है। संवरण का अर्थ है अपनी सुरक्षा—जिन छिद्रो के द्वार से कर्मो का आश्रव हमारे भीतर प्रवेश करता है—उन छिद्रो के विरोध का नाम संवर है। जब हम इनसे युक्त होते हैं—आश्रव प्रारम्भ हो जाता है—इसके अवरोध का नाम ही संवर या संवरण है।

नैवासतो जन्म सतो न नाशो
दीपस्तमः पुद्गल भावतोऽस्ति[2]

महाकवि महाप्रज्ञ ने इस आश्रव और निर्जरा के मनोवैज्ञानिक गतिशास्त्र को इस प्रकार सुस्पष्ट किया है—

पुद्गलानां प्रवाहो हि, नैष्कर्म्येण निरुद्धयते।
त्रुट्यन्ति पाप-कर्माणि, नवं कर्म न कुर्वतः॥
अकुर्वतो नवं नास्ति, कर्मबन्धनकारणम्।
नोत्पद्यते न म्रियते, यस्य नास्ति पुराकृतम्॥[3]

कवि इसके पश्चात् मोक्ष के स्वरूप को स्पष्ट करता हुआ कहता है—वहाँ मन, वाणी और कर्म की गति नही—वह इसकी पहुँच से परे है—वहाँ मनन और भाषण की प्रवृत्ति भी नहीं होती—वह आत्मा तो अकर्मा है .—

मननं जल्पनं नास्ति, कर्म किंचन्न विद्यते।
विरज्यमानोऽकर्मात्मा, भवितुं प्रयतो भव॥[4]

दूसरे अध्याय के पाँचवें श्लोक मे महाप्रज्ञ कह आये है :—

---

(१) आचार्य विद्यानन्दि-आप्तपरीक्षा—श्लो० ११५

(२) स्वयम्भू-स्तोत्र

(३) सम्बोधि—३·४३·४४

(४) सम्बोधि—३ ४६

यह पुद्गल-जनित सुख तो वस्तुत दु ख-स्वरूप ही है—मोह से घिरा हुआ व्यक्ति सम्यक्-तत्त्व तक नहीं पहुँच पाता :—

यत् सौख्यं पुद्गलैः सृष्टं, दुःख तद् वस्तुतो भवेत् ।
मोहाविष्टो मनुष्योहि, सत्तत्वं नहि विन्दति ॥[1]

जैन-दर्शन के महान आचार्य कुन्दकुन्द ने इसे—'स्वसमय' और 'पर-समय' शब्द से अभिहित किया है —सम्यक्-तत्त्व ही 'स्व-समय' है—और पुद्गल कर्मोपदेश—स्थिति 'पर-समय' है ।

जीवो चरित्तदंसण णाणठ्ठि दो तंहि ससमयं जाण ।
पोग्गलकम्मुवदेसट्ठियं च तं जाण पर समयं ॥[2]

जैन-दर्शन के महापडित आचार्य अमितगति ने ठीक ही कहा है—शुद्ध आत्मा के ध्यान के विना मोहादि कर्मो का उच्छेद ठीक उसी प्रकार नहीं हो पाता—जिस तरह वज्र के विना पर्वत —

न मोहप्रभृतिच्छेदः शुद्धात्मध्यानतो विना ।
कुलिशेन विना येन भूधरोभिद्यते न हि ॥[3]

इसका मूल उद्भव स्थान मोह है—मोह से तृष्णा उत्पन्न होती है—जीवन-भर यह चक्र चलता रहता है—वगुली से अंडा उत्पन्न होता है, और अंडे से यह वगुली, महाकवि के शब्दो मे —

यथा च, अण्डप्रभवावलाका, अण्डं वलाकाप्रभवं यथा च ।
एकंच मोहायतनंहितृष्णा मोहश्च तृष्णायतनं वदन्ति ॥[4]

पर इस शुद्ध आत्मा की ज्योति सामान्य नहीं । इसके प्रकाश मे सम्पूर्ण पदार्थमालिका, यह सम्पूर्ण सृष्टि अपने समग्र काल-प्रवाह पर अनन्त पर्यायों के साथ युगपत् दर्पण के तल-पृष्ठ की तरह आलोकित और प्रतिविम्बित हो उठती है—

तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्त पर्यायैः ।
दर्पण तल इव सकला, प्रतिफलतिपदार्थमालिका यत्र ॥[5]

अर्हन्त-पदवाच्यता के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए यहाँ तक कह दिया गया है—गर्भ मे रहने पर भी यह देह सूर्य की तरह पंक-मुक्त है—वहाँ मति, श्रुत और अवधि तीनो ज्ञान यथावत प्रस्तुत है—सूर्य उदयाचल के वन मे छिपे रहने पर भी क्या कभी अपने महान् तेज से विच्युत होता है :—

---

(१) सम्वोधि—२.५
(२) आचार्य कुन्दकुन्द समयसार—१ २
(३) आचार्य अमितगति—योग-सार-प्राभृत—७ ४
(४) सम्वोधि—२ ८
(५) आचार्य श्री अमृतचन्द्राचार्य-पुरुषार्थ सिद्धयुपाय

गर्भे वसन्नपि मलैरकलङ्किताङ्गो।
ज्ञानत्रयं त्रिभुवनैक गुरुर्बभार॥
तुङ्गोदयाद्रि गहनान्तरितोऽपि धाम।
किं नाम मुञ्चति कदाचन तिग्मरश्मिः॥[1]

आत्मा को पुद्गल से पृथक देखने की सम्यक् दृष्टि का यह प्रतिफल था—अर्हन्त की देह-यष्टि प्रकृति के जल, शीत और उष्ण प्रहारो को सहते हुए भी काष्ठ के टुकडे की तरह महत्वहीन थी —

दृष्ट्वात्मानं पुद्गलाद्भिन्नरूपम्
देवो देहे न स्वबुद्धिं बबन्ध।
तेनात्याक्षीत्तोयशीलातपार्तम्
श्रेयोनिष्ठः काष्ठवद्दूरमेनम्॥[2]

जब हमारा यह विश्व हमारे भीतर चारो ओर से टूट-फूट कर ध्वस्त हो जाता है, ये संकल्प और विकल्प नष्ट हो जाते है—यहाँ तक कि यह इन्द्रियो का व्यापार भी हमारे लिए कोई महत्व नही रखता—ऐसी अवस्था मे हम स्वयं परमात्मा बन जाते है :—

उव्वसिए मणग हैणट्ठे णिस्सेसकरणवावारे।
विप्फुरिए ससहावे अप्पा परमप्पओ हवदि॥[3]

'सम्बोधि' के इस महान् प्राभृत मे भी एक ऐसी स्थिति आती है जहाँ हम परमात्मा बन जाते है। महाप्रज्ञ ने स्पष्ट कहा है कि इन्द्रिय और चित्त का निग्रह, आत्मा से आत्मा का स्पर्श हमे परमात्मा बना देता है

इन्द्रियाणि च संयम्य, कृत्वा चित्तस्य निग्रहम्।
संस्पृशन्नात्मनात्मानं, परमात्मा भविष्यसि॥[4]

इस शुद्ध आत्मा तक पहुँचने के लिए मन का निग्रह परम आवश्यक है—मन ही इन्द्रियो की प्रवृत्ति और निवृत्ति में प्रधान हेतु बनता है —

'इन्द्रियाणां प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च मनः प्रभुः।
मन एव जयेत्तस्माज्जिते तस्मिन् जितेन्द्रिय॥[5]

अहिंसा आदि पाँच महाव्रतो मे स्थिर होने के लिए ज्ञान के कषाय से मुक्त होना परम आवश्यक है—काव्य

---

(१) महाकवि हरिश्चन्द्र—धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य
(२) ,, ,, ,, ,,
(३) आचार्य देवसेन . आराधनासार—८५
(४) सम्बोधि—१६·१८
(५) आचार्य रामसेन · तत्वानुशासन

का नायक मेघकुमार इस चक्र के भीतर फँसकर ही व्याकुलता का अनुभव करता है। रयणमार मे इस कषाय के वश मे होने वालो की अमंयत स्थिति पर स्पष्ट कहा है—

णणी कासायवसदो असंजदो होदि सो ताव[1]

पर आत्म-राज्य निश्चय-नय का महाराज्य है—वहाँ असंयत दृष्टि, असंयत ज्ञान और अमंयत आचरण के लिए कोई स्थान नहीं। यह निश्चय-नय अभिन्न कर्तृ-कर्मादि-विषयक है : —

अभिन्नकर्तृकर्मादि विषयो निश्चयो नय ।
व्यवहार नयो भिन्न कर्तृकर्मादि गोचर ॥[2]

परम दृष्टि से देखा जाय तो शुद्ध आत्मा का स्वरूप सम्यगदर्शन ज्ञान-चरित्ररूप स्वभाव से पृथक नहीं। जैन-मनोविज्ञान के अनुसार विभाव-परिणाम के समय कारणभूत कर्ममल के दूर होने पर व्यक्तित्व स्वयं उस परम निर्मलता को प्राप्त कर लेता है। ऐसी अवस्था मे आत्मा राग-मुक्त होकर मुक्ति-मार्ग मे परिणत हो जाता है —

निश्चयनयेन भणितस्त्रिभिरेभिर्य समाहितो भिक्षुः ।
नैवादत्ते किंचन्न मुंचति मोक्ष हेतुरसौ ॥[3]

महाप्रज्ञ ने आत्मा के शुद्ध स्वरूप को 'सम्वोधि' मे इस प्रकार स्पष्ट किया है—वह न शब्द है, न गन्ध है, न रूप, रम और स्पर्श ही है इसकी परम सत्ता मे वर्तुल आदि किसी भी आकार की कल्पना का प्रक्षेपण भी सम्भव नहीं .—

नात्म शब्दो नगन्धोऽसौ रूपं स्पर्शो न वा रस ।
न वर्तुलो न वायंस्त्र , सत्ताऽरूपवती ह्यसौ ॥[4]

जब अर्हन्त का दिव्य स्वरूप, व्यक्ति के भीतर प्रवेश करता है तो सारी स्थिति ही वदल जाती है। कुमुदचन्द्राचार्य ने अपने 'कल्याण-मन्दिर' नामक स्तोत्र मे कहा है—जैसे वन-मयूर के चन्दन-वृक्ष के पास आकर वैठ जाने से ही वृक्ष पर व्याप्त सर्पो का समूह शिथिल हो जाता है—उसी प्रकार भगवान के भीतर विराजमान होते ही जीव के कठोर कर्म-वन्ध क्षण भर मे ढीले हो जाते हैं —

हृद्वर्तिनि त्वयि विभो शिथिलीभवन्ति
जन्तो· क्षणेन निविडा अपि कर्मवन्धा· ।

---

(१) रयणसार—७

(२) तत्वानुसन्धान—२९

(३) तत्वानुशासन—३१

(४) सम्वोधि—१५·२०

सद्यो भुजंगमचया इव मध्यभाग-
मभ्यागते वनशिखण्डिनि चन्दनस्य ॥[1]

मेघकुमार को भगवान ने आत्मा का स्वरूप समझाते हुए उसमे स्थित होने का परम उपदेश दिया—यह आत्मा, सर्वदा अनन्त ज्ञान से परिपूर्ण है। तू उसी मे चित्त को समर्पित कर, उसी के भीतर तुम्हारा मन लीन हो जाय। तुम्हारा सम्पूर्ण अध्यवसाय उसी म सयुक्त हो—

अनन्तानन्द सम्पूर्ण, आत्मा भवति देहिनाम् ।
तच्चित्तस्तन्मना मेघ तदध्यवसितो भव ॥[2]

वे पुन. इसी सत्य को मेघ के समक्ष बडी-दृढता से कहते है—मेघ तू आत्मा के भीतर स्थिर बन। आत्महित हो, आत्मयोगी बन, आत्मा के लिए पराक्रमाभिमुख हो, ध्यानी और स्थिराशय बन जा—

आत्मस्थित आत्महित आत्मयोगी ततो भव ।
आत्मपराक्रमी नित्य, ध्यानालीन स्थिराशय ॥[3]

जैन-दर्शन आत्मा और विश्व का महान् विज्ञान है। हाल ही मे लन्दन-विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध आचार्य E. O. JAMES ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक—(Creation & Cosmology) मे जैन-दर्शन की विश्व-विषयक मान्यता पर इस प्रकार प्रकाश डाला है—" as Jainism, the Universe was regarded as eternal without beginning or end in the form of spindle or three cups, the lowest being inverted, the highest meeting the middle one at its circumference. Time was likended to a wheel with twelve spokes divided into a descending and ascending half, with six ages of immense duration estimated at billions of 'ocean years' and containing an infinite number of souls (jiva), as endless and eternal as the universe Most of them having become permeated with the subtle matter of which karma was composed, were destined to be kept on the terrestial plain by an endless round of rebirth (samsara), preventing their rising to the top of the universe, to dwell there for ever in bliss. "[4]

---

(१) कुमुदचन्द्राचार्य—'कल्याण-मन्दिर'

(२) सम्बोधि—१६·२

(३) सम्बोधि—१६·५

(४) E O. JAMES—Creation and Cosmology.—P 45 (Leiden E. J. Brill, 1969)

महाप्रज्ञ का यह—'सम्बोधि' जैन-दर्शन का सुविशाल प्रमाण वार्तिक है—आत्म-यात्रा के गहन मनोविज्ञान का एक दार्शनिक इतिहास है जिसमे महाकवि ने जैन-दर्शन के समग्र तत्त्व-दर्शन को उपबृंहित किया है -जिसकी व्यापक अभिव्यञ्जना जैन-दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा मे अपना विशिष्ट स्थान रखती है। महाप्रज्ञ ने अपने इस दार्शनिक महान काव्य के उपसहार मे सम्पूर्ण आत्म-विश्वास और दृढता के साथ कहा है

निर्मला जायते दृष्टिर्मार्गः स्याद् दृष्टिमागत ।
मोहश्च विलयंगच्छेन्मुक्तिस्तस्य प्रजायते ॥[1]

★

(१) सम्बोधि—१६ २८

महाप्रज्ञजी की चार कृतियाँ

—डॉ० राजनारायण राय
अध्यक्ष हिन्दी-विभाग
सेना कैडेट कॉलेज देहरादून

विश्व के महान धर्मों में जैन-धर्म भी है। अहिंसा और समता का आलोक जिन धर्मों से मानव को मिलता रहा है उनमें यह निर्विवादत अग्रगण्य है। आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व भगवान महावीर ने जो अमृत-सन्देश दिया था, उसे लोक मानस तक पहुँचाने के लिए, अर्ध-मागधी प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत आदि भाषाओं में विपुल साहित्य की सर्जना हुई। आज ये भाषाएँ जन-साधारण के उपयोग की न होने के कारण, काल-प्रवाह में बहुत पीछे छूट गई है। फलत उनमें लिखित साहित्य, अल्पज्ञात और अज्ञात बनता जा रहा है। इसलिए वर्तमान की माँग है कि भगवान महावीर के चिन्तन-सम्बन्धी अवदानों को आज की जीवंत भाषाओं में, जिनमें राष्ट्रभाषा हिन्दी प्रथम गण्य है, लोक की भावयित्री शक्ति को देखते हुए, प्रस्तुत किया जाय। यह हर्ष की बात है कि बहुभाषा-विद्, जैन-मुनि महाप्रज्ञ ने इस दिशा में अभिनन्दनीय प्रयत्न किये है।

मेरे सम्मुख महाप्रज्ञजी द्वारा रचित चार पुस्तकें है—(१) गागर में सागर (२) महावीर क्या थे? (३) समस्या समाधान (४) समस्या का पत्थर . अध्यात्म की छेनी। इन चारों ग्रन्थों का मुख्य प्रतिपाद्य है—भगवान महावीर का सन्देश।

'गागर में सागर' एक लघुकाय पुस्तक है जिसमें ४७ छोटी-छोटी मार्मिक कथाएँ है। इसकी रचना के मूल प्रेरक-तत्त्व आचार्य श्री तुलसी हैं। आलोच्य पुस्तक की कथाओं के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि ये कहानियाँ दृष्टान्त-कथाओं की समस्त विशिष्टताओं से सम्पन्न है। अंग्रेजी में ऐसी ही कथाओं को पैरेबुल कहते है। पैरेबुल मानी जानेवाली कथाओं का मुख्य प्रयोजन दार्शनिक और नैतिक सत्यों का उद्घाटन होता है।[1] इन्हें नीति-कथा भी माना जा सकता है। एक कोशकार की इस सन्दर्भ में यह उक्ति द्रष्टव्य है "इसके उपादान प्राय सरल होते है—कार्य में जटिलता नहीं होती, पात्र परिचित से होते है। कभी-कभी अन्त में शिक्षा की शाब्दिक व्यंजना कर दी जाती है। किन्तु प्राय वह विवक्षित ही रहती है। नीति-कथा के पात्र प्राय मनुष्य ही होते हैं। नीति-कथा से विविक्त करके घटनाएँ अपनी सार्थकता खो देती है।"[2] इसके आलोक में विश्लेषण करने पर यह

1. A story designed to convey some religious principle, moral lesson or general Truth. —Dictionary of Literary Terms . Harry Shaw
2. मानविकी पारिभाषिक कोष (साहित्य) : सं० डॉ० नगेन्द्र

ज्ञात होता है कि इन लघुकथाओ मे प्रभावशालिता, कलात्मकता और उपदेशात्मकता का अपूर्व सगम है। क्रोध, स्वर्ग-नरक, दण्ड प्रायश्चित्त, वडप्पन-वाणी-वीर, आदि को केन्द्र मे रखकर रची गयी ये कथाएँ, कभी तो कान्ता-सम्मित-उपदेश देती है, कही व्यग्यमयता से चिकोटी काटती है और कभी मन्द मुस्कान विखेरने के लिए अनुप्रेरित करती है। ये नीतिपरक कथाएँ भाव की दृष्टि से गागर मे सागर होने का अहसास कराती है। यह कृति सावित करती है कि सृजेता मे कथा-लेखन की अप्रतिम क्षमता है।

'महावीर क्या थे ?' कृति यद्यपि कलेवर की दृष्टि से छोटी है तथापि है महत्त्वपूर्ण, क्योकि इसमे भगवान महावीर का जीवन-वृत्त ही नहीं अपितु उनके दार्शनिक चिन्तनो का विश्लेषण-विवेचन भी है। महाप्रज्ञजी इस पुस्तक मे एक शब्द-मर्मज्ञ, धर्मविद्, शास्त्र-पण्डित, व्याख्याकार के रूप मे लक्षित होते है। उनकी व्याख्या मे वैदुष्य की आभा मिलती है। अनुशासन, सामायिक, समता, कषाय-मुक्ति, स्याद्वाद, अनेकान्तवाद, नयवाद आदि की व्याख्या मे आत्म-संयमी महाप्रज्ञ के, केवल प्राचीन जैन-साहित्य के सूक्ष्म अध्येता होने का ही वोध नहीं होता, अपितु आधुनिक दृष्टि सम्पन्नता का भी।

'समस्या समाधान' वस्तुत चार भाषाओं का संकलन है। महामुनि ने यह अनुभव किया है कि यह ससार समस्याओ से अति पीडित है, लोगों मे निराशा की भावना घर करती जा रही है। इसलिए शारीरिक, मानसिक और वैचारिक तीनो प्रकार की समस्याओं से उत्पन्न अँधेरे मे भटकने वालो के लिए उन्होंने अध्यात्मवाद के प्रति आस्था व्यक्त करते हुए, कुछ समाधान प्रस्तुत किये है जो आज की वदली हुई परिस्थिति मे अत्यन्त मूल्यवान है।

'समस्या का पत्थर अध्यात्म की छेनी' के माध्यम से विद्वान लेखक ने उन समस्याओ को अध्यात्म के धरातल पर सुलझाने का प्रयत्न किया है जिनसे आज का मानव जूझ रहा है और जिन पर विजय पाने के लिए कृत-सकल्प है, पर निजी कारणो से ही वह विफल हो रहा है।

महाप्रज्ञजी ने अपनी कृतियों मे धर्म को परिभाषित करने की कोशिश की है। धर्म क्या है ? उसका स्वरूप क्या है ? वर्तमान के लिए वह कितना उपादेय है ? धार्मिक के लक्षण क्या है ? इन सारे प्रश्नो को लेकर आपने जो अनुचिन्तन समाज को दिया है, वह लाभकारी है। विज्ञान और टेक्नोलोजी की उपलब्धियों के प्रति पूर्ण आस्था रखने वाले इस युग मे धर्म पर यद्यपि प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया गया है तथापि वह अपने प्रोज्ज्वल अवदानो के वल पर जीवित है। धर्म के विना मनुष्य परिस्थितियो का जीव वन जाता है। यह हठधर्मिता या सवेग नहीं है वल्कि है सेवा। धर्म के सही आचरण से चैतन्य, आनन्द और शक्ति इन तीनों का विकास होता है। धर्म का लाभ है—आनन्द जो भौतिकता से नहीं मिल सकता। धर्म-पुरुष महाप्रज्ञजी ने धार्मिक उसे वताया है जो "जीवन मे आने वाले कष्टों को हँस-हँसकर सहे, संतुलन न खोये।"[1] जो यह मान कर धार्मिक वनना चाहता है कि धर्म से परलोक सुधरता है, वह अपनी सकीर्ण दृष्टि का परिचय देता है। धर्म वह है जो वर्तमान जीवन का भी सुधार

1. महावीर क्या थे ? ले० मुनि नथमल (महाप्रज्ञ) : पृ० ६६

परम । है । यदि अहिंसा सत्य, अपरिग्रह, शांति, क्षमा, अभय, अनुशासन आदि के विकासमें धर्म सहायक नही होता, तो वह और कुछ भले ही हो, कम-से-कम धर्म नहीं हो सकता ।

जैन-साहित्य का एक महत्वपूर्ण शब्द है 'अपरिग्रह' । इससे जो सिद्धान्त व्यजित होता है वह वर्तमान संदर्भ मे इतना महत्त्वपूर्ण है कि उसके अनुपालन से हमारे देश की ही क्या, विदेशो की भी अर्थ-समस्या सुलझ सकती है । आर्थिक वैषम्य से पीडित समाज के लिए एक संजीवनी औषध है । वैषम्य दूर करने के लिए समीकृत वितरण आवश्यक है । उसके लिए इच्छा-परिमाण अर्थात् इच्छाओ को विकसित न होने देने पर जोर डालना जरूरी है । इसी वृत्ति के उदर से सत्तावाद, पूँजीवाद, अधिनायकवाद पैदा हुए है । परिग्रह वस्तुत मोक्ष का बाधक है । इसलिए विसर्जन को अपनाना चाहिए । विसर्जन-कार्य मे ममत्व बाधक तत्त्व है । ममत्व के अभाव मे ही विसर्जन सभव है । यह स्मरणीय है कि विसर्जन के अभाव मे समीकृत वितरण की कल्पना संभव नही । जहाँ विसर्जन होगा, वहाँ शोषण कम होगा अर्थात् ममत्व का परित्याग होना चाहिए । जब तक राग-द्वेष के संकीर्ण घेरे से मनुष्य नही निकलता, तब तक यम का पालन नहीं हो सकता । भगवान महावीर ने कहा था—"अर्थोपार्जन के साधन शुद्ध हो, व्यक्तिगत भोगो का संयम हो । साधन दूसरो के लिए घातक और अप्रामाणिक न हो ।"[1] उस कथन की व्याख्या करते हुए युवाचार्य महाप्रज्ञ ने यह सही कहा है कि "भौतिकवादी और केवल वैचारिक-बौद्धिक युग मे ये सारे समाधान अधिक लाभप्रद और नये आयाम खोलने वाले हो सकते है ।"[2]

आज चतुर्दिक अशान्ति के काले बादल उमड रहे है । सर्वत्र कोलाहाल और रक्तपात है । कारण चाहे धार्मिक हो या आर्थिक , चाहे सामाजिक हो या राजनीतिक पर तथ्य यही है कि वर्तमान पीडित है अशाति से । तो प्रश्न यह है कि उसका मूल कहाँ है ? उत्तर है—इसका मूल है मनुष्य-हृदय । इसका निदान है व्यक्ति-शाति जब व्यक्ति-शाति होगी तभी विश्व-शाति का प्रभाती आलोक फैलेगा । आचार्य तुलसी ने इसी सदुद्देश्य से अनुप्रेरित होकर अनुव्रत का मार्ग इगित किया है जिसके मूल तत्त्व है—"मानवीय एकता और सह-अस्तित्व ।"[3] "यह अणुव्रत एलोपैथिक चिकित्सा नही है जो रोग को दवा दे । अणुव्रत प्राकृतिक चिकित्सा है जहाँ दोष दवाये नहीं जाते, नष्ट किये जाते है ।"[4] अणुव्रत के अनुपालन से ही समाज की अशाति का उन्मूलन है ।

काल के अनन्त प्रवाह को हमने सुविधा के लिए भूत, वर्तमान और भविष्य तीन खण्डो मे बाँट लिया है । पर तीनो के महत्त्व को लेकर चिंतको मे पर्याप्त भेद है । सर्वप्रथम भूत को लें । एक विदेशी विद्वान का कथन है कि अतीत और कुछ नहीं राख से भरी बाल्टी है ।[5] किसी का मत है कि अतीत मृत हो चुका, उस पर सोचते रहना

---

1 समस्या समाधान ले० उपरिवत् पृ० ५१
2 उपरिवत् पृ० ५१
3 समस्या का पत्थर अध्यात्म की छेनी ले० मुनि नथमल (महाप्रज्ञ) पृ० ६०
4 उपरिवत् पृ ५४
5. The past is bucket of ashes — Carl Sandburg Prairie

बेकार है। कई की धारणा है कि भविष्य ही मूल्यवान है और उसके निर्माण के लिए वर्तमान को बिगाड़ा जा सकता है।[1] इसके विपरीत आइंस्टाइन जैसे विश्व प्रसिद्ध वैज्ञानिक का कथन है कि मैं कभी भी भविष्य की चिंता नहीं करता।[2] सच यह है कि भूत और भविष्य के बीच वर्तमान ही महत्त्वपूर्ण होता है क्योंकि हम उसीमे जीते है और उसी मे उत्पन्न समस्याओं का समाधान अन्वेषित करते है। महाप्रज्ञ युवाचार्य की उक्ति इस संदर्भ मे उल्लेख्य है —"समस्या है वर्तमान की और हम समाधान ढूँढते है विचारो के द्वारा जो अतीत के स्मृति-मात्र है। संगति कैसे होगी ? वर्तमान की समस्या का समाधान हम अतीत मे कैसे पायेंगे ?"[3] कहा जा सकता है कि वर्तमान का समग्र बोध होना जरूरी है। यदि आज का मनुष्य अतीत और भविष्य से चिपकना छोड दे और वर्तमान जिसमें वह रहता है, जिसे वह जानता और देखता है, मे जुटे तो निश्चय ही वह अनेक प्रश्नों का उत्तर सहज ही पा लेगा।

जाति-भेद हमारे देश की एक ज्वलन्त समस्या है। इसके समाधान के लिए छोटे-बडे अनेक प्रयत्न हुए पर आज तक उसका सर्वमान्य हल नहीं दिया जा सका। महावीर ने जातिवाद पर तीखा प्रहार करते हुए कहा कि समता ही धर्म है। अस्पृश्यता एक मिथ्या कल्पना है। वास्तव मे व्यक्ति श्रेष्ठ होता है गुण के बल पर न कि जाति के।" "जो शील-सम्पन्न है, वह जातिमान-धर्म है। श्रेष्ठ वही है जो तपस्वी है।"[4] हमारे देश मे हिन्दू और जैन धर्म के अतिरिक्त ईसाई, मुसलमान, पारसी आदि धर्मो का अस्तित्व दिखाई पड रहा है। इसका मूल कारण सद्गुणो की अवहेलना और जन्म को प्रधानता देना है। जैन-धर्मावलम्बियो पर दृष्टिपात करते हुए महाप्रज्ञजी ने अपने ही धर्म के आचार्यो की संकीर्ण मनोवृत्ति की निन्दा की है। उनका यह कथन चक्षून्मीलक है, "जैन-धर्म-सिद्धान्त जातिवाद को नहीं मानता किन्तु व्यवहार मे जैनाचार्यो ने भी अपने यहाँ ताले लगा दिए,"[5] फलत डा० अम्बेडकर जैसे प्रतिभावान एवं प्रख्यात विधिवेत्ता को उसमे दीक्षित होने का अवसर नहीं मिला। महाप्रज्ञजी की इस मान्यता से कि समतावादी दृष्टिकोण को अपनाकर ही जातिवाद के काले धब्बे को मिटाया जा सकता है, विरोध की कहीं भी गुंजाइश नहीं है। धर्मशास्त्र और दर्शन के संदर्भ मे अध्यात्म शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है। आत्मा तथा परमात्मा और उनके पारस्परिक सम्बन्धो को लेकर चिन्तन करना मनुष्य की प्रवृत्ति है। अध्यात्मवादी भावना ने सम्पूर्ण-विश्व ज्ञान को प्रभावित किया है। कुछ लोगों की धारणा है कि अध्यात्म-चिन्तन विशुद्ध पलायपन-वृत्ति की देन है। यह जीवन-संग्राम मे हारे हुए या उससे भयभीत होकर भागे हुए एकांतवासी के मस्तिष्क

---

1. The future is purchased by the present
—Samuel Johnson The Rambler No. 178
2 I never think of future
—Albert Einstein, Interview on Belgenland, Dec 1930
3 समस्या : समाधान : पृ० १२
4 महावीर क्या थे ? पृ० ४६
5 समस्या का पत्थर : अध्यात्म की छेनी पृ० २७

की उपज है। निश्चय ही पलायनवृत्ति पर टिका हुआ अध्यात्म कमजोरो या दुर्बलो का होगा। वह अध्यात्म जो हमे जीवन से काट देता है और कोरे ऊर्ध्वमुखी आदर्शवाद के स्वप्निल लोक मे घुमाता है, हमारे लिए अनुपयोगी है। नही अध्यात्म वह है जिसमे सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, और सम्यक् चरित्र की पूर्ण स्वीकृति होती है। महामनीषी युवाचार्यजी अध्यात्म के प्रति पूर्ण आस्थावान है क्योकि उससे ही क्रोध, लोभ, भय, मोह, अभिमान आदि मन के आवेगो पर विजय प्राप्त करने के लिए प्रेरणा-प्रकाश मिलता है। आज मार्क्स ने राज्य-विहीन समाज की कल्पना की है, वह तब तक साकार नही हो सकती, जब तक अध्यात्म की पूरी भूमिका उसमे नहीं अपनायी जाती। कहना न होगा कि आणविक युद्ध की आशंकाओ को अपने गर्भ मे पाले हुए, इस वर्तमान की समस्याओ का समाधान आध्यात्मिक मूल्यो की उपेक्षा करने से संभव नही होगा।

भगवान महावीर का जीवन था तप और सयम का। वे न केवल अहिंसावादी सिद्धान्त के उपदेष्टा थे अपितु प्रयोग-कर्त्ता भी थे। उनकी धारणा है कि अनेकान्तवाद, स्याद्वाद, समतावाद, आत्मानुशासन आदि से हमारी समस्याओ का समाधान संभव है। जीवन मे केवल बाहरी अनुशासन ही आवश्यक नहीं बल्कि आतरिक भी। अनुशासन का त्याग करने से परमार्थ स्वयं छूट जाता है। सच कहिए तो अनुशासन ही आत्मा के गुरुत्व की कसौटी है। महावीर का कथन है, "हुकूमत करो अपने शरीर पर, अपनी वाणी और अपने मन पर। आत्मा पर शासन करो संयम द्वारा, त्याग द्वारा, क्योकि जनतंत्र की सफलता, आत्मानुशासन पर ही निर्भर है।[1]

किसी ने कहा है कि क्रोध करना पागल घोडे पर सवार होना है। उन्माद या पागलपन की ऐसी स्थिति यद्यपि बहुत क्षणिक होती है फिर भी अत्यंत खतरनाक होती है क्योकि क्रोधित व्यक्ति उन आवेशपूर्ण क्षनो मे विवेक-हीन हो जाता है और कभी-कभी जघन्य अपराध तक कर डालता है। इसलिए क्रोध को पक्का शत्रु माना जाता है।[2] इसीलिए प्राचीनकाल से ही इस भयानक शत्रु पर विजय पाने के लिए संदेश दिए जाते रहे है। महाप्रज्ञजी ने भी क्रोध पर गहराई से विचार किया है। इसका सकेत उनके अनेक निबंधो मे मिलता है। थामस जयफर्सन ने क्रोध को नियंत्रित करने के लिए एक उपाय सुझाया था—वह यह कि यदि क्रोध का ज्वार अधिक हो तो सौ तक गिनो और कम हो तो दस तक।[3] महाप्रज्ञजी का मत है कि "क्रोध का उत्तर क्रोध से नही, प्रेम-व्यवहार से होना चाहिए।"[4] इस महाशत्रु के दमनार्थ चार सूत्र निर्दिष्ट किए है जो मानव के लिए करणीय है—

(१) जहाँ क्रोध हो, वहाँ से उठकर एकान्त मे चले जाना।

1· महावीर क्या थे ? पृ० ६१

2· Anger is sworn enemy

3· When angry, count ten before your speak , if very angry, one hundred·

—Thomas Jefferson, Writings Vol xvi, page III

4 समस्या का पत्थर : अध्यात्म की छेनी पृ० १०४

(२) मौन हो जाना ।

(३) किसी काम मे लग जाना ।

(४) एक क्षण के लिए श्वास को रोक लेना ।[1]

इस सूत्र की उपयोगिता देखकर यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि यदि इसे व्यवहार मे परिणत किया जाय तो मनुष्य क्रोध से मुक्ति पा लेगा, जिसका सुफल यह होगा कि वह अधिक सभ्य, शिष्ट और सस्कृत बनेगा ।

आज की युवा-शक्ति का जितना दुरुपयोग हो रहा है, उतना पहले कभी नहीं हुआ। महाप्रज्ञजी ने युवा-शक्ति को पूरी तरह पहचानते हुए यह बताने का प्रयत्न किया है कि उसकी सही दिशा क्या है ? 'युवा-शक्ति-संगठन' शीर्षक इस कथन का प्रमाण है । अनुभवी लेखक ने युवको और वृद्धो को तुलनात्मक दृष्टि से विचार कर यह मान्य निष्कर्ष दिया है कि "वृद्ध व्यक्ति के पास अनुभव की निधि होती है । अनुभव और शक्ति का अंधे-पंगु जैसा योग होता है । अनुभव देखता है, पर चल नहीं सकता । शक्ति चलती है पर देख नहीं सकती ।

यदि ये एक दूसरे को सहारा दें तो फिर इष्ट दूर नहीं रहता ।"[2] आज का युवा-वर्ग यदि अपनी शक्ति को वृद्धो के जीवनानुभव के प्रकाश मे गति देने का प्रयत्न करे तो निश्चय ही उसका सृजनात्मक उपयोग होगा ।

जैन-धर्म द्वारा प्रवर्तित अहिंसावाद ने भारत के अनेक मनीषियो, चिन्तकों, राजनीतिज्ञों और राष्ट्र-नेताओं को प्रभावित किया है। महात्मा गाँधी ने स्वातन्त्र्य-सग्राम मे जिस अहिंसा का प्रयोग कर प्रचार-प्रसार किया, उसका मार्ग-दर्शन उन्हें श्रीमद् रायचद्र से जो अनुभवी, अध्यात्म-योगी और पहुँचे हुए थे, मिला था । इसका उल्लेख गाँधी ने स्वयं किया है । स्मरण आता है—डॉ० निकोल मैक्निकोल ने १९३२-३४ मे आक्सफोर्ड-विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान मे जो धर्म-संबंधी सारगभित भाषण दिये थे, उनमे जैन-धर्म भी एक विषय था । इस धर्म की विशिष्टताओं का परिचय देते हुए उन्होंने यह बताया कि १८६८ मे जन्मे रायचंद भाई के सम्पर्क मे गाँधी आए थे, पर, उन्होने इस बात पर जोर दिया कि रायचद भाई का व्यक्तित्व हिन्दू-भक्त का था, एक जैन-स्थानकवासी का न था ।[3] डॉ० निकोल मैक्निकोल का मत कितना भ्रामक है, महामुनि लिखित "जैनधर्म और महात्मा गाँधी शीर्षक निबंध के अनुशीलन से स्पष्ट हो जाता है । श्री ए० एन० उपाध्ये का भी मत इससे अभिन्न है ।[4]

---

1 उपरिवत् . पृ० ९

2. उपरिवत् पृ० १२२

3. "It is significant that this account has all the appearance of being an account, not of a Jaina but of a Hindu Bhakta who sought to enter into fellowship with God"

—Nicol Macnicol D. Litt. The living religions of the Indian people, Page 200-1

4 "He (Mahatma Gandhi) was the greatest exponent of Ahimsa in modern times Though he gave it a fresh and up-to-date orientation, the seeds of his doctrines are to be traced in Jainism rather than in any other Indian creed"

—A Cultural History of India Ed A L Basham Page 109

"राष्ट्र-भाषा का प्रश्न अद्यावधि अनुत्तरित बना हुआ है। स्पष्ट है, भाषा-विवाद न सुलझाने का कारण संकीर्ण राजनीतिक दृष्टि है। महाप्रज्ञजी ने हिंदी में राष्ट्र-भाषा की पूर्ण योग्यता पाते हुए जो अनुरोध किया है वह मान्य प्रतीत ही होता है। "अहिन्दी-भाषी जनता राष्ट्रीय-एकता को सर्वोच्च राष्ट्रीय हित मानकर अपनी धारणाओं पर पुनर्विचार करे और हिन्दी-भाषी-जनता राष्ट्र के किसी भी अंग की व्यथा का तीव्रता से अनुभव करे।"[1] महामुनि ने इस संदर्भ में जो क्रियात्मक उपाय सुझाये हैं, उनको मानकर करने से हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाने में मदद मिल सकती है।

आलोच्य कृतियों से यह प्रमाणित होता है कि लेखक केवल अपने धर्म-साहित्य का ही गंभीर अध्येता नहीं है अपितु वह अन्य धर्मेतर साहित्य का भी जानकार है। उन्होंने भगवान महावीर की सदुक्तियों के साथ आचार्य तुलसी की मान्यताओं को समुद्धृत किया है। इनके अतिरिक्त कालिदास, महाभारत, सूत्रकृतांगसूत्र, आचार्य हेमचन्द्र कौटिल्य, हरिभद्रसूरि, बृहत्कल्प, ऋग्वेद, गीता आदि भारतीय लेखकों और ग्रन्थों के अलावा आइंस्टाइन, विंटरनित्स, मनोचिकित्सक युंग, लाओत्से आदि विदेशी चिंतकों, विद्वानों का भी संदर्भ मिलता है। इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि महाप्रज्ञजी का अध्ययन-क्षेत्र काफी विस्तृत है और यह भी कि वे इस बात के समर्थक हैं कि यदि भारतीय प्राचीन धर्म की पुनर्व्याख्या के संदर्भ में यदि पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान की आवश्यकता का अनुभव हो तो उसे स्वीकार करना चाहिए।

इन कृतियों का आस्वादक यह अनुभव करता है कि महाप्रज्ञजी अच्छे गद्य-लेखकों में पांक्तेयता के अधिकारी हैं। उन्होंने अपने विवेचन में विविध पद्धतियों का आश्रय लिया है जिनमें सूत्र-पद्धति, कथा-पद्धति, दृष्टांत-पद्धति और संवाद-पद्धति प्रमुख हैं। अनेक स्थलों पर प्रश्नोत्तर-पद्धति भी अपनायी गई है। सर्वत्र लेखक की बहुज्ञता और उनकी दृष्टि की व्यापकता का अहसास होता है। कहीं भी महामुनि आवेश में नहीं आते। उनमें एक चिंत-कोचित गंभीरता विद्यमान है। जहाँ तक भाषा-स्वरूप का प्रश्न है, कहा जा सकता है कि उसमें संस्कृतिनिष्ठता के साथ यौक्तिकता, स्पष्टता और भावानुकूलता का अपूर्व संयोग है। अरबी, फारसी या अंग्रेजी के शब्द प्रायः नहीं हैं। यत्र-तत्र तर्क के खण्डन या मण्डन के लिए संस्कृत, अपभ्रंश आदि के उद्धरणों का सहारा लिया गया है जो लेखक की अध्ययनशील और तार्किक प्रवृत्ति का सूचक है। छोटे-छोटे भावपूर्ण वाक्यों का विन्यास महामुनि की उल्लेखनीय विशेषता है।

महाप्रज्ञजी की लेखन-शैली की एक विशिष्टता यह भी लक्षित की जा सकती है कि उनके वाक्य, अपनी संरचना में अति संक्षिप्त और अपने भाव-चिंतन में गंभीर व सूक्ष्म होने के कारण सूत्रात्मक बन गये हैं। सूक्तियों के समस्त गुणों को अपने में समेटे, उनके निम्नलिखित वाक्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं —

---

1 समस्या का पत्थर अध्यात्म की छेनी, पृ० ६३

— आत्मा का जो पुद्गल से मुक्त स्वरूप है, वह मुक्ति है। (महावीर क्या थे ? पृ० ९)

— विदेह बनने का रास्ता आत्मा तपे, देह तपे, किन्तु दूसरे को न तपना पडे। (वही पृ० ११)

— दिग्व्यामोह न आए, इसलिए अनुशासन चाहिए। थोपा हुआ नहीं, किन्तु रमा हुआ। (वही पृ० १२)

— जिस अनुशासन मे दास्य-भाव आए, वह गलत अनुशासन है या गलत शिष्यत्व। (वही पृ० १३)

— अभय अहिंसा का आदि-बिंदु है। (वही पृ० २७)

— भाषा का मद भी हिंसा है। (वही . पृ० ४६)

— धर्म का मौलिक ध्येय है मुक्ति। (वही . पृ० ४७)

— सिद्धि, सदा साधना का साथ देती है। (वही पृ० ५३)

— पुराना वह है जिसके प्रति कोई आकर्षण न हो। (वही : पृ० ५५)

— संदर्भ के बिना शब्द के सही अर्थ को पकडना सहज नहीं होता। (वही . पृ० ५५)

— सत्य विशाल है और शब्द सीमित। (वही . पृ० ५९)

— धार्मिक होने का अर्थ है कि जीवन मे आने वाले कष्टो को वह हँस-हँसकर सहे, सतुलन न खोये।

(वही पृ० ६९)

— श्रेष्ठता की कसौटी प्राचीनता नहीं है। (वही पृ० ८५)

— ससार अर्थात् समस्या। (समस्या समाधान . पृ० ५)

— कर्म, कर्त्ता से बँधा हुआ होता है। (वही पृ० ९)

— जहाँ अपना अनुभव और अपना ज्ञान नहीं होता, वहाँ दूसरों के विचारो को महत्त्व देना ही पड़ता है।

(वही पृ० १३)

— प्रत्येक समस्या का समाधान है। (वही पृ० १९)

— अज्ञान का अर्थ है वासना का चेतना पर हावी हो जाना। (वही पृ० १९)

— यह वासना का मार्ग गोलाकार मार्ग है . वह घुमाता है, पहुँचाता नहीं। (वही पृ० २०)

— जब चेतना बदल जाती है, तब समस्याओं से ही समाधान निकल आते है। (वही पृ० २२)

महाप्रज्ञजी ने कम नहीं लिखा है। फिर भी वे अर्थाकांक्षी या उदरम्भरि-लेखको की श्रेणी मे परिगण्य नहीं। आलोच्य कृतियों के आधार पर यह कहा सकता है कि परिमाण म विपुल लिखकर भी उन्होंने महत्त्वपूर्ण लिखा है। वे मूलग्राही है, पल्लवग्राही नहीं।

निष्कर्षत महाप्रज्ञजी जैन-धर्म के आधुनिक चिंतक, व्याख्याता है और वे प्रचारक के रूप मे सदैव स्मरणीय रहेंगे। उनका साहित्य उनलोगों को आलोक और प्रेरणा देता रहेगा जो विश्व मे समता और शान्ति की स्थापना के लिए प्रयत्नशील होंगे।

●

युवाचार्य महाप्रज्ञ के साहित्य-सागर के कतिपय मोती

—डॉ० लक्ष्मीनारायण दुबे
एम० ए०, पी-एच० डी०
रीडर सागर-विश्वविद्यालय

दार्शनिक मनीषी युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ विशाल वाड्मय के स्रष्टा है। उन्होने हिन्दी-साहित्य के धार्मिक, आध्यात्मिक और दार्शनिक कृति-पक्ष के निर्माण तथा सम्वर्द्धन मे ऐतिहासिक योगदान किया है। वे जैन-दर्शन के साथ-ही-साथ भारतीय चिन्तन तथा साहित्य के अप्रतिम अध्येता तथा गवेषक है। उनके प्राय. हर ग्रन्थ के एकाधिक संस्करण प्रकाशित हो चुके है जिससे सर्वथा स्पष्ट है कि इस जगत् मे लोकप्रिय एवं प्रतिष्ठित है। उनकी प्राचीन भाषाओ तथा शास्त्रो मे अपूर्व गति है।

उनके दो ग्रन्थो की समीक्षा उनके मेधावी व्यक्तित्व तथा बहुमुखी प्रतिभा के निदर्शन को भास्वर बनाती है। ग्रन्थो के नाम इस प्रकार है —

(१) अतीत का अनावरण।

(२) तुम अनन्त शक्ति के स्रोत हो।

"अतीत का अनावरण" तथा "तुम अनन्त शक्ति के स्रोत हो"—दोनो ही कृतियाँ 'भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन' है। "अतीत का अनावरण" मे वेद, उपनिषद्, पुराण और महाभारत मे श्रमण-संस्कृति की सप्रमाण विवेचना मिलती है। इसमे पचीस निबंध संकलित है जिनमे ज्ञान-विज्ञान, साहित्य, भूगोल, इतिहास, पुरातत्त्व आदि विषयो की सर्वतोमुखी एवं प्रचुर सामग्री मिलती है। अन्त के दो निबंधो मे हिन्दी की भी स्थिति-विवेचना मिलती है। समूची पुस्तक अगाध ज्ञान और अपूर्व विद्वता से आपूर्ण है। यह पुस्तक जैन-भारत के लिए ज्ञान-कोश का कार्य करती है। श्रमण-संस्कृति को लेखक ने प्राग्वैदिक अस्तित्व दिया है जिसके लिए अनेक सुदृढ प्रमाण प्रदत्त है। 'कहरशन' शब्द श्रमणो का सूचक है। कहरशन-मुनि का उल्लेख ऋग्वेद मे भी मिलता है। आत्मविद्या की परम्परा का प्रतिपादन करते हुए महाप्रज्ञजी ने उसे क्षत्रियो के प्रदेय के रूप मे स्वीकार किया है। उपनिषदो पर भी श्रमण-संस्कृति का प्रभाव मिलता है। जैन-योग, वेदान्त-दर्शन आदि की पारस्परिक संस्थिति निरूपित की गयी है। भगवान महावीर पर भी खोजपरक निबन्ध हैं। आर्य-अनार्य की चर्चा को भी जैन-ग्रन्थो के परिप्रेक्ष्य मे उभारा गया है। शब्दो और वनस्पति के गहन-सूक्ष्म भेद एव गुणो के अन्तर को स्पष्ट करके लेखक ने अपने प्राचीन ज्ञान के अगाघ भण्डार को उन्मुक्त कर दिया है। कुल मिलाकर सचमुच इस ग्रन्थ मे हमारे पुरातन भारत के गवाक्षो को खोला गया है और प्रभूत सामग्री का विमोचन किया गया है।

'तुम अनत शक्ति के स्रोत हो' पुस्तक का तृतीय सस्करण सन् १९६९ मे प्रकाशित हुआ। महाप्रज्ञजी ने उसकी भूमिका 'प्राथमिकी' मे हमारे भीतर संचित अनंत शक्तियो को उद्घाटित किया है। हमारे भीतर शक्ति है,

प्रकाश है और सब कुछ है। भगवान् महावीर स्वामी ने भी अंतरावलोकन की बात कही थी। हमारे यहाँ की आध्यात्मिक विद्या, योग-विद्या अथवा मोक्ष-विद्या एक ही प्रयोजन को सटीक मानती है कि अपनी भीतरी शक्तियों का प्रकटन हो। संत कबीर भी कहते है—

मौको का ढूंढे है बंदे मै तो तेरे पास में

और

तेरा साईं तुज्झ में, ज्यों पुहुपन में वास

कस्तूरी के मिरग ज्यों फिरि-फिरि ढूंढे घास

महाप्राण सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' ने भी लिखा है—

पास ही रे! हीरे की खान

ढूँढता और कहाँ नादान

सांख्य, वैदिक, बौद्ध, जैन आदि समस्त परम्पराओं मे योग-विद्या समादृत रही है। महर्षि पतंजलि का योग-सूत्र, बौद्धों का अभिधम्म-कोष और विशुद्धि-मग्ग, वैदिकों का योग-वाशिष्ठ, हठ-योग तथा तंत्र-शास्त्र की परिपाटी मे साधना-सम्बन्धी अनेक ग्रथ उपलब्ध हैं।

योग-विद्या की ओर महाप्रज्ञ जी का न केवल झुकाव ही है अपितु वे लम्बे अर्से से विशेष ध्यान-साधना मे संलग्न है। उन्होंने ध्यान से सबंधित अनेक आयामों को उद्घाटित किया है। उनकी विलुप्त जैन-ध्यान-पद्धति को पुनरुज्जीवित कर प्रेक्षा-ध्यान के रूप मे साधना-जगत् को बहुत महत्त्वपूर्ण देन है। उन्होंने अनुभवों की यात्रा करके योग के इस प्रकार के अनेक ग्रन्थो का निर्माण किया; यथा—मन के जीते जीत, जैन-योग, महावीर की साधना का रहस्य, चेतना का ऊर्ध्वारोहण आदि।

इस पुस्तिका में चौबीस निबंध है जो अमृत-कण की भाँति हैं। इनमे एक ओर सैद्धान्तिक विवेचन है तो दूसरी ओर व्यावहारिक क्रिया-कलाप। ये दर्शन का अन्वेषण भी करते हैं और प्रत्यक्ष जगत् के गुटके भी प्रदान करते हैं। इनमें योग, ध्यान, आसन, उपासना, स्वास्थ्य, आहार-विहार आदि की बडी अच्छी सूक्तियाँ और प्रभावान्वितियाँ है।

जैन-साधना-पद्धति अत्यन्त पुरातन है। कायोत्सर्ग अपने आप मे एक अनूठा तथा अज्ञात सन्दर्भ है जिसकी विस्तृत विवेचना करके लेखक ने इस ग्रन्थ की श्री-वृद्धि की है। सारी पुस्तक अभय का मंत्र दान करती है। वह व्यक्ति को भाग्य का विधाता बनाती है। जो होना चाहते हो— उसका निर्णय तुम्हीं को ही करना है। सागर की बूंद तथा सागर स्वयं तुम हो। इसीलिए यह मंत्र प्रस्फुटित हो पड़ा है —

मैंने सुना है, अनुभव किया है—

स्वतंत्रता की कुंजी स्वयं मैं हूँ।

मैंने सुना है, अनुभव किया है —

फूलों की सुगंध और काँटों की चुभन स्वयं मैं हूँ।

मैंने सुना है, अनुभव किया है—

प्रलय औ' सृजन स्वयं मे हूँ ।
मैंने सुना है; अनुभव किया है—
सागर की बूँद और सागर स्वयं मैं हूँ ।

स्वस्थ वह है जिसका चित्त प्रसन्न, वेग शान्त तथा प्रवृत्तियाँ उत्तेजनारहित हो। स्वस्थ रहने मे मानसिक प्रसन्नता का बहुत बडा हाथ है। मानसिक प्रफुल्लता से शरीर का संरक्षण होता है। आयुर्वेद मे मनुष्य के भोजन को स्निग्ध, उष्ण तथा रस-परिपूर्ण माना गया है।

सहिष्णुता तथा समर्पण से व्यक्तित्व का विकास होता है। सत्यनिष्ठ सहज प्रामाणिक होता है। अंतिम दो निबंध प्रत्यक्ष, व्यावहारिक और प्रेरणादायी है।

समूची पुस्तक प्रेरणा, सद्भाव, औदार्य, जीवन-मंत्र तथा व्यावहारिक सुझावो से भरी पडी है। इसमे जीवन की संजीवनी मिलती है और सर्वत्र सुधा-बिन्दुओ की सतत् वृष्टि हो रही है। इस प्रकार की पुस्तक को प्रत्येक किशोर तथा युवा को पढनी चाहिए।

महाप्रज्ञजी का कहने का अपना एक अलग लहजा है। उनका गद्य-शिल्प अनूठा और मार्मिक है। उनकी शैली मे लोच तथा मसृणता है। वे भाषा के धनी है। उनमे अन्विति है। वे गहन-गूढ बात को भी सरलतापूर्वक समझा देते हैं। वे दृष्टान्त तथा रूपक-शैली के पुरस्कर्त्ता है। उन्होने हिन्दी मे नव शैली का प्रवर्त्तन किया है जो साहित्य को संस्कृति से समन्वित करती है।

उपरि-लिखित दोनो किताबें जैन-वाङ्मय की अक्षय निधि है।

महाप्रज्ञजी के व्यक्तिगत सम्पर्क मे जयपुर मे यह समीक्षक आ चुका है और उनके अगाध ज्ञान, वैचारिक उदारता तथा साम्प्रदायिक सद्भावों से प्रभावित हो चुका है। युवाचार्य जी का यह सुभाषित अनन्त द्युतियो को आभायुक्त करता है— "तुम्हारी दैहिक आवश्यकताओ का समाधान बाहर है पर तुम्हारी आन्तरिक समस्याओ का समाधान कहीं बाहर नही है। वह तुम्हारे भीतर ही है, तुम्हारे मन मे है, तुम्हारी आत्मा मे है। मन को जलाओ, उसके आलोक मे अपने-आप को ढूंढो। तुम स्वय देख पाओगे कि तुम अनत शक्ति के स्रोत हो।

★

'तुम अनन्त शक्ति के स्रोत हो' पढ गया बहुत ही उपयोगी अत्यन्त सामयिक ग्रन्थ है। भारतीय राष्ट्र को (तथा संसार को भी) इस समय प्रथम आवश्यक है चारित्रिक उन्नयन। इस दिशा में यह पुस्तक अपना विशेष महत्त्व रखती है। इसे पढ कर मैं सोच रहा हूँ कि भारतीय शिक्षा-संस्थानों के पाठ्य-क्रम में 'जीवन की कला' का एक अनिवार्य विषय ही क्यों न रखाया जाय। भ्रष्टाचार, सदाचार-प्रवृत्ति और संयम, भावात्मक एकत्व, कायोत्सर्ग और ध्यान, योग और उपासना, स्वास्थ्य और आहार-विवेक, समर्पण औरसहिष्णुता, चित्त-शुद्धि, कर्म और भाग्य आदि-आदि अनेक उत्तम विषय हैं जिन पर इस युग की आवश्यकताओं का ध्यान रखते हुए जन-कल्याणकारी भावनायें इस पुस्तक में दी गई हैं।

—डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र

महाप्रज्ञ का हिन्दी-काव्य

—डॉ० सियाराम तिवारी
एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्
रीडर हिन्दी-विभाग, शान्ति-निकेतन

काव्य-हेतु पर प्राच्य एवं पाश्चात्य काव्य-शास्त्र मे पर्याप्त विमर्श हुआ है। काव्य-शास्त्रियो के उन विचारों मे वैष्णव कवि गोस्वामी तुलसीदास ने एक नया विचार जोड दिया और वह यह है कि विमल-बुद्धि-काव्य का एक प्रधान हेतु है। उनके अनुसार विमल मति के बिना कविता नहीं हो सकती। गोस्वामीजी के मत मे मैं इतना संशोधन करना चाहूँगा कि विमल बुद्धि के बिना श्रेष्ठ कविता नही हो सकती। अपने मत के सबसे बड़े प्रमाण तो तुलसीदास स्वयं है किन्तु साम्प्रतिक युग मे जैन मुनि महाप्रज्ञजी ने अपनी कविताओं से उस पर फिर एक बार प्रामाणिकता की मुहर लगा दी है। आज यह अनुभव किया जाने लगा है कि हिन्दी कविता अलोकप्रिय हो गयी है, काव्य का आनन्द पाने के उद्देश्य से इसके पढने वालों की संख्या नगण्य हो गयी है। इसका सबसे बडा कारण यही है कि आज की हिन्दी-कविता विमल बुद्धि की उत्पत्ति नहीं है। इसलिए वह पाठक को उच्चता की ओर नहीं ले जाती, उसे सात्विक आनन्द मे मग्न नही करती। इसलिए जब तक उसे पढने की आवश्यकता न हो तब तक उसे पढने का कोई उत्साह नहीं होता। यथार्थ के नाम पर आज साहित्य मे वही भरा जा रहा है जो गलीज है, पर यह सामान्य बुद्धि की बात है कि मनुष्य का मन उधर दौडता है जो उसके पास नहीं है, व्यक्ति उसकी ओर अधिक आकृष्ट होता है जैसा वह नहीं है। साहित्य मे आदर्श का यही औचित्य और यही आवश्यकता है। उदाहरण इसी बात का साक्षी है कि कुण्ठा रहित चित्त से उद्भूत सत्य, शिव और सुन्दर का विशद चित्र सामने रखकर और मन मे उदात्त भाव जगाकर उच्चता की ओर प्रेरित करने वाली कविताएँ सहृदय को आकृष्ट करती है। विमल बुद्धि से उत्पन्न महाप्रज्ञजी की हिन्दी-कविताएँ ऐसी ही है।

'फूल और अंगारे' की भूमिका मे महाप्रज्ञ जी ने काव्य-रचना-प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि कवि बाह्य जगत् को अन्तर्जगत बना, फिर उसे बाह्य जगत मे लाने का प्रयत्न करता है। रचना-प्रक्रिया का इससे स्पष्ट परिचय नहीं हो सकता। उन्होने अपनी काव्य-सर्जना मे यही कार्य किया भी है। उन्होने मानव-जीवन को गौर से देखा है, उसकी गुत्थियो और उलझनो को समझा है और उन्हें संसार के सामने इस प्रकार रखा है जैसे वे गुत्थियाँ, वे उलझनें कुछ है ही नहीं। 'फूल और अंगारे' संग्रह मे एक कविता है—'नीड और विहग'। कवि लिखता है—

पंथ क्या वह, पथिक के
सम्मुख जहाँ बाधा न आए ?
साध्य क्या वह, प्राण का दे

अर्घ्य जो साधा न जाए ?
पंथ बन मिलते रहो तुम,
चरण बन चलता रहूँगा ।

कैसी आश्वासन देने वाली पंक्तियाँ है । 'फूल और अंगारे' के प्रकाशकीय वक्तव्य मे यह कामना की गयी है कि इस पुस्तक के पठन व मनन से पाठको को जीवन की उलझनें समझने और सुलझाने मे नयी दृष्टि मिल सकेगी । ये कविताएं निश्चय ऐसी ही है । महाप्रज्ञ न तो संसार की असारता का भयंकर चित्र दिखाकर मनुष्य को संसार छोड़ना सिखाते हैं और न जीवन मे, जो अशोभन और गर्हित है उसका दृश्य दिखाकर जुगुप्सा-भाव जगाते है वरन् जीवन की विघ्न-बाधाओ, कष्ट-समस्याओ को इस रूप मे प्रस्तुत करते है कि वे सब दुःखद नही, सुखद प्रतीत होने लगती है ।

महाप्रज्ञजी की दृष्टि केवल इह लोक तक ही नहीं है, उनकी दृष्टि मे परलोक भी है । लोक और परलोक, दोनो सुधारने का उन्होंने कैसा उपाय बताया है—

जहाँ पहुंचना है
वहाँ
वही पहुंच पाएगा
जो उस पार के आलोक में
इस पार को देखता है
और इस पार के निर्माण से
उस पार को आलोकित करता है ।

(गूंजते स्वर बहरे कान, पृ० २०)

लोक-परलोक की समस्या का कैसा सुन्दर, सटीक और व्यावहारिक समाधान प्रस्तुत किया गया है । यह संसार एक मार्ग है जिससे होकर मनुष्य गुजरता है । गंतव्य तो कहीं अन्यत्र है । उस गंतव्य पर पहुँचने के लिए इस मार्ग को ठीक से पार करना होगा । अर्थात् इस संसार के हमारे कार्य तभी ठीक होगे जब हमे परलोक का भय रहेगा । इस संसार को ही सब कुछ समझकर मनुष्य मदान्ध हो जाता है । परलोक का भय मनुष्य को इस लोक मे ठीक रखता है । उस लोक को देखते हुए इस लोक का हमारा कौन-सा कार्य ठीक है और कौन-सा नही, ऐसा विचार कर कार्य करने वाला ही उस लोक मे सुख से पहुँच पाएगा । जो ऐसा विचार कर कार्य करता है वही वास्तव मे इस संसार को बनाता है और इसी निर्माण से व्यक्ति का परलोक भी बनता है । कर्मफल मनुष्य को भोगना पड़ता है, यह कौन नहीं जानता ? और हमारा वही कर्म सार्थक और उचित है जो परलोक मे हमारे काम आयेगा । इस तथ्य को कवि ने हृदयग्राही रूप मे प्रस्तुत किया है ।

इस प्रकार महाप्रज्ञजी का काव्य-फलक अत्यन्त विस्तृत है । उनके काव्य मे संसारी व्यक्तियो और मुमुक्षुओ, दोनो के लिए सदेश हैं । उनके एक काव्य-सग्रह 'नास्ति का अस्तित्व' मे द्वितीय कोटि के मनुष्यो के लिए उत्तम संदेश है । इसमे तिरेसठ कविताएँ सगृहीत है । प्रथम कविता है "अमिट लौ" जो इस प्रकार है—

यह अमिट लौ है
यह जलती रही है, जल रही है और जलती ही रहेगी।
खिडकियाँ खुली क्यों हैं ?
बाहर अँधेरा ही अँधेरा है
आलोक भीतर के कमरे में है।
यह पत्न का घना आवरण क्यों डाला हुआ है ?
आलोक आगे है।
यह ढक्कन किसने रखा है ?
आलोक और आगे है।

इस देह-मन्दिर मे आत्मा-रूपी दीपक की लौ है जो अनन्त काल से जलती आ रही है और आगे भी जलती रहेगी। उसी के आलोक से अन्दर प्रकाशित है। इसीलिए आलोक या तो भीतर है और नहीं तो फिर आलोक यदि कही है तो बहुत आगे अर्थात, जहाँ परमात्मा है। तात्पर्य यह है कि आलोक दो ही स्थानो पर द्रष्टव्य है—एक जहाँ आत्मा का निवास है और दूसरे जहाँ परमात्मा की स्थिति है। इन दोनो के बीच मे अँधेरा-ही-अँधेरा है। आत्मा की अमरता, उसकी निरवच्छिन्नता का जो परिचय इस प्रथम कविता मे है वही भाव फिर अन्तिम कविता मे है जिसका शीर्षक है—'चरम दर्शन'। कवि कहता है—

घोडा खडा रहा,
आरोही उड चला।
पिंजडा पडा रहा,
पंछी उड चला।
फूल लगा रहा,
सौरभ चल बसा।
बाती भरी रही,
ज्योति-पुंज ज्योति-पुंज से जा मिला।

सचमुच इन पंक्तियो मे संसार का चरम दर्शन कह दिया गया है। ससार का अंतिम और एकमात्र सत्य यही है। शरीर यहीं नष्ट होने के लिए रह जाता है और आत्मा परमात्मा से जाकर मिल जाती है। इन दोनों कविताओं के मध्य मे स्थित सारी कविताएँ उसी परलोक-पथ पर अग्रसर होते हुए मानव को विचलित होने, फिसलने, गिरने, रुकने से बचाने का मत्र दे रही है। इन कविताओ मे अपूर्व शक्ति, विलक्षण निस्संगता, अद्भुत खरापन और प्रचंड वेग है। कोई महाप्रज्ञ, कोई अनासक्त साधक ही ऐसी कविताएँ लिख सकता है।

साधक के पास केवल वही नहीं जाता है जो परलोक की चिंता म निमग्न है, उसके पास वह भी जाता है जो सासारिक चिन्ताओ मे डूबा हुआ है। महाप्रज्ञजी ने इस दूसरे प्रकार के व्यक्तियो को भी निराश नहीं किया है। उनके काव्य मे ऐसे व्यक्ति भी अपनी समस्याओ का निदान पा सकते है। 'गूँजते स्वर . बहरे कान' सग्रह की कवि-

ताएँ द्रष्टव्य हैं। यह शीर्षक ही उन कविताओं का परिचय दे रहा है। जिस प्रकार कबीरदास ने बहुत विश्वास के साथ अपनी वानियों को साखी कहा है, वैसा ही विश्वास इस शीर्षक से भी ध्वनित हो रहा है। इन कविताओं मे जो कहा गया है वह ऐसा स्वर है जो दिक्-दिगंत मे गूँज रहा है, पर मनुष्य ऐसा बहरा बना हुआ है कि सुन नही रहा है। इस संसार के बीहड़ वन मे भटकते हुए मानव को कवि कहता है—

ओ भोले मृग !
उसे पाने को मत दौड
जो तेरे पास है ।
ओ भोले आदमी !
धरती को मत छोड
ऊपर केवल आकाश है ।
ओ भोले राही !
मरु-मरीचिका मे मत फँस
कण्ठों में तेरे प्यास है ।

(गूँजते स्वर : बहरे कान, पृ० ११२)

ऊपर कहा जा चुका है कि संत-भक्त कवियो के समान महाप्रज्ञ जी ने संसार की क्षण-भंगुरता का भयानक चित्र दिखाकर संसार-छोड़ना नहीं सिखाया है अपितु वे धरती को न छोडने की सलाह देते है। जो ईश्वर की खोज मे इधर-उधर भटकते हैं, वे भोले है। वे उस कस्तूरी-मृग के समान है जो सुगंध की खोज मे भटकता चलता है जबकि संसार का सर्वाधिक सुगंधित पदार्थ उसी के अन्दर है। ईश्वर की अंश-रूपिणी आत्मा प्रत्येक व्यक्ति के अंदर निवास करती है। मनुष्य की यह कमी नादानी है कि अपने भीतर के देवता की उपेक्षा कर वह बाहर देवता को खोजता है।

विदेश की नकल मे मस्त आज का अल्ट्रा मोडर्न मनुष्य महाप्रज्ञ जी की दृष्टि से ओझल नहीं है। उन्होने उसे भी देखा है—

आज का आदमी
छिपाने में विश्वास नही करता
उसको नई पोशाक का
यही अर्थ है कि
शरीर की हर रेखा प्रदर्शित
हो सके
उसके ढीले मन का
यही अर्थ है कि
वह अपने आप को खो सके ।

(गूँजते स्वर बहरे कान, पृ० ११८)

मनुष्य आज सगर्व अपनी दुर्बलताओ का अनावरण कर रहा है, उनका आख्यान कर रहा है। ऐसे मानव पर ये पंक्तियाँ कितनी सटीक बैठती हैं।

इस संसार मे गति ही जीवन और अगति मृत्यु का सूचक है। कवि के शब्दो मे उसे देखिए—

जलने से पहले कोयला होता है
जलने के बाद राख
प्रकाश वही होता है
जो जलता है
आदमी वही होता है
जो चलता है।

(गूँजते स्वर बहरे कान, पृ० १२६)

'गूँजते स्वर बहरे कान' मे मनुष्य के लिए ऐसे ही उपयोगी संदेश भरे पड़े है।

'गूँजते स्वर . बहरे कान' मे जो संदेश दो-टूक शब्दो मे है वही सदेश 'फूल और अंगारे' मे मधुर स्वर मे प्रस्तुत है। इसकी भूमिका मे कवि ने कहा है कि कविता सत्य की तीव्र अनुभूति और सरस अभिव्यक्ति है। कविता के प्रकार्य का यह बडा सटीक परिचय है और यह कथन इस संग्रह की कविताओं पर सटीक बैठता है। इन लयात्मक कविताओ में सचमुच ही सत्य की सरस अभिव्यक्ति हुई है। इस सग्रह की कविताओ का परिचय देते हुए कवि ने भूमिका के अन्त में कहा है—"जीवन के दोनों रूप इसका स्पर्श किये हुए है। मृदुता और दाहकता दोनों कठोरता और शीतलता को व्याप्त किये हुए है। कविता का ससार इस परिधि से बाहर नहीं है।" संसार के दोनों पक्षो का कैसा सुदर समन्वय इन पंक्तियों मे हुआ है—

हार-हार से विजय निकलती,
पाते तम से तेज सितारे ;
स्वर चलता है सदा शून्य में
तुमुल-नाद कर रहे नगारे।

(फूल और अंगारे, पृ० १८)

हार न हो तो फिर विजय किस को कहेंगे ? अंधकार न हो तो प्रकाश की पहचान कैसे होगी ? निस्तब्धता नहीं तो नाद का क्या अर्थ होगा ? अत विजय अगर वरेण्य है तो पराजय भी तिरस्करणीय नहीं है उसको भी स्वीकार करके ही चलना पड़ेगा। प्रकाश निस्सदेह अभिनंदनीय है, पर तम भी अस्वीकरणीय नहीं है। उसके अस्तित्व को मानकर ही प्रकाश का अभिनन्दन करना पड़ेगा। वस्तुत जीवनको, संसार को अंशत. देखने का ही परिणाम है कि उसका एक पक्ष सुखद तो दूसरा पक्ष दु खद प्रतीत होता है। सामान्य मनुष्य की सीमा यह है कि वह एक समय मे एक ही पार्श्व को देख पाता है और इसलिए वह एक समय मे सुखी अथवा दु खी रहता है। संसार को समग्रता मे देखने से ही ऐसी स्थित-प्रज्ञता प्राप्त हो सकती है। और, उसे समग्रता मे देखने के लिए बहुत ऊँचाई अपेक्षित होती है। मुनि नथमलजी ऐसे ही ऊँचे व्यक्तित्व के कवि है।

कवि की उच्चता का अथवा यो कहे कि उसकी शक्ति का एक परिचय यह भी है कि वह अपनी अभिव्यक्ति-प्रणाली को विविध आयाम देने मे समर्थ हे। इसीलिए महान् साहित्यकार एक से अधिक विधाओ मे लिखते है। वे उसमे अभिव्यक्ति के नूतन प्रयोग करते रहते है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कितनी साहित्य-विधाओ को समृद्ध किया है। तुलसीदास ने एक ही विधा—काव्य मे रचना की तो विषय-वस्तु एक होते हुए भी उसे अनेक आकार-प्रकारो मे प्रस्तुत किया है। उन्होंने प्रबन्ध-काव्य की रचना की तो मुक्तक काव्य भी रचे, महाकाव्य का प्रणयन किया तो खंडकाव्य को भी अछूता नही छोडा, पद लिखे, गीत रचे, भाषा को भी कही सस्कृतनिष्ठ किया तो कही साधारण रखा। महाप्रज्ञजी के कवि को भी यह क्षमता प्राप्त है। उनके तीनो काव्य-सग्रह इसके प्रमाण है। स्वरूपत "फूल और अगारे" की कविताएँ छायावादी कविताओं को याद दिलाती है तो "गूँजते स्वर बहरे कान" और "नास्ति का अस्तित्व" ये नयी कविता का स्मरण कराते हैं। सर्वत्र अनुभूति इनकी अपनी अनुभूति है, पर अभि-व्यक्ति प्रकार को उन्होंने जब जैसा चाहा है वैसा मोड दिया है।

अनुभूतिकी विशिष्टता के सदृश महाप्रज्ञजी की भाषा की भी अपनी विशिष्टता है। इसका कारण यह है कि काव्य-भाषा के विषय मे वे आधुनिक विचार रखते हैं। 'फूल और अगारे' की भूमिका मे उन्होंने लिखा है कि कवि के लिए वस्तु की अपेक्षा शब्द अधिक उपयोगी है, अभिव्यग्य की अपेक्षा अभिव्यजक अधिक उपयोगी है। कोई सच्चा कवि ही ऐसा कह सकता है। लोग जिसे एक जैन-महाप्रज्ञ के रूप मे जानते है वह कवि के रूप मे यदि ऐसा अनुभव करता है तो उससे स्पष्ट है कि वह जब काव्य-जगत् मे प्रवेश करता है तो वहाँ केवल कवि रहता हे और कुछ नही—और कुछ भी नहीं। जीवन के जिस क्षेत्र म व्यक्ति प्रवेश करे उसी क्षेत्र का व्यक्तित्व उतने समय तक ग्रहण कर ले और अन्य व्यक्तित्वो को छोड दे, यह बडी साधना का कार्य है। महाप्रज्ञजी मे यही सिद्धि है कि जब वे कविता की दुनियाँ मे आते हैं तो केवल कवि रह जाते है। उसी सिद्धि से उनकी काव्यभाषा मे अदम्य शक्ति का सचार हो गया है।

महाप्रज्ञजी की काव्य-भाषा का सारा चमत्कार शब्द का चमत्कार है। यहाँ न वाक्य की वक्रता है न मुहावरो की छटा, न अलकारो का चाकचिक्य है, न बिम्ब-प्रतीक के ही फेर मे कवि पडा है—यहाँ तक कि काव्या-त्मक शब्दो के खोजने का भी कोई प्रयास यहाँ नहीं दीखता। काव्य-भाषा मे शब्दो का विन्यास भी एक बडा ही महत्त्व रखता है, कवि ने उसकी भी चिंता नही की है। सीधे-सादे शब्दो के सामान्य प्रयोग से सम्पूर्ण कवित्व की सृष्टि की गयी है। नयी आलोचना की भाषा मे कहें तो सपाट-बयानी यहाँ चरमोत्कर्ष पर है।

निष्कर्ष-स्वरूप यह निस्सकोच कहा जा सकता है कि महाप्रज्ञजी का काव्य, साम्प्रतिक हिन्दी-कविता के क्षेत्र मे एक आलोक-स्तम्भ के सदृश देदीप्यमान है और रहेगा।

*

महाप्रज्ञजी का आर्ष-गद्य

—डॉ० जगदीशकुमार
एम० ए०, पी-एच० डी०
रीडर हिन्दी-विभाग
दिल्ली-विश्वविद्यालय

महाप्रज्ञ जी का आर्ष-गद्य चार संग्रहों मे प्रकाशित है। 'अनुभव चिन्तन मनन' 'भाव और अनुभाव' तथा "वन्दी शब्द मुक्त भाव" मे उनके गद्यगीत और लघु निवन्ध संकलित है। मैंने कहा—

महाप्रज्ञजी का यह गद्यकाव्य "शुद्ध वुद्ध आत्मा" का उच्छ्वास है। ऐसी तप पूत आत्मा की वाणी-वल्लरी हितैपणा से सिक्त होकर फूलती-फलती रही है। उसके पुष्प-फल "विशद गुणमय" तो है परन्तु विरस नहीं। जहाँ उनमे "मन्त्र परम लघु" की वशीकरण-शक्ति है, वहाँ सात्विक काव्य के अनद्य सौन्दर्य का अभाव भी नहीं है। चरम अवस्था मे दर्शन और काव्य के अभेद की प्रत्यक्ष अनुभूति वे करा देती है। इसीलिए उन्हें पढने से "आनन्द और प्रेरणा" दोनो की प्राप्ति होती है।

'सर्वारम्भ परित्यागी' और मितभापी महात्मा महाप्रज्ञजी साधना से प्राप्त 'सुर-सम्पदा' के दान मे पर्याप्त उदार रहे है। उनके प्रेरक विचार आध्यात्मिक है। उनके गद्यकाव्य की भावधारा सनातन भारतीय परम्परा के अनुकूल रहस्यवादी है। महावीर जैसे आप्तजनों के उद्वृत वचनो मे इस परम्परा की प्रत्यक्ष स्वीकृति है। अनेक स्थलो पर उपनिपद्, गीता आदि सच्छास्त्रों और उनसे अनुप्राणित सतवाणियो की अनुगूज भी सुनी जा सकती है। कुछ उदाहरण देखिए—

[१] विद्यावान् वही है, जो दूसरे को जानने से पूर्व अपने आप को भली-भाँति जान ले।
—अनुभव-चिन्तन-मनन, पृ० ५८

[२] अध्यात्मवादी वह होता है जो दूसरो से न डरे, न दूसरो को डराये। —उपर्युक्त, पृ० ६४

[३] अपना विश्व उतना ही विराट् है जितना यह विश्व है। —उपर्युक्त, ८६

[४] तुम कार्य का आरम्भ करते ही सफलता चाहते हो, यह कैसा मोह ? तुमने देखा होगा वृक्ष कितने वर्षों वाद सफल बनता है।
—भाव और अनुभव, पृ० ४८

[५] मैं महल मे था परन्तु मेरे मन मे महल नहीं था। —मैंने कहा, पृ० ११४

पहले वचन मे "आत्मान विद्धि" का भाष्य है। दूसरा वचन गीता के उद्वेगमुक्त भक्त की विशेपता (१२/१५) का संकेत करता है। तीसरे वचन मे "यत्पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे" की छाप है। चौथा वचन कवीर की "ऋतु आये फल होय" जैसी सूक्ति को ध्वनित करता है। पाँचवे उद्धरण मे महिमा की कसौटी यह सतवाणी है—"जो तोको काँटा वुए, ताहि वोइ तू फूल।" छठा वाक्य 'जल मे कमल' के सर्वमान्य भारतीय आदर्श की स्मृति जगाता है।

आध्यात्मिक साहित्य के कितने ही पारिभाषिक शब्दो और प्रत्ययो की व्याख्या उल्लिखित रचनाओं मे हुई है। आत्मा की अमरता और अभेदानुभूति मे उन की आस्था है। वे सत्य को दृश्य जगत् से परे मानते है। स्थूल और सूक्ष्म शरीरो की धारणाएँ उन्हें स्वीकार है। उन्होंने तर्क की अपेक्षा श्रद्धा को अधिक महत्त्व दिया है। उनकी साधना-पद्धति मे अहिंसा, प्रेम, आत्मौपम्य, करुणा, क्षमा, ब्रह्मचर्य, सयम, व्रत, आत्मालोचन, भावना, योग, ध्यान, त्याग आदि मानवीय मूल्य सर्वोपरि है। वे अहं, परिग्रह, लोभ, योग, एषणा, द्वेष, प्रमाद आदि दुर्गुणों को विचार-पूर्वक त्यागने की प्रेरणा देते हैं। अनेकान्त, सम्यक्-दृष्टि, कषाय-चेतना, वाक्-संवर आदि जैन-प्रत्ययो की व्याख्याएँ भी उन्होंने की है। समग्रत उनकी आध्यात्मिक चेतना असाम्प्रदायिक है। युगीन आवश्यकता को पहचान कर वे सामान्य धर्म का समर्थन करते हुए कहते है "धर्म के पीछे जो परम्पराएँ, उपसनाएँ और क्रियाकाण्ड है वे सब झगडों के निमित्त बनते है। आज निर्विशेषण धर्म की आवश्यकता है।" (मैंने कहा पृ० ७६)

ऐसे उदार धार्मिक दृष्टिकोण के कारण ही वे मानते है कि विभिन्न दर्शन ; दूकानो की भाँति विभिन्न व्यक्तियों की आवश्यकताएँ पूरी करते है (उपर्युक्त पृ० १६५)। दृष्टिकोण की यह उदारता किसी सम्प्रदाय या शास्त्र की भावधारा स्वीकार नहीं करती। धर्म को, आत्मानुभूति से जोडते हुए वे लिखते है . "जब-जब आत्मानुभूति बढती है और शास्त्रीय वाक्यों की दुहाई घटती है, तब धर्म तेजस्वी और शास्त्र निस्तेज हो जाता है" (बन्दी शब्द · मुक्त भाव, पृ० ५०)। वे सत्य को सम्प्रदाय से बडा मानते है और अपने सम्प्रदाय के बुद्धिगम्य विचार ही उन्हें स्वीकार है (भाव और अनुभाव, पृ० १२३ व १२६)। उनके अनुसार सच्चा धर्म आवेगो का उपशमन करता है और झूठा धर्म उन्हें उभारता है (मैंने कहा पृ० ३४)। धार्मिकता की इस निश्छल भूमि पर पहुँच कर ही कोई साधक ऐसी स्पष्टता का आग्रह कर सकता है—"जो मैं देखता हूँ वह दूसरे भी देखें और जो मैं नहीं देख सकता वह भी देखें, मैं अपनी अच्छाइयो को अच्छी तरह देख लेता हूँ व अपनी दुर्बलताओ को भी पैनी दृष्टि से देखता हूँ। फिर भी बहुत सम्भव है कि मुझ मे जो विशेषताएँ विकास पा सकती है, उन्हें मैं न जानता होऊँ। जो कमजोरियाँ तर्क की ओट मे छिपी पडी है, उन्हें न समझता होऊँ। मैं खुली पुस्तक की भाँति स्पष्ट रहना चाहता हूँ" (अनुभव चिन्तन मनन पृ० १३१)।

धर्म-साधना और धर्म-चिन्तन मे ही अहर्निश लीन रहने वाला महात्मा अपने आराध्य से गुह्य-सम्वाद की स्थिति प्राप्त कर ले तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए। महाप्रज्ञ जी अपने आराध्य को सम्बोधित करते हुए लिखते है—

देव ! मैं तुम्हें ढूँढने बाहर गया, तब तुम नही दीखे।
मैं थक कर अपने घर में चला आया।
मैंने विस्मय के साथ देखा कि तुम यहाँ बैठे हो।
मैं स्थूल हुआ, तुम सूक्ष्म हो गए।
मैं सूक्ष्म हुआ, तुम स्थूल हो गए।
देव ! तुम मेरे साथ बाल-क्रीडा कर रहे हो। इस प्रकार
तुम्हारा बडप्पन कैसे सुरक्षित रहेगा ?

—भाव और अनुभाव, पृ० ४१

गोविन्द का ऐसा साक्षात्कार गुरु की कृपा बिना प्राप्त नहीं होता। इसलिए महाप्रज्ञ जी ने भी अपने गुरु के निज्जरट्ठिए, निरासव, अप्पभासी, मियासण, निस्संग, जिइन्दिय, आणन्दघण आदि गुणों का स्तवन किया है। (अनुभव चिन्तन मनन, पृ० ११८-१९) उनके अनुसार कुम्हार के समान "गुरु की अंगुलियों पर हम इसलिए विश्वास करते हैं कि मिट्टी को आकार ही नहीं देता, अपना प्राण भी देता है" (बन्दी शब्द मुक्त भाव, पृ० ७९)। फिर भी उनके लिए गुरु या मार्गदर्शक के महत्त्व का अर्थ "यह तो नहीं कि हम देखना ही बन्द कर दें। स्वयं सोचना ही छोड़ दें।" (मैंने कहा—, पृ० १६)

अभेदानुभूति की साधना किसी साधक को दुनियाँ से कट कर नहीं रहने देती। महाप्रज्ञ जी ने सहगमन को प्रगति का मूल मंत्र घोषित किया है (भाव और अनुभाव, पृ० ३१)। अपने आप में पूर्ण मनुष्य को उन्होंने दूसरों की अपेक्षा में अपूर्ण कहा है (उपर्युक्त, पृ० ३८)। मनुष्य की इस सापेक्षता को पहचान कर ही वे लोक-संग्रह के लिए ऐसे चलने का लक्ष्य स्वीकार करते है कि दूसरे उनके "पदचिह्नों के पीछे चलने के लिये लालायित हो" (उपर्युक्त, पृ० ३१)। लोक-संग्रही नेता का गम्भीर दायित्व भी वे भली-भाँति पहचानते है —

"जो व्यक्ति नेता होकर भी दूसरो के मन को नहीं पढ सकता वह दूसरों को साथ लिए नहीं चल सकता।

"दूसरों के मन को वही पढ सकता है, जिसके मन की स्वच्छता में दूसरों के मन अपना प्रतिबिम्ब डाल सकें।

"इस संसार मे सबसे बडी कला है, दूसरों के हृदय को स्पर्श करना।"

—बंदी शब्द मुक्त भाव, पृ० ६३

प्रचार द्वारा "साधना के क्रम को प्रकाश मे लाना" उन्हें किसी प्रकार बुरा नहीं लगता क्योंकि "विकास का वास्तविक क्रम यही है—जो सोए हुए है, उन्हें जगाओ, जो जगे हुए है, उन्हें प्रगति की ओर ले जाओ" (अनुभव-चिन्तन-मनन, पृ० ७२)। विकास का यह क्रम बनाये रखने के लिये ही उन्होंने अपनी भाषा में अमित सत्य को प्रतिबिम्बित करने का प्रयत्न किया है (भाव और अनुभाव, पृ० ६)। जनसाधारण के काम की बातें कहने के लिए उनकी वाणी ने अपनी दिशा भी बदली है (मैंने कहा , प्रस्तुति)। नीति-कथाओ मे तो जनसाधारण को जगाने का प्रयत्न स्पष्ट है ही, गद्य-काव्य मे भी नीतिपरक सूक्तियो का अभाव नहीं है। लोक-संग्रह की प्रबल आकांक्षा के बावजूद वे सच्चाई को ओझल नहीं होने देते कि "हर आदमी अपने-आप को अच्छा बनाने की बात सोचे और अच्छा बने तो दुनियाँ अपने-आप अच्छी बन जाएगी (मैंने कहा , पृ० ८७)।"

महाप्रज्ञ जी की लोकोपयोगी सूक्तियो और नीतिकथाओं में जो सत्य प्रकट हुआ है, उसकी पृष्ठभूमि भी प्राय आध्यात्मिक ही है। वे 'स्व' में लीन रहने की अपेक्षा दूसरो के लिए 'स्व' के विसर्जन को श्रेष्ठतर मानते है परन्तु "स्व को परम मे लीन कर देना" श्रेष्ठतम है (भाव और अनुभाव, पृ० ७५)। वे स्वार्थ के कारण दूसरों के हित की उपेक्षा करना ठीक नहीं समझते (मैंने कहा , पृ० ८४-८५)। उनका विश्वास है कि "आत्मा का अहित किये बिना दूसरों का अहित नहीं किया जा सकता (अनुभव चिंतन मनन, पृ० ९१)।" वे प्राय धन के प्रबद्ध लोभ का संवरण करने की प्रेरणा देते है। उनके अनुसार—"शोषण का मूल जीवन की आवश्यकताएँ नहीं, मानसिक अतृप्ति है (उपर्युक्त, पृ० १३५)।" वे व्यक्ति की स्वतन्त्रता के समर्थक है परन्तु आचरण के मूल्यांकन

की सामाजिक कसौटी ही स्वीकार करते है (उपर्युक्त, पृ० ५३) । "मैंने कहा " मे सकलित अधिकाश कथाएँ या तो सीधे धर्म-साधको के जीवन की प्रेरक घटनाओ से जुडी है या उनकी नैतिक शिक्षा धार्मिक जीवन के किसी सत्य का उद्घाटन करती है। कुछ नीतिकथाओ मे यत्किंचित परिवर्तन द्वारा धर्म का 'झोल' चढाया गया है।

महाप्रज्ञजी के गद्यकाव्य मे उनका चैतन्य "अवतरित होकर चिंतन के प्रपात से विचार को प्रवाहित करता है। कल्पना का परिधान ओढकर वह काव्य बन जाता है (भाव और अनुभाव, पहला वचन)।" कल्पना का स्पर्श उक्तियों को अलंकृत कर देता है। महाप्रज्ञ जी की उक्तियो मे औपम्यमूलक अलकारो की अपूर्व छटा के कुछ उदाहरण देखिए —

[१] उपमा—सौम्य वह होता है जो चाँद की भाँति सब को (तारो को) साथ लिए चमकता है।

—वंदी शब्द मुक्त भाव, पृ० १०

[२] प्रतीप—रटी-रटाई बात दोहरा कर तुम उतना आकर्षण नही पा सकते जितना एक तोता पाता है, क्योकि वह पक्षी है, तुम मनुष्य हो। —उपर्युक्त, पृ० ७३

[३] मालारूपक—स्नेह का धागा एक-और अविच्छिन्न है। उसमे असख्य दिलो को एक साथ बाँधने की क्षमता है।

स्नेह जीवन के हिमालय का वह प्रपात है जो गगा-जमुना बनकर बहता है और धरती के कण-कण को अकुरित, पल्लवित और पुष्पित करता है।

स्नेह जीवन के सूर्य का वह प्रकाश है, जो गहन अधकार को भेद कर मानस की हर सतह को आलोक से भर देता है। —उपर्युक्त, पृ० ६

[४] रूपकातिशयोक्ति—पिंजडा पडा रहा, पछी उड चला। भाव और अनुभाव, पृ १२०

[५] प्रतिवस्तूपमा—जिसके जीवन मे धर्म है, उसके जीवन से असदाचार का प्रवाह नही निकल सकता। क्या जल की धारा से अग्नि का स्फुलिंग उछल सकता है ? — वंदी शब्द मुक्त भाव, पृ० ५३

[६] निदर्शना—*मेरे कानों में एक स्वर गूंज उठा –*

'चट्टानों को देख रुको मत

बढो और आगे बढो।' —उपर्युक्त, पृ० २६

[७] व्यतिरेक—अनन्त दीपमालाएँ भी वह आलोक नहीं दे सकतीं, जो आलोक आत्मालोचन और आत्मनिरीक्षण से मिलता है। —अनुभव चिंतन मनन, पृ० ५०

[८] विरोध—आँख को मूँद कर देखने वालो ने जो देखा है, वह खुली आँख वालो ने कभी नहीं देखा।

—वंदी शब्द मुक्त भाव, पृ० ६३

[९] मानवीकरण—श्रद्धे। तेरे प्राणकोश अत्यन्त सुकुमार होने पर भी तू उन्हीं व्यक्तियो से अनुराग करती है जो भयंकर कष्टों के तूफान मे अडोल रहते हो—यह बडा आश्चर्य है।

—अनुभव चिंतन मनन, पृ० ५६

साधना-प्रसूत चिंतन मे दृष्टान्त और अर्थान्तरन्यास का अधिक प्रयोग स्वभाविक है। संतो और भक्तों को अन्योक्ति की शैली प्रिय रही है। आलोच्य गद्य मे भी इन तीनो अलकारो के प्रचुर उदाहरण मिलते हैं। वानगी के तौर पर एक-एक प्रयोग द्रष्टव्य है —

(१) **दृष्टान्त**— असाम्प्रदायिक वातावरण का निर्माण वही कर सकता है, जो सम्प्रदाय मे रहते हुए भी व्यापक दृष्टि का धनी है। कमल आकाश मे उत्पन्न नहीं होता, वह पक मे उत्पन्न हो कर भी उससे अलिप्त रहता है।

— वदी शब्द मुक्त भाव, पृ० २८

(२) **अर्थान्तरन्यास**—*सिगनल झुका, रेल चलती गयी।*
वह स्तब्ध रहा रेल रुक गयी।
गतिरोध वहाँ होता है जहाँ स्तब्धता होती है।

—अनुभव चिंतन मनन, पृ० ४०

(३) **अन्योक्ति**— कण-कण तुम्हारा मीठा है इक्षु, फिर भी लोभ-संवरण नहीं हुआ। ये सुरभिहीन फूल क्या तुम्हारी मधुरिमा के अनुकूल है ? —उपर्युक्त, पृ० १६

न्याय-मूलक अर्थालंकारों में से विशेषोक्ति, कारणमाला, असंगति आदि के काव्यात्मक उदाहरण भी कहीं-कहीं मिल जाते है —

[१] **विशेषोक्ति**—मेरे साध्य है वे सुदर्शन, जो काजल की कोठरी मे पैठ कर भी कालिख से बचे और जिन पर कजरारी आंखें कालिख नहीं पोत सकीं।

—अनुभव चिंतन मनन, पृ० १०१

[२] **कारणमाला**—भविष्य को उज्ज्वल बनाना चाहे, उसे ब्रह्मचारी रहना ही होगा। ब्रह्मचर्य तब आता है जब संयम हो। संयम का आधार दया है। दया लज्जा से टिकती है। —उपर्युक्त, पृ० १०२

[३] **असंगति**—इस दुनिया मे सम्यक् कम है, विपर्यय अधिक। रोग कहीं है और चिकित्सा कहीं। भूख कहीं है और भोजन कहीं। चाह कहीं है और राह कहीं।

—वदी शब्द मुक्त भाव, पृ० ८८

शब्दालंकारों के मूल मे कोरा पाडित्य-प्रदर्शन रहता है। उनके चक्कर मे महाप्रज्ञ जी का कवि-हृदय नहीं पडा है। ढूंढने पर ही श्लेष आदि के इक्के-दुक्के उदाहरण मिलते है —

(१) **श्लेष**—छोटे-से छेद ने गतिरोध पैदा कर दिया।

— अनुभव चिंतन मनन, पृ० ५४

कल्पना का प्रयोग अलंकृति मे ही नहीं, रचना की अन्विति मे भी देखा जा सकता है। महाप्रज्ञ जी की रचनाएं प्राय निम्नलिखित शैलियों मे अन्वित है —

[१] प्रतीकात्मक-विम्बात्मक

[२ । तर्कात्मक

[३] संवादात्मक

[४] व्यंग्यात्मक

[५] कथात्मक

प्रथम कोटि में वे सभी रचनाएँ आ सकती हैं, जिनके मूल में उपमा या उपचार-वक्रता रहती है। जटा, ईंधन, कली, माला आदि प्रसिद्ध प्रतीकों का बिम्बात्मक अंकन अनेक रचनाओं में हुआ है। एक उदाहरण देखिए —

कली जागी, उस का सौन्दर्य झूम उठा।
वह प्रगति के पथ पर आगे बढ़ी, उसका पराग
परिमल बिखेरने लगा। मधुकर परिक्रमा देने लगा।
वह अलसायी कि उसकी श्री ने मुहँ ढाँक लिया।
वह सोची कि वह ने उसे उठा फेंका। कली का
उस की कल्पना ही नहीं थी।

—अनुभव चितन मनन, पृ० ३७

व्यावहारिक संदेशों के आधार पर विकसित रचनाओं में तर्कात्मक अन्विति मानी जा सकती है। अन-मुक्त रचनाओं का कहीं-कहीं शुद्ध तर्कात्मक विकास भी हुआ है —

[१] शत्रु वह नहीं है जो हमारे ही जैसा है। मनुष्य मनुष्य जैसा है। मनुष्य मनुष्य का शत्रु नहीं हो सकता। अनुभव चिंतन मनन, पृ० २७

[२] जो अपने बारे में सोचता है, वह समूचे विश्व के बारे में सोचता है। अपना विश्व उतना ही विराट् है, जितना यह विश्व है। अपनी समस्याएं उतनी ही जटिल हैं, जितनी विश्व की है।

—भाव और अनुभाव, पृ० १२७

[३] विलासी जीवन में धन चमकता है। सादगीपूर्ण जीवन में व्रत चमकते हैं। धन और व्रत दोनो एक साथ नहीं चमकते। - बंदी शब्द मुक्त भाव, पृ० ८३

'मौन,' 'यह कैसा आश्चर्य ?' (भाव और अनुभाव, पृ० २१ व १०५), आदि रचनाएँ सवादात्मक शैली म विकसित हुई हैं। पहली रचना के संवाद काव्यात्मक हैं, दूसरी के व्यावहारिक। पहली का सौन्दर्य मार्मिक कल्पना में है, दूसरी का सामाजिक स्थिति के व्यंग्यात्मक प्रस्तुतीकरण में। जिसे 'है' से असंतोष हो, वह व्यंग्यात्मक शैली की ओर अधिक झुकता है। महाप्रज्ञ जी की कुछ अन्य रचनाओ मे भी सयत और सौम्य व्यंग्य के सुन्दर उदा-हरण मिलते हैं। देखिए —

[१] मानव-मान्यता का यह कितना भीषण उपहास है कि वह जिस धन को बुरा कहता है, उससे बहुत चिपटा हुआ है। वह जिस सत्ता को बहुत कोसता है, उसके पीछे पड़ा हुआ है। वह जिस धर्म को बहुत अच्छा मानता है, उससे बहुत दूर भागता है।

—अनुभव चिंतन मनन, पृ० ७९

[२] समय उन्हें नहीं मिलता, जो कुछ भी नहीं करते। जो व्यक्ति कुछ करते है, उनके लिए समय की कोई कमी नहीं।

—उपर्युक्त, पृ० ५४

[३] बड़ा सहृदय है

हाथ में सत्ता नहीं होगी।

बड़ा दयालु है :

पास में पैसा नहीं होगा!

बड़ा सत्यवादी है

वाक्-पटु नहीं होगा!

बड़ा गंभीर है :

कोई मित्र नहीं होगा!

बड़ा शांत है :

नासमझ होगा?

—भाव और अनुभाव, पृ० ९

इसी तरह 'मैंने कहा ' की 'विडम्बना' (पृ० ९), 'प्राणों का मोह' (पृ० १०), 'समय की पहचान' (पृ० ११), आदि कथाओं में भी व्यंग्यात्मक सामाजिक स्थितियों का उपयोग किया गया है। 'मैंने कहा ' की कथाओं का संरचनात्मक वैविध्य, विधायक कल्पना की असाधारणता का द्योतक है। लेखक ने जिन कथाओं का, अपने विचारों के अनुकूल ढालकर, उपयोग किया है, उनमें लोककथाओं, नीतिकथाओं, जनश्रुतियों, पुराकथाओं और प्रख्यात प्रसंगों की सामग्री सबसे अधिक है। 'मूल-स्वरूप' जैसी कथाओं में 'पुनर्मूषिको भव' आदि का रूपान्तरण है। 'बुद्धि का खतरा' जैसी कथा प्रसिद्ध पहेली के आधार पर गढ़ी गयी है। 'मनुष्य की बुद्धि' का मूल स्रोत कल्पवृक्ष-संबंधी पौराणिक धारणा में है। 'कलम और छुरी' की कल्पना साधर्म्य के आधार पर की गयी है। 'श्वास ही सब कुछ' में साधर्म्य आरोपित है। 'काम में लो', 'घर भरने वाला' आदि कथाओं की प्रेरणा दूब सूखना, घर भरना आदि मुहावरों में देखी जा सकती है। 'प्राणों का मोह' जैसी कथाओं की सामग्री चुटकलों से ली गयी है। 'खाँसी में दही' की रचना आयुर्वेद के एक उद्धरण के इर्द-गिर्द की गयी है। पीपल, खींचतान, आनन्द-घट, आवरण आदि शब्दों के लाक्षणिक या श्लिष्ट अर्थों ने भी अनेक कथाओं की पृष्ठभूमि निर्मित की है। 'दूसरों के चिंतन पर' में शब्द-योग की 'स्क्रैबलो' जैसी क्रीड़ा द्रष्टव्य है। 'कोरक' में अन्त्यानुप्रास का चमत्कार आकर्षक है। 'अधीयता अंधीयता' की मूल सामग्री लिपि-शिक्षा के इस नियम से आयी है कि एक अनावश्यक अनुस्वार अनर्थकारी हो सकता है। 'वाक्-कला' की रचना वाक्-पटुता के आधार पर हुई है।

गद्यकाव्य में काव्यात्मकता की वृद्धि के लिए समान लय-विधान का भी विशेष महत्त्व है। गद्य और काव्य दोनों में लयवर्धक मुख्य तत्त्व ध्वनियों, पदों, पदबन्धों, वाक्यों आदि का समानान्तर प्रयोग है। ध्वनियों की समानान्तरता अनुप्रासों में विशेषतः लक्षित की जा सकती है। महाप्रज्ञ जी को अनुप्रासात्मक शैली बहुत प्रिय रही है। शीर्षकों में ही चाह और राह, चमत्कार को नमस्कार, भूख और योग, उल्लास-विकास, जलाना-बुझाना, कथनी-

करनी, प्राण और त्राण, आकार-विकार, दीप-दीवट, मुखर-मौन, सुन्दर या सुखी, यहाँ और वहाँ, समस्या और समाधान, आशा और निराशा, यह और वह, भाषा का भेद, साधना और सम्पन्नता, मन की मृदुता जैसे ध्वनि-साम्य के असंख्य उदाहरण उपलब्ध है। अन्त्यानुप्रासात्मक वाक्य भी कही-कहीं मिल जाते है।

जलाने को अपेक्षा मान
दीप क्यों तुष्ट हो ?
बुझाने को उपेक्षा मान
दीप क्यों रुष्ट हो ?

—बन्दी शब्द : मुक्त भाव, पृ० २४

पदो की समानान्तरता के उदाहरण उषा और सन्ध्या, अणु और महान्, बधन और मुक्ति, अस्ति-नास्ति, गति-स्थिति, श्रद्धा और तर्क, प्रकाश और तिमिर, व्यक्ति और समूह, न छोटा न वडा, जटिल और सरल, व्यक्ति और विराट, यंत्र और चैतन्य, कम-अधिक, स्मृति और विस्मृति, सम और विषम, विष-अमृत, धर्म और शास्त्र, नीचे-ऊपर, पगडंडी-राजपथ आदि शीर्षको मे देखे जा सकते है। 'आशा और निराशा' आदि रचनाओ मे आद्यन्त अधित्यका-उपत्यका, कृति-स्मृति, साध्य-सिद्धि, सावधिक-निरवधिक, प्रवृत्ति-निवृत्ति जैसे समानान्तर पदो का प्रयोग हुआ है। 'गति कैसे ?', 'ममता का देश' आदि रचनाओ मे वाक्यावृत्ति की औपनिषदिक पद्धति विशेष प्रभाव उत्पन्न करती है। एक उदाहरण देखिए —

मैं धार्मिक हूँ—यह तुम मानो या मत मानो किन्तु इतना तो
मानो कि मैं अधार्मिक हूँ।
मैं आस्तिक हूँ—यह तुम मानो या मत मानो किन्तु इतना तो
मानो कि मैं नास्तिक हूँ।
मैं प्रकाश हूँ—यह तुम मानो या मत मानो किन्तु इतना तो
मानो कि मैं अंधकार हूँ।

तुम नही जानते प्रकाश वही होता है कि जो अंधेरे मे से निकलता है। धर्म वही होता है जो अधर्म मे से निकलता है। आस्था वही होती है जो अनास्था मे से उपजती है। —भाव और अनुभाव, पृ० १२२

इस व्यास-शैली के समान समास-शैली भी वैदिक काल से प्रचलित रही है। सूत्रकाल मे समास-शैली का चरम विकास हो गया था। अंग्रेजी मे वेकन, हिन्दी मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की सूत्रात्मक सूक्तियाँ प्रसिद्ध रही है। ऐसी सूत्रात्मकता को व्युत्पन्नता की आत्मा कहा जाता है। महाप्रज्ञजी ने भी अपने अनुभव-निष्कर्ष सूत्रो मे निबद्ध किये है। कुछ उदाहरण देखिए

[१] ज्ञान और आचरण की रेखाओ का समीकरण ही तो मनन है। —अनुभव चिन्तन मनन, पृ० ३
[२] समाज का मूल व्यक्ति है और व्यक्ति का मूल चैतन्य। —उपर्युक्त, पृ० ५३
[३] अध्यात्म से आकाक्षा की तृप्ति नहीं, उसका अभाव हो सकता है। —उपर्युक्त, पृ० ६६
[४] जीवन का साध्य है शान्ति और उसका साधन है संयम। —उपर्युक्त, पृ० १२२

[५] रोटी के विना मनुष्य मरता है और विवेक के विना मानवता। —भाव और अभाव, पृ० १०१

[६] उसे अनुशासन करने का कोई अधिकार नहीं है जो अनुशासन मे नहीं रह चुका है।

—वन्दी शब्द मुक्त भाव, पृ० ४४

[७] विचार का नशा वहुत शक्तिशाली होता है। — मैंने कहा , पृ० १२१

महाप्रज्ञजी के गद्यकाव्य की एक अन्य विशेषता नयी शब्दावली का प्रयोग है। उन्होंने जैन-साहित्य के अप्रचलित और राजस्थानी के लोक-प्रचलित कितने ही शब्द अपने ललित गद्य मे खपा लिए है। प्रथम कोटि मे प्रवणभित्ति, आपात-भद्र, अनेषणीय, सामायिक, चित्तपर्याय, धृति आदि और दूसरी कोटि मे झोल चढाना, सँध जाए, लटें (कीडे), सूझता (वि जिसे दिखाई देता हो) आदि प्रयोग देखे जा सकते है।

निष्कर्षत महाप्रज्ञजी का आर्ष-गद्य श्रेय-प्रेय की गगा-जमुनी है। श्रेयस्कर भावों और विचारो को कल्पना के प्रेय-परिधान मे परिवेष्ठित कर पुराकालीन ऋषियो-मुनियो और मध्यकालीन संतो-भक्तो की साहित्यिक परंपरा को उन्होंने आधुनिक काल मे पुनरान्वेषित किया है। उनकी सत्त्वस्थ-आत्मा लोकोत्तर कल्पनाओं से भाषा-काव्य का नव-कल्प करती है। उनके हितकारी और मनोहारी वचनों या प्रवचनों का संकलन और प्रकाशन आधुनिक हिन्दी गद्य-काव्य मे लुप्त सरस्वती के पुन प्रकटीकरण की भाँति अद्वितीय घटना है।

★

मुनि नथमलजी की रचनाएँ मैंने पढी हैं। 'अनुभव चिन्तन मनन' मैं वहुत पहले देख चुका हूँ और उसका उल्लेख अपनी थीसिस के द्वितीय संस्करण में कर चुका था। अब 'सम्बोधि' मिला है। मेरा अभिमत है कि मुनि श्री नथमलजी वहुत ऊँचे कवि हैं—ऐसे कवि, जो दार्शनिक चिन्तन को अनायास ही अभिव्यक्ति का विषय वना लेते हैं। उनकी 'सम्बोधि' रचना पढ कर लगा कि मैं गीता पढ रहा हूँ। वही भाषा, वही सम्वाद-शैली, वही तत्त्वदर्शन और वही सहजता—विस्मित हुआ कि आजभी ऐसी प्रसाद-गुणपूर्ण संस्कृत लिखने वाले महा पुरुष विद्यमान हैं! जैन-दर्शन का सार इसमें ऐसे समाहित हो गया है, जैसे भपके की नली में गुलाब का इत्र।

—डॉ० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'

महाप्रज्ञ की महाप्रज्ञा

(संस्कृत-रचनाएँ : एक अवलोकन)

श्रीमती कमला रत्नम्
(एम० ए०, टी० डी०-लन्दन)

जैन-धर्म मे श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के अन्तर्गत तेरापन्थ आता है। दो सौ वर्ष से ऊपर हुए कि राजनगर (मेवाड) के श्रावक शकायुक्त हुए। उस समय आचार्य भिक्षु ने जाकर शंका-समाधान किया। उसके बाद भिक्षु स्वय सन्देह मे पड गये, और सत्य की खोज करने के लिये उन्होने संघ से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। साधना-काल व्यतीत हो जाने पर भिक्षु ने बारह अन्य श्रमणो के साथ सवत् १८१८ मे "तेरापन्थ" की स्थापना की। तेरापन्थ के आठवें आचार्य कालूगणि से सं० १९८२ मे एक बालक ने दीक्षा ग्रहण की। उस समय उसकी आयु ११ वर्ष की थी। २२ वर्ष की आयु मे यह बालक तेरापन्थ का आचार्य बना। ३४ वर्ष का हुआ तो जगत्प्रसिद्ध अणुव्रत का प्रवर्तन किया। यही तेजस्वी बालक आज के आचार्य तुलसी हैं। भारत में स्वतन्त्रता के आने के साथ-साथ अणुव्रत का भी आगमन हुआ। अणुव्रत-आन्दोलन का उद्देश्य देश मे फैले भ्रष्टाचार और अनैतिक वातावरण के खिलाफ आवाज़ उठाना था। इस कार्यक्रम मे नैतिकता और चरित्र-निर्माण की दिशा मे राष्ट्र का पथ-प्रदर्शन प्रमुख था। 'अणु' का अर्थ है छोटा। अणुव्रती अपने छोटे-छोटे संकल्पो द्वारा राष्ट्र के चरित्र को ऊंचा उठाने का प्रयत्न करता है। जैसे स्वच्छ और पर्याप्त जल के बिना बाह्य शरीर का मल-प्रक्षालन नहीं हो सकता, उसी प्रकार समस्त प्रेरणा के स्रोत, अन्त मन की शुद्धि सम्यक् शिक्षा के बिना नहीं हो सकती। आचार्य तुलसी ने संस्कृत-भाषा को भारतीय शिक्षा का विशेष अंग माना है। उनकी अभिरुचि एवं प्रेरणा के फलस्वरूप अनेक नवीन प्रतिभाएँ प्रकाश मे आयीं। उन्हें प्रोत्साहन मिला और तेरापंथ संस्कृत भाषा का केन्द्र बन गया।

आचार्य तुलसी-प्रदत्त प्रेरणा-रसायन से अनेक श्रमण, आचार्य कुन्दकुन्द और हेमचन्द्र की परम्परा मे संस्कृतानुरागी बने। संस्कृत भारत की प्राचीनतम उपलब्ध, लिखित-भाषा है। वेदो के समय से ले कर आज तक भारत का उन्मुक्त आकाश, इसकी दिव्य स्वर-लहरी से गुंजायमान होता रहा है। संस्कृत-भाषा हो अकेली ऐसी भाषा है जो वैदिक, जैन, बौद्ध— तीनो परम्पराओ द्वारा समादृत हुई। जैन और बौद्ध-परम्पराएँ (श्रमण-श्रमशील परम्पराएँ होने के कारण) इसे छोड कर भी नहीं छोड पायीं। यही कारण है कि संस्कृत-भाषा असाधारण रूप से भारतीय संस्कृति के स्वरूप और भावना को अपने कलेवर-कवच के भीतर सुरक्षित रख सकी। उत्तरवर्ती जैनाचार्यो ने संस्कृत-साहित्य की बहुत श्रीवृद्धि की। उनको संस्कृत और प्राकृत मे, समान-रूप से ऋषि माना गया। अनेक जैन-मुनियों की रचनाएँ संस्कृत मे उपलब्ध है। इनमे प्रमुख है— सिद्धसेन, समन्तभद्र, अकलंक, हेमचन्द्र, हरिभद्र, यशोविजय आदि। कालिदास के ग्रन्थो पर "संजीवनी"-टीका लिखने वाले आचार्य मल्लिनाथ भी जैनसूरि थे।

आचार्य हेमचन्द्र का व्याकरण और शब्द-सम्पदा (शब्द-कोष) पर असाधारण अधिकार था। राजधानी मे अहिंसा-भवन की संस्कृत-पाठशाला अपने-आप मे विश्रुत है। इसी प्रकार की पाठशालाएँ अनेको अन्य केन्द्रो में हैं।

संस्कृत रचना के एरावत मुनि नथमल 'महाप्रज्ञ' की रचनाओ से परिचित होने से पूर्व मैं अन्य मुनियो की संस्कृत-रचनाएँ पढ चुकी थी। आचार्य तुलसी के नेतृत्व मे सैंकडो श्रमणशील युवा साधु आज संस्कृत को अपनी मातृभाषा के स्थान पर धारण कर रहे है। इस देश का यह दुर्भाग्य है कि प्रचलित शिक्षाप्रणाली, संस्कृत से सर्वथा उदासीन है और अपनी अमूल्य सम्पदा को धीरे-धीरे विस्मृति के गर्त मे जाते देख रही है।

महाप्रज्ञ जी आचार्य तुलसी के सर्वाधिक प्रतिभाशाली और संवेदनशील शिष्य है। मात्र दस वर्ष की अवस्था मे आपने अपनी माता के साथ दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा देने वाले गुरु श्रीमद् कालूगणि ने इन्हें अध्ययन के लिए आचार्य तुलसी को सौंप दिया। "अध्ययन-स्मृति"-शीर्षक से आठ श्लोको मे मुनिवर ने अपने शैशव की उस स्मृति को 'अतुला-तुला' नामक ग्रंथ में संकलित किया है :—

तद् ध्यायामि दिन स्वजीवनधन धन्यं महोमंगलम् ।
दीक्षां स्वीकृतवान् विरक्तहृदयो मात्रा समं यत्पदि ॥
तस्मिन्नेवऽदिनेऽथ काञ्चनमयी सा कापि वेला लसद्

मणि-कांचन से भरी वह वेला थी जिस दिन मैंने माता के साथ वैराग्य ग्रहण किया और तुलसी-सा गुरु पाया। इन पंक्तियों से ही बालक महाप्रज्ञ की अध्ययन और वैराग्य के प्रति रुचि का पता चलता है, और उस महान् विद्या-राशि का—जिसे आचार्य तुलसी ने उन्हें प्रदान की।

महाप्रज्ञजी के अब तक लगभग १०० ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके है, सभी गंभीर आध्यात्मिक विषयो पर हैं। ये हिन्दी, प्राकृत और संस्कृत-भाषाओं मे लिखे गये है। तीन भाषाओं पर मुनिश्री का समान अधिकार है, परन्तु प्रत्येक की शैली और भावना भिन्न है। "श्रमण महावीर" महाप्रज्ञ की महती उपलब्धि है। हिन्दी मे लिखी महावीर की यह जीवनी अत्यन्त रोचक और सुग्राह्य है। कथा कहने का ढंग निराला है। धीरे-धीरे छोटे-छोटे टुकडों मे अन्तिम तीर्थंकर से हमारा परिचय बढता चलता है। जैन-दर्शन के द्वार हमारे लिये खुलते जाते है। चिर-सापेक्ष अनेकान्त दृष्टि का वैभव प्रकट होने लगता है और हम स्वयं महावीर की एक अपेक्षा बन जाते है। जैसे बूँद-बूँद एकत्र होकर समुद्र बन रही हो और समुद्र की एक लहर-सम, हम महावीर के विराट् से साक्षात्कार कर रहे हो। इस कृति मे लेखक अपने अध्येता, शोधकर्त्ता और विद्वद्रूप मे हमारे सामने आया है। भक्ति की धारा उसकी प्राकृत-भाषा मे बहती है। जहाँ कहीं ज्ञान और श्रम के स्थान पर भक्ति और श्रद्धा का उद्रेक हुआ है, वहाँ-वहाँ कवि प्राकृत-भाषा मे बोला है। 'आत्म-निवेदन' शीर्षक कविता मे मुनि ने कहा—"मैंने श्रमण-धर्म स्वीकार किया, क्यों किया यह नहीं जानता, 'किमट्ठमेय गहियं न जाणे'—कितने सरल और सीधे शब्द है, कितनी सरल और निश्छल उक्ति है। मानो बालक कह रहा है—"यह मेरी माँ है। मुझे अच्छी लगती है। क्यों अच्छी लगती है ? नहीं मालूम।" यह—"नहीं मालूम"— की उक्ति ही सच्ची कविता को जन्म देती है। प्राकृत की कई रचनाएँ "अतुला-तुला" मे संकलित है। प्रारंभ, 'आत्मनिवेदन' से हुआ है। भक्ति का अतिशय प्रवाह है, इसलिए वहाँ

असंस्कृत-जैसा कुछ भी नहीं है— ऐसा स्वयं आचार्य तुलसी ने कहा है। श्रद्धा की चरम परिणति, भगवान् महावीर के प्रति निवेदित इन पंक्तियो मे हुई है —

पसारो उवदेसाण	*प्रसारो उपदेशाना*
आयतुलप्पसाहिओ।	*आत्मतुलाप्रसाधितो।*
भवे सो दिवसो धन्नो	*भवेत् स दिवसो धन्यः*
भविस्सइ भविस्सई॥	*भविष्यति भविष्यति॥*

(संस्कृत-रूपान्तर लेखिका द्वारा)

भगवान् महावीर के उपदेशो का प्रसार जिस दिन आत्मतुला की तोल मे खरा उतर कर फैलेगा, वह दिन धन्य होगा। होगा॥ होगा॥। श्लोक पढ कर लगता है मानो मातृस्नेह मे मग्न बालक अपनी माता के चारो ओर, ताली बजा कर नाच रहा हो। गंगा-जल की धारा के समान शुभ्र, पवित्र और वेगवती भक्ति है मुनिश्री की।

ज्ञान, श्रम और भक्ति को छोड कर काव्य की स्फूर्जना एक तीसरी वस्तु से भी होती है—वह है कवि की स्वत-प्रसूत कल्पना, प्रतिभा, भावो का बाहुल्य, शब्द गढने की चातुरी, भीतर से उत्पन्न हुआ कोई अव्यक्त संगीत, जिसकी लय मे झूमता कवि गाता रहे। मुनिश्री की यह तीसरी विशेषता निश्चय ही उनके संस्कृत काव्यो मे प्रकट हुई है। अन्य भाषाओ मे, जहाँ मुनि देश और काल की सीमाओ से सापेक्ष होकर चले है, वहाँ संस्कृत मे उनके सब बन्धन खुल गये है और वे समूचे भारत के देश और काल से एकात्म होकर निकल पड़े है। यहाँ सब विषय उनके विषय है, समस्त जीवन उनका जीवन है, स्वयं मातरिश्वा उनकी प्रेरणा बनने को नीचे उतर आया है। मुनिवृत्ति यहाँ उनको किसी दायरे मे बाँध कर नही रख सकी है। किया भी क्या जाय, सस्कृत-भाषा की प्रवृति ही ऐसी है, वह विराट् और विश्व को साथ लिये बिना एक पग भी नहीं चलती।

संस्कृत का अगाध पाण्डित्य होते हुए भी मुनिश्री की केवल चार कृतियाँ संस्कृत मे उपलब्ध है। इनमे से तीन का यथास्थान उल्लेख इस निबन्ध मे होगा, चौथी 'सबोधि' मेरे देखने मे नहीं आयी है। अनुमानत यह ग्रन्थ ज्ञान की उस परा-दशा का वर्णन करता होगा जिसका कम्पन, अस्तित्व के तारो द्वारा ही जाना जा सकता है, जिसकी किरणें अन्तरात्मा की आँखें ही ग्रहण करने मे समर्थ है।

जैन-आगम अनेक कथाओ, उपकथाओ का भण्डार है। इनमे से एक कथा साध्वी चन्दन-बाला को लेकर है। कौशाम्बी के राजा शतानीक ने चम्पा पर आक्रमण किया। उसके सैनिको ने पराजित नगर को लूटना आरम्भ किया। काकमुख नामक रथिक न रानी धारिणी और राजकुमारी वसुमती का अपहरण कर लिया। धारिणी के स्वयंवर मे काकमुख पराजित हुआ था, अतएव मौका पाकर उसने अपनी वासनापूर्ति करनी चाही। यह देख कर धारिणी ने अपनी जीभ खींच कर आत्महत्या कर ली।[1] धारिणी को मरा हुआ देख कर काकमुख भयभीत हुआ।

१—१९७४ मे प्रकाशित ''श्रमण महावीर' मे मुनिश्री ने लिखा है कि काकमुख की बातें सुनते ही धारिणी मूर्च्छित हो गयी और उसके प्राण-पखेरू उड गये। (पृ० ८३)

उसने वसुमती से कहा—मुझे तुम्हें भ्रष्ट करने की कोई इच्छा नहीं है। मुझे धन चाहिये। मैं तुम्हें वेच कर धन प्राप्त करूँगा। वसुमती एक सेठ के हाथ विक गयी। एक दिन सेठ की पत्नी मूला को वसुमती से ईर्ष्या हुई। उसने उसके वाल काट कर उसके हाथ पैर लोहे की जजीर से वाँध कर कोठरी मे डाल दिया और स्वयं घर से वाहर चली गयी। तीन दिन और रात वसुमती भूखी-प्यासी रही। चौथे दिन जव सेठ वाहर से आया तो उसने वसुमती की दुर्दशा देखी। एक सूप के कोने मे थोड़े से उवले उडद पडे थे। सेठ ने उसे वह उडद खाने को दिये और स्वयं उसकी जंजीरें काटने के लिए लोहार को वुलाने चला गया।

इधर भगवान् महावीर ने अभिग्रह किया था। अभिग्रह पूर्ण होने की १३ शर्तें थीं। वे जव पूरी होंगी तभी भगवान् भिक्षा ग्रहण करेंगे। ज्यो ही सेठ घर से वाहर निकला, भगवान् भिक्षा माँगने द्वार पर आये। वसुमती वे उडद लेकर सामने आयी। अभिग्रह की सभी शर्तें पूरी थीं, केवल अन्तिम शर्त भिक्षा देने वाली की आखो से आँसुओ की धार नहीं वह रही थी। महावीर पाँच महीने और २५ दिन से भूखे थे, फिर भी वे भिक्षा लिये विना लौट गये। वसुमती की आँखें भर आयी। आँसुओ की धारा वहकर प्रभु को लौटा लाने के लिये विकल हो उठीं। जैसे क्रौञ्च-वध को देखकर आदिकवि की करुणा उमड पडी थी, मेघ के आलोक से कविकुलगुरु की काव्यधारा वह चली थी, उसी प्रकार इस कथा को पढ़कर मुनिश्री की करुणा विगलित हो उठी। भूल गये वे श्रमण-भाव जो सुख-दु ख मे ऊपर रहता है, भूल गये वे उस शुद्ध आत्म-तत्त्व को जिसके ऊपर संपत्ति और विपत्ति की कोई छाया नहीं पडती। और देववाणी मे छन्दोवद्ध उनकी काव्य-कल्लोलिनी अपनी स्वाभाविक गति से प्रवाहित होने लगी। कविता का यही प्रवाह "अश्रुवीणा" है, आसुओ का वह श्रवणातीत छन्द जिसे केवल महावीर के अन्तश्चक्षु सुन सके और जिसकी पुकार से वे वापस लौटे और उन्होंने वसुमती की भिक्षा ग्रहण की।

संस्कृत-साहित्य का कोई भी अच्छा अध्येता, वाल्मीकि और कालिदास, भर्तृहरि और भवभूति से प्रभावित हुए विना नहीं रह सकता। इन पूर्व-विभूतियों की वाणी, प्रेरणा और छाया वनकर उनकी कृतियो मे उतर आती है—जैसे वालक के अंग-प्रत्यगों मे उसके जननी-जनक की छवि। 'अश्रुवीणा' का प्रेरणा-स्रोत कालिदास का 'मेघदूत' काव्य है। वही भाषा, वही छन्द, शब्दो के वही टुकड़े। 'अत्राणाना त्वमसि शरण'' 'निर्ग्रन्थानामधिपतिरमौ' 'प्रकृतिकृपणा', 'पेलवो', 'चित्रं-चित्रं', 'अन्त सारा ', 'यूयं सहाया ', 'प्रापणीय ' आदि पग-पग पर ऐसे प्रयोग है, जो कालिदास की कविता की याद दिलाते है। यहाँ तक कि पढते-पढते यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि पाठक मुनिश्री को पढ रहा है अथवा कालिदास-कविता-सरिता मे डूव-उतरा रहा है। 'अश्रुवीणा' के माध्यम से मुनिश्री ने अपने सस्कृतज्ञ पाठकों को वह आनन्द दिया है जिससे उनके अन्य पाठक तव तक वंचित रहेंगे, जव तक वे सस्कृत सीख नहीं लेते।

'अश्रुवीणा' का प्रकाशन १९५९ मे मुनि मिट्ठालाल के हिन्दी-अनुवाद सहित हुआ। इसकी प्रस्तावना कलकत्ता-विश्वविद्यालय के संस्कृत-विभागाध्यक्ष श्री सातकोडि मुखर्जी ने संस्कृत मे लिखी, जिन्हें मुनिश्री ने अपना काव्य पढकर सुनाया था। मुखर्जी महोदय ने लिखा, "इस काव्य से मेरे अन्त करण को अपरिमित आनन्द मिला" तथा "इसके गुणो को सम्यक्तया प्रकट करने की मेरी क्षमता नहीं है।" मुनिश्री की सरस, सरल भाषा के सामने प्रस्तावना लेखक की भाषा अत्यन्त दुरुह और कण्टकाकीर्ण है। उनके खुरदरे हाथो से कविता का यह सौम्य-सुमन

कहीं क्षत-विक्षत न हो जाय, इसी भय से उन्होंने इसकी विशद व्याख्या नही की। संस्कृत-काव्य की परम्परा के अनु-सार यह काव्य 'खण्डकाव्य' की श्रेणी मे आता है। महाकाव्य किसी घटना के सम्पूर्ण इतिहास को कहता है, जबकि खण्डकाव्य बड़े इतिवृत्त की किसी प्रभावी-घटना को लेकर चलता है। इस प्रकार खण्डकाव्य का कलेवर छोटा परन्तु अत्यन्त संवेदनयुक्त और भाव-प्रवण होता है। क्षणिक मूसलाधार वृष्टि के समान उसमे से रस की धारा फूट निकलती है। यही कारण है कि कालिदास के जिस काव्य का विश्व मे सर्वाधिक अनुकरण हुआ है, वह 'मेघदूत' ही है।

आँसुओ को सन्देशवाहक बनाने के लिए मुनिश्री ने 'बाष्प' शब्द का सहारा लिया है। हृदय से निकले गहनतम भावो को 'बाष्प' कहते है। शकुन्तला की विदाई के समय बाहर न निकलते हुए शोक के कारण कण्व का गला रुँध गया है। "कण्ठ. स्तम्भितबाष्पवृत्तिकलुष" ऐसा कालिदास ने कहा है। बाष्प की वृत्ति है कि वह बाहर निकले, गतिमान हो। मन की यह भाफ बाहर निकलते ही आँसू बन जाती है। मेघ भी उसी प्रकार "बाष्प" का बना है, आगे बढते ही वह भी बरस कर पानी हो जाता है, अपने अस्तित्व का विसर्जन कर देता है। वसुमती ने भी यही किया। 'बाष्पा। आशु व्रजत'। भाफ। तुम शीघ्र जाओ और भगवान् के चरणो मे गिर कर आँसू बन जाओ। काव्य की सार्थकता यही तक है, उसके आगे नहीं। कालिदास का मेघ जहाँ सर्वत्र गतिमान है, विश्व का समस्त आकाश उसका क्रीडा-क्षेत्र है, वहाँ वसुमती के आँसुओ की गति सीमित है। आँसू शीघ्र ही अपने सीमित अस्तित्व के कारण सूख जाएँगे, इसलिए आगे चलकर लेखक को सिसकियो से काम चलाना पडा है। फलस्वरूप सौन्दर्य की परिकल्पना, तर्क और अध्यात्म की पथरीली भूमि पर पहुँच कर सूखने लगती है। मेघदूत जहाँ शुद्ध हृदय का काव्य है, मुनिश्री का काव्य एक सीमा के बाद तर्क और बुद्धि का काव्य हो जाता है।

साहित्य-शास्त्रके अनुसार गुण और अलंकार से युक्त शब्दार्थ का दोषरहित सामंजस्य ही काव्य है—"तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुन. क्वापि।" जैसे आभूषण न पहनने पर भी सुन्दर स्त्री का स्वाभाविक सौन्दर्य प्रस्फुटित होता रहता है, उसी प्रकार परम्परागत अलंकारो से हीन कविता भी अपनी स्वभावोक्ति-मूलक बिम्बात्म-कता से प्रभावित करती है। 'अश्रुवीणा' मे बिम्ब और अलकार नहीं है, अलंकार जो कालिदास को उक्तियो मे स्वभावत. चले आते है। केवल अर्थान्तरन्यास सात-आठ जगहो पर दिखाई देता है जो कालिदास का अनुसरण करने के कारण स्वत आ गया है, और अन्ततोगत्वा जो अलंकार न होकर एक बौद्धिक प्रयोग है। कुछ शाब्दिक प्रयोग भी बहुत खलने वाले है जैसे "बाष्पाम्बुमष्या" इस काव्य को मैंने आँसुओ की स्याही से लिखा है। "स्फुटित नयन" (कालिदास के "स्फुटितकमलामोदमैत्री कषाय" से प्रभावित होकर) कहाँ माँ का अन्त देखने वाली फूटी आँख और कहाँ कालिदास की शिप्रा का मादक वायु जो प्रात काल पँखुडियाँ खोलते कमलो से बहिर्गत सुगन्ध से मित्रता कर के कसैला हो रहा है। यह दोष मुनिश्री के अपने दोष नही है, कालिदास-जैसे विश्वविश्रुत कवि की लीक पर चलने की कठिनाइयाँ है।

कुल मिलाकर 'अश्रुवीणा' भगवान् महावीर के चले जाने और उनके लौट आने के बीच के क्षणो का मनो-वैज्ञानिक चित्रण है, जिसमे बीच-बीच मे जैन-धर्म के सिद्धान्तो और उसकी स्थापनाओ का भी समावेश कर दिया गया है। पुस्तक पढने के बाद प्रश्न उठता है—'महावीर ने अभिग्रह क्यो किया?" महावीर कौशाम्बी के मध्य-

वर्ती गाँवों मे विहार कर रहे थे। उन्हें शतानीक के दुष्कृत्य की सूचना मिली। उनके सामने अहिंसा के विकास की समस्या ज्वलन्त हो उठी, साथ ही नारी-जाति की दयनीयता और दास्य-कर्म भगवान् की करुणा नहीं, न्यायप्रियता प्रज्ज्वलित हो उठी। उन्होंने उसके अहिंसक प्रतिकार का निश्चय किया। साधना का १२वाँ वर्ष था, और भगवान् ने अभिग्रह किया। दासी बनी राजकुमारी से भी भिक्षा लेने का संकल्प किया। भगवान् को भिक्षा दे चुकने के बाद वसुमती चन्दन बाला बनी और साध्वी-संघ के अधिनेत्री-पद से उसने ३६००० साध्वियों का पथ-प्रदर्शन किया"। पुस्तक मे कई श्लोकों द्वारा मुनिश्री की, नारी-जाति और उसके दुःखो के प्रति, गहरी चिन्ता दिखाई देती है।

"स्त्रीणा प्राणा न खलु विशदं मूल्यमाधारयन्ति"—स्त्रियो के प्राणो का कोई विशेष मूल्य नहीं है। वे पशु-बल से युक्त पुरुष की कामाग्नि का ईधन बनी हुई है। एक विरक्त, सन्यासी मुनि के मुहँ से निकले ये शब्द आज भी हमारे पुरुष-प्रधान-समाज मे लोगों के पथ-प्रदर्शन की क्षमता रखते है। भारत की नारी आज उसी परतन्त्रता, स्वार्थ और क्रूरता के वातावरण मे जी रही है, निरक्षरता और अपने अधिकारो का अज्ञान उसकी स्थिति को और भी दुर्वह बना रहे है। ऐसे मे मुनिश्री के वाक्य उसके लिए किसी अमोघ रसायन के समान है।

महाप्रज्ञ जी की दूसरी पुस्तक 'मुकुलम्' तेरापंथ की स्थापना की दूसरी शताब्दी पूरी होने के उपलक्ष मे १९६० मे प्रकाशित हुई। संलग्न हिन्दी-अनुवाद मुनि दुलहराज का है जिन्होंने उनकी अन्य पुस्तको का सम्पादन-कार्य भी किया है। विभिन्न विषयो पर छोटे-छोटे निबंधो के रूप मे संकलित मुनिश्री की यह गद्य-रचना है। संस्कृत-गद्य की अपनी एक गरिमा है, जिसका वैभव दण्डी और बाणभट्ट जैसों की रचनाओं मे देखने को मिलता है। समकालीन लेखकों ने आज उस स्तर को बहुत नीचे गिरा दिया है। अधिकांश आधुनिक संस्कृत-गद्य को यदि विभक्तियो से जुडी हुई हिन्दी कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। उस दोष से मुनिश्री अवगत थे, अतः उन्होंने आज के गद्य-प्रणेताओ के मार्ग-दर्शन के लिए इन निबधो की रचना की। संस्कृत मे गद्य को कवियों की कसौटी कहा गया है—"गद्यं कवीना निकषं वदन्ति।" पद्य मे तो छन्द और मात्रा की बैसाखी के सहारे बहुत कुछ सिद्ध हो जाता है परन्तु गद्य मे भावो के उतार-चढाव और तद्रूप शब्दो की लहर के अभाव मे सब कुछ रेत के मैदान जैसा सीधा और सपाट हो जाता है, आनन्द नहीं देता। इसीलिए पुस्तक की भूमिका मे मुनिश्री ने लिखा—"पश्चिम की भाषाओं से प्रभावित आज के साहित्यिक युग मे संस्कृत के विद्वानो के लिए भी अपनी काव्य-शैली का परिमार्जन करना आवश्यक हो गया है।" सरलता, यथार्थ और संक्षेप आज की शैली के मुख्य गुण है। इन्हीं को ध्यान मे रखकर मुनिश्री ने ४९ विषयो पर अपने विचार प्रकट किये हैं जो किशोरवय बालको के लिए भी रोचक और लाभप्रद सिद्ध होगे। अनुशासन, ब्रह्मचर्य, अमरत्व, नीरोग बनो, धर्म, अन्वेषण, शत्रु से मत्रि मत करो, धन का मद आदि विषयो पर कहीं कथा के रूप मे, कही सीधी-सादी शैली मे जैन-सूक्तियो के प्रकाश मे विचार किया गया है। यद्यपि कुछ दार्शनिक विचार विद्यार्थियो के लिए दुर्बोध हो गये है, जैसे 'ग्रन्थि' शीर्षक निबंध मे। फिर भी एकाध स्थल पर पुस्तक की गद्यात्मकता, कविता के समान आनन्द देती है। "मैंने घडे की रिक्तता देखी। जल की बूँदें घडे के बन्धन से मुक्त होकर रेत द्वारा सोख ली गयी। पर इस न होने में ही उन्होंने अपने को सिद्ध कर लिया। वे मुक्त हो गयीं।"

मुनिश्री की अन्तिम काव्य पुस्तक 'अतुला-तुला' है। मुनि दुलहराज के अनुवाद-सहित यह १९७६ में प्रकाशित हुई। 'श्रमण महावीर' तथा अन्य हिन्दी की गम्भीर रचनाएँ, जहाँ मुनिश्री की ज्ञान-सरस्वती का प्रतीक है, वहीं उनका प्राकृत-काव्य उनकी सात्विक हिन्दी की भक्ति-गंगा है, वहां उनका संस्कृत-भाषानिबद्ध-काव्य, यमुना की नीली तरंगों के समान, 'विविध-रंगी' रचनाओं में गुंजित है। ज्ञान, दर्शन और चरित्र की आराधना में समर्पित महाप्रज्ञ की ३४ वर्षों की रचनाएँ इस ग्रन्थ में संकलित है। प्रस्तावना में मुनिश्री ने सम्पूर्ण आत्म-निवेदन किया है— मैं १४ वर्ष की अवस्था में मुनि बना और तब से ही परिव्राजी। जीवनयात्रा बाहर और भीतर दोनो का स्पर्श करती है। मैं मुनि हूँ, इसलिए मैंने बाह्य-जगत से अस्पृष्ट रहने का प्रयत्न किया है, परन्तु वस्तु-जगत् में जीने वाला कोई भी देहधारी बाहर का स्पर्श किए बिना नहीं रहता। मैं स्वीकार करता हू कि बाह्य-जगत में घटित होने वाली घटनाओं से मैं प्रभावित हुआ हूँ—परिणामस्वरूप वाणी का जो मौन भंग हुआ, वही मेरा काव्य है।" मुनिश्री अभी २१ वर्ष के ही थे कि एक दिन [illegible] मंडराने लगे। कुछ कबूतर छज्जे पर पाँव टिका कर पंख फडफडाने लगे। तुरन्त कविता का जन्म हुआ —

पहले तो अनन्त आकाश का भ्रमण
और अब घरों के छज्जों का आश्रय
दिन और रात में कितना भेद होता है
केवल योगी ही इसे जानते हैं, दूसरे नहीं।

कितने सुन्दर भाव है। संस्कृत में तो और भी सुन्दर, मानो शुभ्र आकाश में मोर-पंख डोल रहे हो। काश हिन्दी-अनुवाद में भी कवि की प्रतिभा उतर पाती।

पुस्तक पाँच भागों में विभक्त है। पहले में विविध विषयों पर कविताएँ संकलित है। दूसरे और तीसरे में आशु-कवित्व और समस्या-पूर्तियाँ है। कुछ विद्वानों ने आश्चर्य-भाव, कुछ ने चमत्कार-भाव और कुछ ने परीक्षा लेने की गरज से ये समस्याएँ महाप्रज्ञ को दी थीं। चौथे और पांचवें विभागो मे उन्मेष और स्तुतियो का संग्रह है।

पुस्तक की पहली कविता प्राकृत में 'आत्मनिवेदन' है। श्रद्धा और तर्क के बारे मे महाप्रज्ञ ने 'अश्रुवीणा' में भी विचार किया था। परन्तु यहाँ वे पूरी निश्चिन्तता और आत्मविश्वास से कहते है—"श्रद्धा सदा मेरी अनुगामिनी रही है, ज्ञान ने मुझे धारा दिया है।" फलत श्रद्धा का प्रकाश, ज्ञान के प्रकाश से अधिक महत्त्वपूर्ण है। 'अतुला-तुला' में कवि का समूचा आत्मनिवेदन, श्रद्धा का प्रतिफलन है। 'रात्रि मे भी वैसा अन्धकार नही होता, जैसा संदेहशील मनुष्य के मन में दिन में भी होता है।" श्रद्धा का अर्थ है मन की विपुलता। यह मन की विपुलता अपनी आत्मा की तुला में ही तोली जा सकती है। दूसरे की तुला से तोला जाना, दूसरो के माप से मापा जाना, उस प्रक्रिया में स्वयं का अस्तित्व-भाव भी नहीं रह जाता। और समूचा जैन-दर्शन अस्तित्व की ही बात पर टिका है।[1] 'आत्मतुला' नामक कविता में उन्होंने कहा —

---

१ — महावीर अस्तित्ववादी है। उनकी सम्पूर्ण यात्रा व्यक्तित्व से अस्तित्व की ओर है। धर्म का क्षेत्र अस्तित्व का क्षेत्र है। ('श्रमण महावीर'—पृ० २१९, २२१)

तोलयत स्वतुलया, मिमीध्वं निजमानत:
मा भवथ क्रीडनकं, परहस्तप्रताडितम्

स्वयं को अपनी तुला से तोलो, अपनी माप से स्वयं को मापो। दूसरे के हाथ की चोट से ऊपर-नीचे उछलने वाला कन्दुक मत बनो। आत्मा ही तुला है, आत्मा ही अतुला-तुला है। आगे चल कर मनु ने भी कहा—"जब सन्देह उपस्थित हो तो आत्मा की आवाज़ पर चलो।" परन्तु महाप्रज्ञजी इससे बहुत अधिक कह गये है। केवल आचरण ही नहीं, अपने समूचे अस्तित्व को आत्मा की तुला मे तोलो। हर समय चौराहे पर बैठे रहो, प्रकाश मे। आने-जाने वालों को अपना जायज़ा लेने दो, हर समय परीक्षा के लिए तैयार रहो।

महाप्रज्ञजी आचार्य तुलसी के अनन्य शिष्य है। "विनयपत्रम्" मे कालिदास की शैली मे उनका आत्म-निवेदन द्रष्टव्य है—

यस्योच्चैस्त्वं शिखरिशिखरं लंघयित्वाभियाति
यस्य प्रेम स्पृशति हृदयंनावृतं मानवानाम्

भावना के सर्वोच्च शिखर पर चढे हुए शिष्य का यह अपने गुरु को सच्चा प्रणाम है।

मेघ भारतीय कवियो का प्रिय विषय रहा है। फिर महाप्रज्ञजी तो राजस्थान मे जन्मे, मरुस्थल के अभ्यस्त हैं। वे क्यों नहीं बादलो से आकृष्ट होगे ? प्रस्तुत संकलन मे अनेको कविताएँ मेघ को सम्बोधित है। एक अति सुन्दर चित्र देखिये :—

धान्यं येभ्यो नयति कृषको जवीनं सर्वलोक:
शैत्य वातो नवरससमग: स्नेहमुर्वी प्रकर्षम्
जातो नूनं जलधरसुहृत् केऽलंयन्मयूर·
गम्यं तस्माद् हृदयमितरद् भिन्नमावश्यकत्वम्

किसान जिसस धान्य पाते हैं,
वायु वृक्ष और उर्वी, उदक रस और स्निग्धता,
जो सर्वलोक का जीवन है,
आश्चर्य है अकेला मोर ही कैसे उसका प्रेमी बना ?
सचमुच आवश्यकता हृदय से भिन्न होती है।

संस्कृत-काव्य की विषय और शैलीगत अपनी विशेषताएँ है। मेघ, जल, समुद्र, भौंरा, चातक, कमल—इन सब पर संस्कृत-कवि को लिखना ही चाहिए। महाप्रज्ञजी ने इन सब पर और चन्द्रमा, सत्संग आदि विषयो पर परम्परागत दृष्टिकोण को नये मे परिवर्तित कर लिखा है। अणुत्व, अणुव्रत, अहिंसा, समन्वय आदि जैन-धर्म के दार्शनिक विचार भी उनके काव्य मे गुँथ गये हैं। संस्कृत-कवियो की परम्परा म वक्रोक्ति लिखते हुए वे कहते है :—

"हे कमल ! सूर्य से तुम्हारी मैत्री प्रसिद्ध है, परन्तु यह कैसी मित्रता, जो मित्र। तुम्हारी उत्पत्ति के कारण जल को ही सुखा दे।" "अरे भौंरे ! मत सोच कि यह कमल तेरे लिये खिला है। यह तो सूर्य-दर्शन की

सरलता से मुस्कुरा रहा है।'' प्रश्नोत्तर-काव्य संस्कृत-कवियों का प्रिय विनोद रहा है। महाप्रज्ञजी की प्रतिभा उसमें भी आगे है। (निकष-रेखा, नं० ३१)

संस्कृत मे स्वभावोक्ति की अपनी ही छटा है। यहाँ अद्भुत-रस मे डूबी स्वभावोक्ति देखिए—

गुरुत्वमन्तः करणे प्रविष्टं, लघुत्वमापादयते जनानाम्
लघुत्वमन्तः करणे प्रविष्टं, गुरुत्वमापादयते जनेषु

मन मे यदि गुरुता पैठ जाय तो आदमी हल्का पड़ जाता है। लघुता (विनम्रता) यदि हृदय मे हो तो मनुष्य महान् हो जाता है। मैं मूल का यह अत्यन्त दुर्बल अनुवाद कर सकी हूँ। संस्कृत-भाषा की शक्ति ही ऐसी है कि उसका अनुवाद नहीं हो सकता—ऐसा मैंने नहीं, ब्रिटिश-विद्वान् कीथ ने कहा है।

'अतुला-तुला' मे आधुनिक विषयों पर भी कविता हुई है। स्वतन्त्र-भारत का गीत, जयपुर-यात्रा, गंगा-नहर, ताजमहल, घड़ी, राष्ट्रसंघ, नेहरू-तारा-प्रासाद—इन सब पर उनकी आत्मानुभव से भरी सटीक उत्प्रेक्षाएँ हैं। ''ताजमहल'' कविता द्रष्टव्य है —

सम्राट्के पाणिदपाणिघातैर्निःश्वासपातेन कलिन्दकन्या
श्यामा बभूवेति तदृश्यमाने गतेन नीरं दधताप्यलोकि

महाप्रज्ञजी ताजमहल देखने गए हुए थे। ऊपर चढ़ कर नीचे जो दृष्टि डाली तो कलिन्दकन्या की काली धारा दिखाई दी। वह बोल उठे—''बादशाह ने ताज के शिल्पियों के हाथ काट डाले थे। उनकी दुःखभरी आहों से नदी का जल नीला पड़ गया।'' ऐसी ही एक कल्पना उन्होंने समस्यापूर्ति के समय की। रात हो गयी है, फिर भी युवती गीत नहीं गाती। क्यों? मन विस्मयकुल हुआ, बोले - युवती सोच रही है कि जब मैं गीत गाऊँगी तो चन्द्रमा मे बैठा हरिण मेरा गीत सुनने पृथ्वी पर आ जायेगा और चन्द्रमा निष्कलंक होकर अपनी तुलना मेरे चन्द्रमुख से करने लगेगा।'' है न युक्ति का चमत्कार — उत्प्रेक्षा, सबसे अलग हट कर वस्तु को देखना।

एक बार महाप्रज्ञजी सम्मेद-शिखर-स्थित पार्श्वनाथ के मन्दिर मे गये। देखा पर्वत को लपेटते हुए टेढ़े-मेढ़े सड़क वाले मार्गों से लोग ऊपर तक पहुँच रहे हैं। तुरन्त बोल उठे—''ठीक है, ऋजुता की तुम प्रशंसा करते हो, परन्तु कहीं-कहीं ऋजुता से काम नहीं चलता—वक्रेण मार्गेणयमत्र याता.''। वैसे भी देखा गया है कि परम अभीष्ट की प्राप्ति वक्र मार्ग से ही होती है। कालिदास का ''वक्र पन्था'' प्रसिद्ध है। कहीं-कहीं महाप्रज्ञजी की कविता मे प्राचीन कवियों के चेहरे झाँकते दिखाई देते हैं—

लोका न वक्राः स्थितिरप्यवक्रा
काले नुकूले सुखितो जनोऽपि

और भर्तृहरि का —

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता
तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः

१९५८ मे वाराणसेय संस्कृत-विश्वविद्यालय मे प्रवचन करते हुए महाप्रज्ञ ने 'राष्ट्र-संघ' को अपनी आलोचना का विषय बनाया। कहा—''राष्ट्र-संघ, सब राष्ट्रों का प्रतिनिधित्व करने के लिए बना है परन्तु यहाँ की स्थिति ही

विचित्र है। चीन जैसा महान् राष्ट्र भी, पिछले १० वर्षों से, उसका सदस्य नहीं बन सका। राष्ट्र-संघ का कर्त्तव्य घृणा बढ़ाना है अथवा सबराष्ट्रों की साम्यधारा बहाना है ?" दिल्ली-कान्स्टीट्यूशन-क्लब में 'लोकतन्त्र' की श्लोकबद्ध व्याख्या करते हुए उन्होने कहा—"सब लोगों को समान अवसर और आदर अगर यहाँ नहीं होगा तो लोकतन्त्र का विच्छेद निश्चित है।" आजकल की अनैतिकता को देख कर कहा—"राज्य-तन्त्र जहाँ कर्त्तव्य-विमुख है, वणिक्-व्यापारी छलयुक्त है, नैतिकता वहाँ कहाँ रहेगी ?"

अमेरिका के प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ डॉ० नार्मन ब्राउन ने एक चोर की पूरी कथा ही महाप्रज्ञजी को आशु-कवित्व के लिए दे दी। "मणिशेखर चोर" शीर्षक से सात सुन्दर श्लोको मे महाप्रज्ञजी ने उसे पूरा कर दिया।

गंगाप्रवाह, यमुना, सगम, चिदम्बर-क्षेत्र-मन्दिर, मैसूर-राजमहल, आड्यार का कलाक्षेत्र, भूकम्प आदि विषयो पर लिखते समय महाप्रज्ञ जी अपनी जन्मदात्री-भूमि भारतवर्ष से नितान्त ऐकात्म्य हो गये है। महाप्रज्ञजी पैदल चल कर त्रिवेन्द्रम पहुँचे थे, ट्रावनकोर के महाराजा उस समय महल के ऊर्ध्व भाग मे भूमि-स्पर्श से दूर थे। उसी समय वहाँ विमान से यात्रा करता हुआ एक व्यक्ति आ पहुँचा। आधार, मध्य और ऊर्ध्व एक हो गये, त्रिवेन्द्रम मे तीनो का संगम हो गया। एक बार आचार्य विनोबा ने कहा—'वाक्-सयम' पर कविता सुनाओ। कविता बिना वाक् के हो ही नहीं सकती और विषय 'वाक्-संयम', अच्छा विरोधाभास था। महाप्रज्ञजी ने तुरन्त कहा—'प्राय: विरोध समुपस्थित होने पर ही नया मार्ग मिलता है। 'वच्मीति न वापि वच्मि'—बोलकर भी मैं नहीं बोल रहा हूँ। वाक्य का समाधान श्लोक की पहली तीन पंक्तियाँ करती है।

इस प्रकार 'हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता' के समान महाप्रज्ञजी की काव्य-स्फूर्जना और उनका काव्य दोनों अनन्त है। इतनी प्रतिभा के धनी होकर अपने गुरु के प्रति महाप्रज्ञ जी पूर्ण आत्म-समर्पित और श्रद्धावनत हैं। नारियो के प्रति विशेष सवेदनशील है। 'अश्रुवीणा' मे उन्होने कहा था, स्त्री का वैभव क्या है—

श्रद्धाश्रूणि प्रकृतिमृदुता मानसोद्घाटनानि

और परिणाम मे उसे क्या मिलता है, केवल नि श्वास। संस्कृत-सम्मेलन मे कालिदास-नगरी उज्जयिनी मे एक पण्डित ने उनकी परीक्षा लेने के लिए विषय दे दिया—'सूर्य पश्चिम मे उदय होता है।' और क्षण भर मे महाप्रज्ञजी की कविता तैयार थी—"हाँ सूर्य पश्चिम मे उदय होगा जब भारतीय स्त्री अपने पति को त्याग देगी।" कविता के शब्द यह नहीं है परन्तु उनका भाव यही है।

'अतुला-तुला' के काव्य की शब्द-परीक्षा के लिए यहाँ न अवसर है न आवश्यकता। इतना कहना पर्याप्त है कि इस ग्रन्थ में महाप्रज्ञजी की भाषा पर अपूर्व पकड, व्याकरण का अद्भुत प्रयोग और संस्कृत-शब्दराशि का गीतलयात्मक प्रयोग दर्शनीय है। 'अस्ति स्त सन्ति कल्पना', "किं तया किं तया किं तया किं तया" और 'समुद्राष्टकम्' मे द्रुतविलम्बित छन्द मे यमक अलकार द्रष्टव्य—

विपुलता फलिता ललिता ततः
किमिति हा महिमा महतामसौ

है जिसको, वर्तमान परिप्रेक्ष्य मे संस्कृत की आराधना, ऊसर मे गुलाब उगाने के समान प्रतीत होगी। परन्तु उपजाऊ भूमि में फसल तो सभी उगा सकते हैं, हाँ ऊसर मे जो गुलाब खिलाए महत्ता उसी की है। महाप्रज्ञजी की संस्कृत-

साधना उनके आशु-कवित्व को देखते हुए संस्कृतानुरागियो के प्रश्नो का कारण बनी। पूना मे एक संस्कृत-प्रोफेसर ने कहा—'संस्कृत-भाषा का जो विरोध कही-कही दिखाई दे रहा है, उसी पर कविता सुनाइए।' महाप्रज्ञजी ने कहा—जिसमे महान् तत्त्व छिपा है, जिससे स्वाध्याय की गति बढती है, विकास का मार्ग विशद होता है, अज्ञ लोग उसी का विरोध करते है।' विरोध का कारण बताते हुए उन्होने कहा—

(१) संस्कृतज्ञा हि पुराणचित्ता

(२) जैसे प्राचीन में सार है, वैसे नवीन में भी सार है। दोनों को ग्रहण करना चाहिये।

(३) और यदि विरोध है तो इससे मनीषियो को प्रसन्न ही होना चाहिए, क्योंकि तब वे विरोध का सामना करने के लिए नये विचारों का सामने लेकर आयेंगे। भय खाकर घर नही बैठे रहेंगे।

१९५४ मे पूना की ही 'वाग्वर्धिनी-सभा' ने महाप्रज्ञजी को चुनौती देते हुए कहा—

भाषा मृतेति प्रवदन्ति केचिद्
गीर्वाणवाणी गुणभूषिताऽपि
मुनीन्द्र ! तत्त्वं कथयस्व नूनं
कथं पुनर्वैभवशालिनी स्यात् ?

महाप्रज्ञजी ने उत्तर दिया—"भाषा कभी मृत या अमृत नही होती। उसके बोलने वाले ही मरते-जीते रहते है। लोग भाषा को लेकर चलते है, तो उनके चलने, उनकी गति की ही समीक्षा होनी चाहिए। भाषा बोलने वाले जब जड और मुमूर्षु हो जाते है, तो उनकी भाषा भी विलीन हो जाती है। भाषा को यदि वैभवशालिनी बनाना है तो उसके बोलने वालो को अपना काया-कल्प करना होगा।" ये बातें कितनी सच्ची हैं और वर्तमान मे हिन्दी की दुर्गति पर कितनी सटीक बैठती है।

एक स्थान पर तुलना के परमार्थ की व्याख्या करते हुए महाप्रज्ञजी ने कहा था 'तुलाऽतुला वा न च वर्णनीया—काव्य के स्रोत का जहाँ आदि और अन्त न मिल सके, वहाँ तुलना और अतुलना दोनो सीमा से परे हो जाती है। 'अतुला-तुला' की समीक्षा भी मैं इन्हीं शब्दो मे समाप्त करती हूँ। महाप्रज्ञजी के उद्गारो की समीक्षा करने योग्य, मैं नहीं हूँ, परन्तु उनके सम्यक्-दर्शन (सम्यक्-ईक्षा) से मुझे अवश्य रस और हृदय की विशदता का लाभ हुआ है। पुस्तक का हिन्दी-अनुवाद कही-कही सदर्भ जानने मे सहायक हुआ है, परन्तु वह सब स्थानो पर सही नहीं है। मूल से तो खैर उसकी तुलना ही नहीं है।

युवाचार्य की सम्पादन-कला

—प्रो० दलसुख मालवणिया
निदेशक लाo दo भाo संस्कृति-विद्यामन्दिर
अहमदाबाद

पूज्य युवाचार्य महाप्रज्ञ की सम्पादन-कला के विषय मे लिखना हो तो कहाँ से प्रारम्भ किया जाय, यह एक प्रश्न है। केवल संस्कृत-प्राकृत या हिन्दी के सम्पादन का ही प्रश्न नहीं है। मेरी जानकारी के अनुसार पूज्य आचार्य श्री तुलसी जी मारवडी-भाषा मे व्याख्यान देते होंगे और मारवाडी मे उनकी कविता लिखी जाती रही है। ऐसी स्थिति मे आचार्य श्री के व्याख्यानो का सार 'जैन-भारती' मे सुदीर्घ काल से विशुद्ध हिन्दी मे जो छपता है क्या उसमे युवाचार्य की कलम ने कुछ नहीं किया ? मेरे विचार मे सम्पादन-कला का प्रारंभ युवाचार्य ने इसी कार्य से किया है। संभव है, मेरी कल्पना भ्रान्त हो, किन्तु यह तो श्री युवाचार्य ही बता सकते है। मैंने तो अपनी कल्पना यहाँ रक्खी है।

जब आचार्य श्री ने आगमो के सम्पादन की सोची तो उसका मुख्य भार युवाचार्य जी ने ही उठाया है। यह तो तथ्य है, इसमे सन्देह की गुजाइश ही नहीं है।

आगमों के सम्पादन के विषय मे जो योजना बनी, वह भी एक आदर्श योजना है, इसमे सदेह नहीं। आगमो के सम्पादन में यथा-संभव प्राचीन प्रतो का उपयोग करना, और उन्हीं के आधार से पाठ का निर्णय कर, मूल को शुद्ध रूप से मुद्रित करना, अपने सम्प्रदायों को बीच मे न लाकर, प्रतो के आधार से ही पाठ का निर्णय करना, यह नीति अपनायी गई है। इस कार्य मे बुद्धि का उपयोग करना पडता है, अतएव यह तो संभव रहेगा ही कि दो विद्वानो के बीच, पाठ के विषय मे मतभेद रहे ही। अतएव इसमे कोई बुराई नहीं। कहीं-कहीं प्रतों के पाठ से विपरीत ही पाठ अपनी बुद्धि से सोचकर भी देना पडता है। ऐसे स्थलो मे यह सावधानी रखनी पडती है कि जहाँ भी ऐसा किया गया हो, उसकी सूचना टिप्पण मे दी जाय, इसमे भी विद्वानो के बीच विवाद की गुजाइश है। किन्तु यह भी सम्पादक की त्रुटि नहीं गिनी जाती। अपने-अपने विचार को प्रामाणिक रूप से दोनो रखें, इसमे कोई बुराई नहीं।

सम्पादन मे, खासकर आगमो के सम्पादन मे यह नीति, योजना रूप मे अपनायी गई है—यह आगमों के सम्पादनों को देखकर कहा जा सकता है और इस विषय मे कोई आपत्ति नहीं कर सकता कि युवाचार्य जी ने इन विषयो मे साम्प्रदायिक दृष्टि को रखकर ऐसा किया है। अतएव जहाँ तक मूल के सम्पादन का प्रश्न है, आगम का सम्पादन असाम्प्रदायिक दृष्टि से ही युवाचार्य जी ने किया है—यह कहा जा सकता है। यह स्पष्टीकरण इसलिए जरूरी है कि मेरे कई मित्र यह पूछते हैं कि तेरापंथ द्वारा किया गया आगमों का सम्पादन, साम्प्रदायिक दृष्टि से तो नहीं किया गया ?

मूल के सम्पादन के अलावा, विवरण के साथ अनुवाद भी देना आगम-सम्पादन-योजना मे शामिल है। मैं यह कह सकता हूँ कि इस योजना मे प्रकाशित अनुवाद मूलानुगामी है और उसमे भी कोई सम्प्रदायवाद लाया नहीं गया। मैंने देखा है कि युवाचार्य द्वारा किया गया, विवरण के साथ अनुवाद श्रावक और साधुओ के लिए बहुमूल्य सिद्ध हुआ है, क्योकि इन अनुवादो मे युवाचार्य जी की बहुश्रुतता स्पष्ट रूप से वाचक के समक्ष आती है। जिस प्रकार मूल-सम्पादन मे विवाद हो सकता है उसी प्रकार अनुवाद मे भी यत्र-तत्र विवाद हो सकता है, किन्तु वहाँ भी कोई सम्प्रदायवाद नहीं है। केवल अपनी-अपनी समझ का प्रश्न है और इसमे भी मतभेद की गुंजाइश है और वह प्रामाणिक है—उनमे भी सम्प्रदायवाद की कोई बात नहीं।

आगम-प्रकाशन योजना की तीसरी बात भी अत्यधिक महत्त्व की है और वह है सतत आगमो का विशेष अध्ययन। जो भी अध्ययन प्रस्तुत किया गया है वह भी आदरणीय हुआ है, इसमे संदेह नही है और इसका यश भी युवाचार्य जी को है।

इस योजना का पूरा रूप आचार्य श्री की निगरानी मे है और अन्य मुनिराजो का भी पूरा सहकार है अतएव वे भी यश के भागी है; किन्तु 'योजकस्तत्र दुर्लभ' के नाते आचार्य श्री विशेष यश के भागी है और सम्पूर्ण संचालन मे सक्रिय है युवाचार्य—यह भी कहना जरूरी है।

तेरापन्थ की इस आगम-प्रकाशन की योजना मे विद्वानो ने एक त्रुटि देखी है और वह है 'जाव' के प्रश्न को लेकर। उसमे जो यह दोष दिखाई पड़ता है उसका मैं भी कारण हू। जब आचार्यश्री हमारी संस्था मे रात्रिवास कर रहे थे, तब मैंने ही—'जाव' की पूर्ति करना चाहिए—इसकी चर्चा उठाई थी। किन्तु किस प्रकार की जाय इसकी पूरी चर्चा हुई नहीं थी। अतएव मूल मे ही 'जाव' की पूर्ति इस योजना मे देखी जाती है। अच्छा होता यदि 'जाव' की पूर्ति, टिप्पणी मे की जाती और एक बार की गई पूर्ति का पुनरावर्तन न होता। जो मुद्रण हुआ है उसमें मूल आगम का कद बहुत बढ़ जाता है जिसे टालने के लिए ही आचार्यो ने 'जाव' का मार्ग स्वीकृत किया था। सुविधा तो पूर्ति मे है—इसको इन्कार नही किया जा सकता, किन्तु ऐसा करने से मूल के संकलन करने वालो के प्रति अन्याय होता है कि जिसे उन्होने छोटा बनाया, हम उसे बृहत् बना देते है।

अब तक प्रकाशित अनुवाद सहित आगमो मे ये है—आचारांग, स्थानाग, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन। साथ ही सम्पूर्ण अंग-आगम तीन भागो मे मात्र मूल प्रकाशित किया गया है। छपाई आदि के विषय मे इतना ही कहना अनिवार्य है कि तेरापंथ द्वारा जो भी साहित्य प्रकाशित होता है, वह छपाई आदि की दृष्टि से उत्तम होता है।

*

---

* आचार्य तुलसी, संस्कृत-प्राकृत-हिन्दी एवं राजस्थानी चारो भाषाओ के प्रकाण्ड विद्वान है और चारो ही भाषाओ पर समानरूप से उनका अधिकार है। —सम्पादक

तृतीय खण्ड

त्रिवेणी
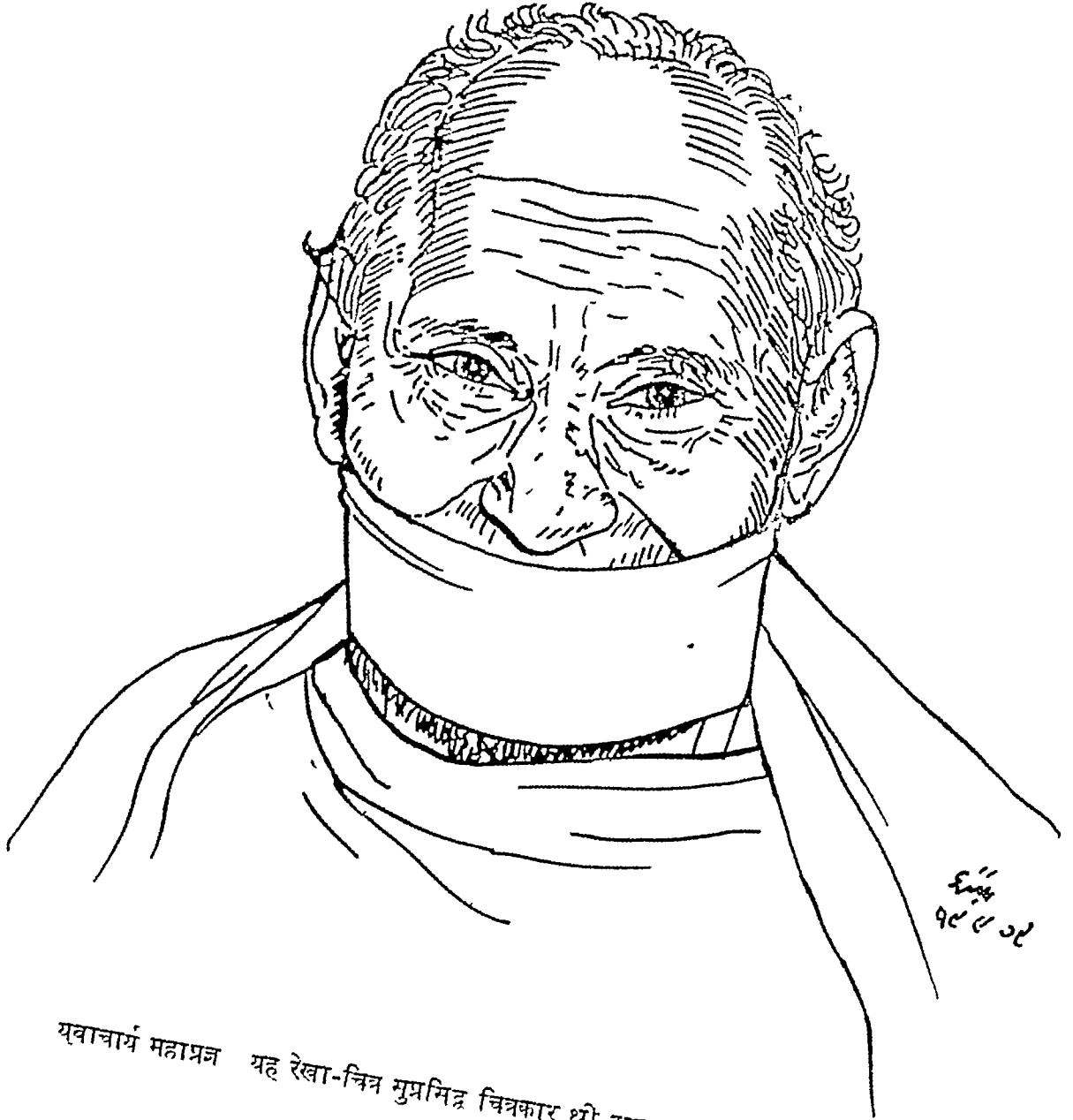
युवाचार्य महाप्रज्ञ   यह रेखा-चित्र सुप्रसिद्ध चित्रकार श्री इन्द्र दुगड़ ने तैयार किया है।

राष्ट्रपति भवन, नई दिल्ली

भारत के प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद ने राष्ट्रपति भवन मे स्वागत-समारोह आयोजित किया। उक्त अवसर पर आचार्य तुलसी, युवाचार्य महाप्रज्ञ, साधु-समुदाय एवं विशिष्ट नागरिक।

प्रथम भारतीय गवर्नर-जनरल चक्रवर्ती राजगोपालाचारी भाव-विभोर होकर आचार्य तुलसी एवं महाप्रज्ञ का स्वागत करते हुए। बीच में 'महाप्रज्ञ व्यक्तित्व एवं कृतित्व' ग्रन्थ के सम्पादक कन्हैयालाल फूलफगर।

भारतीय संस्कृति के उपासक गुरु गोलवालकरजी आचार्य तुलसी एवं महाप्रज्ञजी से गम्भीर चर्चा करते हुए। चित्र में मुनि श्रीचन्द, मुनि सुमेरमल व अन्य मुनिगण।
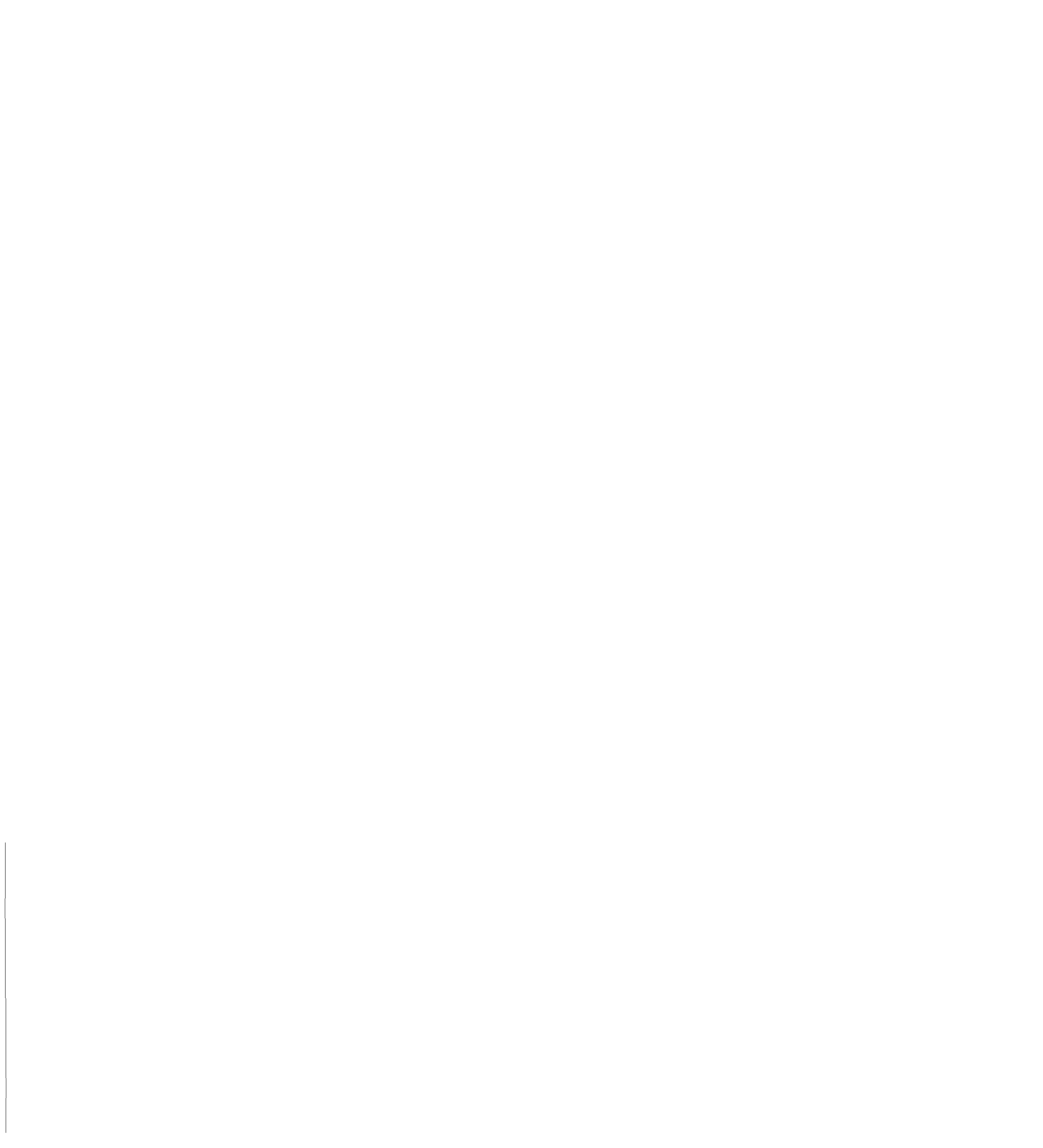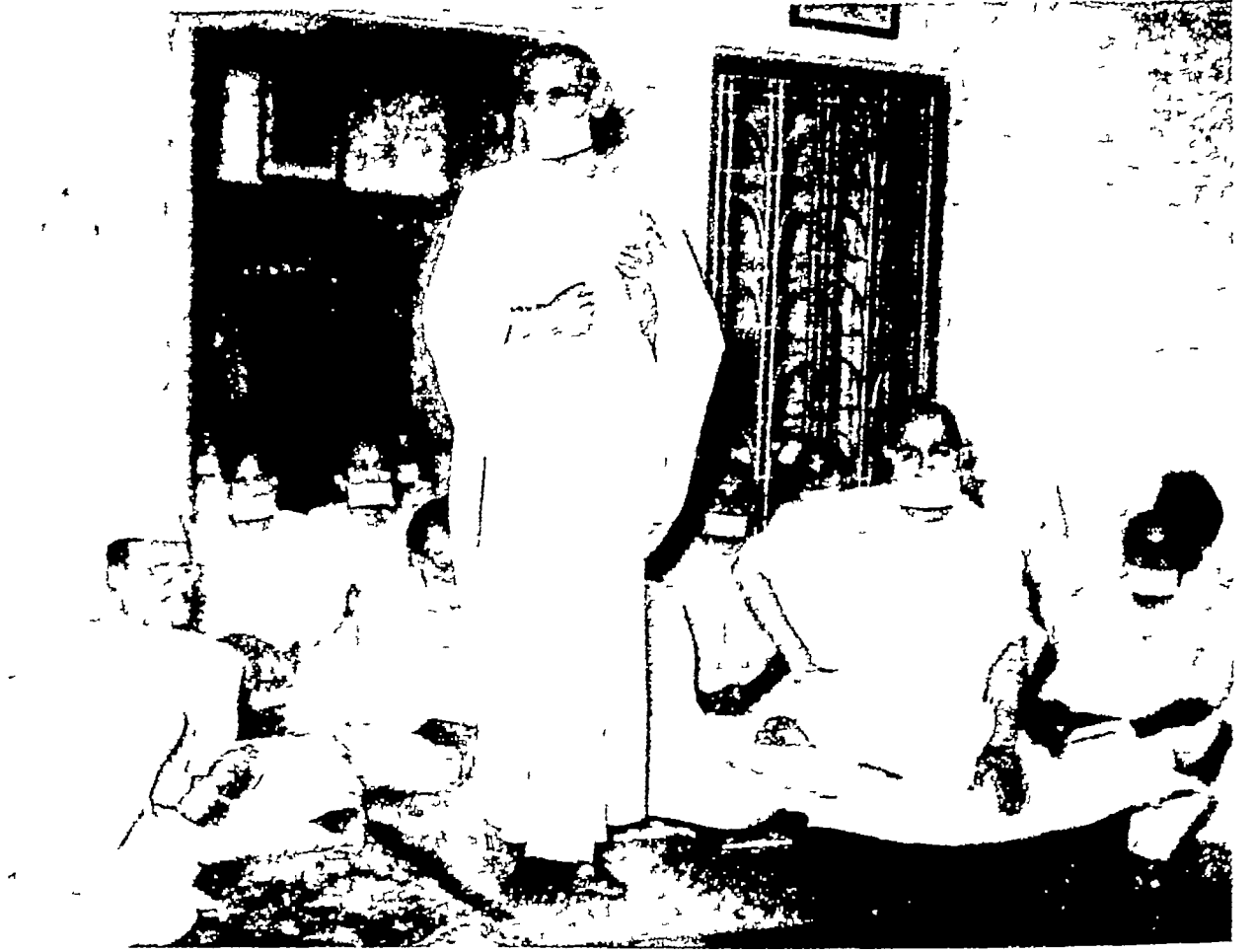
युवाचार्य महाप्रज्ञ भाषण दे रहे हैं।

भू० पू० केन्द्रीय गृह-मंत्री श्री गुलजारी लाल नन्दा, आचार्य तुलसी एवं मुनिगण।

बायें से स्व० सेवाभावी मुनि चम्पालालजी, पूज्य मुनि विद्यानन्दजी, आचार्य श्री तुलसी, प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु भदन्त आनन्द कौसल्यायन एवं युवाचार्य महाप्रज्ञजी।
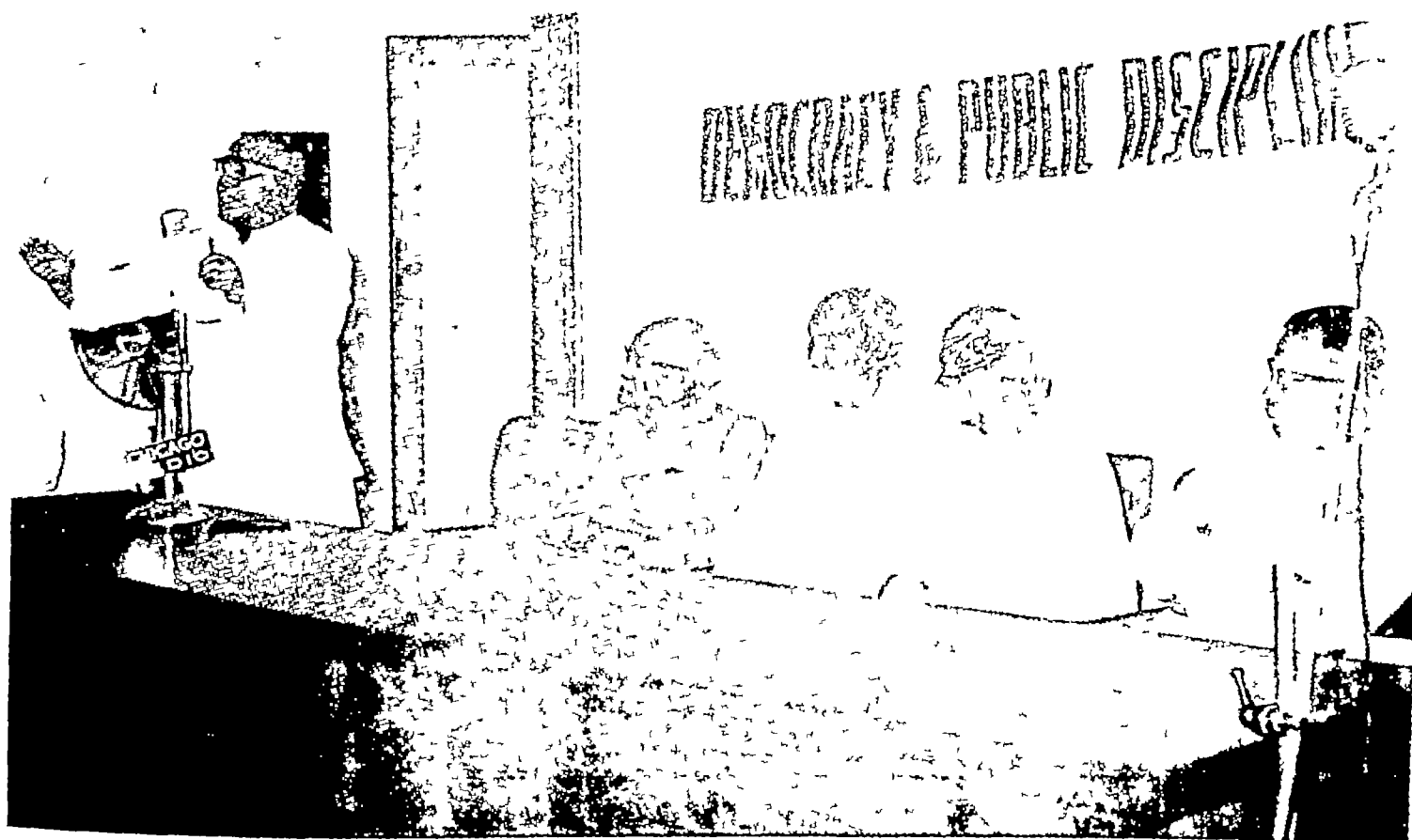
भाषण देते हुए समाजवादी नेता श्री सुरेन्द्रनाथ द्विवेदी, बैठे हुए सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ डॉ० ताराचन्द,
युवाचार्य महाप्रज्ञ, प्रोफेसर वी० के आर० वी० राव

महाप्रज्ञजी को श्रद्धामय वन्दन करते हुए केन्द्रीय शिक्षा मंत्री प्रो० हुमायूं कबीर।

अणुव्रत-आन्दोलन पर विचार-विमर्श करते हुए चित्र मे (बायें से) युवाचार्य महाप्रज्ञ, आचार्य तुलसी, अणुव्रत-आन्दोलन के स्तम्भ स्व० जयचन्दलाल दफ्तरी, श्री प्रभुदयाल डाबडीवाल, भारतीय ज्ञानपीठ के सस्थापक स्व० साहू शान्ति प्रसाद जैन, ज्ञानपीठ-अध्यक्षा स्व० श्रीमती रमा जैन।
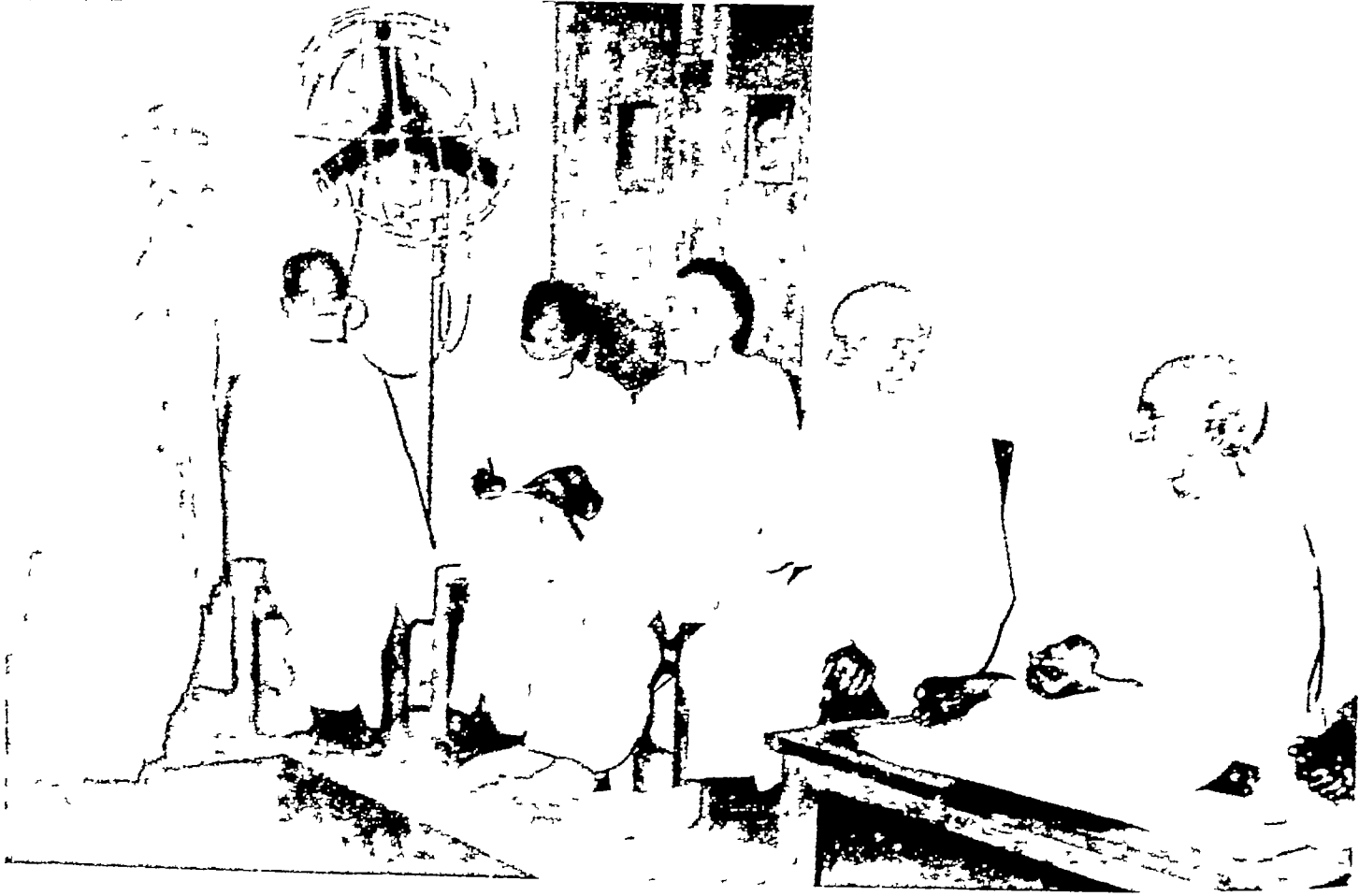
अणुव्रत आन्दोलन पर विचार व्यक्त करते हुए श्री मंगलदास पकवाना, आचार्य तुलसी, युवाचार्य महाप्रज्ञ एवं अन्य मुनि-गण।

प्रो० बलराज मधोक महाप्रज्ञ का स्वागत करते हुए, मध्य में मुनि श्रीचन्द, मुनि मुखलाल।

दो ऐतिहासिक चित्र, आम्नायों के प्रमुख आचार्य व मुनि

बायें से—ब्र० श्री जिनेन्द्र वर्णीजी, आचार्य धर्मसागरजी उपाध्याय, पूज्य विद्यानन्दजी, मुनि सुशील कुमारजी, युवाचार्य महाप्रज्ञ, आचार्य तुलसी, आचार्य विजयसमुद्र सूरिजी तथा अन्य मुनिगण ।

संगीति के प्रमुख पण्डित

बायें से पहली पंक्ति—सर्वश्री के० भुजबलि शास्त्री, मानव मुनि, दूसरी पंक्ति स्व० डॉ० ए० एन० उपाध्ये, चमनलाल जैन, यशपाल जैन, शान्तिलाल व० सेठ, श्री राजाकृष्ण बजाज, प० कैलाशचन्द्र शास्त्री, श्री खुशालचन्द्र वोरावाला, श्री कृष्णराज मेहता। तीसरी पंक्ति—प० सुमेरचन्द्र दिवाकर, डॉ० दरबारीलाल कोठिया, श्री अगरचन्द नाहटा व विशाल जन-समुदाय।
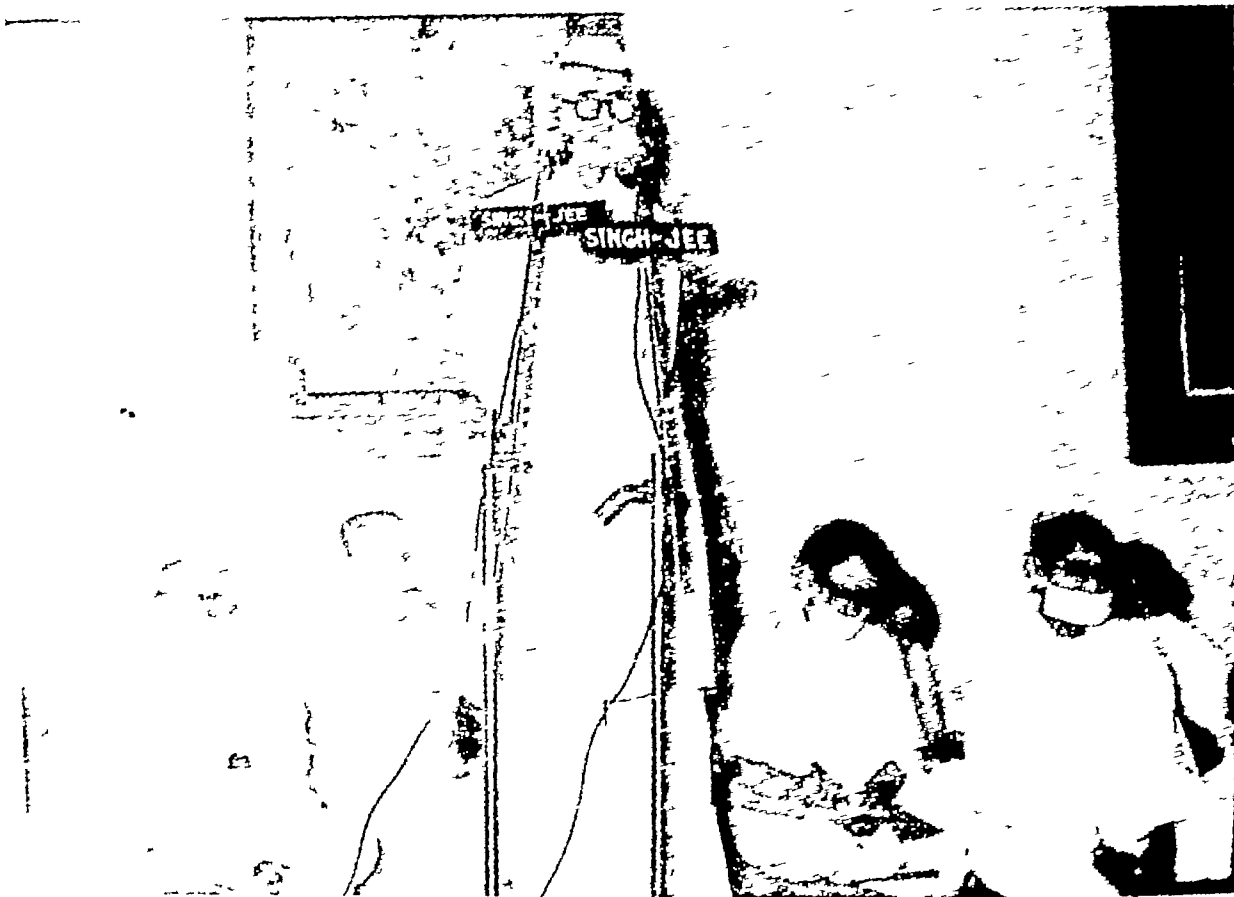
महाप्रज्ञजी का स्वागत करते हुए, माइक पर श्री गोपीनाथ 'अमन', सफेद टोपी पहने प्रसिद्ध वैज्ञानिक डा० आत्माराम, पगड़ी वाले प्रसिद्ध समाजसेवी श्री मोहनलाल कठोतिया, मुनिश्री श्रीचन्द कुछ लिखते हुए।

उपर—विज्ञान भवन मे मेक्सिको के राजदूत वार्तालाप करते हुए । नीचे—श्री बोस मल्लिक डाइरेक्टर कम्निकेशन

महाप्रज्ञ का अभिनन्दन करते हुए लोकसभा के अध्यक्ष सरदार हुक्कमसिंह, केन्द्रीय प्रतिरक्षा मन्त्री स्व० वी० के० कृष्णा मेनन एवं श्री प्रभुदयाल डाबडीवाल बैठे हुए हैं।

मु० पु० केन्द्रीय राज्य-रक्षा मंत्री श्री राजू वार्तालाप करते हुए।

मद्रास में भव्य स्वागत

तामिलनाडु के मुख्यमन्त्री स्व० अन्नादुरै, श्री सुब्रमणियम, आचार्य तुलसी एवं युवाचार्य महाप्रज्ञ ।
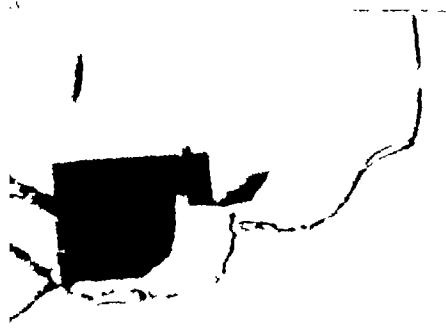
मध्य प्रदेश के जंगलों में आचार्य तुलसी, युवाचार्य महाप्रज्ञ, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, एवं मुनिगणों का काफिला।

कठिन भूमि कोमल पद गामी
कवन-हेतु वन विचरहु स्वामी

समाधिमरण प्राप्त करने से पूर्व साध्वी बालूजी का गंगाशहर में पुत्र महाप्रज्ञ से साक्षात्कार
(उक्त अवसर पर महाप्रज्ञ ने यह गीतिका बनायी)

देव दो हस्तावलम्बन, आत्म का साक्षात् पाऊँ।
मैं स्वयं चेतन सघन हूँ, मैं स्वयं आनन्दघन हूँ,
देह की इस मरुधरा में, चैत्य की सरिता बहाऊँ।
कौन हूँ ? आया कहाँ से ? है कहाँ जाना यहाँ से ?
सत्य की गहराइयों में, उतर प्रभु को ढूंढ लाऊँ।

आत्मलीन

प्रभु ! म्हारै मन-मन्दिर मे पधारो
मन चंचल है और मलिन है, ओ है धीठ धुतारो ।
सब कुछ है तब ही तो तेड़ूं, सकरुण दृष्टि निहारो ॥
वीतराग हो, समदर्शी हो, समता-रस संचारो ।
'तुलसी' तारण तरण तीर्थपति, अपणो विरुद विचारो ॥

आचार्य तुलसी षष्टि पूर्ति समारोह नई दिल्ली

युवाचार्य महाप्रज्ञ, आचार्य तुलसी एवं भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति स्व० फकरुद्दीन अली अहमद

आगम ग्रन्थ विमोचन समारोह नई दिल्ली

युवाचार्य महाप्रज्ञ भाषण देते हुए।
आचार्य तुलसी, तत्कालीन उपराष्ट्रपति बी० डी० जत्ती तथा भूतपूर्व रेलमंत्री पं० कमलापति त्रिपाठी
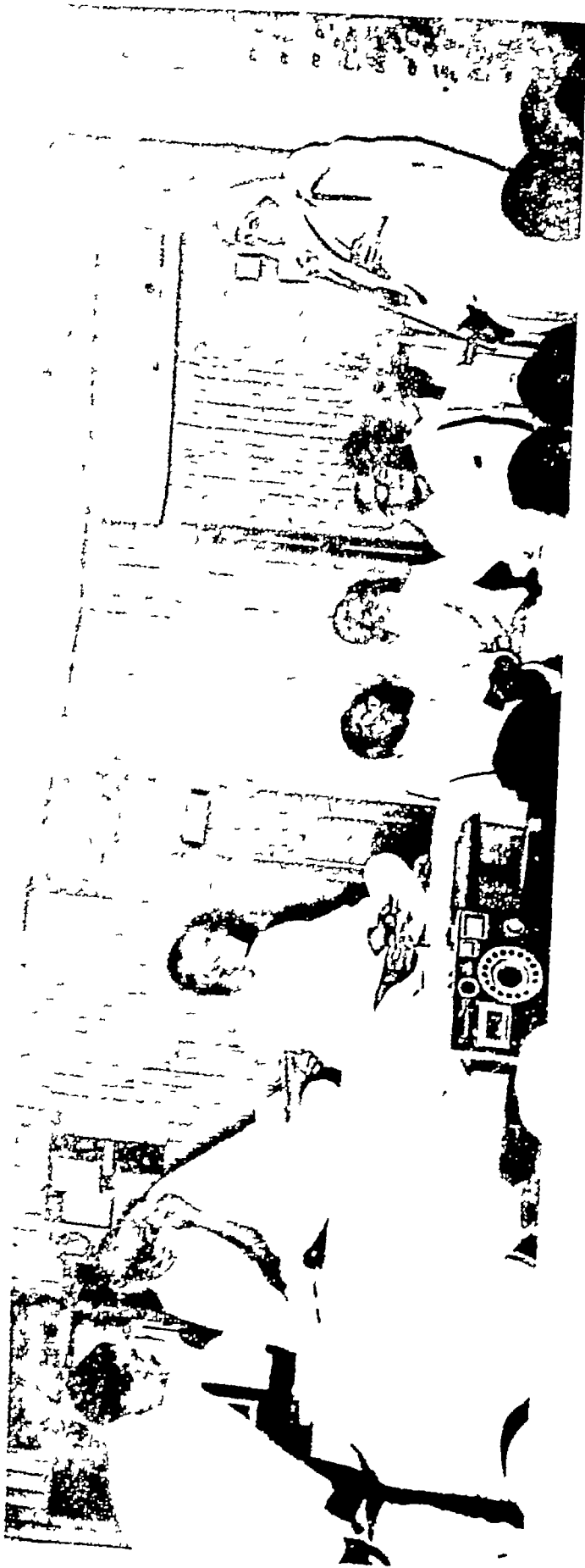
मदर टेरेसा भाषण देती हुई ।
बायें मे आचार्य तुलसी, युवाचार्य महाप्रज्ञ, श्री मोहनलाल कठोतिया व प्रसिद्ध साहित्यकार श्री यशपाल जैन ।

युवाचार्य महाप्रज्ञजी का भावविभोर होकर स्वागत करते हुए तत्कालीन प्रधान मंत्री श्रीमोरारजी देसाई
बगल में बैठे हैं प्रसिद्ध साहित्यकार श्री जैनेन्द्र कुमार ।

मैं तो आपकी कृति हूँ—'महाप्रज्ञ'

आचार्य तुलसी 'महाप्रज्ञ' नामकरण करते हुए वि० सं० २०३५ कार्तिक शुक्ला तेरस, गंगाशहर।

मनकी बात गुरु के साथ

सो सब तब प्रताप रघुराई
नाथ न कछु मोरि प्रभुताई

भगति हीन गुन सब सुख ऐसे
लवन बिना बहु बिंजन जैसे
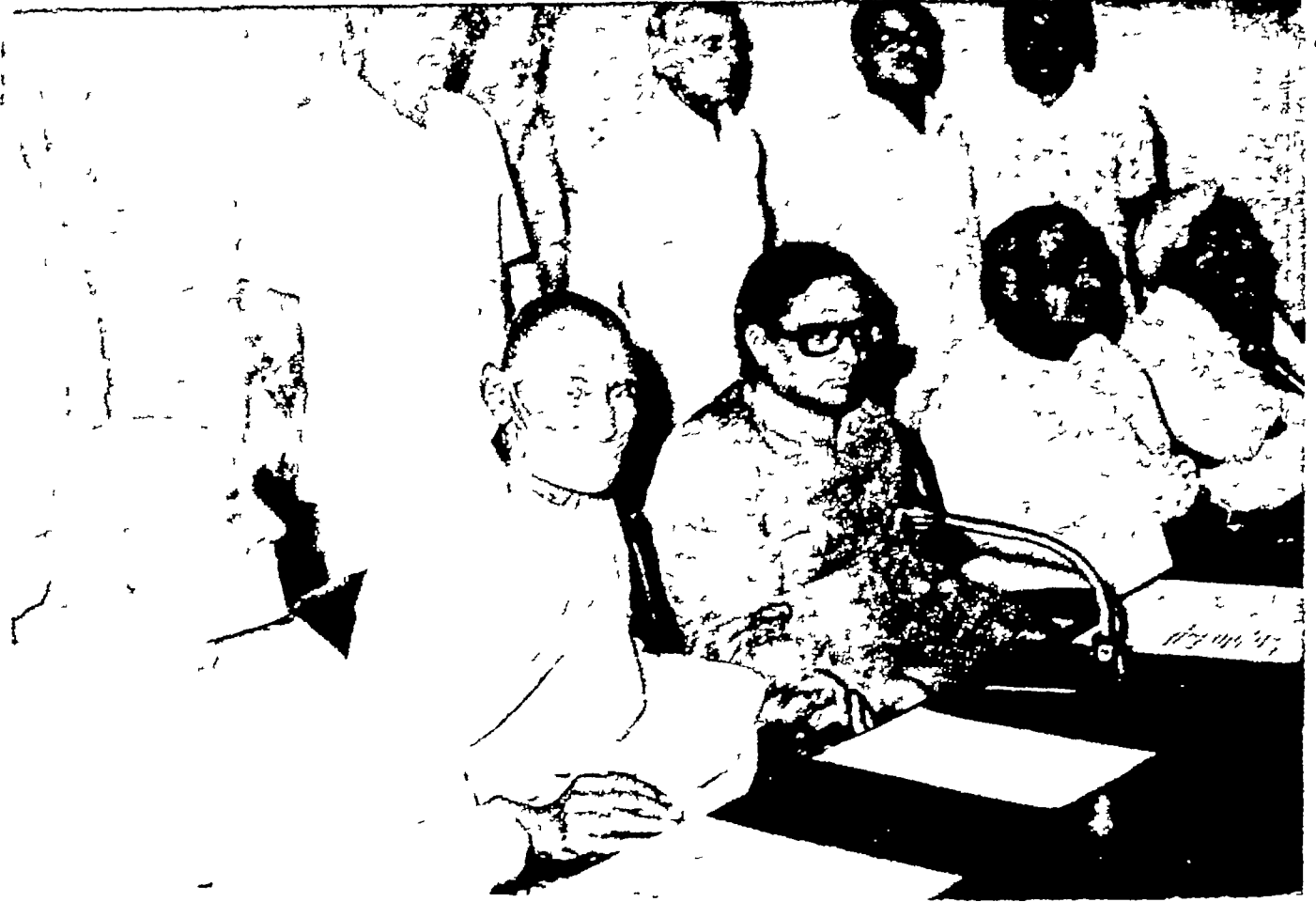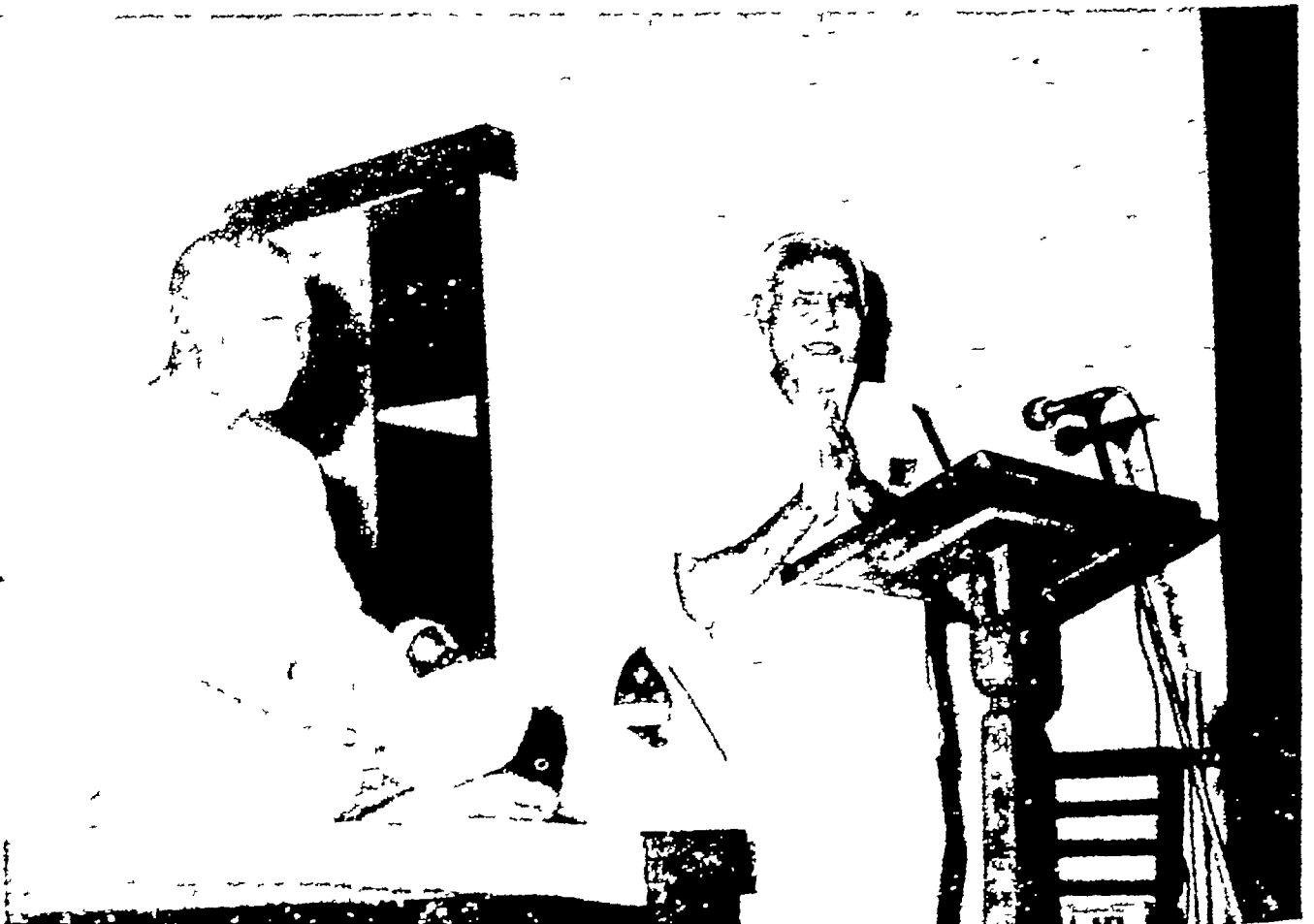
ऊपर उपकुलपति श्री आर० सी० मेहरोत्रा, नीचे डा० स्वरूप सिंह दिल्ली विश्वविद्यालय में महाप्रज्ञ का अभिवादन करते हुए [illegible]

दिनकर स्मृति अंक के सम्पादक कन्हैयालाल फूलफगर युवाचार्य महाप्रज्ञ को ग्रन्थ भेंट करते हुए। साथमें श्री जसवन्त जैन श्री हरभजनलाल शास्त्री, अप्रेल १६७६ नई दिल्ली।

MEDITATION ...
ADHYATMA SADHNA KENDRA NEW...
6th MAY 1979.

ध्यान सम्मेलन को महाप्रज्ञ सम्बोधित कर रहे हैं। ग्वालियर के डा० राव, प्रसिद्ध विद्वान जैनेन्द्र कुमार, कन्हैयालाल फूलफगर, विशाल जन समुदाय।

महाप्रज्ञजी से विचार-विमर्श करते हुए श्री मिन्नालाल बरडिया एव श्री मानिकचन्द नाहटा, बीच मे मुनिश्री दुलहराज जी खडे हुए है ।
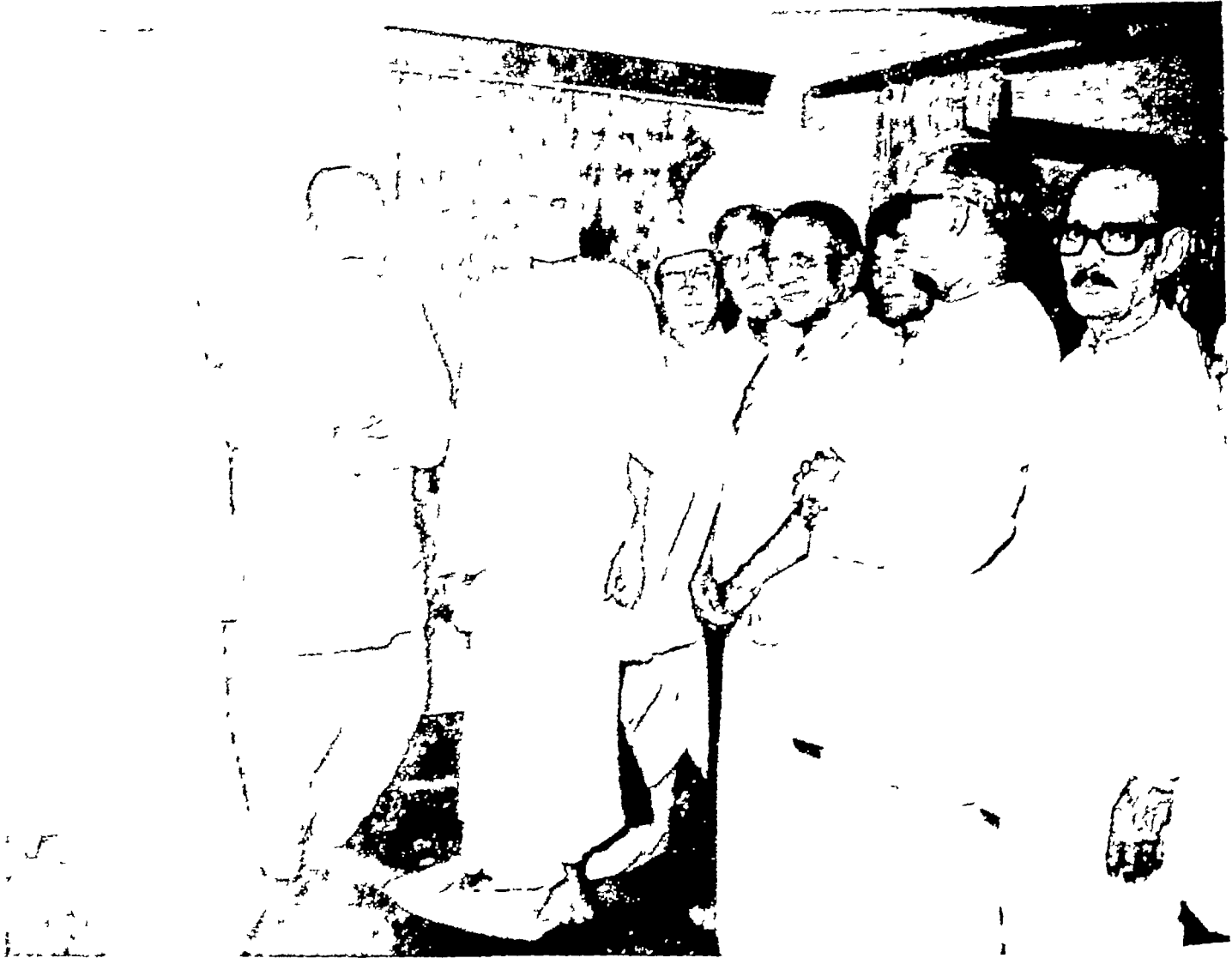
महाप्रज्ञजी से नवकार-महामंत्र के चित्र पर विचार-विमर्श
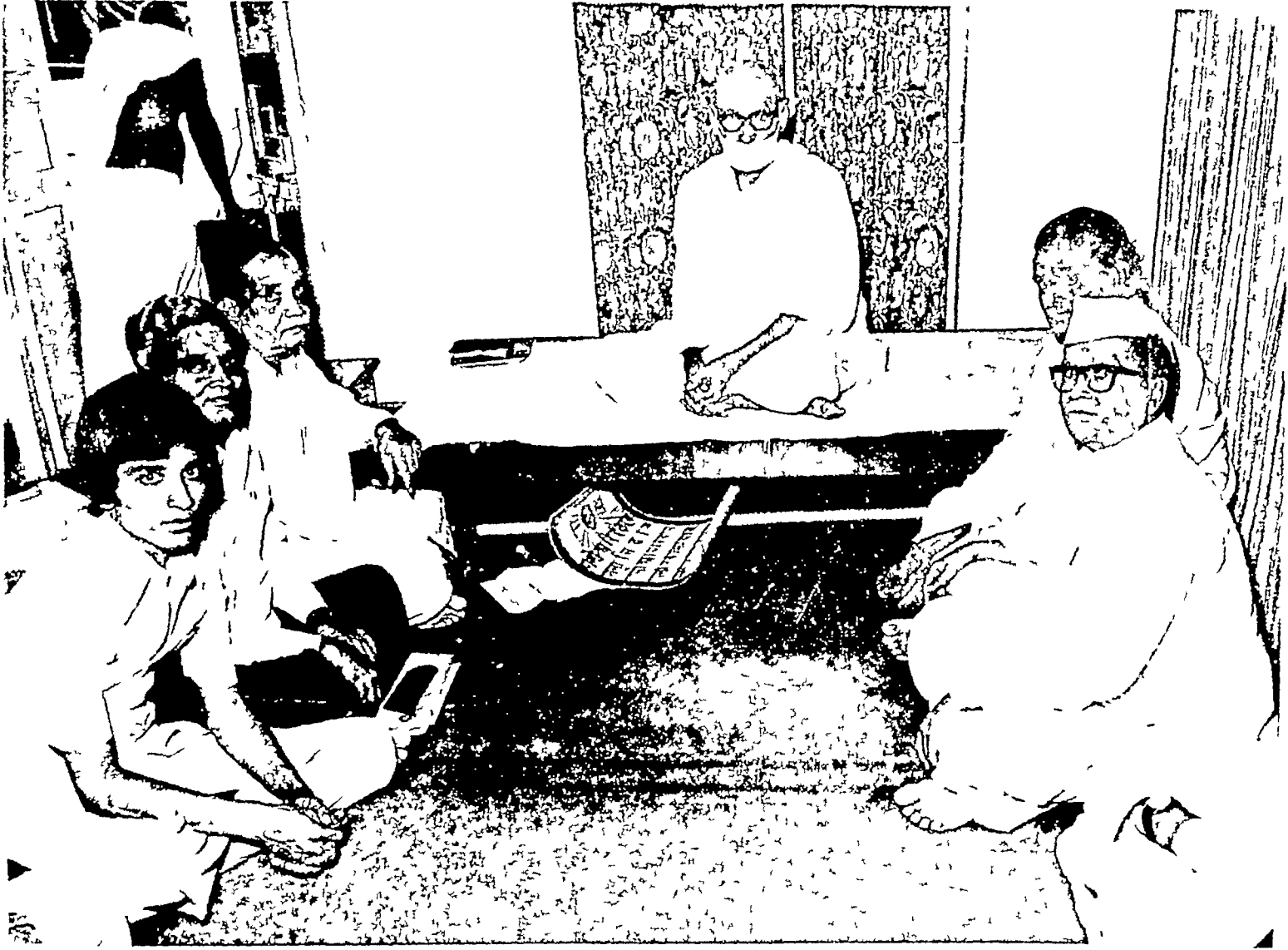
बायें से श्री इन्द्रकुमार सुराना, श्री मिश्रालाल बरडिया, श्री हनुमानमल बैंगानी, श्री मानिकचन्द नाहटा, श्री प्रतापसिंह वैद ।

युवाचार्य महाप्रज्ञ प्रसन्न मुद्रा में।

चित्र में श्री छत्रसिंह बैद, मुनिश्री सुमेरमल, श्री तिलोकचन्द डागा एवं श्री सोहनलाल दूगड।

मित्र परिषद् कलकत्ता के उपाध्यक्ष श्री झूमरमल बरडिया एवं आत्म-साधना-केन्द्र के मंत्री श्री धर्मचन्द जैन नोहर (राजस्थान) मे ७ दिसम्बर १९७९ को महाप्रज्ञजी का स्वागत करते हुए ।

महाप्रज्ञजी की

विविध मुद्रायें
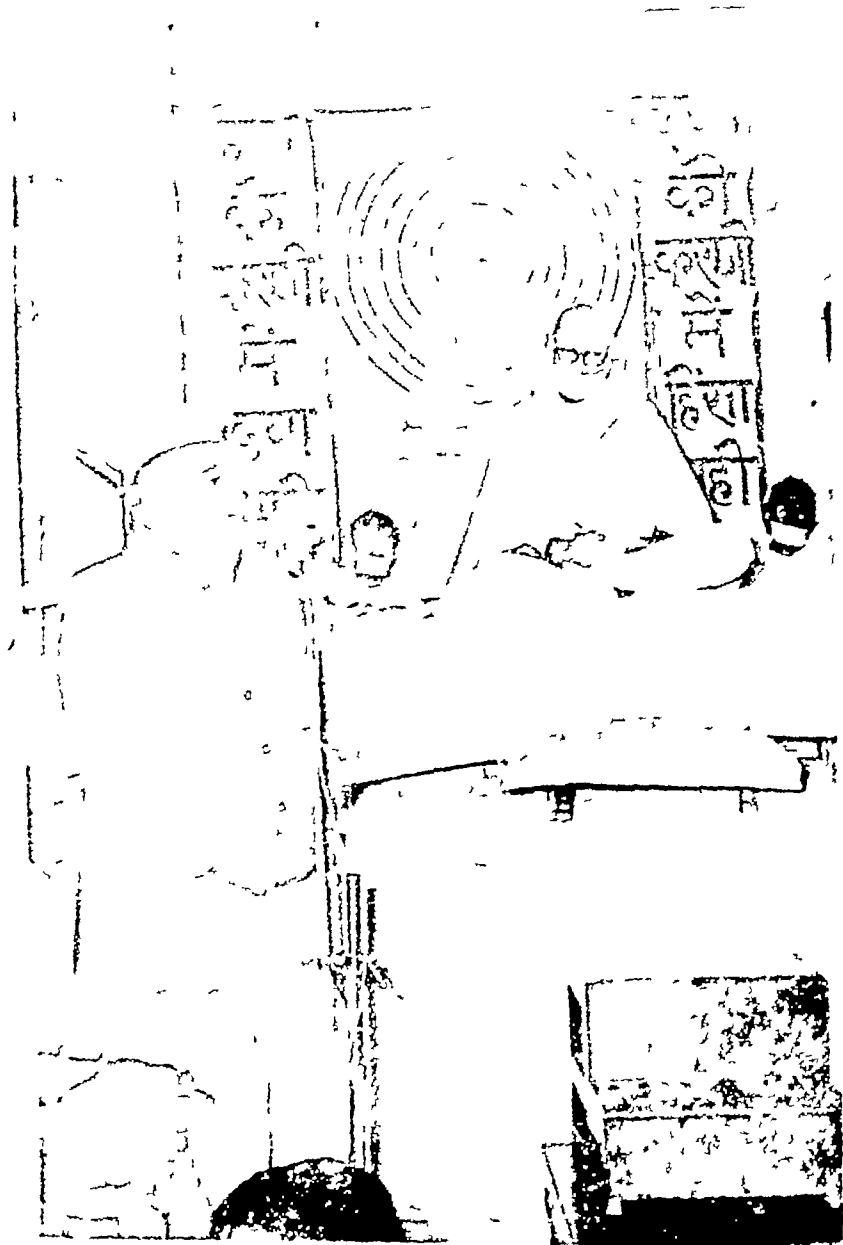
जैन-सभा कलकत्ता के अध्यक्ष, प्रसिद्ध समाजसेवी श्री श्रीचन्द नाहटा अपनी जन्म-भूमि सरदारशहर मे महाप्रज्ञजी का सार्वजनिक अभिनन्दन करते हुए। २४ दिसम्बर १९७९।
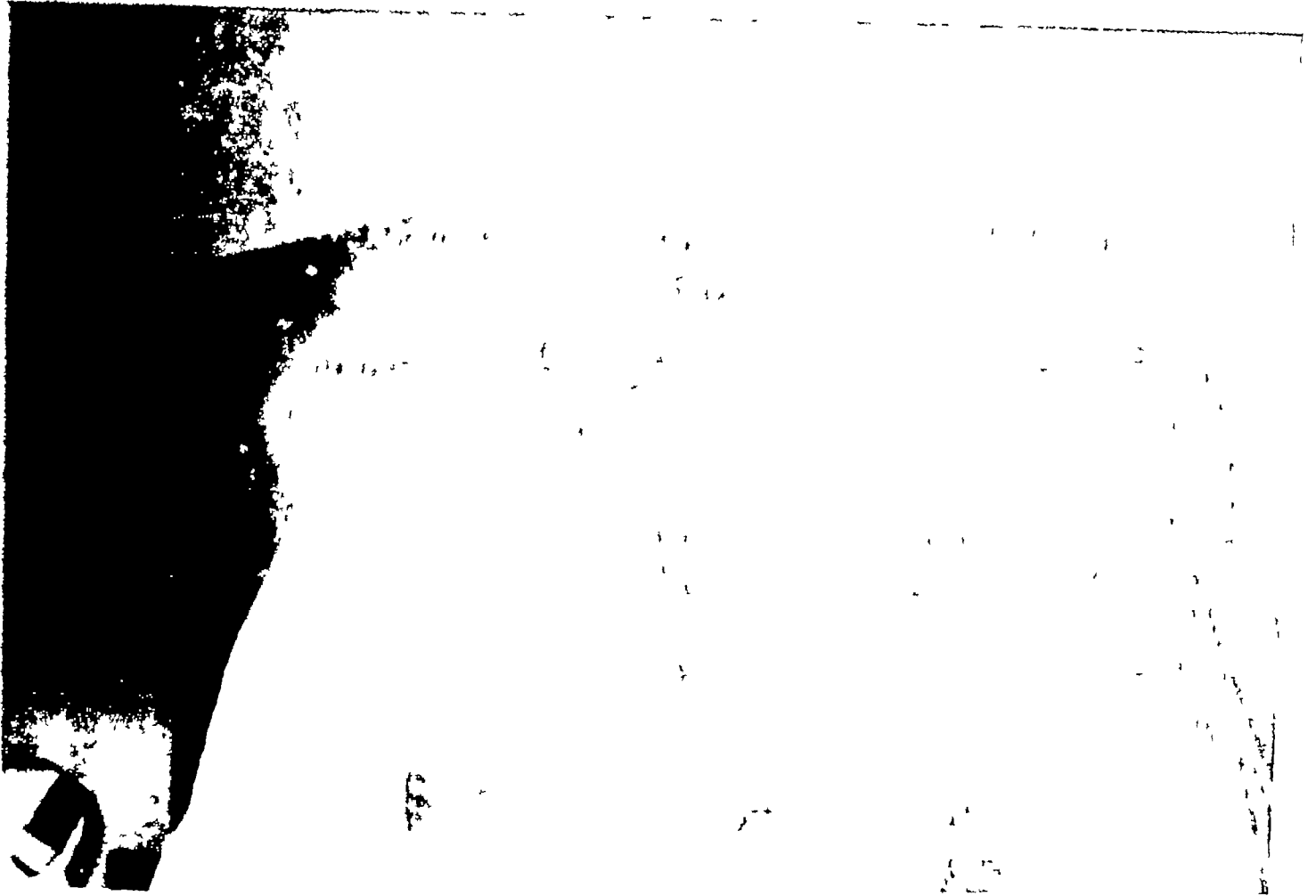
शान्त-रस की इन सभी कविताओं में सञ्चारी-निर्वेद के चयन में कवि की अपनी मौलिकता है। छोटी और चिर-परिचित बात को लेकर शान्त-रस को ध्वनित किया गया है। शब्दों के चयन में प्रसाद-गुण पुष्ट है। इस युग में शान्त-रस की इन श्रेष्ठ कविताओं के लिये मुनिजी हमारी बधाई के पात्र हैं।

—स्व० डॉ० लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'

ये कविताएं नहीं, गम्भीर तपस्वी जीवन के चित्र-जनित उद्गार हैं जो मुनि नथमलजी जैसे दार्शनिक जीवन-द्रष्टा ही लिख सकते हैं। पुस्तक के प्राणमय सत्य के दियालों में मेरी कल्पना, अनुभूति को बल मिला है। कविताओं को पढ़ कर लगा वे इस युग के परम दार्शनिक हैं।

—स्व० उदयशंकर भट्ट

मुनि नथमलजी ने जिस शब्दावली का प्रयोग किया है वह सरल और प्रेषणधर्मी है। कभी-कभी उन्होंने ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जो पारम्परिक अर्थों से कुछ भिन्न लगते हैं। मैं जिस बात को 'सहज' समझता हूं, कदाचित् मुनिजी उससे भिन्न अर्थ में उसका प्रयोग करते हैं। इससे मैं चिन्तित नहीं हूं। भारतीय चिन्तन-साहित्य में ऐसा और भी होता रहा है। मूल-भाव पर जाना चाहिए।

—स्व० डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी

अभय
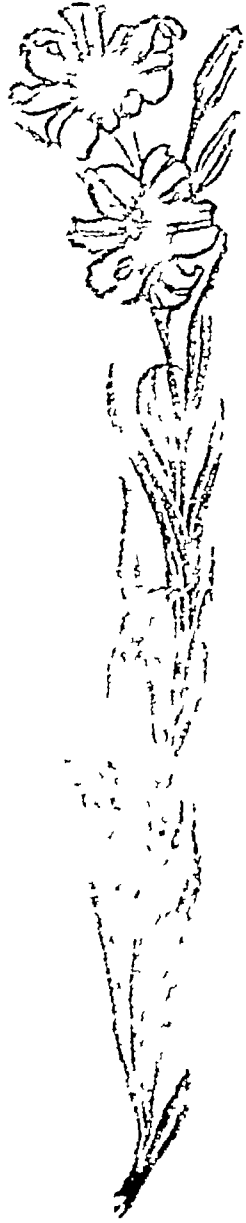
गीत मत तुम गुनगुनाओ, मौन होकर बोलना ही बोलना है ।

तूलिका ले खींच डाली गहनतम में चाँदनी की एक रेखा,
डर गया मैं दीप्ति-प्रज्वलित व्यक्त में अव्यक्त का फुफकार देखा ।
पर गरल में रस-सुधा का अभय होकर घोलना ही घोलना है ।
गीत मत तुम गुनगुनाओ, मौन होकर बोलना ही बोलना है ॥

नियति के इस काव्य के अनुवाद का अनुवाद ही पर्याप्त है क्या ?
मूल की लिपि पढ सको वह पारदर्शी दृष्टि तुमको प्राप्त है क्या ?
कल्पना की ग्रन्थियों को मुक्त होकर खोलना ही खोलना है ।
गीत मत तुम गुनगुनाओ, मौन होकर बोलना ही बोलना है ॥

वेदना संवेदना से है प्रवंचित शून्य हँसता जा रहा है,
अर्थ आवृत शब्द से है सजल जलधर व्यंग कसता आ रहा है ।
अन्तरात्मा की तुला से तुलित होकर तोलना ही तोलना है ।
गीत मत तुम गुनगुनाओ, मौन होकर बोलना ही बोलना है ॥

युवाचार्य महाप्रज्ञ

२

सखे ! आज मेरे सपनों के सरवर में नव कमल खिला है ॥
भूमिगर्भ मे बिन्दु गया है, इन्दु गया नभ की छाती मे।
अन्धकार अब सिमट-सिमट कर, चिमट गया दीपक वाती मे।
बिन्दु-बिन्दु मे हो आया हू, नहीं कहीं भी सिन्धु मिला है ॥
अपनी उलझन समाधान भी, अपना बाकी सब सपना है।
इस दुनिया मे कौन जानता, सपना ही मेरा अपना है।
जिसमें बोया बीज श्वास का, उससे ही विश्वास हिला है ॥
मुझे पता क्या महाशून्य ने ही सबको आधार दिया है।
मुझे पता क्या निराकार ने ही सबको आकार दिया है।
मुझे पता क्या मुस्कानों से क्रूर नियति का भाग्य छिला है ॥

३

सलिल मे ही लहर होती, सलिल क्या है लहर क्या है ?
समय में ही नहर होती, समय क्या है नहर क्या है ?
सलिल का ही आत्म-कम्पन, दृश्य जग मे लहर बनती।
समय के अस्तित्व का ही चिर विसर्जन नहर बनती।
बीज मे विस्तार होता, बीज क्या विस्तार क्या है ?
चित्त मे संसार होता, चित्त क्या संसार क्या है ?
मृत सलिल का योग पाकर, बीज ही विस्तार बनता।
वासना का भोग पाकर चित्त ही संसार बनता।
नीति मे प्राकार होता, नीति क्या प्राकार क्या है ?
भीति मे आकार होता, भीति क्या आकार क्या है ?
तुष्टि का वरदान पाकर, नीति ही प्राकार बनती।
दूसरों की कुचल सत्ता, भीति ही साकार बनती।
तन्तु मे प्राकार होता, तन्तु क्या प्राकार क्या है ?
व्यक्ति में आधार होता, व्यक्ति क्या आधार क्या है ?
युक्त का दायित्व लेकर, तन्तु ही प्राकार बनता।
अहम को विस्तृत बनाकर, व्यक्ति ही आधार बनता।

४

और आगे अब न पूछो वीर बनने जा रहा हूँ;
मुक्ति क्या? मैं मुक्ति की जंजीर बनने जा रहा हूँ॥

हृदय मे क्या वेदना हो हृदय सूना हो रहा है
बीज नव निर्माण करने रूप अपना खो रहा है
अंत लोगे, द्रौपदी का चीर बनने जा रहा हूँ

सिमटता आया सदा से बुलबुले मे सिन्धु सारा
देख पाया कौन जग में आज तक उसका किनारा
अतुल और अनन्त का मैं तीर बनने जा रहा हूँ

कान को अवरुद्ध करने सिहरता संगीत आता
आँख पर सम्मोह का आवरण जैसा छोड़ जाता
क्या मुझे कोई पखारे नीर बनने जा रहा हूँ

वेदना उसको सुनाओ वंद्य बन जो घूमता है
विहग बन संवेदना के प्रति शिखर का चूमता है
नीड़ क्या? टूटे दिलों की पीर बनने जा रहा हूँ

५

सहज मग्न जीवन की पोथी, बड़ा जटिल अनुवाद हो गया;
पद-पद के लघु विश्रामों पर, कैसा घोर विषाद हो गया।

यत्न भूलने का करते-करते भी वह फिर याद हो गया,
विरस रहा इतना रस भरते भरते भी बेस्वाद हो गया।

गोप्यं गोप्य पुनरपि गोप्यं, कहते कहते नाद हो गया,
त्याज्यं त्याज्यं की रट भरते-भरते भी आबाद हो गया।

आत्मा है संगुप्त और अब, बात बात का वाद हो गया,
श्रद्धा है संगुप्त और यह, तर्क एक उन्माद हो गया।

अन्तर्दर्शन लुप्त और यह, चंचल मन आजाद हो गया;
घटना है अत्यल्प किन्तु यह, बहुत बड़ा सवाद हो गया।

६

प्यार करो तो हार मान लूँ।
मधु मिश्रित मुस्कान भरो तो, काँटों को उपहार मान लूँ;
निश्चल मन से विष भी दो तो, उसे सुधा की धार मान लूँ।

विषम मार्ग जब मन चुनते है, हार-जीत तब ही बनते है,
गरल-सुधा दोनों भाई है, विघ्नों को आभार मान लूँ।

वक्र बनो तो और अड़ूँगा, शक्र बनो तो और लड़ूँगा,
चक्र बनो तो रेखा को ही, जीवन का आधार मान लूँ।

जीवन की परिभाषा आशा, चातक बस बूँदों का प्यासा,
अन्तर के इस बन्धन को भी, महामुक्ति का द्वार मान लूँ।

दीपक ऊपर से जलते है, फूल सदा ऊपर खिलते है;
नख-शिख का एकत्व बनो तो, चरण-धूलि को सार मान लूँ।

चाहे भार हरो न हरो फिर, चाहे जैसे घाव करो फिर;
आत्मा पर अधिकार करो तो, घावों को उपचार मान लूँ।

लघु कण बन जो घुल जाता है, कठिन हृदय भी खुल जाता है,
चट्टानों के छेदों को फिर, निर्झर का सत्कार मान लूँ।

हृत्-तन्त्री का तार हिले तो, स्वप्नों को आकार मिले तो;
भग्न हृदय के रूखे स्वर को, वीणा की झंकार मान लूँ।

स्पष्ट नहीं अनुमान चाहिए, पास नहीं व्यवधान चाहिए;
मधुर कल्पना संजोने को, निर्गुण को साकार मान लूँ।

७

मैं ही होऊँ मेरा सब कुछ, मुझको सब संसार चाहिए;
और कल्पना की कूँची से, रँगने का अधिकार चाहिए।

मुझे प्रगति के लिए सत्य का, सतत सहज आधार चाहिए;
और सत्य को भी तो अपना, कोई स्फुट आकार चाहिए।

दूर भले हों क्षेत्र काल ये, जुड़ा कि मन का तार चाहिए,
निरी सभ्यता निरा कि धोखा, अन्तर का उद्‌गार चाहिए।

सूख न पाए सरिता का जल, प्रवहमान यह धार चाहिए;
सुखद सृष्टि की नव रचना में मानस का शृङ्गार चाहिए।

मँडराएँ मधुकर चाहे पर, नहीं चरण का भार चाहिए,
दूर रहें उपकार सभी इस, मिट्टी का आभार चाहिए।

अभिशापों की इस जगती में, जलधर को उपहार चाहिए,
पर बूँदों को ममतामय इस, मिट्टी का ही प्यार चाहिए।

८

बीज तुम्हीं हो और तुम्हीं फल।

तुम ही नौका तुम ही नाविक, और तुम्हीं हो अतुल अतल जल;
वाणी तुम ही तुम्हीं मौन हो, तुम्हीं नींद हो तुम ही हलचल।

तुम्हीं पवन हो बादल तुम ही, तुम्हीं स्नेह हो और तुम्हीं खल;
तुम्हीं चरण हो पथ हो तुम हो, उलझन तुम ही और तुम्हीं हल।

तुम्हीं चिन्त्य हो चिन्तक तुम हो, तुम्हीं व्यक्त हो और तुम्हीं छल;
तुम्हीं देव हो अर्चा तुम ही, चिर अनन्त तुम और तुम्हीं पल।

अवगुंठन तुम और तुम्हीं मुख ? तुम्हीं अटल हो और तुम्हीं चल;
साध्य तुम्हीं हो साधन तुम ही, तुम्हीं स्वर्ग हो तुम्हीं मरुस्थल !

९

तुम चलो संधान लेकर सत्य जुड़ता-सा लगेगा,
तुम चलो व्यवधान लेकर सत्य मुड़ता-सा लगेगा।

मूँद कर आँखे निहारो सत्य उजला-सा लगेगा,
खोल कर आँखें निहारो सत्य धुँधला-सा लगेगा।

चपलता को जोड़ देखो सत्य अस्थिर सा लगेगा,
चपलता को छोड़ देखो सत्य सुस्थिर सा लगेगा।

वाद लेकर तुम चलो वह डगमगाता-सा लगेगा,
हार्द लेकर तुम चलो वह जगमगाता-सा लगेगा।

दौड़ते तुम जो चलो वह दूर जाता सा लगेगा,
धैर्य से तुम जो चलो वह पास आता सा लगेगा।

रूढ़ होकर तुम चलो संहार जैसा वह लगेगा,
गूढ़ होकर तुम चलो आधार जैसा वह लगेगा।

१०

शूल पर चल भूल मत तू फूल ये तुझको गिराते,
कष्ट ही है सार जग जो चेतना की लौ जलाते।

पृष्ठ पढ़ इतिहास के इतिहास स्रष्टा जो बने है,
प्राण से खेले सदा वे और शोणित से सने है;
इस विलासी जिन्दगी के, क्षण तुझे सचमुच सताते।

जो गँवा कर मान अपना ध्यान रोटी में रमाते,
और जी हाँ की लगन में मौज मनमानो उड़ाते;
मनुज के आकार में वे, जिन्दगी पशु की बिताते।

चाह से जो राह मिलती राह वह सच्ची नहीं है,
आह से है जो निकलती वाह के लायक वही है;
दाह की चिनगारियों में, तुहिन का जो स्पर्श पाते।

११

कामना जो शेष है,
वह दुःख का आदेश है।
चित्त में आवेश है,
वह क्लेश का सन्देश है।

भावना में क्रोध है,
वह मौत का अनुरोध है।
वृत्तियों मे मान है,
वह पाप का वरदान है।

हृदय मे जो दम्भ है,
वह तुच्छता का स्तम्भ है।
उभरता जो लोभ है,
वह चेतना का क्षोभ है।

वासना का वास है,
वह स्वच्छता का नाश है।
फूल क्या यह शूल है,
यह मूल मे ही भूल है।

१२

मेरे देव!
मैं तुम्हारी पूजा इसलिए नहीं करता
कि तुम बहुत बड़े हो
किन्तु इसलिए करता हूं
कि तुम मुझ तक पहुंचते हो

मैं उस हिमालय की पूजा करता हूं
जो गंगा के आकार में
प्रवाहित होता है
और मुझ तक पहुंचता है

मेरे मन में कोई उत्साह नहीं है
उस 'सुमेरु' की पूजा करने के लिए
भले फिर वह सबसे ऊँचा हो
सोने का हो
धूप और छाँह की भांति
मेरी और उसकी दूरी
कभी नहीं पटेगी

मैं उस सूरज की पूजा करता हूं
जो प्रकाश का देवता बन
प्रवाहित होता है
और मुझ तक पहुँचता है

मेरे मन में कोई उत्साह नहीं है
उस स्वर्ग की पूजा करने के लिए
भले फिर वह
हजारों सूर्यों से
अधिक तेजस्वी हो

समानान्तर रेखा की भाँति
मैं और वह
कभी नहीं मिलेंगे

मैं उस खारे समुद्र की पूजा करता हूँ
जो जल का देवता बन
आकाश में झूमता है
और मुझ तक पहुँचता है
मेरे मन में कोई उत्साह नहीं है
उस 'क्षीर समुद्र' की पूजा करने के लिए
भले फिर वह
दूध से भरा हो
मीठा हो।
तीन और छ की भाँति
मेरी और उसकी दिशा
कभी एक नहीं होगी

मैं उस 'नीम' की पूजा करता हूँ
जो हवा के रथ पर
बैठ घूमता है
और मुझ तक पहुँचता है
मेरे मन में कोई उत्साह नहीं है
उस कल्पवृक्ष की पूजा करने के लिए
भले फिर वह
सब कुछ देने वाला हो
जीवन और मौत की भाँति
मेरी और उसकी दूरी
कभी नहीं पटेगी

मेरे देव।
मैं तुम्हारी पूजा इसलिए नहीं करता
कि तुम बहुत बड़े हो
किन्तु इसलिए करता हूँ कि
तुम मुझ तक पहुँचते हो।

१३

आज का आदमी
प्रताप से इतना घबराता है
कि उसके मकान की
सारी खिड़कियाँ और
सारे दरवाजे बन्द हैं
वह कोरा प्रकाश चाहता है
प्रताप बिलकुल नहीं
इसीलिए
बिजली के प्रकाश में
बैठा-बैठा
वह लिख रहा है
मध्यकालीन
सामन्तशाही का इतिहास
वह प्रमाणित करना चाहता है
कि उस युग की जनता को
मिला था
कोरा प्रताप
प्रकाश बिलकुल नहीं
और वह
प्रस्थापित करना चाहता है
कि सारी खिड़कियाँ
और सारे दरवाजे बन्द कर
बिजली जला लेना ही
इस समस्या का
समाधान है

१४

कलाकार!
तुम्हारी कला में कोई चमत्कार नहीं है
क्योंकि तुम बाँधना नहीं जानते
कितना चतुर है वह कलाकार
जो अपने चारों ओर डोरियाँ डालता है
और मानता है कि यह कारा नहीं है
और वह दुनिया को यह समझाना जानता है कि
जो आकाश में चमकता है वह तारा नहीं है

कलाकार!
तुम्हारी कला में कोई चमत्कार नहीं है
क्योंकि तुम परछाइयाँ डालना नहीं जानते
कितना चतुर है वह कलाकार
जो पहले क्षण परछाइयाँ डालता है
और दूसरे क्षण भूल जाता है कि यह भूल नहीं है
और वह दुनिया को यह समझाना भी जानता है कि
यह भूल नहीं है
असली फूल भीत पर है
जो पेड़ पर है, वह फूल नहीं है।

१५

तुम्हारे अस्तित्व के प्रति
मेरे मन मे बहुत श्रद्धा का भाव है
क्योंकि उनसे मिला है मुझे
प्रकाश
विश्वास
श्वास ।

मैं श्वास का पुजारी हूं
वह विश्वास देता है
उसमे से निकलता है प्रकाश
इस प्रकाश ने मुझे विश्वास दिया है
कि 'मैं हूं'
और केवल 'हूं'।

१६

आदमी आदमी को इसलिए नहीं पहचानता कि
वह उससे कभी मिला ही नहीं

इन दोनों के बीच
वर्ण, जाति और सम्प्रदाय की दीवारें
इतनी बडी खड़ी हे कि
पत्थर पर फूल कभी खिला ही नहीं

यह दीवारों की शृंखला
उसके विकास का मानदण्ड है
इसीलिए वह हाथ मे तलवार लिए खड़ा है
उसकी सुरक्षा के लिए
वस्त्र फटता जा रहा है, कभी सिला ही नहीं

दीवार को तोड़ कोई
इस ओर आ नहीं जाए
उसकी सभ्यता और संस्कृति पर
कोई छा नहीं जाए
इसी डर से वह
तलवार को आकाश मे उछाल रहा है
सूखा ठूँठ कभी छिला ही नहीं।

यदि ये दीवारें टूट जातीं तो
आदमी की दृष्टि अपने आप फिर जाती
यदि ये दीवारें टूट जातीं तो
आदमी के हाथ से तलवार
अपने आप गिर जाती
पर मुसीबत है कि
उनकी नींव का पत्थर कभी हिला ही नहीं।

१७

मैं जब-जब इन गगनचुम्बी किलो को देखता हूँ
तब मेरी आँखों के सामने
यह ध्रुव सत्य नाचने लग जाता है कि
वर्तमान हर अतीत को निरर्थक साबित कर देता है
चार शताब्दी पूर्व
इन किलों का कितना बडा अर्थ था
किन्तु इस हवाई जहाज के जमाने मे
वे वैसे ही निरर्थक हो गए हैं
जैसे जनतंत्र के जमाने में राजा।

१८

'तुम महाग्रंथ हो
मैंने तुम्हारे कई अर्थ लगाए
पर वह अर्थ नहीं लगा
जो मूल है
इसीलिए यह अनुभव किया
'शब्द-जाल मे फँसना
बहुत बड़ी भूल है।'

१९

पुराने वस्त्र को
सम्मान दिया जा सकता है
पर ओढ़ा नहीं जा सकता
ओढ़ा वही जाएगा
जो बचा सकता है
सर्दी से
धूप से
वर्षा से
आँधी से

फूल को चाहिए कि
वह फली को
स्थान दे
फली को चाहिए कि
वह फूल को सम्मान दे
पतझड़ को रोका नहीं जा सकता
कोंपल को टोका नहीं जा सकता।

२०

अग्नि जलती है,
पर इसलिए नहीं कि
पतंगा उसमें गिर
जल जाए
वह जलती है
इसलिए कि
उसे देख
हर कोई सम्हल जाए

अग्नि जलती है
पर इसलिए नहीं कि
नवनीत
उसके पास आ
पिघल जाए
वह जलती है
इसलिए कि
सुकुमार को
जड़ता न
छल जाए।

अग्नि जलती है
पर इसलिए नहीं कि
वह सब कुछ निगल जाए
वह जलती है
इसलिए कि
चैतन्य में से
धुआँ निकल जाए

अग्नि जलती है
पर इसलिए नहीं कि
पानी भी उबल जाए
वह जलती है
इसलिए कि
जल
जलन बन
आँखों मे से
ढल जाए।

२१

गंगा, यमुना, सिन्धु, सतलज
और भी बहुत सारी नदियाँ
सबको शिकायत है—
"आज का वैज्ञानिक
हमारी परम्पराएँ तोड़ रहा है,
हमारे पुराने प्रवाह को बाँध
अन्य दिशा में मोड़ रहा है"
वैज्ञानिक ने इसे नकारा
और बड़ी विनम्रता के साथ
सिर्फ इतना ही कहा कि
वह उन्हीं के हित मे दौड़ रहा है
उन्हें सही दिशा मे मोड़ रहा है
कौन सही है और कौन गलत
इसका निर्णय अगली पीढी पर छोड़
प्रणाम की मुद्रा मे हाथ जोड़ रहा है
हज़ारों-हजारों मजदूर लगे
बाँध बन गया
वर्षा हुई
जल बह चला
नदी का जल बाँध में गिरा,
भयंकर तुमुल
भयंकर प्रतिरोध
भयंकर प्रतिक्रिया
और भयंकर उछल-कूद
वातावरण की शान्ति भंग हो उठी
आस-पास खड़े शान्तिप्रिय लोग चिल्ला उठे
यह सब क्यों ?
नई सीमाओं पर होने लगे
आघात-प्रतिघात
तट पर खड़ा वैज्ञानिक भी
एक क्षण के लिए काँप उठा
किन्तु उसे विश्वास था
अपने दूरगामी प्रकाश पर
और चिर अर्जित हस्त-कौशल पर
इसीलिए वह विश्वास के साथ
तट पर खड़ा रहा
अगले वर्ष
नदी का नया प्रवाह आया
उसने देखा
लहलहाते खेतों को
और
जगमगाते घरों को
तो वह बोल उठा—
'वैज्ञानिक। शाबाश।'

२२

मेरे भगवान् !
हजारों वर्ष बीत गए
हाँ और ना के बीच में झूलता हुआ तुम्हारा अस्तित्व
आज भी प्रश्नचिह्न बना हुआ है

मेरे भगवान् !
तर्क और अनुमान की संधि से मुक्त होकर
क्या मैं कह सकता हूँ कि तुम हो ?
तर्क और अनुमान के धरातल से ऊपर उठकर
क्या मैं कह सकता हूँ कि तुम नहीं हो ?

मेरे भगवान् !
दीनता और दरिद्रता के सागर में डूबी हुई
तुम्हारी भक्त-मण्डली को देख
क्या मैं कह सकता हूँ कि तुम दयालु हो ?
तुम्हारी सृष्टि की दुर्व्यवस्था देख
मैं नहीं कह सकता कि तुम कुशल कारीगर हो ?

मेरे भगवान् !
मैं सच कहता हूँ
यदि मैं भगवान् होता
तो इस धरती पर एक भी आदमी दुःखी नहीं होता
क्या सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् प्रभु
सृष्टि इसलिए रचता है कि
उसकी सर्वश्रेष्ठ कृति
गरीबी की आँच में तिल-तिल कर जलती रहे ?

मेरे भगवान !
मैं सच कहता हूँ
यदि मैं भगवान् होता
तो इस धरती पर एक भी आदमी बुद्धिमान् नहीं होता
क्या सर्वव्यापी प्रभु
सृष्टि इसलिए रचता है कि
बुद्धिमान् बुद्धिहीन का शोषण करता रहे ?

मेरे भगवान् !
मैं सच कहता हूँ
यदि मैं भगवान् होता
तो किसी को पेट नहीं देता
क्या अन्तर्यामी प्रभु
सृष्टि इसलिए रचता है कि
उसको आकार देने वाला आदमी
पेट के गड्ढे को भरने के लिए
सब कुछ सहता रहे ?

मेरे भगवान् !
क्या तुम्हें दया नहीं आती ?
गोरा आदमी काले को सता रहा है
आदमी आदमी को अछूत मान
उसे छूने से घबरा रहा है
घृणा और विषाद से भरी हुई सृष्टि
यदि न रची जाती
तो क्या नुकसान होता ?
ये नाम और रूप नहीं रचे जाते,
यही रोग का सही निदान होता।

मेरे भगवान् !
पुरुषार्थ ने पैर आगे बढ़ाए
उसका श्रेय तुम्हारे चरणों में अर्पित करूँ
और मेरी विफलता का कम्बल
मेरी अल्पता को ओढ़ाए फिरूँ
क्या यह तुम्हारे तर्कसिद्ध अस्तित्व पर
तर्क का तीखा व्यंग्य नहीं होगा ?

मेरे भगवान् !
मैं तुम्हारी पूजा इसलिए नहीं करता हूं कि
तुम मेरे भाग्य के लिपिकार हो
किन्तु इसलिए करता हूं कि
तुम मेरी परिभाषा की कारा के बन्दी हो

मेरे भगवान् !
जो न हो वह अच्छी बात है
पर होकर अच्छा न हो
वह बहुत बुरी बात है
तेरी सृष्टि में मैंने देखा
कहीं पूरा का पूरा दिन
और कहीं पूरी की पूरी रात है।

२३

'मुझे और कुछ नहीं चाहिए
मेरे देव ! मुझे केवल यही चाहिए कि
मेरी सारी धरती सोने की हो जाए'
देवता ने मधुर मुस्कान भरते हुए कहा —
'यह किसलिए ?'
'इसलिए मेरे देव ! कि
प्रजा सुखी हो जाए
किसान को बीज बोना न पड़े
मजदूर को भार ढोना न पड़े
सबको आराम हो जाए
मेरे देव ! मुझे केवल यही चाहिए कि
मेरी सारी धरती सोने की हो जाए'
देवता आखिर देवता ही था
वह मनुष्य की समस्या को क्या जाने ?
उसने वर दे दिया
और सारी धरती सोने की हो गई
राजा नाच उठा अपनी सफलता पर
गली-गली और चप्पे-चप्पे में
जहाँ देखो वहीं सोना-ही-सोना।
सोना इतना सस्ता हो गया कि
अब सोना, सोना ही नहीं रहा।

बरसात हुई
और किसान गए बीज बोने
पर कहाँ बोएँ,
चारों ओर सोने की धरती थी।
अन्न-भण्डार पूरा हो गया,
हाहाकार होने लगा।
लोग भूख से तड़पने लगे।
सूझ नहीं रहा था कि अब वे क्या करें ?
सोने के लिए मरें
या जीने के लिए सोने से डरें।
राजा की आँखें खुलीं
उसने यथार्थ की आँखों से देखा
'सोना ही सब कुछ नहीं है।'
वह दौड़ा और अपने देवता के द्वार पर पहुँचा,
सिर झुका, प्रार्थना करने लगा
'मेरे देव ! मुझे और कुछ नहीं चाहिए
मुझे केवल यही चाहिए कि
मेरी सारी धरती मिट्टी की हो जाए।'
देवता ने फिर मधुर मुस्कान भरी
और पूछा—'यह किसलिए ?'
'इसलिए मेरे देव !
प्रजा सुखी हो जाए
किसान बीज बोए
मजदूर भार ढोए
सब काम करें
और अपना पेट भरें
आराम कोई न करे।
मेरे देव ! मुझे यही चाहिए कि
मेरी सारी धरती मिट्टी की हो जाए।'

२४

कोई जमाना था
जब भक्त भगवान् के सहारे
चलते थे
कोई जमाना था
जब भक्त भगवान् के सहारे
पलते थे
यह कोई विचित्र ही जमाना है
जब भगवान् भक्त के सहारे चलते है
यह कोई विचित्र ही जमाना है
जब भगवान् भक्त के सहारे पलते है
कोई जमाना था
जब भक्तों को भगवान् नहीं मिलते थे
कोई जमाना था
जब भक्त भगवान् का नाम सुन खिलते थे
यह कोई विचित्र ही जमाना है
जब भगवान् को भक्त नहीं मिल रहे हैं
जब भगवान् भक्त का नाम सुन खिल रहे हैं
कोई जमाना था
जब फूलों को पौधे नहीं मिल रहे थे।
यह कोई विचित्र ही जमाना है
जब पौधे बहुत हैं
पर फूल नहीं खिल रहे है
कोई जमाना था
जब दिल बहुत पर पैसे कम थे
यह कोई विचित्र ही जमाना है
जब पैसे बहुत हैं
पर दिल नहीं मिल रहे हैं।

२५

एक था तपस्वी
बरसों तक तप तपा।
जटा बढ़ गई,
तप पूरा हुआ।

कंघी लेकर बैठा
बालों को सुलझाने।
कंघी टूट गई
बाल नहीं सुलझे।

कई कंघियाँ जीवन-लीला समाप्त कर चुकी
पर बाल नहीं सुलझे।
पास मे खड़ा भक्त बोल उठा—
महाराज!
यह जीवन की जटा है,
कंघी से नहीं सुलझेगी
यह सुलझेगी उस्तरे से।

२६

चौरास्ते पर खड़े हो कर देखो,
इस दुनियाँ के आँचल मे
एक-जैसा कौन रह पाता है ?

हर नए मोड़ पर
दीप जलता है
और हर नए मोड़ पर
दीप बुझता है।

जलाने की अपेक्षा मान
दीप क्यों रुष्ट हो ?
बुझाने की उपेक्षा मान
दीप क्यों रुष्ट हो ?

प्रकाश देने वाला
केवल जलाया ही नहीं जाता,
बुझाया भी जाता है।

२७

हर समय भगवान को
जगाया ही नहीं जाता
सुलाया भी जाता है।

शरद की पूनम का चाँद
अमृत ही नहीं बरसाता
जहर भी उगलता है।

क्रोध के सिर पर पैर रख
मनुष्य ही नहीं उछलता,
अग्नि पर चढ़कर
जल भी उबलता है।
जीवन-सुधा का निर्झर है
और हलाहल जहर का प्याला भी।

मिट्टी के खिलौने को
केवल बनाया ही नहीं जाता
मिटाया भी जाता है।

२८

गिरगिट !
तुम्हारी बूढ़ी राजनीति
आज फिर जवान हो गई
दलबदलू राजनीतिज्ञों के सहारे
फिर अपने पैरों पर खड़ी हो गई।

तुम पराजित हो चुके हो
रंग बदलने की प्रतियोगिता मे।
नियति ने बाँध दिया है
विजय का सेहरा
दलबदलू-राजनीतिक के सिर पर।

२६

अतीत के सागर में,
एक छोटा सा द्वीप।
भविष्य की तमिस्रा में
एक छोटा-सा दीप।

अतीत और भविष्य की
अन्तहीन पगडण्डियों के बीच
एक इञ्च का राजपथ।
स्मृति और कल्पना के
विशाल परों से
यथार्थ के आकाश मे
उड़ने वाला
छोटा-सा पंछी।

३०

आश्वासन के
पन्नों से भरे घड़ों मे
बुलबुलाते राजनीति के स्वर
जेठ की लू मे
बिकते जा रहे है
सदर बाजार मे।

हर वर्ष आता है जेठ
और चलती है लू
और हर वर्ष बिकते है
आश्वासन के पन्ने।

इससे आगे का रास्ता
या तो किसी को ज्ञात नहीं है
या सब है दिग्भ्रान्त।

क्या यह नहीं हो सकता कि
जेठ नहीं आए
वह आए भी तो
लू न चले।
और वह चलने लगे तो
तत्काल
श्रम की बूँदें
समेट ले उसे
अपनी बाहों मे।

३१

बहुत से क्या ?
एक चिनगारी चाहिए,
फिर कोयले स्वयं जगमगा उठेंगे।

बहुत से क्या ?
एक बीज चाहिए,
शाखाएँ स्वयं निकल आएँगी,
फूल स्वयं रस से भर जायेंगे।

बहुत से क्या ?
पवन की एक हिलोर चाहिए,
फिर अन्धकार स्वयं प्रकाश बन जाएगा

बहुत से क्या ?
एक मनुष्य चाहिए,
फिर मनुष्यता स्वय निखर उठेगी।

आशुकवित्वम्

युवाचार्य महाप्रज्ञ

१ : आवर्त

आवर्त एकः पयसा बिभाति,
भ्राम्यन् स्वयं भ्रामयतेऽप्यशेषान्।
स्वसीम्नि यातान्नयतेऽपि निम्नं,
यच्चञ्चलाना रचितं विचित्रम् ॥१॥

एक आवर्त पानी का होता है। वह स्वयं घूमते हुए सभी को घुमाता है। वह अपनी सीमा मे आए हुए पदार्थ को नीचे ले जाता है। चंचल पदार्थ की प्रवृत्ति विचित्र होती है।

आवर्तमाना नयते तथोर्ध्वं,
सोपानवीथी मनुजान् क्रमेण।
लक्ष्य स्थिरं प्राप्य जनस्तदन्त,
गच्छेद् गति यः कुरुते तदर्हाम् ।२॥

दूसरा आवर्त घूमती हुई सोपान-वीथिका है। वह मनुष्यो को ऊपर ले जाती है। जो मनुष्य उसके साथ-साथ घूमता है वह अपने स्थिर लक्ष्य को पाकर, उससे छुटकारा पा लेता है।

तृतीय एषोऽस्ति च भावनाया,
ऊर्ध्वंगतः कर्षति लोकमुच्चैः।
स्वभाव ऊर्ध्वंगमिनामसौ हि,
निम्नान् जनानुन्नयते स्वतोऽपि ॥३॥

तीसरा आवर्त होता है भावना का। ऊंची भावना का आवर्त मनुष्यो को ऊंचा ले जाता है। ऊपर जाने वालो का यही स्वभाव होता है कि वे स्वयं ऊपर जाते हुए दूसते मनुष्यो को भी ऊपर ले जाते है।

[वि० सं० २०११ बम्बई चातुर्मास – अमेरिकन लेखक वुडलैण्ड केलर द्वारा प्रदत्त विषय Revolving Stairs (आवर्त)]

२ : विद्वत्सभा

डॉ० के० एन० वाटवे, एम० ए०, पी-एच डी०, संस्कृत-विभागाध्यक्ष, एस० पी० कॉलेज, पूना, ने आशु-कवित्व के लिए विषय देते हुए यह श्लोक कहा—

मिलिताः पण्डिता सर्वे,
काव्यस्य श्रवणेच्छया ।
अतो हि काव्यमाश्रित्य
वर्ण्यतां विदुषा सभा ॥

सभी पंडित काव्य सुनने की इच्छा से यहाँ एकत्रित हुए हैं । इसलिए आप (मुनिश्री) 'विद्वत्सभा' इस विषय पर आशुकवित्व करें ।

विषयपूर्ति—

स्वातन्त्र्यं यज्जन्मसिद्धोऽधिकारः,
येषां नादः सर्वथा श्रूयमाणः ।
तेषां नाम्ना मंदिरं विद्यमानं,
विद्वद्वर्या अत्र सर्वे प्रभूता ॥१॥

जिस महामनीषि ने यह नारा दिया था कि 'स्वतत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' और जो नाद आज सर्वत्र गूँज रहा है, उनकी नाम-स्मृति मे यह 'तिलक-विद्यापीठ' बना है । आज सभी पंडित यहाँ उपस्थित है ।

विलोक्य सर्वान् विदुषः प्रमोदे,
विराजमाना गुरवो ममातं ।
इतो विराजन्ति मुमुक्षवोऽमी,
साहित्यपाण्डित्यकलाप्रपूर्णाः ॥२॥

मैं विद्वानों को देखकर परम प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ । एक ओर मेरे गुरुदेव आचार्य तुलसी विराजमान हैं और इधर साहित्य के विद्वान और कला मे निपुण ये मुमुक्षु बैठे हुए है ।

ये ये विचारा मनसोद्भवन्ति,
ज्ञातास्तथा ज्ञाततमा लसन्ति ।
आविष्करोमि प्रसनाश्च तांस्तान्,
ज्ञेयः ससीमः समयो ममास्ति ॥३॥

जो विचार मन में उत्पन्न हो रहे है, वे ज्ञात और सुज्ञात है । फिर भी मैं प्रसन्न-मन से उन्हें अभिव्यक्त करता हूँ । मेरे बोलने का समय ससीम है, यह सब जान लें ।

नाहं क्वचित् काश्चन वेद्मि विद्वान्,
न तेऽपि जानन्तितमां च मां च।
पूर्वोऽयमेवास्ति समागमोऽत्र,
परं प्रमोदोस्ति महान् समन्तात् ।।४।।

, यहाँ उपस्थित किसी विद्वान् को मैं नहीं जानता और न कोई विद्वान् मुझे पहचानता है। यह हमारा पहला ही समागम है, फिर भी चारो ओर हर्ष का वातावरण है।

येषा विचाराः प्रकृतिप्रसन्नाः,
सद्भावना स्फूर्तिमती विभाति।
श्रोतुं विचारान् यतिनां वरेण्यान्,
समागतांस्तान्न विदन् प्रवेद्मि ।।५।।

जिनके विचार स्वभावत निर्मल और स्पष्ट है, जिनकी सद्भावना स्फूर्तिमती है, जो मुनियों के वरेण्य विचार सुनने के लिए समागत है, उन्हें न जानता हुआ भी अच्छी तरह से जानता हूँ।

प्रमोदराशिर्नयने निमग्नो,
विलोक्यते तत्त्वमिदं महत्तत्।
अप्रेम्णि ये प्रेम सभाजयन्ति,
ते पण्डिता एव न संशयोऽत्र ।।६।।

सब की आँखो मे प्रमोद भरा हुआ दीखता है, यह यहाँ की मुख्य बात है। जो व्यक्ति अप्रेम मे भी प्रेम का प्रभुत्व स्थापित करते है, वे सब पंडित होते हैं, इसमे कोई भी संशय नहीं है।

नाज्ञेषु शान्तिः स्थिरताप्रसक्ति,
शान्ता स्थिराः सन्ति समे यदेते।
विद्वत्सभेयं लसतेऽत्र रम्या,
सर्वेऽपि विद्वांस इति ब्रवीमि।७।।

अज्ञ व्यक्तियो मे शान्ति और स्थिरता नही होती। यहाँ शाति और स्थिरता दोनो हैं, अत. यह विद्वत्-सभा अत्यंत रमणीय है और यहाँ उपस्थित सभी व्यक्ति विद्वान् है, ऐसा मैं कहता हूँ।

(तिलक-विद्यापीठ, पूना, २६-२-५५)

३ : घटीयन्त्रम्

वाग्वर्धिनी सभा पूना—वि० सं० २०११ फाल्गुन शुक्ला ६ (२६-२-५५) डॉ० के० एन० वाटवे, एम० ए०, पी-एच० डी० ने आशुकवित्व के लिए विषय देते हुए निम्न श्लोक कहा—

समयज्ञापकं नित्यं,
नव्यानां हस्तभूषणम् ।
स्रग्धरावृत्तमालम्ब्य,
घटीयन्त्रं हि वर्ण्यताम् ॥

'जो सदा समय बताती है, जो नौजवानों के हाथ का आभूषण बनी हुई है, उस घडी का स्रग्धरा छन्द मे वर्णन करें ।'

विषयपूर्ति—

यद्वा ज्ञातं पुराणैर्निखिलऋषिवरैर्व्योमवीक्ष्यापि काल,
ज्ञातास्तज्ज्ञायते वा प्रकृतिविवशता साम्प्रतं वर्धमाना ।
स्वातन्त्र्यस्य प्रणादो बहुजनमुखग किन्तु नो कायरूपे,
हस्ते बध्वा घटीस्ता भवति च मनुजश्चित्रमासामधीनः ॥१॥

प्राचीन ऋषि-मुनियों ने आकाश को देखकर काल का ज्ञान किया था । किन्तु आज बढती हुई प्रकृति की विवशता स्पष्ट ज्ञात है या ज्ञात हो सकती है । वर्तमान में स्वतन्त्रता का स्वर जन-जन के मुख पर है, किन्तु वह कार्यरूप मे परिणत नहीं है । आश्चर्य है कि मनुष्य हाथ पर घडी बाँध कर, उसके अधीन हो रहा है ।

चक्षुर्यद् वान्तरालं स्फुरितमपि भवेत्तन्न यंत्रस्य चेष्टा,
विज्ञा पश्यन्तु सर्वे वहमिह सुनयः कस्य हस्तेऽस्ति यंत्रम् ?
चक्षुष्मानत्र बुद्धो भरतजनपदे स्वात्मना स्वं प्रपश्येत्,
बाह्ये दृष्टिं वितन्वन् बहिरपि सुदृश ! स्यात्पराधीनचेता ॥२॥

अन्तराल मे चक्षु फुर जाता है, वह कोई यन्त्र की चेष्टा नहीं मानी जाती । सारे विद्वान् यह देखें कि हम मुनियों के हाथ मे कौन-सा यन्त्र है ? भारत में उसे ही चक्षुमान् माना है जो अपनी आत्मा से अपने-आप को देखता है । चक्षुमान् विज्ञानो । बाहर की ओर झाँकने वाले का चित्त बाह्य वस्तुओ के अधीन हो जाता है ।

लोकोऽयं नाम चित्रो भवति च सततं नात्र सन्देहलेश,
शृङ्गारार्थं प्रयत्नो भवति नवनवो ज्ञानमेतत् प्रसिद्धम् ।
स्त्रीणां हस्ते हि दृष्टा भवति च मनुजैः साप्यलंकाररीतिः,
यद्वा व्याजेन लब्धा व्रजति च किमसौ साम्प्रतं स्त्रित्वमेतुम् ॥३॥

इसमे कोई सन्देह का अंश भी नही है कि यह मनुष्य बहुत विचित्र है। यहाँ शृंगार के लिए नए-नए प्रयत्न होते है—यह सब को ज्ञात है। स्त्रियो के हाथ शृंगारित होते है, किन्तु मनुष्यो ने भी घडी के मिष से हाथ को अलंकृत किया है। इससे यह आशंका होती है कि क्या पुरुष स्त्रीत्व की ओर जा रहा है ?

लोकोऽयं जायमानो नहि नहि विदुषा विस्मयः कोऽपि कार्यः,
स्त्रीत्वे पुंस्त्वं कदाचिद् भवति दृशिगतं पुंस्त्वमेवापि तत्त्वे।
कालोऽसीमो विभाति प्रकृतिविलसितो यद्रुचिश्चापि चित्रा,
बुद्धेर्भेदोऽपि जातस्तदघटितघटा मन्यतामत्र सत्या ॥४॥

'स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री बनना'—यह होता है। इसमे किसी विद्वान् को विस्मित नहीं होना चाहिए। काल असीम है। यह प्राकृतिक है। लोगो की रुचि भी भिन्न-भिन्न है। बुद्धि का तारतम्य भी है, इसलिए किसी भी अघटित घटना को सत्य माना जा सकता है।

४ : संस्कृतभाषाया विरोधः

डॉ० के० एन० वाटवे, एम० ए०, पी-एच० डी०, संस्कृत-विभागाध्यक्ष, एस० पी० कालेज, पूना ने आशु-कवित्व के लिए विषय देते हुए यह श्लोक कहा—

यत्र संस्कृतभाषाया, विरोधो दृश्यते क्वचित्।
तमेवाश्रित्य विषयं, काव्यमत्र विरच्यताम् ॥

'कहीं-कहीं संस्कृत भाषा का विरोध किया जाता है।' मुने। आप इसी विषय को आधार बनाकर काव्य-रचना करें।

विषयपूर्ति

यस्या महत्तत्वमहो विभाति,
स्वाध्यात्मिकी येन गतिः प्रवृद्धा।
विकासमार्गो विशदो यतः स्यात्,
तथापि लोकैः क्रियते विरोधः ॥१॥

जिस भाषा के साहित्य मे महान् तत्त्व है, जिसने अपनी आध्यात्मिक गति को वेग दिया है, जिसके आश्रयण से विकास-मार्ग विशद हो जाता है, फिर भी लोग उसका विरोध करते है।

तत्रापि तथ्यं वरिवर्त्ति किञ्चित्,
न संस्कृतस्यास्ति मुधा विरोधः।
यत् संस्कृतज्ञा हि पुराणचित्ताः,
तद् यत्र तत्राग्रहमाश्रयन्ति ॥२॥

इनके विरोध मे भी कुछ तथ्य है। वे संस्कृत का व्यर्थ ही विरोध नहीं करते। संस्कृतज्ञ व्यक्ति पुराने विचारों के होते हैं। वे यत्र-तत्र आग्रह कर बैठते है।

सारं यथा नाम पुरातनेषु,
तथा नवीनेष्वपि गृह्यते चेत्।
भाषाविरोधः स्वमेव नाशं,
नूतं नयेन्नात्र विमर्शणीयम् ॥३॥

जिस प्रकार प्राचीनता मे सारा-तत्त्व है वैसे ही यदि नवीनता मे सार-तत्त्व मान लिया जाए तो भाषा का विरोध स्वयं नष्ट हो जाता है। इसमें कुछ भी विचारणीय नहीं है।

सर्वत्र तत्त्वस्य भवेद् विरोधः,
तत्र प्रमोदो विदुषां हि मान्य।
विरोधतस्तत्त्वमुपासनीयं,
न नाम भीतिश्च ततो विधेया ॥४॥

जहाँ सत्-तत्त्व का विरोध होता है, वहाँ विद्वान् व्यक्ति प्रमुदित होते है। क्योंकि विरोध से तत्त्व के प्रति उपासना बढ़ती है। वहाँ भय नहीं खाना चाहिए।

(तिलक-विद्यापीठ, पूना —२६-२-५५)

५ : मृतभाषा

वाग्वर्धिनी सभा, पूना—वि० सं० २०११ फाल्गुन शुक्ला ६, आर० एम० धर्माधिकारी द्वारा प्रदत्त विषय—

भाषा मृतेति प्रवदन्ति केचिद्,
गिर्वाणवाणी गुणभूषिताऽपि।
मुनीन्द्र! तत्त्वं कथयस्व नूनं,
कथं पुनर्वैभवशालिनी स्यात् ॥

"गीर्वाणवाणी (संस्कृत-भाषा) गुणों से भूषित है। फिर भी कुछेक व्यक्ति उसे मृत भाषा मानते हैं। मुनीन्द्र! आप यह बताएं कि यह भाषा पुन वैभवशालिनी कैसे हो?"

विषयपूर्ति—

भाषा कदाचिन्न मृताऽमृता स्याद्,
भाषाज्ञ एवापि मृतोऽमृत स्यात्।
भाषामुपादाय जनाश्चलन्ति,
तेषां गतिः स्याच्च समीक्षणीया ॥१॥

भाषा कभी भी मृत या अ-मृत नहीं होती। भाषाविद् ही मृत या अ-मृत होता है। लोग भाषा को लेकर चलते है। उनकी गति ही समीक्षणीय है।

भाषाविदां जीवनमस्ति नव्यं,
भाषा स्वयं स्फूर्तिमियर्ति नव्याम्।
भाषाविदां चेज्जडता प्रसूता,
भाषाऽपि मृत्युं लभते तदत्र ॥२॥

भाषाविदो का जीवन यदि नया होता है तो भाषा भी नई स्फूर्ति को प्राप्त होती है। यदि भाषाविदों का जीवन जड होता है तो भाषा मर जाती है।

भाषाविकासं स्पृहयन्ति ये ये,
ते ते सचेष्टाः सरसा भवन्तु।
भाषाविदां वृद्धिगते महिम्नि,
भाषा स्वयं गौरवशालिनी स्यात् ॥३॥

जो-जो व्यक्ति भाषा का विकास चाहते है, वे सरस और सचेष्ट हों। भाषाविदो की महिमा बढने पर भाषा स्वयं गौरवशालिनी हो जाएगी।

६ : हिंसा-अहिंसा

हिंसाप्लुतं मानसमस्ति सर्वं,
कीटो मृतस्तत्र मनःप्रहर्षः।
वीरत्व बुद्धिर्लभते प्रवृत्ति,
न नाम कष्टानुभवोऽस्ति किञ्चित् ॥१॥

सारा मन हिंसा से व्याप्त है। कोई कीट मरता है तो मन मे हर्ष होता है, और अपने आप में वीरता की बुद्धि पैदा होती है। कष्ट का तनिक भी अनुभव नहीं होता।

मनोप्यहिंसाविहितं पवित्रं,
कीटो मृतस्तत्र भवेत्स्वबुद्धिः ।
नान्योऽसुमान् कोऽपि मृतोऽस्ति किन्तु,
ममैव कश्चिद् निजकोस्ति लुप्तः ॥७॥

मन यदि अहिंसा से पवित्र है, तो कोई कीट मरने पर उसके प्रति 'स्व' की बुद्धि पैदा होती है। वह सोचता है—कोई अन्य प्राणी नहीं मरा है किन्तु मेरा ही कोई स्वजन मरा है।

(हिन्दी-विद्यापीठ — प्रयाग)

७ : अणुत्वं कथं स्यात् ?

स्वाभाविकी स्यादणुता जनानां,
वैभाविकीयं गुरुता विभाति ।
बन्धो जनानां विगतो यदा स्यात्,
मुक्तः स्वयं स्यादणुरेप आत्मा ॥१॥

प्राणियों के लिए अणुता स्वाभाविक है और गुरुता वैभाविक। जब प्राणी बन्धन-मुक्त हो जाता है, तब अणु-आत्मा मुक्त हो जाती है।

लघुः सदा स्यादणुरत्र लोके,
विनम्र एवापि लघुर्भवेच्च ।
विनम्र एव प्रविशेद् मनस्सु,
न वा गुरोः स्यात् सुलभोऽवकाशः ॥२॥

अणु लघु होता है और जो विनम्र होता है वह भी लघु होता है। जो विनम्र होता है वही मन में प्रवेश पा सकता है। गुरु (भारी) वहाँ स्थान नहीं पा सकता।

गुरुत्वमेवाणुगतं निसर्गे,
यद् वा गुरौ वाप्यणुता निविष्टा ।
न सर्वथा कोऽपि गुरुर्न वास्ति,
स्यात् सर्वथा सूक्ष्म इति प्रतीतम् ॥३॥

स्वाभाविक रूप में अणुता में गुरुत्व है और गुरुत्व में अणुता है। कोई सर्वथा गुरु अथवा सर्वथा अणु (सूक्ष्म) नहीं होता।

(वि० सं० २०१५ मृग० शु० २—मैत्री-आश्रम के अधिष्ठाता प्रभुदत्त ब्रह्मचारी द्वारा प्रदत्त विषय)

८ : राष्ट्रसंघ

एको बहुस्यामिति भावनाद्या,
संघप्रवृत्तिर्मनुजेषु जाता ।
बहुप्रकाराः प्रचलन्ति संघाः,
स्याद् राष्ट्रसंघोऽपि महांश्च तत्र ॥१॥

'मैं अकेला हूँ, बहुत हो जाऊँ'—यह भावना आदिकाल से रही। इसी भावना ने संबद्धता को जन्म दिया। आज अनेक प्रकार के संघ विद्यमान है। उनमे 'राष्ट्रसंघ' एक महान् संघ है।

राष्ट्राणि सर्वाणि च तत्र काश्चित्,
प्राप्य स्थितिं वादमुदीरयन्ति ।
रक्षां निजस्याधिकृतेर्विधातुं,
स्वातन्त्र्यमर्हन्ति गतावकाशाः ॥२॥

सारे राष्ट्र वहाँ प्रतिनिधित्व प्राप्त कर कोई-न-कोई चिंतन करते रहते है। अपनी प्रभुसत्ता की रक्षा करने के लिए सभी स्वतंत्र है और उसके लिए सबको उचित अवसर प्राप्त है।

परन्तु तत्र स्थितिरस्ति चित्रा,
चीनस्य तुल्यं सुमहच्च राष्ट्रम् ।
सदस्यतां न व्रजति प्रतीतं,
किं राष्ट्रसंघोऽस्ति विडम्बना वा ॥३॥

किन्तु वहाँ की एक विचित्र स्थिति है। चीन-जैसा विशाल राष्ट्र उसका सदस्य नहीं बन सका है। क्या यह राष्ट्रसंघ है या कोई विडम्बना ?

यस्मिन् मनुष्या अपरैर्मनुष्यै-
र्घृणां विरोधं च मिथो वहन्ते ।
स राष्ट्रसंघो यदि साम्यधारां,
प्रवाहयेत् सार्थकतामुपेयात् ॥४॥

जहाँ मनुष्य दूसरे मनुष्यो के साथ घृणा और विरोध रखते है, वह राष्ट्रसंघ यदि समता की धारा को प्रवाहित करे तो उसके नाम की सार्थकता सिद्ध होगी।

(वि० स० २०१५ मृग० शु०, बनारस सस्कृत-महाविद्यालय)

९ : मणिशेखर चोर

सत्यं गुणानामिह मातृभूमि-
रसत्यमाधारशिलाऽगुणानाम् ।
सत्यस्य पूजा परमात्मपूजा,
सत्यात् परो नो परमेश्वरोऽस्ति ॥१॥

मुनि ने मणिशेखर से कहा—'सत्य गुणों की मातृभूमि है और असत्य अवगुणों की आधार-शिला। सत्य की पूजा परमात्मा की पूजा है। सत्य से बढ़कर कोई परम ईश्वर नहीं है।'

चौर्यं करिष्यामि मुने ! नितान्तं,
वक्ष्यामि सत्यं मनसापि वाचा ।
त्यक्तुं न चौर्यं प्रभवामि साधो !
वक्तुं परं सत्यमहं समर्थः ॥२॥

मणिशेखर ने मुनि से कहा—'मैं चोरी अवश्य करूँगा किन्तु मन और वाणी से सदा सत्य बोलूँगा। प्रभो ! मैं चोरी छोड़ नहीं सकता किन्तु सत्य बोलने में समर्थ हूँ।'

घोरा तमिस्रा सघनं तमिस्रं,
बन्धो ! कथं भ्राम्यसि रात्रिमध्ये ?
पृष्टो नृपेणाह स चोरमुख्यः,
चौर्यं विधातुं नृपसद्म यामि ॥३॥

एक दिन मणिशेखर चोरी करने निकला। रास्ते में परिवर्तित वेश में राजा मिला। राजा ने पूछा—'भाई ! रात अंधेरी है और अन्धकार भी सघन है। ऐसी रात में क्यों घूम रहे हो ?' चोर-सम्राट् मणिशेखर बोला—'मैं राजा के महल में चोरी करने जा रहा हूँ।'

चोरोऽपि सत्यं वदतीति राज्ञो,
न कल्पना चेतसि संबभूव ।
विधाय चौर्यं पुनरागतस्य,
प्रश्नस्तथैवोत्तरमत्र जातम् ॥४॥
चौर्यं कृतं क्वेति जगाद राजा,
प्रासादमध्ये नृपतेः स चाह ।
भ्रान्ताशयोऽसौ ग्रथिलोऽथवा स्यात्,
संचिन्त्य राजा स्वगृहं जगाम ॥५॥

चोर भी सत्य बोलता है—राजा को ऐसी कल्पना भी नहीं थी। चोर चोरी कर आ रहा था। राजा पुनः मिला। चोर से पूछा—'तुम कहाँ गए थे ?' चोर ने कहा—'चोरी करने गया था।' राजा ने फिर पूछा—'तुमने चोरी कहाँ की ?' चोर ने कहा—'राजा के महल में।' राजा ने यह सोचा—यह व्यक्ति या तो पागल है या विक्षिप्त है। राजा अपने स्थान पर आ गया।

जग्राह पेढायुगलं मणीना,
मेका च मंत्री स्वगतं चकार।
चोरो गृहीतः समुवाच सत्यं,
न सत्यमुक्तं सचिवेन किञ्चित् ॥६॥

मणिशेखर ने राजा के खजाने से रत्नो की दो डिबियाँ चुराई थी। प्रात काल चोरी की बात सुन, मन्त्री खजाने मे गया और वहाँ पर बची एक डिबिया को स्वयं घर ले गया। दूसरे दिन चोर पकड लिया गया। उसने राजा के समक्ष चोरी स्वीकार करते हुए कहा—"मैंने रत्नो की दो डिबियाँ चुराई है।' राजा ने कहा —'वहाँ तीन डिबियाँ थीं।' चोर ने कहा—'दो मैंने ली थीं और तीसरी वहाँ रख दी थी।' राजा ने मन्त्री से पूछा। मन्त्री ने सच नहीं कहा। राजा के मन मे सन्देह हुआ। खोज करने पर एक डिबिया मन्त्री के घर मिली।

चोरोऽपि सत्यं वदतीति राज्ञा,
व्यधायि सोऽमात्यवरः स्वराज्ये।
अमात्यवर्योऽपि वदन्नसत्यं,
कारागृहे वासमलचकार ॥७॥

'चोर भी सत्य बोलता है'—ऐसा सोचकर राजा ने मणिशेखर को अपने राज्य का सचिव बना दिया और 'मंत्री होकर झूठ बोलता है'—ऐसा सोचकर उस मन्त्री को जेल मे डाल दिया।

(वि० सं० २०२३ माघ, बम्बई—डॉ० नार्मन ब्राउन, संस्कृत-विभागाध्यक्ष, पेनसिलवानिया-यूनिवर्सिटी अमेरिका द्वारा प्रदत्त विषय)

१० : नयवाद

विरोधियुग्मं कथमत्र भूयात्,
प्रतीतिरेषाऽस्ति पुरातनानाम्।
वैज्ञानिकेऽस्मिन् समये मनुष्यै-
र्भिन्नत्वमाप्तं वहुधा प्रवृत्तैः ॥१॥

एक ही वस्तु मे विरोधी युगल कैसे रह सकता है—यह प्रतीति पुराने व्यक्तियो की है। आज के इस वैज्ञानिक समय मे वहुधा-प्रवृत्त मनुष्यो ने भिन्नता प्राप्त की है।

अस्तित्वमाधाय यदस्ति नित्यं,
नास्तित्वहीन न तदस्ति नूनम्।
सतोऽसतश्चापि न कोऽपि भेदः,
सर्वत्र युग्मं लभते प्रवृत्तिम् ॥२॥

जो पदार्थ अस्तित्व धर्म की अपेक्षा से नित्य है वह निश्चय ही नास्तित्व से विहीन नहीं है। यदि ऐसा न हो तो सत् और असत् मे कोई अन्तर नहीं हो सकता, इसलिए सर्वत्र विरोधी-युग्म मिलते है।

यावज्जगत्यामिह वर्तमानं,
तदेव भूतं च तदेव भावि।
न चाणुमात्रं लभतेऽत्र हानि,
नोत्पत्तिमन्यां लभते नवीनम् ॥३॥

जो इस जगत् मे वर्तमान है, वही रहा है और वही होगा। न अणुमात्र कम होता है और न अणुमात्र नए रूप में उत्पन्न होता है।

शब्दस्य नूनं विकला प्रवृत्ति,
नैकक्षणे वाच्यमशेषित स्यात्।
स्याच्छब्दयुक्ता भवति प्रवृत्तिः,
वक्तु क्षमा वस्तुसमग्ररूपम् ॥४॥

शब्द की प्रवृत्ति विकल होती है। एक क्षण मे वह वाच्य को अशेष रूप मे कह नहीं पाता। जब वह शब्द 'स्यात्' युक्त होता है, तभी वह वस्तु के समग्र-रूप का वाचक बनता है।

वाच्यो न वाच्यः सकलः पदार्थः,
स्याच्छब्दयुक्तो भवतीह वाच्यः।
एकेन धर्मेण च वाच्यमानं,
समग्रवस्तु स्थिरतामुपैति ॥५॥

पदार्थ, वाच्य होने पर भी अनन्तधर्मा होने के कारण वाच्य नहीं है। वह 'स्यात्' शब्द से युक्त होकर ही वाच्य बनता है। समग्र वस्तु यदि एक धर्म के द्वारा वाच्य होती है तो वह वर्तमान पर्याय मे ही स्थिर हो जाती है, गतिशील नहीं रहती और नए-नए पर्यायों के उत्पन्न होने की क्षमता को खो बैठती है।

भङ्गत्रयीयं विबुधै प्रबुद्धा,
चतुष्टयं भङ्गमितो विकल्प्यम्।
विकल्पमात्रेण भवेत्प्रवृत्ति,
सापेक्षभावान् प्रति सत्यलब्धान् ॥६॥

विद्वानों ने तीन भंगों (विकल्पों) का कथन किया है—स्याद् अस्ति, स्याद् नास्ति, स्याद् अवक्तव्य। शेष चार भंग—स्याद् अस्ति-नास्ति, स्याद् अस्ति-अवक्तव्य, स्याद् नास्ति-अवक्तव्य और स्याद् अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य—इन्हीं के द्वारा विश्लेषणीय है। सत्य के द्वारा लब्ध सापेक्ष भावों के प्रति विकल्पमात्र से ही प्रवृत्ति होती है।

स्यात्सप्तभङ्गी विशदा विबोधे,
भेदानशेषान् परिकल्पयन्ती ।
अनन्तभेदा अपि संगृहीताः,
समस्यमानाश्च विविच्यमाना ॥७॥

समग्र भेदो की परिकल्पना करने वाली यह सप्तभंगी ज्ञान के लिए विशद उपाय है। इसके द्वारा वस्तु के समन्यमान और विविच्यमान अनन्त धर्म संगृहीत हो जाते हैं।

(२४-४-६८ डेक्कन कालेज, पूना मे श्री श्रीनिवास शास्त्री द्वारा प्रदत्त विषय)

११ : त्रिनेत्र

दृष्टिर्यस्यास्ति निद्रामपि च गतवती द्रष्टुमर्हेन्न सत्य-
मेकं नेत्रं विनिद्रं भवति परिचितं किञ्चिदालोकतां तत् ।
नेत्रे द्वे स्ते विनिद्रे प्रतिपलकमसौ मज्जतात्सत्यसिन्धौ,
सप्तः सप्तार्कतुन्नारुणकिरणनिभ पातु बिभ्रन् त्रिनेत्रः ॥१॥

जिसकी दृष्टि सुप्त है, वह सत्य को नहीं देख पाता। जिसकी एक आँख खुली है, वह कुछ परिचित पदार्थों को देख सकता है। जिसकी दो आँखें खुली है, वह प्रतिपल सत्य के समुद्र मे डुबकियाँ लेता रहता है। किन्तु त्रिनेत्र, जो सात घोडो से प्रेरित सूर्य की किरणों के समान तेजस्वी है, वह सत्य का पारगामी होता है, 'वह हमारी रक्षा करे।'

(१७-११-६८ मद्रास-संस्कृत-कालेज)

१२ : कलश

मांगल्यधाम परमः कलशो विभाति,
सर्वत्र पूजितजनैः विहितो मतश्च ।
पूर्णत्वभावगरिमां वृणुते तदैव,
यद् व्यापृतो जलभृतश्चलितो न किंचित् ॥१॥

कलश परम मगल है। यह सर्वत्र पूजित-जनो (पूर्वजो) द्वारा सम्मत और विहित है, क्योकि यह पूर्णता का द्योतक है। पूर्णता और गरिमा उसी को प्राप्त होती है, जो व्यापृत होने पर भी कभी नहीं छलकता।

कल्याणमेतत् किल धातुपात्रं,
पात्रं पवित्रं हृदयं भवित्र।
आचार्यवर्या हृदयानुभूति-
प्रपूतचित्ता परमाः पवित्राः ॥२॥

यह धातु-पात्र कलश मंगल माना जाता है। हृदय-पात्र तो सबसे बडा मंगल है। हृदय की अनुभूति से पवित्र चित्तवाले आचार्यवर्य परम पवित्र है।

(त्रिवेन्द्रम् केरल, राजप्रसाद मे महारानी सेतुपार्वती द्वारा प्रदत्त विषय, १८-३-६९)

१३ : मैसूर राजप्रासाद

आचारवन्तः स्वयमुद्वहन्ति,
सदा प्रचारं प्रथयन्ति तस्य।
आचारनिष्ठानपरान् सृजन्ति,
आचार्यसञ्ज्ञामुपयान्ति ते हि ॥१॥

जो स्वय आचारवान् है, सदा आचार का प्रचार करते है और दूसरो को आचारवान् बनाते है, वे ही 'आचार्य' कहलाते है।

आचारनिष्ठा प्रबला यदा स्यात्,
तदा मनुष्या इह सत्यनिष्ठाः।
आधारशून्यं न गृहं गृहं स्या-
न्नाचारशून्यो मनुजोऽपि तद्वान् ॥२॥

जब आचार-निष्ठा प्रबल होती है तब मनुष्य सत्यनिष्ठ होते है। जिस प्रकार आधार-शून्य गृह, गृह नहीं होता, उसी प्रकार आचार-शून्य मनुष्य, मनुष्य नही होता।

आचार्यवर्याश्च विराजमाना,
यत्सम्मुखीनो नरनायकोऽपि।
स लौकिकश्चापि तथेतरोऽपि,
संयोग एष प्रकृतः प्रकृष्टः ॥३॥

एक ओर आचार्य तुलसी विराजमान है और उनके सम्मुख महाराजा (मैसूर) बैठे हुए है। ये महाराजा लौकिक और आचार्य तुलसी पारलौकिक विद्याओं मे निपुण है। यह एक उत्कृष्ट संयोग मिला है।

इतश्च संघो यमिनां विभाति,
वनस्पतेः साक्ष्यमिदं च मध्ये ।
स्वामि स्थितः सम्मुख एष पुण्यः,
सर्वोऽपि योगः सहजोऽस्ति लब्धः ॥४॥

इधर साधु-साध्वियों का समूह है। बीच में फल-फूलों से भरे हुए थाल हैं। सामने राजपुरोहित बैठे हुए हैं। यह सारा योग सहज रूप से प्राप्त हुआ है।

(मैसूर के महाराजा ने आचार्यश्री को भेंट देने के लिए फल-फूलों से भरे थाल वहाँ सजा रखे थे।)

(२-५-६९ मैसूर-राजप्रासाद)

१४ : वाक्-संयम

पश्यामि साक्षाद् विषये विरोधं,
करोमि किं वा किमिद विचित्रम्।
वक्तुं प्रदत्तो विषयो ममाऽसौ,
वाक्संयमस्याऽत्र महत्त्वमस्ति ॥ १ ॥

मुझे आशुकविता में बोलने के लिए विषय दिया गया है—'वाक्-संयम का महत्त्व'। मैं इस विषय में साक्षात् विरोध देख रहा हूँ। अब मैं क्या करूँ ?

वदाम्यहं तन्नहि वाग् यथा स्याद्,
वदामि नाहं विषयस्य पूर्तिम्।
प्रायो विरोधे समुपस्थिते हि,
मार्गो नवः स्याच्च पुरस्कृतोऽपि ॥२॥

यदि बोलता हूँ तो वाक्संयम नहीं रहता और यदि नहीं बोलता हूँ तो विषय की पूर्ति नहीं होती। प्राय विरोध उपस्थित होने पर ही नया मार्ग निकल आता है।

आकाशमेतत् सकलं समग्रं
तत्रापि निर्माणमभूद् गृहाणाम्।
गृहं न चाकाशमपेतरन्न,
तथैव वच्मीति न वापि वच्मि ॥३॥

यह सम्पूर्ण आकाश एक है, अखण्डित है, तो भी घरों का निर्माण हुआ है। घर न पूर्ण आकाश है और न आकाश से भिन्न है। उसी प्रकार मैं बोल भी रहा हूँ और नहीं भी बोल रहा हूँ।

आचार्यप्रोक्त मुखवस्त्रिकेयं,
वाक्संयमस्याति प्रतीकमच्छम् ।
उच्छृंङ्खला वाग् बहुवर्ततेऽत्र,
ग्रामेप्यरण्येऽपि च संसदीह ॥४॥

आचार्यश्री ने कहा है—मुखवस्त्रिका वाक्‌संयम का प्रतीक है। गाव मे, जंगल मे और संसद मे—सर्वत्र आज वाणी की उच्छृङ्खलता दीख रही है।

नात्मश्लाघा पंडितेनात्र कार्या,
दोषा वाच्या नो परेषा कदाचित् ।
एतत् स्पष्टं साम्प्रतं जायमानं,
वैचित्र्यं तद् व्यत्ययो नाम जातः ॥५॥

अपनी प्रशंसा और दूसरों का दोषाख्यान, पंडित व्यक्ति को नहीं करना चाहिए। लेकिन आज स्पष्टरूप से इसका व्यत्यय हो रहा है। यह आश्चर्य की बात है।

(२-५-७० गोपुरी मे विनोबा भावे द्वारा प्रदत्त विषय)

★

MARCH TO VICTORY

By
YUVACHARYA MAHAPRAJNA
Translated by
Prof M. KRISHNAMURTI

1

THE FLAME IMMORTAL

This is the flame Immortal
It has burned of old, it burneth now,
and it shall burn hereafter
But wherefore are the windows kept open ?
Outside there is but darkness and more darkness.
The light is inside—within the room
Why is the wind's heavy screen thrown all around ?
The light is ahead !
Who has placed this obscuring cover ?
The light is still ahead.

THE ILLUMINATION

The lord said · "O Gautama, the spirit lives through the past, the present and rhe future It is eternal The senses cannot apprehend it for it is formless, and the senses can apprehend only that which has a form Because of the mind's disturbing and changeful nature the individual fails to see his own light—to be aware of his own self. The self, which is eternal and full of light, is beyond the apprehension of the body, the senses and the mind "

2

THE PRISON HOUSE

Ah ! this cage is made of iron and that of gold.
Our bird has known both—that as well as this
How small is this cage and how large that !
Our bird has taken the measure of both the cages
How unending is the binding string !
Interminable series of the cages are tied to this string.
These cages are being pulled about this way and that.
Countless turnings have come and gone
Where is the shore ?

THE ILLUMINATION

The Lord said "O Gautama, this soul has been wandering from time without beginning Sometimes it is given to wear small and ugly bodies and some other times great and beautiful ones The cause in every case is desire and aversion Until these two are extinguished, this masquerade will not come to an end, nor will the soul obtain release—final disembodiment"

3

THE INWARD STRIFE

Who calls this a magic show ?
How can a dream float in open eyes ?
What ! shall ever this question mark fade away ?
How has the other side of the wall sprung into view ?
Oh ! the riven heart !
The flow of the blood begins to recede
That which was not in the beginning and will not be
in the end—how can it come to be in between ?
What answer is this ?
The feet have become entangled

THE ILLUMINATION

The question which had lain deep hidden in the heart of Gautama, having been thus brought out by the Lord, the wonderment of the disciple knew no bounds Is there knowledge—illumination—beyond the dominion of the senses and the mind ? Gautama was tossed about in the waves of this new-won amazement—now in the trough of doubt, now on the crest of discovery Finally his inner being sought release from this struggle by bowing to the superlative understanding of Lord Mahavira.

4

THE TRIUMPH OF HUMANITY

His garments were dyed but not in indigo* ,
The wind stretched forth its hand
And the cloud could not hold back its moisture
The saffron ran down in streaks,
Making him look like the risen Sun
The spirit of man rose triumphant
It spoke out in the joy of its destiny
O thou self-enlightened Victor !
The celestials of the highest regions, the Car-borne gods,
Who, as ordained from of old,
Played out their part of summoning you to your high mission
With the words,
O perfect one ! awake, arise, for the good of all
promulgate the law !
Do they not even now feel the inadequacy of their role ?
For, look, thou hast set out and won the Victory
While they, the celestial monitors, are still
captive in the prison house

THE ILLUMINATION

The Lord, after he had *attained the highest illumination,* delivered his first sermon in the assembly of the celestial beings who flocked to listen to him Human beings were not present on this occasion The gods, being excessively given to pleasure, would not—and could not by their nature—submit themselves to any discipline or self-restraint

The second sermon of the Lord took place in the assembly of men It was in this assembly that Gautama and the rest 4,400 disciples entered the Order

On the path of the spiritual pursuit it is the human being that is most adequately endowed It is only from the human body that the soul obtains final release

*That is, not indebility

5

ON THE MARCH TO VICTORY

O thou purer than the Moon !
O thou brighter than the sun !
O thou deeper than the Ocean ! *O thou Conqueror !*
Take me to the other shore of the world, which is bright
without the brightness of the sun and the moon . which,

without wealth and the accessoriss of wealth, is full of joy and which, in the embrace of the Infinite, has transcended duality

Take me to Truth and Good !
Take me into Immortality and Infinity !
Take me there whence no one returns !
Take me to the highest pinnacle of the universe !
Take me into the Abode of Freedom !
O conqueror, my march to victory will end only there

THE ILLUMINATION

Gautama said "Lord, towards that changeless truth beyond the reach of reason, I wish to march Do thou, O Lord, direct my steps Conduct me towards the desired goal"

6

DEDICATION

O Conqueror, thou hast said, "Rise and gird your lions".
To thy message, I have hearkened
Look, I go out—a votary of Victory
Henceforth will I not do that which
I used to do in the realm of defeat !
O Victor, I have come drawn by your sign
Now, do thou take me
From self-indulgence towards self-restraint,
from the non-self towards the self,
from dereliction towards duty,
from inaction towards action,
from ignorance towards understanding,
from delusion towards right outlook,
from non-wisdom towards wisdom,
from the wilderness towards the path,
and from unbelief into faith

THE ILLUMINATION

Having been led to the path by the Lord, Gautama said—"Lord, self-indulgence, in-continence, wrong action, ignorance, inaction, wrong belief, non-wisdom, aimlessness—

these constitute the path of de-secration; the path of con-secration is opposed to them I have made up my will to leave the path of de-secration and follow the path of con-secration."

7

PETITION

O Giver of health, to one who, lying in the hospice of the alien, kept emptying phials of potions, give thou health !

O Giver of wisdom, to one who, in the school-house of the alien, pored over every text but learnt nothing, give thou wisdom

O Giver of salvation, to one who, having won all the titles and orders of the alien, has never known satisfaction, give thou peace of mind

THE ILLUMINATION

Gauatama said 'Lord, having listened to your teaching I have known that it is the inflow of the Alien that constitutes disease, the greed for this inflow of the Alien is non-wisdom, the tendency to maintain this inflow of the Alien is suffering Lord, moving away from transcient health, transcient wisdom, and transcient peace, I want to go towards abiding health, abiding wisdom and abiding peace"

8

SALUTATION

O Victor, I bow to thee !
O Ford-maker, I bow to thee !
O Self-Enlightened one, I bow to thee !
O Enlightener of the World, I bow to thee !
O Giver of Fearlessness, I bow to thee !
O Giver of Sight, I bow to thee !
O path-Maker, I bow to thee !
O Giver of Refuge, I bow to thee !
O Giver of Salvation, I bow to thee

"Lord, I have known that on the path of con-secration he alone is to be reverenced who has obtained the victory, who is the promoter of the universal good, who is awake himself, who is himself the source of light, who is the very embodiment of fearlessness, light, and the way of freedom and who is the one refuge"

9

THE TAKING OF REFUGE

O Conqueror, four bid me god speed on my march to
victory these four are the Perfect ones, the liberated,
the Aspirants, and the law of the Perfect Ones !

O Conqueror, four guide me on my victory-March these
four are, again, the Perfect Ones, the Liberated, the
Aspirants and the law of the Perfect Ones !

O perfect one ! give me your leave for the commencement
of my Victory-March

May the Perfect Ones, the Libarated, the Aspirants and the
law of the Perfect ones take me under their protection

I wish to embark on my march to Victory

THE ILLUMINATION

O Lord, thou hast said—the Perfect Ones (Arhats) are the supreme Commanders on the path to Permanent Peace, the Liberated are the great beacon—lights and the Aspirants the soldiers on the march and the Law is the unassailable path on which they move On all these four my faith has grown firm I wish to come under the protection of these four'

10

THE MANIFESTATION OF CONFIDENCE

This is the royal road of the conquerors
O Faith, stand established here, for here is truth,
here my welfare and here the light
This is your abiding refuge

This is the path-way that is pure, enlightened,
unbroken and consistent with reason.
This is the *balm that will heal all wounds*
This is the path to fulfilment, the path to salvation,
the path to peace, and the path to Victory
This it is which is
Beyond all doubt
And which *allays all sufferings* !
O Love, turn to this !
O inclination, attach thyself to this !
This is the royal road of the Conquerors

THE ILLUMINATION

(The triad of Truth, Good and Beauty)

Gautama said—"O Lord, *that* alone is *true, that* alone is indubitable, which the conqueror has seen and has declared O Lord, thou hast said—that which is untruth is non-restraint and that which is non-restraint is untruth And again thou hast said—that which is truth is restraint and restraint is truth

He who practises restraint becomes in himself the Good and the Beautiful that is, by ridding himself of all the alien dross in him he becomes his true self, his own pure nature *This is the essence of the teaching of those who have untied all knots* "

"I have faith in this teaching of the 'Knotless Ones' My reason and my inclination follow it I shall grow intimate *with this teaching and shall translate into my life* its injunction I am indeed blessed, for I have found my feet on the path of the Desireless Ones,"

11

THE QUALIFICATIONS OF THE ASPIRANT

Violence is the root of defeat
He alone who understands Non-Violence can walk on the
path of Victory
Untruth is the root of unbelief
He alone who understands truth can tread the path of
Victory
Misappropriation (that is, the *usurpation of other people's*
rights) is the root of fear and of war

He alone who understands Non-appropriation (that is, contentment with one's own rights) can follow the path of Victory

Sex-Indulgence is the root of transgression from the law.

He alone who understands Continence can pursue the path of Victory

Acquisition is the root of all hostility and hatred

He alone who understands Non-Acquisition can march on the path to Victory

THE ILLUMINATION

Non-violence, truth, mis-appropriation, continence and non-acquisition are the five great vows He who accepts these restraints becomes the aspirant. The Lord, in his teaching to Gautam, initiated fhe disciple into these five great vows.

12

THE SOUNDS OF THE VICTORY DRUMS

"Burn away the old house, Where there is darkness !
Leave the old companions, who keep to the beaten paths !
Bow not to the old leaders, who are traitors to that new realm,
Which you want to establish"
Where are these war-drums beaten ?
These surely are the sounds,
Which evoked the revolutionary in me !

THE ILLUMINATION

The Lord said—"O Gautama, the subtle *material* particles, *obstructing* the soul's innate knowledge and the other powers are the timeless resort of the spirits in bondage The companions of these bound spirits *are the* sense-objects (sound, colour, taste, smell and touch) and their enjoyment Those who *are in* the thrall of these sense-enjoyments—the ill disposed ones—are the leaders, the guides of the spirits that live *here in* bondage They achieve their base ends by keeping the simple-minded mass of people for ever hugging the chains that bind them—the sense-pleasures *This is the wheel of samsara,* of unrest and discontent Tranquillity and peace are on the other *side of desire* and aversion He, who moving away from *material wants* and attachments, withdraws himself into the bliss of his own soul enters the realm of peace.

CALL FOR AWAKENING

"The night that is past will not return"
  Whose burden of song was this !
"Rise ! Why are you not awake yet ?"
  Who sounded this call on his conch, proclaiming the final battle ?
"Victory is poised on the other side of the Horizon"
  who uttered this incantation ?
"The light you see is not here ?"—who spoke out this ?
Oh ! the valuation of moments is now worrying me !
Sleep has fled my eyes for ever !
On all sides I see but sights of defeat and more defeat !
In front of my eyes there looms the curtain of mist unending
O Singer, take charge of me ! It is thy conch-notes that
  have excited my disease I can breathe in comfort
  only when I have rid myself of this alien thing that
  afflicts me.
O Herald, now do I see the breaking of the light

THE ILLUMINATION

The Lord said—"O Gautama, that man is asleep who does not know the worth of time ! that man is asleep who does not know the defeat under which he is prostrate, That man is asleep who does not grope for the light, That man is asleep who is not animated by right faith, knowledge and conduct

The sleep of the body is no sleep it is but the sleep of the shell—the outward cover The true sleep is the inward vacuity born of the absence of right faith, right knowledge and right conduct " There are four types of people !

(1) There are those who are awake in the body but are asleep in their inward being : these are known as the unrestrained

(2) There are those who are asleep both in the body and in the spirit : these are known as both unrestrained and unregenerate

(3) There are some who are asleep in the body awake in the spirit . these are known as the restrained

(4) There are some who are awake both in body and in the spirit these are the very vigilant ones who are also restrained "

The Lord said—"O Gautama, this is the matinsong of spiritual awakening Rise from the soul s sleep—the true sleep and get-up "

14

DEFEAT

O prisoner, you ask—where is defeat ?
Listen, it is but your self-surrender before the alien power,
that is your defeat There is no other defeat
The alien forces are constantly infiltrating into your realm ·
that is the cause of your overthrow
These your two hands are feeding with their life-blood the
tree of alien power this is your subjection and servitude
Your effort to pose and preen yourself before the mirrror of
the alien attributes you have derived, is the cause of
your discomfiture
This alien army has kept your prisoner in a fortress,
Whose five gateways are enclosed with barbed wire

THE ILLUMINATION

Spirit, matter, merit, demerit, alien inflow, the stoppage of inflow, the burning up of the inflow that has taken place, bondage, and liberation these are the nine categories Liberation is the name for the condition of the spirit fully restored to its true nature

The stoppage of further alien inflow and the exhausting of the inflow that has already taken place, known as Samvara and Nirjara respectively, are the two-fold means for this liberation

The continued inflow of the alien element into the soul, known as Agrava is what prevents liberation

The opposite of the spirit is matter Merit, demerit and bondage are the several conditions which matter assumes The bound spirit, the bondage, and the cause of bondage have thus been set forth here

15

BENEDICTION

The source of Victory is Faith
There is no peace for one who is in the grip of doubt
That faith which brought you under the protection of the
Conqueror —increase it further
The torrent of doubt is in full flood— keep clear of it

You, who are the wayfarer on the path to Victory.
keep going with care and caution
Keep going by repulsing the forces of the enemy :
by treading them down, keep going
Look to your armour, see that it is in place.
Keep going
The way of liberty is full glorious.
O thou traveller to the further bourne ! cross over to the other shore of the ocean, where all that you survey is your own domain

THE ILLUMINATION

The Lord said—"O Gautama !

Samvara and nirjara—these two are the means, liberation is the end, right knowledge, faith, conduct and austerity—these four constitute the path Causing the seedling of faith to shoot up and put forth leaf, the Lord said—"O Gautama, Listen to the parable of the son of Sagaradatta and the son of Jinadatta, both of whom were given the eggs of a pea-hen to rear Now Sagaradatta's son was of a doubting nature : in respect of the pea-hen's eggs that had come to his share, he was caught up in a sequence of doubt, misgiving, speculation, divided mind and despondency Will these eggs really hatch out pea-fowl chicks ? This question so tormented him that he would pick them up every now and then and shake them, holding them near his ear, As the result of this constant disturbance, the eggs become lifeless and failed to hatch Similarly the aspirant who having been initiated into the faith begins to evince doubt in the teachings of the Adepts (who have destroyed all the 'knots') renders the whole life of restraint barren and fruitless

Now on the other hand, the son of Jinadatta, unassailed by any doubt, reared with care the pea-hen's eggs that had come to his lot On the completion of the incubation period the eggs hatched out into pea-fowl chicks

Similarly the aspirant who having been initiated into the faith, remains firm in his conviction reaches in due course the desired goal "

The Lord said—"O Gautama, never doubt veracity of the utterances of the great Jinas, who have made the crossing Doubt is the breeding ground of the erroneous outlook Freedom from doubt ensures the right outlook The causes of doubt are four · weakness of the mind, the absence of the right teacher, lack of grasp, and emergence of the power that occludes understanding The words of the Jinas should not be doubted even when reason and analogy fail to establish their import in the mind".

THE WIND AND THE LIGHT

(The founding of the Ford of Faith)

Victory is the life of the Soul the soul is not the man
The gates of Victory are open to man also
Victory is the life of the soul the soul is not the woman
The gates of victory are open to woman also
Victory is the life of the soul the soul is not
  the high-caste person
The gates of victory are open to the person of the
  high-caste also
Victory is the life of the soul . the soul is not the
  low-caste person.
The gates of victory are open to the person of
  the low caste also.
Victory is the life of the soul · the soul is not
  the rich person
But the gates of victory are open to the rich man also
Victory is the life of the soul the soul is not
  the poor person.
But the gates of victory are open for the poor person also
Victory is the life of the soul · the soul is not the
  town-dweller
But the gates of victory are open to the town-dweller also
Victory is the life of the soul the soul is not the
  forest-dweller
But the gates of victory are open to the forest-dweller also
Victory is the life of the soul the soul is not
  the houseless one
But the gates of victory are open for the houseless one also.
Victory is the life of the soul the soul is not
  the dweller in the house
But the gates of victory are open to the dweller
  in the house also

THE ILLUMINATION

The Lord, after his illumination, in his second sermon laid down the four-fold frame work of the order consisting of monks and nuns and of lay-men and lay-women The entrance into order was kept open to all The Lord set forth the gospel of non-

violence for the sake of all, whether they were after the spiritual pursuit or not, whether they were inclined to the exposition of this pursuit or not whether they were away from the use of force or not, whether the ware attached to possessions or not and whether they were entangled in sense-enjoyments or not. The Lord held out his invitation to pursue the good life to one and all

17

ONE IN MANY : MANY IN ONE

The cause of defeat is one only , likewise the cause of
victory is one alone
He who understands the one understands the whole
He who understands the whole understands the one
He who undarstands the inner world knows the outer
He who understands the outer world knows the inner
He who conquers the one conquers all
He who conquers the one conquers the five,
He who conquers the five conquers the ten,
He who likewise conquers the ten conquers all.

THE ILLUMINATION

IN the language of logic—he who understands even one substance in all its fulness understands the rest of the substances, or to put it reversely, he alone who understands all the rest of the substances can understand any one of them perfectly

In the language of philosophy—he who understands himself understands all that is to be known In the language of spiritual pursuit—he who understands delusion understands all the other obstructive elements in the path of self-realization. In the language of political science—he who understands the leader understands the people who follow him, or, putting it the other way, he alone who understands all the followers can fully understand the leader The one and the many are linked together.

18

TRUTH, GOOD AND BEAUTY

O man, do not keep open your windows,
Nor look out to scan what is without !
For, see, these windows are the channels of inflow
For the alien element :

This flood comes from above,
From the middle and from below
This is bondage
And the sources of this bondage
Are above, below and in the middle
Therefore, close these windows and secure them tightly.
Look not for what is outside
That which is the good and the beautiful is not without

THE ILLUMINATION

(The Destruction of the Root of Suffering)

The Lord said—"O Gautama, pluck out suffering, *root and all, and throw it away.* Those who tackle the problem of suffering palliatively, and not radically, are short-sighted.

The *root* of suffering is—activity (the cause of the inflow of the alien element into the soul) It is by virtue of this activity, whether it is good or bad, that the soul also comes to be known as good or bad In fact, it *is in relation to* activity that all transactions and terms of reference arise. It is activity that determines all forms of conditioned existence Now, the source of this universal process—karma—is known as asravas, the various paths of ingress into the soul"

19

THE INFILTRATION OF ALIEN POWER

(Asravas—the Channels of Inflow)

O Pilgrim on the path
Tell me yourself—
Who is the one that let in the alien forces into your realm ?
Who is there other than you that can permit the entrance
of alien elements ?
Acknowldege openly—
Are you not yourself the traitor to your own freedom,
your own independence and integrity ?
Who was it that opened the main gate-way of the fortress ?
Were you not the sole victim of the alien blandishments ?
Who else was there in the castle that could let down the
drawbridge and welcome the invader ?
Tell me yourself—are you not yourself both the author and
the victim of this ignominious self-surrender ?

THE ILLUMINATION

The Lord said—"O Gautama, the soul draws to itself alien elements through the five channels of deluded vision (Mithyatva) non-satiation (Avirati), negligence (Pramada), passion (Kashaya), and activity mental, vocal or physical (Yoga) In this way the soul spins for itself its own imprisoning sheath So long as these channels of inflow are not closed, so long the ingress of alien elements into the soul continues"

20

ALONENESS

Where is non-duality to be found ?
Speech is a channel of communion ·
Where then in the world of words is there
non-attachment ?
Food is a channel of communion ·
Where then in this world of give-and-take is there
non-entanglement ?
The mind is a channel of communion :
Where then in the world of ratiocination is
there true illumination ?
The body is a channel of communion
Where then in this world of imprisonment is there freedom ?
Respiration is a channel of communion
where then in this world of oscillation is the aloneness.
Movement is a channel of communion
where then in this world of coming-and-going is
there non-duality ?
O Conqueror, where are the lines of defence for thy soldier ?

THE ILLUMINATION

From non-restraint—that is, non-closing of the channels of communion-attachment is formed, from attachment, entanglement, from entanglement, non-awareness, from non-awareness, bondage, from bondage, duality, and from duality, this round of coming and going, of birth and death—in short, this wheel of life Hearing these words of the Lord, Gautama asked ' O Lord, how should I walk, how stand, how sit, how eat, how speak, so that I am not caught up in bondage ?"

Living in association with other people necessitates speech, and through the activity of speech the mind begins to be unstable It is for this reason that Lord Mahavira has prescribed living in solitude as a means of cultivating oneness of mind

FROM CONFUSION TO CLARITY

I

This is the churning-stick
Where is the milk to be found ?
The churning-stick has gone on churning
And what remains is but butter and butter-milk
In the path of the churning-stick there is no confusion.

II

This is fire
There is no room here for any alloy
This fire has been burning away
And all that remains is gold and dross
To the touch of fire there is no alloy

III

This is an oil-mill
There are no oil-seeds here.
The mill has been turning
And what remains is oil and waste-matter
In the world of the mill there is no confusion.

IV

This is the wind
Don't think of the thresh
It goes on flapping in the wind
And in the result there is the gain and the Chaff
In the world of sifting there is no confusion

THE ILLUMINATION

From attrition is born heat, from heat affliction, and from the enduring of affliction—from fortitude, that is—purity arises Where there is purity there is no confusion

The Lord said—'O Gautama, he who observes self-restraint in all his activities—in walking, standing, sitting sleeping eating and speaking, is free from the sin of commission For commission is but another name for transgression where there is no transgression there is no commission either When a man who is free from the Liability to transgression keeps up such activity as is barely necessary for sustaining life, he is not incurring any offence—anything that is, which might serve as an obstacle to his pursuit of self-restraint On the contrary such activity results in purity, clearing away the impure accretions of the past

22

BEYOND THE REALM OF THE WIND

O Pilgrim, defeat is not wiped out by more defeat.
The end of defeat is only by victory
The man who goes in the direction of defeat cannot
see where the Conqueror's lines of defence lie
You do not know the wind is not quelled by more wind.
The allayer of the wind is the restraint of the wind.
The man who keeps gasping for the wind cannot see
the Conqueror's lines of defence
Keep advancing !
The Conqueror's lines of defence are there,
Where there is no going and coming of the wind

THE ILLUMINATION

Action is not put an end to by action Action is put an end to by inaction Where there is the activity of respiration—where there is inhalation and exhalation—there is the mind And where there is the mind, there is speech Again, where there is speech, there is the body. And where there is the body, there is action. And finally where there is action there is the round of birth and death

The restraint of the activity of respiration takes place in the thirteenth or penultimate stage on the path to salvation In the fourteenth and ultimate stage there is complete stoppage of all inflow At that stage all ingress of Karmic matter—that is, alien matter—ceases

23

THE CONQUEST OF DELUSION

O Pilgrim ! look—yonder gleams the direction—signal.
That marks the Conqueror's first outpost
There the soldiers of the Conqueror get their bearings.
Manning that post stand the Conqueror's line of
menial force
Those who are fettered by custom and tradition
cannot go past that first line of defence.
Neither can the reactionaries nor those who are
given to doubt and distrust

THE ILLUMINATION

The Lord said— 'O Gautama, the first step on the spiritual ladder is right belief Wrong belief is the channel of all sins of commission

For one who is endowed with right belief, there is no bondage issuing out of activity due to wrong belief , whereas for one, who is under the power of wrong belief the liability to bondage resulting from wrong actions is ever present

Those who, having won the right belief, fall away from it, cease to progress on the path on the contrary they relapse into the bondage arising from wrong belief

Those who are given to doubt and disbelief, are also subject to the bondage of wrong belief "

24

THE CONQUEST OF SELF-INDULGENCE

Look ahead !
There on high streams the five-coloured banner
That is the second outpost of the Conqueror
That is the Conqueror's principal training centre
for the deployment of his forces
See —
Those pupils of the primary class
Pay honour to the university graduates

THE ILLUMINATION

The Lord said—"O Gautama ! I have declared two ways of spiritual endeavour—

(1) The householder's way and

(2) the ascetic's way

With respect to the householder, I have set out 12 observances, namely (1) non-violence, (2) truth (3) non-stealing, (4) carnals satisfaction with one's own wife, (5) assigning limits to desires, (6) to movements in various directions, (7) to the objects of senses, (8) abstention from unnecessary harassment, (9) giving up the sinful acts for the period of forty-eight minutes, (10) renouncing evils for a certain period, (11) practice of ascetic life with fast and (12) to offer alms to a monk With respect to the ascetic, who renounces the world, I have set out the five great observances, namely (1) non-violence, (2) truth, (3) non-stealing, (4) celibacy, and (5) non-possession. The ascetic (Shramana), by virtue of these five great observances, does not give occasion for the inflow of alien matter into himself The lay-followers of the ascetic attain immunity to the infection of the alien element in the measure in which they resist its attractions "

FAREWELL TO SLEEP

(The Conquest of Negligence)

Behold ! this is the conqueror's third line of defence.
Those who man these lines never sleep
O sleep ! you will not now pursue me any longer
As for your born-companion, Intoxication
I left him behind earlier on the path
Rivers there are none here
Whose murmuring waters might pull me to sleep
The colours of the sun-set have begun to fade away :
As for the veil that wrapped me round
I have already torn it off
O Vigilance, be thou hereafter, my constant partner,
I have come into the line of the Conqueror's inner
garrisons manned by sleepless sentries

THE ILLUMINATION

The Lord said : "O Gautama, those who are not dedicated to the life of perfect self-restraint, are in a state of perpetual sleep , while those are so dedicated are awakened for ever. This language of perpetual sleep and perpetual wakefulness is with reference to the pursuit of the spirit In this context self-indulgence is sleep and self-restraint wakefulness

The man who is not self-restrained does injury to himself and injury to others this is why he is spoken of as one who is asleep The man who is self restrained does no injury to anyone—either to himself or to others—and hence he is spoken of as free from all lapses as constantly diligent

LAPSES ARE OF SIX KINDS :—

The giving way to (1) wine, (2) sleep, (3) sense-pleasures, (4) the passions, (5) gambling, (6) impropriety (namely the failure to do the right thing in the right place at the right time in the right manner) The man of self-restraint keeps clear of these six kinds of lapses and is hence immune to the infection of alien tendencies, which flow in, breeding corruption "

BEYOND THE RAINBOW

(The transcendence of the passions)

O sentinel—open the doors
I am not unacquainted with the laws of my realm.
Look !
I have no contraband with me
I broke my last bottle of wine at the very commencement.
As regards the opiates, I threw them away before
    embarking on the journey
See !
I have not hidden anything with me
Neither weapons to fight nor even gold to yield,
O sentinel—allow me to pass within.

THE ILLUMINATION

The Lord said—"O Gautama ! two different flights of steps fork away at the eighth landing in the staircase of the ascent to life's goal— the landing known as ' the cessation of the inflow of the gross impurities" The aspirant who, by virtue of having sublimated the passions, takes the flight of steps which is known as the 'suppression process', mounts as far as the eleventh landing, styled as 'suppressed interest ' But by this the enslaving factor of interest in life is only arrested and not annihilated When the suppressed desire, therefore emerges to the surface in course of time, the climber has to take the downward path But the aspirant who, by virtue of gradual eradication of passions, is led to take the other flight of steps, known as the 'expansion process' goes steadily up the stairway, and on reaching the tenth landing (known as the stage of attenuated passion) he passes on to the twelfth landing (known as exhausted interest) without halting at the treacherous eleventh landing where to tarry is to turn back The climber who mounts by this loop is not retarded at any stage but keeps mounting steadily He next reaches the thirteenth landing known as 'liberation in embodiment', arriving where he becomes liberated but conjoined still to the body "

27

WHERE THERE IS NO MOVEMENT

(Conquest of All Contact)

Who says—
I have resigned from the burden of office
And retired behind iron walls ?

Who says—
I have fallen in love with insomnolence,
Played the traitor to my erstwhile comrades
And even repudiated her who is bound to me in wedlock ?
All this is the false gossip-mongering of the alien
malcontents.

My home is—
Beyond all institutional entanglements.
Beyond all frontiers and boundaries
Beyond all invasion of error
Beyond the reach of all custom-bound companions
Beyond all corruption and decay
I speak from the last of the Conqueror's defence lines
Standing on the threshold
Of my inviolable home !

THE ILLUMINATION

The Lord said "O Gautama, the ascending spirit which has arrived at the thirteenth stage—and is accordingly liberated while embodied—lives out its present span of life, till the remnants of the four-fold activity that gave rise to that embodiment have been exhausted There is no question of repudiating the physical ties before the allotted time When the end is reached, the liberated but still embodied spirit arrives at the fourteenth and last stage in the ascent, known as 'liberation freed of contact'. This is also known as 'Shaileshi' the 'sovereign peak'—the last summit of self-realization It is the loftiest moment that life, this side of disembodied liberation, can offer—it is moveless and marvellous It lasts only for a few seconds and during it all the remaining tendencies are utterly exhausted and the soul, freed of its last embodiment, slips into the eternity of its own pure being

Wrong, belief, non-restraint, negligence passion and acitvity—all psycho-somatic activity—all these are the perverted aspects of the soul When rid of these perversions, the soul is restored to its pristine nature which endures uncorrupted for evermore "

28

THE COUNTRY WHICH IS MINE

That country is mine where there are no distinctions of male
and female

That country is mine where there are no religions and no
creeds.

That country is mine where there are no distinctions of
householders and hermits

That country is mine where there are no teachers
and no taught

O thou preceptor of equality—
Lead me on to this country of mine where the true
my-ness reigns

THE ILLUMINATION

The Lord said—"O Gautama ! embodied spirits who reach the shores of liberation are of various kinds by virtue of their sex, attire, cause of enlightenment, and number Thus with reference to the peculiarities of their last embodiment, the liberated souls are spoken of as comprising fifteen different classes But when final liberation has been reached that is when the soul has been freed from bondage as well as from the body—all distinctions cease and there is no disparity of any kind or degree in the spiritual status of the freed souls in their infinite knowledge, power and bliss "

29

AUSTERITY

O Warrior, take this your armour and these your weapons
Remember always that the armies of the conquerors
never attack
Their one watchword is
Incessant vigilance in self-protection and self-
rectification

They do not know
What it is to retaliate
Or what it is to take revenge.
Their one objective is the exercise of their own power
unprovoked or undeterred by extraneous agencies.
Their weapons are not the weapons of offence and defence.
They are not used for destructive ends
These weapons are miraculous
Their use is never in vain
The alien elements, the forces—
Cannot withstand their might
But remember one thing always—
These weapons and this armour
Will stand you in good stead
Only within the boundaries of your own realm

THE ILLUMINATION

The Lord said—"O Gautama, there are two sides to the law of self-restraint that I have propounded—resistance to future indulgence (Samvara) and annihilation of the effects of past indulgence by austerity (tapasya-nirjara) By the first process the inflow of further alien matter into the spirit is prevented and by the second the alien matter already accumulated is burnt up The man who by the practice of self-restraint thus resists the future factors of bodage and destroys the past ones, is automatically freed from all bondage."

30

SELF-CLEANSING BY EXPULSION

(CATARHSIS)

O Yogi ! do you hanker after breath-control ?
Different is the way of the Conqueror's method of
breath-control
Just exhale out of your system
All the alien elements
Just throw out all that is not from within yourself
Whatever is outside is of no worth

What will you inhale within—
With What will you fill yourself,
You who are full in yourself
What is there that you would seek outside
When you are yourself the truth
The good and the beauty of your search.
O abiding Self !
That spiritual essence which is you,
Is all the inhalation that you need !
In this discipline of 'breach-control'
Your aids are—
  Boycott and non-cooperation
O you who know the secret, see
How he wanders about forwards and backwards,
Caught up in the labyrinth of the winds—
The Yogi given to inhalation and exhalation !

THE ILLUMINATION

The Lord said—"O Gautama, the Yoga which I have propounded is the yoga of detachment from alien influences and attachment to one's own self."

पंचम खण्ड

मेरी दृष्टि मेरी सृष्टि
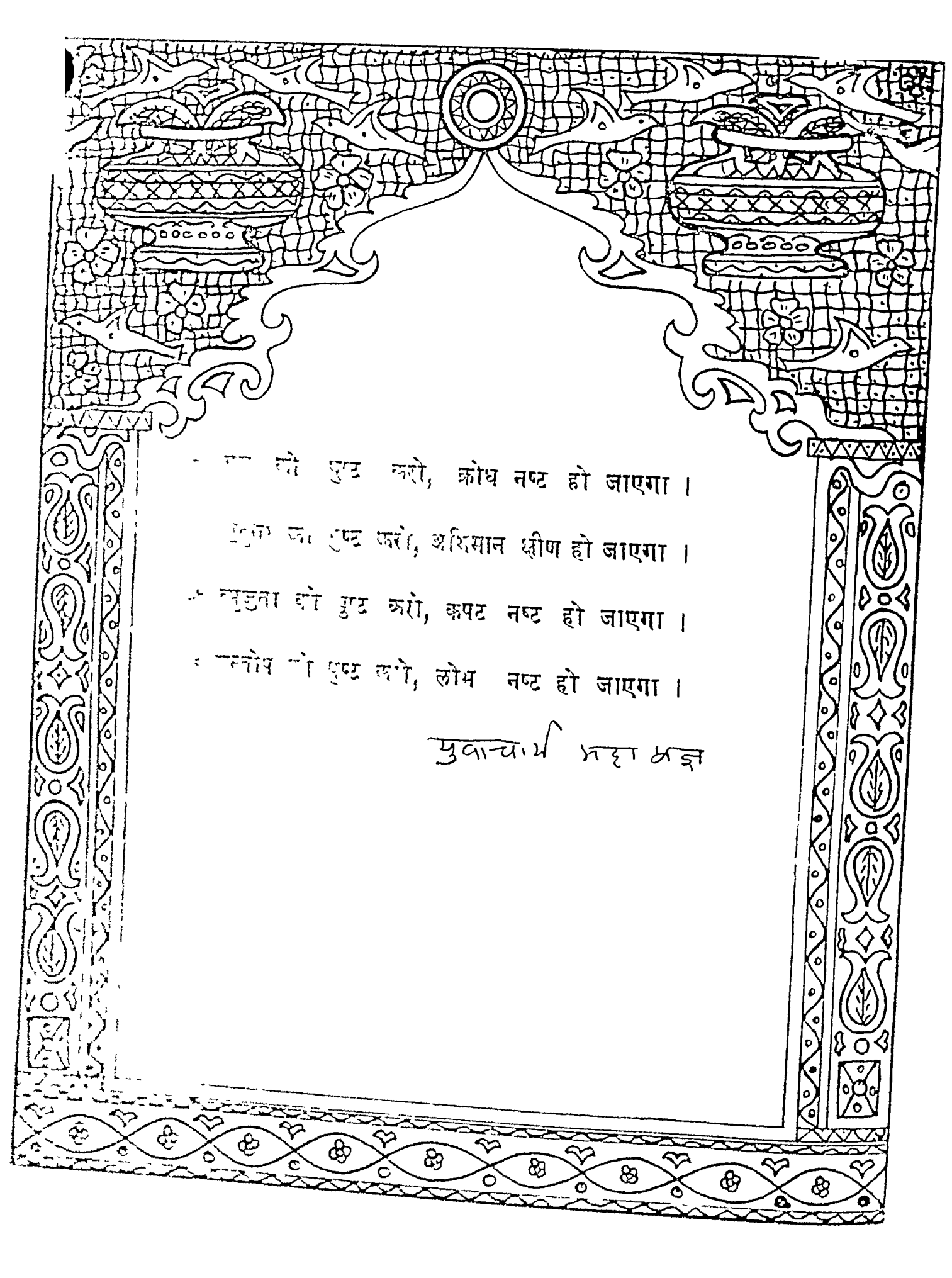
चिन्तनशील व्यक्ति यह मानने को तैयार नहीं होता कि सत्य जो है, वह सब शास्त्र की भाषा में बँध जाता है। फिर जो सम्प्रदाय और परम्परा को साथ लिए चलता है और शास्त्रों में विश्वास करता है, उसे फूल के साथ काँटे की त भी सहनी होती है।
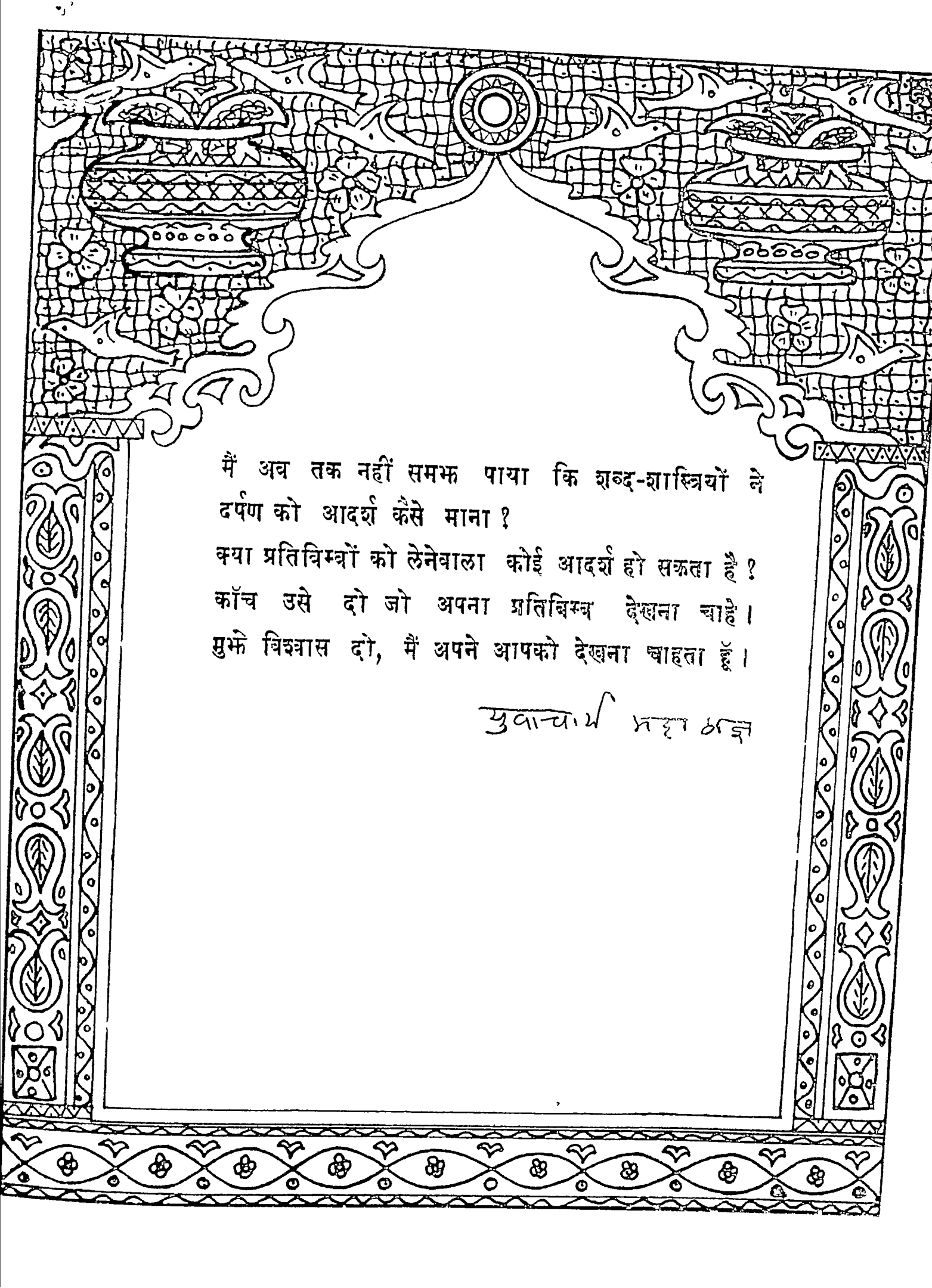
जब-जब शास्त्रीय वाक्यों की दुहाई बढ़ती है और आत्मानुभूति घटती है, तब शास्त्र तेजस्वी और धर्म निस्तेज हो ा है।

जब आत्मानुभूति बढ़ती है और शास्त्रीय वाक्यों की दुहाई घटती है, तब धर्म तेजस्वी और शास्त्र निस्तेज हो जाता है।

युवाचार्य महाप्रज्ञ

मैं अब तक नहीं समझ पाया कि शब्द-शास्त्रियों ने
दर्पण को आदर्श कैसे माना ?
क्या प्रतिबिम्बों को लेनेवाला कोई आदर्श हो सकता है ?
काँच उसे दो जो अपना प्रतिबिम्ब देखना चाहे।
मुझे विश्वास दो, मैं अपने आपको देखना चाहता हूँ।

युवाचार्य महाप्रज्ञ

चिन्तन के क्षण

युवाचार्य महाप्रज्ञ

चिन्तन क्या है? जीवन की गहराई का प्रतिबिम्ब।

दुश्चिन्ता क्या है? जीवन-सम्पदा की अन्त्येष्टि।

इन प्रश्नोत्तरों की [illegible] ने मन की गाँठें खोल दीं। फिर मैंने देखा वह चिन्तन सहज ही स्फुरित होता है, जिसके पीछे प्रकृत अनुभूति होती है। दुश्चिन्ता के मूल में विकृत मनोभाव होता है। विकृत से प्रकृत की ओर होनेवाला स्फुरण ही चिन्तन है।

*   *   *

जहाँ सारी भाषाएँ मूक बन जाती हैं, जहाँ हृदय का विश्वास बोलता है। जहाँ हृदय मूक होता है वहाँ भाषा मनुष्य का साथ नहीं देती। जहाँ भाषा हृदय को ठगने का यत्न करती है वहाँ व्यक्तित्व विभक्त हो जाता है। अखण्ड व्यक्तित्व वहाँ होता है जहाँ भाषा और हृदय में द्वैध नहीं होता।

*   *   *

श्रद्धा ज्ञान की परिपक्वता का नाम है। ज्ञान के अभाव में जो श्रद्धा होती है वह [illegible] में श्रद्धा नहीं होती, किन्तु एक परम्परागत रूढ़ि होती है।

जीवन में सबसे बड़ा बल श्रद्धा का है। श्रद्धा टूटती है, तब पैर थम जाते हैं, वाणी [illegible] और शरीर जड़ हो जाता है। श्रद्धा बनती है तब ये सब गतिशील बन जाते हैं।

*   *   *

जहाँ श्रद्धा होती है, बुद्धि नहीं होती। जहाँ बुद्धि होती है, श्रद्धा नहीं होती। [illegible] श्रद्धा होती है, बुद्धि लगती। श्रद्धालु चलता है और बुद्धिमान देखता [illegible]। [illegible] इनके समन्वय से आती है।

[illegible] का [illegible] मस्तिष्क में है और वैराग्य का हृदय में।

विराग हृदय में होता है तभी उसका सम्बन्ध मस्तिष्क से होता है।

स्मृति के लिए तुम्हारे पास विशाल अतीत है, कल्पना के लिए असीम भविष्य, पर करने के लिए केवल वर्तमान है, जो बहुत ही सीमित और बहुत ही स्वल्प है।

× × ×

अतीत तुम क्यो देखोगे ? वह तुम्हारी ओर देख रहा है और देख रहा है तुम्हारी कृतियो को। तुम वर्तमान को देखो जिससे वह फिर तुम्हारी ओर आँख उठाकर न देख सके।

× × × ×

मुझे चरण-चरण पर चलने मे कठिनाई का अनुभव हो रहा था। यदि वर्तमान पर अतीत का प्रभाव न होता, यदि प्रवृत्ति अपना परिणाम छोड जाती, यदि मैं दस मील न चला होता तो मुझे कठिनाई का अनुभव नही होता। मेरी कठिनाई मुझे सिखा रही थी कि अतीत वर्तमान को प्रभावित करता है और मनुष्य की प्रत्येक प्रवृत्ति अपना परिणाम छोड जाती है।

× × ×

विस्तार वही पा सकता है, जो पैरो का मूल्य आँक सके। बरगद जो विस्तार पाता है, उसका मर्म यही तो है।

दूसरे वृक्षो के पैर शाखाओ को जन्म देते है, बरगद की शाखाएँ पैरो को जन्म देती है—विस्तार का मर्म यही तो है।

बरगद इस सत्य को पा चुका है कि शाखाओ के आधार पर पैर नही टिकते, किन्तु पैर के आधार पर शाखाएँ टिकती है।

× × ×

यन्त्र भी चलता है, मनुष्य भी चलता है। पर दोनो की गति मे उतना ही अन्तर है जितना यन्त्र और मनुष्य मे। यन्त्र निश्चित गति-से चलता है, उसमे देश, काल और परिस्थिति का विवेक नहीं होता, क्योकि वह मनुष्य नहीं है। मनुष्य अपनी गति मे परिवर्तन भी लाता है, उसमे देश, काल और परिस्थिति का विवेक होता है, क्योकि वह यन्त्र नहीं है।

सत्य अच्छा पर उसे पाने का उतना ही यत्न करो, है जितना सहन कर सको। तुमने देखा होगा—प्रकाश मे मनुष्य देख पाता है किन्तु प्रखर प्रकाश के सामने आँखें चौंधिया जाती है। उसे सहने की क्षमता हर आँख मे नहीं होती।

× × × ×

जो दिलाया जाता है वह अविश्वास है। विश्वास दिलाने की वस्तु नहीं, वह स्वयं प्राप्त होता है।

यह कैसा अचरज ? जो चाहिए उसका भान ही नहीं और उसके हिए तडप रहे हो, जो नही चाहिए।

तुम आनेवालो को नही पहचानते, क्योकि वे वहाँ से आये है जहाँ तुम नहीं थे। तुम पहचानते हो जानेवालो को, क्योकि वे वहाँ से गये है, जहाँ तुम रह रहे हो।

× × ×

प्रशंसा की भट्टी मे गलाकर तुम व्यक्ति को, चाहे जैसा ढाल सकते हो, पर याद रखो—अभिमान पर चोट की, तो वह अकड जायेगा। फिर वह टूट सकता है किन्तु ढल नहीं सकता।

× × × ×

समुद्र: जलधर! जल तुमने मुझसे लिया है। आश्रय कहीं है नहीं, तू शून्य-विहारी है। आकृति से तू श्याम है, फिर भी गरज रहा है?

जलधर:—तेरे खारे जल को मीठा बना कर मैं लोगो को सन्तुष्ट करता हूँ और वही जल तुझे लौटा देता हूँ। फिर मेरे गर्जन से तुझे आपत्ति क्यो है?

जलधर:—समुद्र! पुत्र तेरा कलंकी है, पुत्री है चपल। तू समूचा क्षारमय है फिर तू किस बूते पर गरज रहा है?

समुद्र—जलधर। तू भी तो मेरा तनुज है—आनन्द देनेवाला, परोपकार-परायण, खारे को मीठा करने वाला! तेरे-सरीखे बेटे पर मुझे गर्व है, फिर मुझे गरजने का अधिकार क्यो न हो?

अब जलधर के पास कहने को कुछ भी शेष नहीं था।

यह कितना आश्चर्य है कि केले से तुम अनेक बार फल पाने की आशा करते हो? केवल बड़े-बडे पत्तों को देख मत भूलो। इस तने को भी देखो—कितना कोमल और कितना दुबला-पतला।

फल मे रस होता है इसलिए वह महत्वपूर्ण नहीं होता किन्तु वह महत्त्वपूर्ण इसलिए होता है कि उसमे बीज होता है। रस का मूल बीज है, बीज का मूल रस नहीं है।

× × ×

मैं जितना नीचे देखता हूँ, अपने-आप मे उतना ही विशाल लगता हूँ। जब थोडा ऊपर देखता हूँ तो मेरी विशालता इस असीम गगन में विलीन हो जाती है।

× × ×

जिसे देखना चाहिए वहाँ दृष्टि नही जाती। जिसे नही देखना चाहिए वहाँ देखने का प्रयत्न होता है। यह कैसा विपर्यय। काँच मे मनुष्य अपने-आपको ही देखता है। कब किसने तनिक भी उसकी स्वच्छता को देखा?

× × ×

परीक्षा-शक्ति नहीं होती, तब तक सब समान होते हैं। सब समान हो, किसी के प्रति राग-द्वेष न हो, यह अच्छाई है। पर ज्ञान की कमी के कारण सब समान हों, यह अच्छाई नहीं है।

अज्ञान दुःख का मूल है, इसमे कोई सन्देह नहीं। पर ज्ञान दुःख का मूल क्यों बन रहा है—यह प्रश्न-चिह्न आज अधिक स्पष्ट है।

तुम भले चाहो, ज्ञान बढे। यह मत चाहो, ज्ञान की बाढ आये। तुम यही चाहो, ज्ञान की धारा सम्यक्-दर्शन और सम्यक्-चरित्र के तटो के बीच बहती रहे। यह मत चाहो ज्ञान की धार इन दोनो तटो को तोड कर बहे।

× × ×

मानव मे विद्या और बुद्धि का बल बढ रहा है, पर हृदय की सुकुमारता, भ्रातृभाव, सौहार्द और अपनत्व घट रहा है। इसे हम विकास कहें या ह्रास ?

× × ×

गतिशीलता वस्तु का एक पक्ष है। दूसरा पक्ष है स्थितिशीलता। आज वस्तु का पहला पक्ष प्रबल है, दूसरा निर्बल। आवश्यकता है गति और स्थिति का सन्तुलन रहे। अनन्त आकाश मे केवल गति से वस्तु कहाँ जाकर टिकेगी।

× × ×

भगवान् भक्ति के भूखे होते हैं, भक्त मुक्ति का। भक्त भगवान् को बाँधे या भगवान् भक्त को छोडे। कौन क्या करे ? मुक्ति बन्धन मे से निकलती है। जो बाँधना जानता है वह सब कुछ जानता है। कमल ने मधुकर को बाँधा, चाँद ने चकोर को। मधुकर को वहाँ मृत्यु स्वीकार है, चकोर को अग्नि-पान। ओह। यह मुक्ति··

× × ×

ओ ज्योतिषी। मेरे भाग्य का निर्णय तुम मुझे ही करने दो। तुम मेरे भविष्य को शब्दो के कठघरे मे जकडने का यत्न मत करो। तुम अतीत के व्याख्याता हो सकते हो पर भविष्य की व्याख्या का अधिकार मेरे ही हाथो मे रहने दो। तुम विश्वास रखो कि वर्तमान पर अधिकार रखनेवाला ही भविष्य की व्याख्या कर सकता है।

× × ×

जिसका संकल्प फलवान् होता है उसे बल मिलता है, किन्तु फल उसी को मिलता है जिसका संकल्प बलवान् हो।

तुम कार्य का प्रारम्भ करते ही सफलता चाहते हो, यह कैसा मोह ?

तुमने देखा होगा, वृक्ष कितने वर्षो के बाद सफल बनता है।

× × ×

कुछ बातें ऐसी होती है, जिन्हें सदा याद रखना चाहिए। कुछ बातें ऐसी होती हैं, जिन्हे तत्काल भुला देना चाहिए।

याद रखने की बातें वही नहीं, जो प्रिय है। और भुला देने की भी वे ही नहीं होती, जो अप्रिय है।

वे प्रिय और अप्रिय दोनों प्रकार की बातें याद रखने की होती है, जो जीवन पर अपना असर छोड जायें और वे प्रिय और अप्रिह बातें भुला देने की होती है, जिनका जीवन पर कोई प्रभावोत्पादक परिणाम नहीं होता।

तुम बैठे क्यो हो ? लो, पवन तुम्हारे लिए नया संदेश लाया है कि जो चलता है वह पहुँच जाता है।

तुम मुस्कुराओ। ये आँखें जगमगा उठेंगी। याद रखो, ये ज्योति-दीप आँसू बहाने के लिए नहीं है।

इन अँगुलियो से भाग्य के लेख लिखो। याद रखो, यह पुरुषार्थ का देवता भीख माँगने के लिए नही है।

तुम भाग्य को कोसने मे जितना समय लगाते हो, उतना यदि भाग्य के निर्माण मे लगाओ तो तुम मंदिर के देवता होओगे और भाग्य तुम्हारा पुजारी।

खिडकियाँ खोलो। सूर्य की रश्मियाँ तुम्हारे लिए प्रकाश का उपहार लिए खडी हैं। तुम्हारे भाग्य की लिपि मे अंधकार का लेख नहीं है। खिडकियो को बन्द कर तुमने उसे पाला-पोसा है।

× × ×

यह पेड़वाली दुनियाँ है। तुम धूप से क्यो घबराते हो ? जहाँ धूप है, वहाँ छाहँ अवश्य होगी।

दुनियाँ मे अनेक आश्चर्य माने जाते है पर सबसे बडा आश्चर्य है—असफलता के द्वारा पौरुष की पराजय।

× × ×

स्नेह वही दे सकता है जो महान् है। स्नेह वही दे सकता है जो समर्थ है।

स्नेह का धागा एक-ओर अविच्छिन्न है। उसमे असख्य दिलो को एक साथ बाँधने की क्षमता है।

स्नेह जीवन के हिमालय का वह प्रपात है जो गगा-यमुना बन बहता है और धरती के कण-कण को अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित करता है।

स्नेह जीवन के सूर्य का वह प्रकाश है, जो गहन अन्धकार को भेदकर मानस की हर सतह को आलोक से भर देता है।

× × ×

प्रकाश पहले अपने मे संजोओ, फिर दूसरो मे बाँटो। जो अकेला चमकना चाहता है, वह सूरज की भाँति क्रूर होता है। सौम्य वह होता है जो चाँद की भाँति सबको साथ लिए चमकता है।

× × ×

मैंने सामने का द्वार बन्द कर रखा है, इस लिए कि आनेवाले घूम कर आएँ।

घूमकर वे ही आएगे जिन्हें प्यास है।

जिन्हें प्यास नहीं है, वे पानी का मूल्य नहीं समझ सकते।

× × ×

जो बिन्दु की शक्ति को नहीं पहचानता, वह सिन्धु नहीं हो सकता।

बदली की छाया मे बैठ, झोपडी बाँधने का प्रयत्न करने वाले क्या धूप से बच पाए है ?

जो दूसरो के सहारे पलते है, उनमे अनुभूति की लौ नहीं जलती।

गरीब धन के लिए तड़प रहे है और धनी तड़प रहे है विश्वास और प्रेम के लिए। शान्ति मिली उसको जो न गरीब ही था और न अमीर ही, किन्तु जिसके पास था—विश्वास और प्रेम।

धनी को अपने बेटे का भी विश्वास नहीं होता और प्रेम नहीं होता अपनी पत्नी से भी। विश्वास और प्रेम की गरीबी मे उसकी अन्तरात्मा शान्ति के लिए सदा तड़पती रहती है।

× × ×

जो धन का सग्रह करते है, उसका त्याग नहीं करते, वे प्रकाश की उपेक्षा कर धुएँ को अपने भीतर सचित करते हैं।

जो सत्ता का संग्रह करते है, उसका त्याग नहीं करते, वे स्वास्थ्य की उपेक्षा कर दूषित वायु को अपने भीतर संचित करते हैं।

जीवन का सूत्र है जो, पाना है तो और त्याग दो। जो इस सूत्र से परिचित है, उनके जीवन मे प्रकाश है, सुख है और स्वास्थ्य है।

जो केवल लेना जानते है, देना नही जानते, भोग करना जानते है, किन्तु त्याग करना नही जानते, उन्हे न प्रकाश प्राप्त है ओर न स्वास्थ्य ।

भोग से शौर्य का दीप बुझता है और त्याग से वह प्रज्ज्वलित होता है । भोग से जीवन का फूल मुरझा जाता है और त्याग से खिलता है ।

, सम्प्रदाय से मुक्त व्यक्ति असाम्प्रदायिक वातावरण का निर्माण कर सके इसमे मुझे सन्देह है । साम्प्रदायिक वातावरण का निर्माण वही कर सकता है जो सम्प्रदाय मे रहते हुए भी व्यापक दृष्टि का धनी है । कमल आकाश मे उत्पन्न नहीं होता, वह पंक मे उत्पन्न होकर भी उससे अलिप्त रहता है ।

X X X

वह दिन मेरे जीवन मे अपूर्व होगा, जिस दिन मैं अहंकार से मुक्त हो पाऊँगा ।

वह दिन मेरे जीवन मे अपूर्व होगा, जिस दिन मैं ममकार के नागपाश से अपने को मुक्त पाऊँगा ।

X X X

वह दिन मेरे जीवन मे अपूर्व होगा जिस दिन किसी भी व्यक्ति पर मेरी अधीनता नही होगी, दबाव नहीं होगा और उसकी दुर्वलता या विवशता का मेरी क्षमता के द्वारा शोषण नही होगा । स्वतन्त्रता जितनी मुझे प्रिय है, उतनी ही दूसरो को प्रिय है । दूसरो की स्वतन्त्रता को सीमित कर, मैं अपनी स्वतन्त्रता को असीम रख सकता हूँ ?

X X X

मैं दूसरो को, चार आना, उनके शब्दो से पहचानता हूँ । दस आना मेरी अपनी कल्पना से पहचानता हूँ । एक आना जन-मान्यता के आधार पर पहचानता हूँ । और मुश्किल से एक आना, वह जैसा है, वैसे पहचान पाता हूँ और कभी-कभी वह भी नहीं । फिर मैं दूसरों के प्रति न्याय करने की कल्पना करूँ, क्या यह मेरा मति-भ्रम नही है ?

X X X

मैं तुम्हारा सही अंकन नही पाता, इससे केवल तुम्हे व्यावहारिक हानि और कठिनाइयाँ झेलनी पडती है । किन्तु तुम्हारा आत्म-विश्वास हीन होता है, उससे तो तुम्हारी सारी आस्थाएँ हिल जाती है ।

तुम्हें इससे कष्ट होता है कि मैं तुम्हारे सही रूप को नहीं पहचानता । इस विषय मे यदि मैं अज्ञान का दोपी हूँ तो तुम आत्म-विश्वास की हीनता के दोषी हो ।

X X X

तुम्हारा प्रश्न है कि तुम जिस रूप मे नही हो उस रूप मे मैं तुम्हे प्रस्तुत कर रहा हूँ—क्या यह अन्याय नही है ?

न्याय और अन्याय की चर्चा, यथार्थ के स्तर पर कभी नहीं होती । यह मान्यता के स्तर पर होती है ।

तुम्हारे यथार्थ रूप को जानने के लिए मेरे पास साधन ही क्या हैं ? मैं तुम्हारे उसी रूप को जानता

है जो मेरी कल्पना द्वारा गृहीत है और मैं तुम्हारे उसी रूप को प्रस्तुत करता हूँ जो मेरी मान्यता में प्रतिबिम्बित है। मेरे मित्र! तुम मुझसे इससे अधिक आशा क्यों रखते हो?

X X X

मैं उस व्यक्ति को महान् मानता हूँ जो घृणा का प्रतिकार प्रेम से करता है। हमें जिनके साथ रहना है और जिनका भाग्य परस्पर जुड़ा हुआ है, उनके साथ समस्या का समाधान प्रेम से ढूँढना चाहिए। घृणा और तिरस्कार के द्वारा किया जाने वाला समाधान, हृदय को जोड़ता नहीं, किन्तु तोड़ता है।

X X X

तुम विकास चाहते हो तो निश्चित मानो कि दूसरे के विनाश का विचार मन में भरकर, तुम विकास नहीं कर सकते। विकास ही विकास का विचार मन में भरो, वह स्वयं खिंचा-खिंचा आएगा।

तुम शान्ति चाहते हो तो निश्चित मानो कि जलन का विचार मन में प्रज्ज्वलित कर तुम शान्ति नहीं कर सकते। शान्ति-ही-शान्ति के विचारों से मन को भरो, वह स्वयं तुम्हारा वरण करेगी।

मन को जलाओ, उसके आलोक में अपने आपको ढूँढो। तुम स्वयं देख पाओगे कि तुम अनन्त शक्ति के स्रोत हो।

X X X

यह मनुष्य की मानसिक दुर्बलता है कि वह दूसरों की प्रगति को अवरुद्ध करने के लिए गलत तत्त्वों को प्रोत्साहित करता है पर वह इस सत्य को भुला देता है कि बुराई को प्रोत्साहन देने का परिणाम कभी भी खतरनाक हो सकता है।

बुराई की सीख देने वाला स्वयं उसके परिणामों से बच नहीं सकता।

X X X

किसी भी क्षेत्र में चले जाइए। एक कलाकार दूसरे कलाकार की, एक साहित्यकार दूसरे साहित्यकार की, एक धार्मिक दूसरे धार्मिक की प्रगति को सहन न करे, उसकी प्रशंसा न करे तो क्या कला, साहित्य और धर्म का उत्कर्ष हो सकता है?

X X X

तर्क अपने आप में शून्य है।
श्रद्धा का उत्कर्ष ही तर्क है।
जिस वस्तु में श्रद्धा रम जाती है,
उसका समर्थन-सूत्र ही तर्क है।
आज कसौटी है, सोना नहीं,
तर्क है, अनुभूति नहीं।
अनुभूति हीन तर्क का उतना ही मूल्य है,
जितना सोने के बिना कसौटी का।

X X X

आज आलोचकों की भरमार है, मौलिक स्रष्टा कम और बहुत कम। कारण सैद्धान्तिकता अधिक है, अनुभूति कम। सिद्धान्तवादिता से आलोचना प्रतिफलित होती है और अनुभूति से मौलिकता। सिद्धान्त से मौलिकता नहीं आती, मौलिकता के आधार पर सिद्धान्त स्थिर होते है।

X X X

सब-के-सब बुद्धिजीवी बन जाएं तो क्या खाएं-पीएं और कहाँ रहे ? सब-के-सब श्रमजीवी बन जाएं तो मनुष्य के बौद्धिक विकास का द्वार खुला कैसे रहे ? इस समस्या पर विचार करने पर निष्कर्ष यह निकलता है है कि सब मे बुद्धि-कौशल समान नहीं होता और जिनमे बुद्धि-कौशल तुल्य भी होता है वे भी अक्सर समान लाभ नहीं उठा सकते। इस स्थिति मे दो वर्ग कभी टूट जायें, यह कदापि सम्भव नही। सम्भव है दोनो का समन्वय। बुद्धिजीवी श्रम को नीचा न माने और श्रमजीवी बुद्धि को ऊँचा न समझे। फलित की भाषा मे बुद्धिजीवी अपना आवश्यक श्रम दूसरो से न लें, काम करने मे लज्जा का अनुभव न करें। उसी स्थिति मे वे अपरिग्रह की ओर आगे बढ सकते है।

X X X

माला फेरने वालो के लिए आलम्बन ग्रन्थि ही होती है। ग्रन्थि मुक्ता और मणियो को नीचे गिरने से बचाती है। परन्तु शर्त इतनी ही है कि वह ग्रन्थि ससूत्र हो। जो ससूत्र हे, उनके लिए ग्रन्थि भी सहजानन्द देने वाली होती है। तू बद्ध होने पर भी मुक्ति की ओर चल, मुक्ति की भावना रख—गाँठ खुल जाएगी। ससूत्र चल, मार्ग सरल हो जाएगा।

X X X

जो मन को भाता है वही सुख है, या कुछ और ? जो सहज लगता है वही सुख है या कुछ और। इन्द्रियो की सहज गति विषय की ओर है। मन भी निरन्तर पदार्थों की ओर दौडता है। आराम करने मे सुख है, काम करने मे नहीं। असत्य बोलने मे जो रस है, वह सत्र बोलने मे नहीं। अहिंसा की साधना करनी पडती है, हिंसा सहज है। ईंट का जवाब पत्थर से देने मे जो पौरुष की कल्पना है, वह सह लेने मे नही है। इन्द्रिय और मन वासना से सहसा भर जाते है और उससे मुक्ति प्रयत्न करते-करते भी नही मिलती। अपरिग्रह की बात सुनते-सुनते बहरे हो गए पर हृदय ने उसे कभी नही पकडा। परिग्रह के लिए हजार कष्ट झेलने की तैयारी रहती है।

X X X

कोई भी व्यक्ति मानसिक झुकाव से बच सकता है—यह सम्भव नहीं है। छोटों की चीख-पुकार अपने होठो तक ही होती है, वह बडो का दिल नही पिघला सकती। जीवन का सबसे बडा मन्त्र है शक्ति। शक्ति-धर ही सम्मान का जीवन जी सकता है। बडो के सामने दीन-गाथाएं गाना तब तक बेकार है जब तक छोटो की शक्ति आगे न बढ जाए। इसलिए रोने की बात भूल जाओ। दीन बनने का नाम न लो। मन की व्यथा बडों के सामने मत रखो। वहाँ तुम्हारा कोई भला न होगा। उनके पास सुनने को कान होते है, विचारने को मस्तिष्क, किन्तु सहानुभूति के लिए हृदय नही होता।

X X X

तार्किक दृष्टिकोण से न तो मर्यादाओं का पालन किया जा सकता है और न कराया जा सकता है। उनका पालन करने वाला श्रद्धावान् और उनका पालन कराने वाला हृदयवान् हो, तभी उसका निर्वाह हो सकता है। बहुत लोग, जो अपने आपको कूटनीतिक मानते है, अहिंसा मे विश्वास नहीं करते। हृदय का मतलब ही है—अहिंसा। जहाँ हिंसा है, बल प्रयोग है, राजसी वृत्तियाँ है वहाँ हृदय नहीं होता, छल होता है। छल और श्रद्धा के मार्ग दो है। श्रद्धा की उपज निश्छल भाव मे है। जहाँ नेता के तर्क के प्रति अनुगामी का तर्क होता है, वहाँ छोटे-बड़े का भाव नहीं होता। वहाँ होता है तर्क की चोट से तर्क का हनन।

X X X

धन क्या है? यह सोचता रहा हूँ पर समाधान नहीं मिला है। मनुष्य बुद्धिशील प्राणी है। इसलिए उसकी बुद्धि पर सहसा अविश्वास करना भी उचित नहीं है। पर मनुष्य मोहशील प्राणी है, उसकी मूढ़ता पर भरोसा करना भी अनुचित नहीं है।

मनुष्य ने सोना, चाँदी, मणि आदि पार्थिव वस्तुओं को धन मान रखा है। मानना बुद्धि का काम है, किन्तु जो तद्रूप नहीं, उसे तद्रूप मानते रहना मोह का संस्कार है। खान-पान जैसी आवश्यक वस्तुओं को धन मानना कुछ प्रयोजन रखता है, किन्तु जिनका जीवन के लिए कोई उपयोग नहीं, उन्हें धन मानना कुछ भी अर्थवान् नहीं लगता। जिसने सोने को धन की संज्ञा दी, उसने मनुष्य जाति का हित नहीं किया।

X X X

कोई व्यक्ति बोले ही नहीं, चले ही नहीं, खाए-पिए ही नहीं, दान-नीति और अर्थनीति का विकास हो ही नहीं, यह मैं नहीं कहता। मैं जो कहना चाहता हूँ वह यह है कि इन सब मे मनुष्य संयम रखे। ये असंयत होते है, उससे शान्ति का सन्तुलन नष्ट होता है। हम अपने-आपको अशान्त बनाकर दूसरों को शान्ति नहीं दे सकते और दूसरों की शान्ति भंग कर हम शान्ति नहीं पा सकते। व्यक्तिगत संयम के अभाव मे व्यक्ति अशान्त होता है, सामाजिक संयम के अभाव मे समाज अशान्त होता है और राष्ट्रीय संयम के अभाव मे राष्ट्र अशान्त होता है।

X X X

मैं दूर खड़ा-खड़ा आश्चर्य की दृष्टि से देखता रहा—सूर्य का अभिनन्दन उन्होने किया जो तिमिर को अपने में छिपाए हुए थे।

सत् का अभिनन्दन उन्होंने किया जो असत को अपने मे छिपाए हुए थे।

जन्म का अभिनन्दन उन्होंने किया जो मृत्यु को अपने मे छिपाए हुए थे।

स्मित का अभिनन्दन उन्होंने किया जो अश्रुओं को अपने मे छिपाए हुए थे।

मैं दूर खड़ा-खड़ा आश्चर्य की दृष्टि से देखता रहा।

तिमिर प्रकाश का कवच पहने हुए है।
असत् सत् का कवच पहने हुए है।
मृत्यु जन्म का कवच पहने हुए है।
अश्रु स्मित का कवच पहने हुए है।

X X X

१. मेरी दृष्टि : मेरी सृष्टि

वि० सं० २००० मेरे जीवन मे नए उन्मेष का वर्ष है। चौबीसवें वर्ष मे प्रवेश के साथ-साथ मुझे संस्कृत, प्राकृत और दर्शनशास्त्र के अनेक आकर-ग्रन्थो के अध्ययन का सहज अवसर मिला। उसी वर्ष मैंने हिन्दी मे लिखना शुरू किया। मैं संस्कृत से हठात् हिन्दी मे लिखने लगा, इसलिए उस समय की मेरी हिन्दी, संस्कृतनिष्ठ ही रही, फिर भी हिन्दी मे लिखना मुझे अच्छा लगा। कुछ मुनियो का आग्रह था कि मैं 'पच्चीस बोल' की हिन्दी मे व्याख्या लिखूं। मेरे मन मे संकोच था। हिन्दी मे मैंने कभी कुछ लिखा नही था। जो कुछ लिखना होता, वह सारा संस्कृत मे ही लिखता। कभी-कभी प्राकृत मे भी लिखता। ये दोनो पुरानी भाषाएँ है। लोग इन्हें मृत-भाषा कहते है। अतीत जीवित कैसे होगा ? वह मृत ही होगा। जीवित केवल वर्तमान होता है। मैं मानता हूँ, इसीलिए मैंने हिन्दी को अपनाया। वह आज की भाषा है, इसलिए जीवित है। मैं भाषा के साथ-साथ दर्शन का विद्यार्थी रहा हूँ। वह मेरा सर्वाधिक प्रिय विषय रहा है। उसे मैंने अनेकान्त के आलोक मे पढा है। अनेकान्त का विद्यार्थी किसी को सर्वथा जीवित अथवा सर्वथा मृत कैसे मान सकता है ? अतीत मे वर्तमान को जीवन देने की क्षमता है, तब उसे मृत ही कैसे मान सकते है ? मैंने वर्तमान के साथ संपर्क स्थापित किया, पर अतीत के साथ स्थापित संपर्क को कभी कम नहीं किया। दोनो मे संतुलन बना रहा। मैने हिन्दी मे 'पच्चीस बोल' की व्याख्या लिखी और वह ग्रन्थ 'जीव-अजीव' के नाम से प्रकाशित हुआ। यह मेरी पहली रचना थी—हिन्दी के क्षेत्र में और दर्शन के क्षेत्र मे भी।

प्रो० हीरालाल रसिकदास कापडिया अहिंसा के बारे मे एक ग्रन्थ का संकलन कर रहे थे। उन्होने आचार्यश्री के पास एक प्रस्ताव भेजा—"आचार्य भिक्षु के अहिंसा-सम्बन्धी विचारो को उस ग्रन्थ मे मैं देना चाहता हूँ। मुझे हिन्दी मे उनके विचारो का एक संकलन उपलब्ध कराएँ।" आचार्यश्री उस समय चाडवास (चूरू, राजस्थान) मे विराज रहे थे। उन्होने मुझे "बुलाकर पूछा—क्या तुम हिन्दी मे निबन्ध लिख सकते हो ?" मैंने कहा —"लिख सकता हूँ।" आचार्यवर ने कहा —"अहिंसा के सम्बन्ध मे आचार्य भिक्षु के विचारो पर एक निबन्ध लिखो"। मैंने आचार्यवर के आदेश को शिरोधार्य किया और कार्य प्रारम्भ कर दिया। कार्य की तात्कालिक क्रियान्विति में मेरा विश्वास रहा है, इसलिए किसी भी कार्य को अधर मे लटकाए रखना मेरी प्रकृति मे नही था। निबन्ध लिखने का कार्य शीघ्र सम्पन्न हो गया। यह "अहिंसा"—शीर्षक से एक लघु पुस्तिका के रूप मे प्रकाशित हुआ। अहिंसा के सम्बन्ध मे आचार्य भिक्षु के विचार बडे मौलिक है। शुद्ध साध्य की सिद्धि के लिए शुद्ध साधन होना जरूरी है। इस सिद्धान्त पर आचार्य भिक्षु ने बहुत बल दिया। मेरा अभिमत है कि इस सिद्धान्त पर बल देने वाले और इस पर तार्किक पद्धति से विश्लेषण करने वाले भारतीय मनीषियो मे आचार्य भिक्षु का स्थान अग्रणी है। महात्मा गाँधी भी इस क्षेत्र मे अग्रणी रहे है। 'अहिंसा' पुस्तिका उनके (गाँधीजी के) पास पहुँची। उन्होंने उस पर कई टिप्पणियाँ भी लिखी और आचार्य भिक्षु के बारे मे उनके मन मे एक जिज्ञासा भी जागी।

इन दिनों हमारे धर्म-संघ को प्रबुद्ध लोग रूढ़िवादी मानते थे। दूसरे सम्प्रदाय के लोग कुछ सैद्धान्तिक प्रश्न उपस्थित कर, तेरापंथ को, व्यवहार को विघटित करनेवाला बतलाते थे। इस स्थिति मे एक वैचारिक अवरोध का अनुभव कर रहे थे। आचार्यश्री के मन मे उस अवरोध को मिटाने की तडफ जागी। उन्होने आचार्य भिक्षु के सिद्धान्तों को, दर्शन की भाषा और शैली मे प्रस्तुत करना शुरू किया। मुझे प्रारम्भ से ही यह सौभाग्य मिला है कि मैं, उनकी हर कृति मे उनके साथ रहा। जयाचार्य को आचार्य भिक्षु का भाष्यकार होने का सौभाग्य मिला तो मुझे आचार्य तुलसी का भाष्यकार होने का सौभाग्य मिला और साथ-साथ आचार्य भिक्षु का भाष्यकार होने का सौभाग्य भी मुझे उपलब्ध हुआ। आचार्यश्री ने "जैन-सिद्धान्त-दीपिका" नामक एक संस्कृत-ग्रन्थ लिखा। उसके एक अध्याय मे आचार्य भिक्षु के सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया। दर्शन के स्तर पर सूत्र की शैली मे आचार्य भिक्षु के सिद्धान्तो को प्रस्तुत करने का यह पहला प्रयत्न था। एक दिन डॉ० सतकोडि मुखर्जी को मैंने वह अध्याय सुनाया। उसे सुनकर डॉ० मुखर्जी ने कहा—"यह बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। इतने दिन प्रकाश मे क्यों नहीं आया ? खेद है, आचार्य भिक्षु मारवाड मे जन्मे। यदि वे जर्मनी मे जन्मे होते तो उनका महत्त्व इम्युअल काण्ट से कम नहीं होता।" डॉ० मुखर्जी के विचारों से मुझे एक सन्तोष का अनुभव हुआ। आचार्य भिक्षु के जिस दृष्टिकोण को आचार्यश्री तुलसी दार्शनिक शैली मे प्रस्तुत कर रहे है और मैं जिसका भाष्य कर रहा हूँ, वह दृष्टिकोण सारयुक्त और वर्तमान की समस्या को समाधान देने वाला है। प्रारम्भ से ही मेरी यह दृष्टि रही है कि जो दर्शन या धर्म वर्तमान समस्या का समाधान नहीं देता, वह उपयोगी नहीं हो सकता, और जो उपयोगी नहीं हो सकता वह चिरजीवी नहीं हो सकता। बासी चीज की उपयोगिता कम होती जाती है और एक दिन वह फेंक दी जाती है।

आचार्य भिक्षु ने एक सूत्र दिया था—"बड़े जीवो की रक्षा के लिए छोटे जीवो को मारना अहिंसा नहीं है। छोटे जीवों को मारकर बड़े जीवो का पोषण करना अहिंसा नहीं है।" इस सूत्र ने मुझे बहुत आन्दोलित किया। मैंने मार्क्स और लेनिन के साहित्य को देखा और सामाजिक शोषण और असमर्थ लोगो के प्रति होने वाली क्रूरता के प्रति एक विशेष संवेदना जाग उठी। दान के नाम पर चलने वाले छद्म के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण निर्मित हुआ। मैंने एक लघु पुस्तिका लिखी। उसका शीर्षक था—"उन्नीसवीं सदी का नया आविष्कार।" इस पुस्तिका पर कुछ जैन-पत्रों ने टिप्पणी की—"मुनि नथमलजी साम्यवादी हो गये।" राजनीतिक प्रणाली के रूप में मैं साम्यवादी नहीं बना, पर मार्क्स की विचारधारा के प्रति झुकाव निश्चित ही रहा। अच्छे साध्य के लिए अशुद्ध साधन को काम मे लाया जा सकता है—इस साम्यवादी सिद्धान्त के साथ मैं कभी सहमत नहीं हो सका। आचार्य भिक्षु के "शुद्ध साध्य के लिए शुद्ध साधन" की अमिट छाप मेरे मन पर अंकित थी। उन दिनों गांधीजी के विचार बहुत चर्चित हो रहे थे। वे भी शुद्ध साध्य के लिए शुद्ध साधन के सिद्धान्त पर बल दे रहे थे। दार्शनिक सन्दर्भ मे आचार्य भिक्षु ने और राजनीतिक प्रणालियों के सन्दर्भ में महात्मा गांधी ने इस सिद्धान्त पर जितना बल दिया, उतना शायद कम विचारकों ने दिया है। इसीलिए हरिभाऊ उपाध्याय कहा करते थे—"अध्यात्म और राजनीति की पृष्ठभूमि को अलग करने पर आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी के अहिंसा-सम्बन्धी विचार मे मुझे कोई अन्तर नहीं लगता।" आचार्य भिक्षु को पढ़ने के पश्चात् मैंने महात्मा गांधी को पढ़ा। अहिंसा के विषय मे

दोनो के विचारो मे अद्भुत समानता पाई। अहिंसा मेरा प्रिय विषय बन गया और वर्षों तक मैं इसी विषय पर लिखता रहा और जीवन मे प्रयोग भी करता रहा।

आचार्य श्री तुलसी का चातुर्मासिक प्रवास (वि० सं० २०११) बम्बई मे हुआ। परमानन्द कापडिया ने तेरापंथ की अहिंसा-विषयक दृष्टि पर एक समीक्षा लिखी। उसमे छिछली आलोचना नही थी। आलोचना का स्तर अच्छा था। इससे पूर्व तेरापंथ के अहिंसा-विषयक सिद्धान्त की, इस स्तर की आलोचना नहीं निकली थी। लेख गुजराती-भाषा मे था। उसका शीर्षक था—"अहिंसा की अधूरी समझ।" आचार्यश्री तुलसी ने वह लेख पढा और मुझे बुलाकर कहा—"अब तक मैंने आलोचना का प्रत्युत्तर नहीं दिया। पहली बार यह स्तर की आलोचना निकली है, जिसमे गाली-गलौज नही किन्तु एक चिन्तन है। अब हमे इसका प्रत्युत्तर देना चाहिए। तुम एक लेख लिखो।" मैंने उस पर "अहिंसा की सही समझ" शीर्षक से एक लेख लिखा। श्रीचन्दजी रामपुरिया ने कापडिया का और मेरा—दोनो लेख जैन-भारती-पत्र मे एक साथ छापे। कापडिया ने "प्रबुद्ध जीवन" मे लिखा—"मेरे लेख मे कहीं-कहीं व्यंग्य भी है, कटूक्तियाँ भी है, किन्तु मुनिश्री नयमलजी ने जो लेख लिखा है, उसमे केवल समीक्षा है, न कोई व्यंग्य और न कोई कटूक्ति।" इससे मैं बहुत प्रभावित हुआ। यदि मेरे मन मे अहिंसा के बीज अंकुरित नहीं होते तो मैं व्यंग्य और कटूक्ति से शायद नहीं बच पाता।

मैं जैन-मुनि बना। जैन-दर्शन मेरे अध्ययन का विषय बना। फिर भी इसी स्वीकृति को मैं आवश्यक मानता हूँ कि गाँधी-साहित्य से मुझे जैन-धर्म को आधुनिक सन्दर्भ मे पढने की प्रेरणा मिली। मैंने एक पुस्तक लिखी। उसका नाम था—"आँखें खोलो।" उसके पाँच अध्याय थे। उनमे एक अध्याय था—"जातिवाद।" आचार्यश्री तुलसी ने उसे देखकर कहा—"यह पुस्तक बाहर जायेगी तो समाज मे इससे बहुत चर्चा होगी। अभी इसे रहने दो।" फिर दो क्षण के चिन्तन के बाद कहा—"यह वास्तविकता है। जैन-धर्म मे जातिवाद के लिए कोई स्थान नहीं है। फिर चर्चा से क्यो डरना चाहिए ?" पुस्तक सामने आ गई। कुछ ऊहापोह हुई। साथ-साथ यथार्थ को प्रस्तुत करने का मुझे सन्तोष भी मिला।

गाँधी-साहित्य के माध्यम से मैंने रस्किन और टॉल्स्टाय को पढा तो मुझे और अधिक व्यापक सन्दर्भ मे चिन्तन करने का अवसर मिला। आचार्य भिक्षु ने सम्प्रदायातीत धर्म की नीव को बहुत मजबूत किया था। उन्होने इस पर बहुत बल दिया कि धर्म मुख्य है, सम्प्रदाय गौण। यही सूत्र अणुव्रत के प्रवर्तन का आधार बना। आचार्यश्री ने अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्तन किया तब उसकी समीक्षा इन स्वरों मे हुई—"आचार्यश्री जैन और अजैन—सभी को एक पंक्ति मे ला रहे है।" यदि आचार्य भिक्षु के दृष्टिकोण का सुदृढ आधार उपलब्ध नहीं होता तो काफी समस्याएं सामने आतीं। पर उस उदार दृष्टि ने, सामने आने वाली समस्या को चिरजीवी नही बनने दिया। अणुव्रत-आन्दोलन को दार्शनिक दृष्टि से प्रस्तुत करने का अवसर मिला। उससे मैं बहुत लाभान्वित हुआ। अतीत के चिन्तन को वर्तमान की समस्याओ के सन्दर्भ मे देखने की एक दृष्टि मिली और कुछ मौलिक विचार स्थापित हुए। धर्म के विषय मे यह प्रसिद्ध धारणा है—"धर्म करो, परलोक सुधर जाएगा"। धार्मिको को वर्तमान की कोई चिन्ता नहीं, केवल परलोक को सुधारने की चिन्ता है। धार्मिक व्यक्ति उपासना मे विश्वास करता है, चरित्र मे विश्वास कम करता है। नैतिकता का आचरण

आवश्यक नहीं माना जाता। नैतिकता-विहीन धर्म भी चलता है। अणुव्रत-आन्दोलन के माध्यम से बहुत सारे प्रबुद्ध विचारक व्यक्ति, सम्पर्क में आए और पारस्परिक आदान-प्रदान में, कालातीत और सामयिक— दोनों प्रकार की सचाइयों को समझने का अवसर मिला। अणुव्रत के मंच पर सभी धर्मों और विचार-धाराओं के लोग आने लगे और सभी को सुनने का अवसर मिलता गया। इससे समन्वय की दृष्टि को बहुत बड़ा बल मिला। मैं दर्शन का विद्यार्थी रहा। जैन-दर्शन को पढ़ा। साथ-साथ अन्य दर्शन भी पढ़े। अनेकान्त को पढ़ने के कारण अन्य दर्शनों के प्रति अन्यत्व का भाव नहीं रहा। सत्य सत्य है, फिर उसे किसी भी दर्शन ने अभिव्यक्त किया हो। यही दृष्टि निष्पन्न हुई। अब मेरे सामने दर्शन दर्शन है, सत्य सत्य है, और सब भेद गौण हैं।

एक बार मुझे प्रतिश्याय हुआ और वह बिगड़ गया। एलोपैथी और आयुर्वेदिक इलाज कराए पर कोई लाभ नहीं हुआ। स्थिति चिन्तनीय बन गई। फिर प्राकृतिक चिकित्सा का योग मिला। मैं स्वस्थ हो गया। एक प्रेरणा जागी। लुई कूने को पढ़ा, और भी प्राकृत चिकित्सा की बीसों पुस्तकें पढ़ीं। वहीं से मेरे योगी-जीवन का प्रारंभ हुआ। आसन और प्राणायाम के साथ-साथ ध्यान की रुचि भी जागृत हुई। मैंने ध्वनि-चिकित्सा का भी प्रयोग किया। उदात्त स्वर में "ॐ-आदि" बीज-मंत्रों की ध्वनि करने पर मैं कुछ हास्यास्पद भी बनता रहा, फिर भी कोई अन्तःप्रेरणा काम कर रही थी। मैं उस प्रयत्न को छोड़ नहीं सका। आचार्यश्री की मुझपर अनन्त करुणा रही। मैं जो काम करता, उसमें उनका अनुमोदन और प्रोत्साहन मिल जाता। आचार्यश्री ने स्वयं प्राकृतिक चिकित्सा का प्रयोग किया। आसन, प्राणायाम और ध्यान के प्रयोगों का भी उन्होंने सर्वात्मना समर्थन किया। धीमे-धीमे उन सबकी जड़ें हमारे संघ में गहरी होती चली गई।

मैं इसे निसर्ग ही मानता हूं कि मेरे मन में क्रूरता की अपेक्षा करुणा अधिक प्रवाहित है। कोई भी व्यक्ति अपने में क्रूरता न होने का दावा नहीं कर सकता। करुणा और क्रूरता— दोनों धाराएं हर व्यक्ति में प्रवाहित होती रहती हैं—कोई बड़ी और कोई छोटी। असमर्थ-वर्ग के प्रति समर्थ-वर्ग के अतिक्रमणों की चर्चा जब-जब सुनता हूँ, तब-तब मन करुणा से भर जाता है। हमारी दुनियां के इतिहास में एक बहुत बड़ा भाग अन्याय के इतिहास का है—इसे स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं होती। रोटी, वस्त्र आदि पदार्थ-संबंधी कठिनाइयों को हल करने में भी मनुष्य सफल नहीं हो रहा है, तब अन्याय की कठिनाइयों को हल करना तो और भी अधिक कठिन कार्य है। क्या यह सम्भव हो सकता है—यह प्रश्न आज भी मेरे लिए प्रश्न ही बना हुआ है? साहित्यिक रुचि प्रारम्भ से थी। संस्कृत में कविताएं, कहानियां लिखना चलता ही था। फिर हिन्दी में कविताएं लिखनी शुरू कीं। निबन्ध भी लिखे। तब हिन्दी-जगत् के साहित्यकारों से संपर्क बढ़ने लगा। जैनेन्द्रकुमार, मैथिलीशरण गुप्त, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', डॉ० नगेन्द्र, यशपाल (लखनऊ), रामधारी सिंह 'दिनकर', कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि साहित्यकारों से संपर्क हुआ। केवल संपर्क ही नहीं हुआ, आत्मीयभाव भी बना। फिर भी मन में एक असंतोष-सा बना रहता था। वह बार-बार अन्तःकरण को कचोटता रहता था। "क्या विचार ही अन्तिम यात्रा है? क्या [illegible] ही अंतिम [illegible] है? क्या उससे आगे और कुछ नहीं है?" आधुनिक युग का व्यक्ति होने के लिए आधुनिक ढंग से सोचना और आधुनिक भाव-भाषा और शैली में लिखना पर्याप्त है। पर आधुनिकता, पूर्ण सत्य नहीं है। वह एक सामयिक सत्य है। पूर्ण सत्य त्रैकालिक होता है, केवल सामयिक नहीं होता। एक बार

हम होग प्रभुदयाल डाबडीवाला के घर पर ठहरे हुए थे। सूर्यास्त होने को था। डा० राममनोहर लोहिया वहाँ आए। कुछ समय हमलोग बात करते रहे। सूर्यास्त हो गया। डॉ० लोहिया ने उठते हुए कहा—"चलें, हम भोजन करें"। मैंने कहा—"सूर्यास्त हो गया, अब भोजन नही कर सकते।" वे बोले—"आप आधुनिक मुनि है, फिर यह कैसा प्रतिबन्ध ?" मैंने इसका प्रतिवाद किया—"मैं आधुनिकता मे विश्वास नहीं करता, शाश्वत मे विश्वास करता हूँ। जो शाश्वत मे विश्वास करता है, उसका विश्वास आधुनिकता मे होगा ही, पर केवल आधुनिकता मे नही होगा।

मैं मुनित्व को प्रत्यक्ष ज्ञान की साधना मानता रहा हूँ। वह त्रैकालिक के बोध से ही संभव हो सकती है। केवल आधुनिकता हमे बहुत दूर तक नहीं ले जा सकती। आचार्यश्री तुलसी के अत्यन्त निकट साहचर्य मे मैं रहा। राजनीतिक-सामाजिक कार्यकर्ता, साहित्यकार, पत्रकार आदि सभी प्रकार के लोगो से विचार-विनिमय करने का अवसर मिला। धर्म मे अति श्रद्धा रखने वाले और धर्म को अस्वीकार करने वाले, दोनो प्रकार के लोगों से सम्पर्क होता रहा, पर मैंने उनमे से बहुत लोगो को तनाव की मन स्थिति मे पाया। मुझे लगा तनाव वर्तमान की सबसे बडी समस्या है। जो असत्य निर्णय होते है, वे सब तनाव की मन स्थिति मे होते है। इसलिए वर्तमान मैं मानव-जाति को तनाव-मुक्ति का मार्ग बतलाना उसकी सबसे बडी सेवा है। मैंने इसे अपना जीवन-व्रत बनाया। मुनि अपनी समस्याओ को सुलझाने के लिए जीवन की यात्रा शुरु करता है, किन्तु अपनी समस्या केवल अपनी ही नहीं होती। वे दूसरो की भी होती है। दूसरो की समस्या केवल दूसरो की ही नहीं होतीं, वे अपनी भी होती है। अपने और दूसरो के बीच मे कोई ऐसा लौहावरण नही है, जिससे एक की समस्या, दूसरे मे सक्रान्त न हो। इसलिए समस्या के समाधान का मार्ग सबके लिए सुलभ होता है, इसे मैं श्रेय मानता हूँ। मेरी दृष्टि मे यह जीवन का सबसे बडा सृजनात्मक प्रश्न है। शायद रोटी की उपलब्धि से भी इसका अधिक मूल्य है।

★

२. पुरानी स्मृतियाँ

कहानी बचपन से शुरू होती है। कोई बच्चा आगे क्या होगा, यह सब नियति के गर्भ मे होता है। उसका स्पष्ट बोध स्वयं को भी नही होता और दूसरों को भी नहीं होता। उसका पूर्वाभास स्वय को भी हो जाता है और दूसरो को भी हो जाता है। मैं लगभग आठ वर्ष का था। एक अज्ञात भिक्षु आया। वह घर-घर भिक्षा माँगता हुआ घूम रहा था। वह मेरे पड़ोसी के घर पहुँचा। मेरे एक साथी को देखकर वह बोला—"यह बच्चा एक सप्ताह के बाद चल बसेगा।" वह भिक्षु मेरे घर पहुँचा। उसने मुझे देख कर कहा —"यह बालक योगी होगा, योगिराज होगा।" मैं नहीं जानता था, योगी क्या होता है ? इन दोनो घटनाओ का लोगो को पता चला। बात सारे लोगो में फैल गई। पर एक अनजाने भिक्षु की बात थी इसलिए किसी ने उस पर विशेष ध्यान नहीं दिया। सप्ताह बीता और मेरा साथी अचानक इस संसार से चल बसा। तब लोगो का ध्यान उस भिक्षु की भविष्य-वाणी की ओर गया। उसे खोजा, पर वह कहीं दूसरी जगह जा चुका था। उसका कोई पता नहीं चला।

मेरी बहिन का विवाह था। घर मे काफी लोग आए हुए थे। मेरे मन मे एक तरंग उठी और मैं आँखो पर रूमाल बाँध कर चलने लगा। जब दरवाजे के पास पहुँचा तो सिर भींत से टकरा गया। ललाट के मध्य मे चोट लगी, ठीक उसी स्थान पर जो ज्योति-केन्द्र (पीनियल ग्लैण्ड) का स्थान है। कभी-कभी बाहर का आघात भी भीतर की चेतना को जगाने का निमित्त बन जाता है। चेतना बाहर मे नहीं जागी हो, पर भीतर मे उसका प्रस्फुटन शुरू हो गया।

नौ वर्ष पूरे हो गए। 'मैमनसिंह' (वर्तमान मे बँगलादेश) मे मेरी चचेरी बहिन का विवाह था। उस उद्देश्य से मेरी माँ और चाचा के साथ मैं वहाँ गया। बीच मे हम कलकत्ता पहुँचे। वहाँ हम सभी मेरी बुआ के पास ठहरे। भोजन के पश्चात् मेरे चाचा और उनकी दूकान के कर्मचारी कलकत्ता के बाजार मे सामान खरीदने गए। मैं भी उनके साथ चला गया। वे दूकानो मे सामान खरीदते रहे और मैं इधर-उधर देखता रहा। रास्ते मे चलते-चलते मैं कहीं रुक गया और वे आगे बढ़ गये। न उनको ध्यान रहा और न मुझे ध्यान रहा। मैं अकेला रह गया। मुझे नहीं पता कि मुझे कहाँ जाना है। न कोठी का पता न उसके नम्बर का पता। पर पता नहीं मेरी अन्तर्चेतना को इन सबका कैसे पता चला ? मुझे जब यह लगा कि मैं अकेला रह गया हूँ तब मैंने सबसे पहले एक काम किया कि मैंने अपने हाथ की घड़ी खोली, और गले में से स्वर्ण-सूत्र को निकाला और दोनो को जेब में रख लिया। मैं पीछे मुड़ा और मकान की ओर चल पड़ा। मुझे नहीं पता, कहाँ जाना है, कहाँ जा रहा हूँ ? पर अन्तर्चेतना को कोई पता था, मैं ठीक स्थान पर पहुँच गया। कुछ समय बाद मेरे चाचा को पता चला कि मैं उनसे बिछुड़ गया हूँ। तब उन्होंने मुझे खोजने के लिए बहुत दौड़-धूप की। पुलिस-स्टेशन पर गए। मेरे गुम होने की रिपोर्ट लिखाई और वे मुझे खोजते-खोजते घर आए। नीचे से ही उन्होंने चिल्लाना शुरू कर दिया—"नत्थू हमसे बिछुड़ गया। उसका कोई पता नहीं चला।" उनकी आँखें डबडबाई हुई थीं। वे बहुत परेशान दिख रहे थे। उनको [illegible] कोई बात नहीं बताई। फिर अचानक मुझे भीतर से बाहर लाकर उनके सामने खड़ा

कर दिया। उनको सारी परेशानी दूर हो गई। उन्होंने पूछा—"तू यहाँ कैसे पहुँचा?" मेरे पास इसका कोई उत्तर नहीं था। जीवन मे सब-कुछ उत्तरित नही होता। कितना अच्छा होता कि मनुष्य अनुत्तरित का उत्तर दे पाता।

मेरे पिताजी चार भाई थे। बडे भाई का नाम था गोपीचन्दजी। उनके एक पुत्र था। उनका नाम था महालचन्दजी। युवावस्था मे अचानक उनका देहावसान हो गया। पिता दु.खी, माता दु:खी और पत्नी दु खी। सारा परिवार दु खी। मुझसे वे बहुत स्नेह रखते थे। मुझे भी बडा दु ख हुआ। अन्तर्-मन मे एक चोट लगी। जीवन के प्रति किसी अज्ञात कोने मे एक अनास्था का भाव पैदा हो गया।

मुनि छबीलजी का चातुर्मास हुआ। मैंने जीवन का एक दशक पूरा कर लिया। दूसरे दशक मे प्रवेश हो चुका था। उनके सहवर्ती मुनि मूलचन्दजी ने मुझे प्रेरित किया—"मैं तत्त्व-ज्ञान पढूँ"। मैंने अध्ययन करना शुरू किया। एक दिन मुनि-द्वय ने मुझे मुनि बनने की बहुत हल्की-सी प्रेरणा दी। मेरा अन्त करण झंकृत-सा हो गया, जैसे कोई बीज अंकुरित होना चाहता हो और उस पर पानी की फुहारें गिर जाएँ। जैसे मेरा अन्तर्-मन मुनि बनना चाहता हो और उनकी प्रेरणा की ही प्रतीक्षा हो। मुझे ऐसा ही अनुभव हुआ। मैंने अपनी माँ से कहा—"मैं मुनि होना चाहता हूँ।" माँ ने कहा—"मैं भी साध्वी होना चाहती हूँ। पर कितना कठिन है यह मार्ग और कितनी कठिन है इसकी साधना। तूने सोचा है?" मैंने कोई उत्तर नहीं दिया। अनुत्तरित को उत्तरित करना मुझे जरूरी नहीं लगा। मेरे पिता की छाहँ मुझ पर से बहुत जल्दी उठ गयी थी। मैं अढाई मास का था तब उनका स्वर्गवास हो गया था। यदि कहूँ तो बात अस्वाभाविक लगती है। पर मेरी स्मृति कहती है कि मैंने उन्हें मृत्यु-शैया पर देखा है। भाई कोई था नही। दो बहिनें थीं। दोनो विवाहित।

हमने पूज्य कालूगणिजी के दर्शन करने का निश्चय किया। हम गंगाशहर पहुँचे। पूज्य कालूगणिजी के दर्शन किये। उनके प्रदीप्त मुख-मण्डल की आभा और उनकी वह मुद्रा अब भी मेरी स्मृति मे वैसी ही अंकित है। मुनि मूलचन्दजी ने कहा था—"वहाँ तुम मुनि तुलसी के दर्शन जरूर करना। वे आयु मे छोटे है, पर बहुत भाग्यशाली हैं, उन पर पूज्य कालूगणि की असीम कृपा है।" मैंने वहाँ पूछा—"मुनि तुलसी कहाँ हैं?" एक भाई ने बताया—"वे छत पर बैठे है।" मैं वहाँ गया, दर्शन किए। एकटक उनके सामने देखता रहा। उन्होंने पूछा—"कहाँ से आये हो?" "टमकोर से आया हूँ"—मैने उत्तर दिया। मौखिक प्रश्न और उत्तर बहुत नहीं चला, किन्तु मूक प्रश्नोत्तर बहुत लम्बा चला और वह गहरे मे उतर गया। हमने दीक्षा के लिए प्रार्थना की और उसकी पूर्व स्वीकृति मिल गई। उस दिन वहाँ रुके और फिर गाँव चले आए।

टमकोर एक छोटा गाँव है। उस समय वहाँ कोई राजकीय विद्यालय नही था। मैं गुरुजी की पाठशाला मे पढ़ा। वर्णमाला पढी, कुछ पहाडे पढे। और कुछ विशेष पढने का योग नहीं मिला। ग्यारहवाँ वर्ष आधा बीता। माघ शुक्ला दसमी, वि० स० १९८७ के दिन पूज्य कालूगणि का वरद हस्त हमारे सिर पर टिका। मैं मेरी माता के साथ दीक्षित हो गया। हमारी दीक्षा भंसालीजी के बाग मे हुई। वहाँ से प्रस्थान कर पूज्य कालूगणि गवैयों के नोहरे मे आए। वहीं उनका प्रवास था। वहाँ पहुचते ही उन्होने मुझे निर्देश दिया—"तुम तुलसी के

पास जाओ और वहाँ तुम्हारी शिक्षा-दीक्षा होगी। गंगाशहर में अज्ञात की उर्वरा में एक बीज-वपन हुआ था, उसे अब अंकुरित होने का अवसर उपलब्ध हो गया।

मुनि-दीक्षा स्वीकारने के पश्चात् क्या करना चाहिए—इसकी दिशा मेरे सामने स्पष्ट नहीं थी। अज्ञात जब सक्रिय होता है तब ज्ञात की दिशा स्पष्ट नहीं होती। शायद ऐसा भी होता होगा कि ज्ञात की दिशा स्पष्ट होने पर अज्ञात की सक्रियता कम हो जाती है। लोगों ने मुझे बहुत बार पूछा—"आप इतनी छोटी अवस्था मे मुनि क्यो बने ?" मैं इसका क्या उत्तर देता। कुछ घडे-घडाए उत्तर होते है। मैं उनमे कम विश्वास करता हूँ, इसलिए मैं नहीं कहता कि "मुझे संसार असार लगा इसलिए मैं मुनि बन गया। अथवा जन्म-मरण के चक्र से डरकर मैं मुनि बन गया। अथवा नरक के भय और स्वर्ग के प्रलोभन से मैं मुनि बन गया।" मैं एक ही उत्तर देना पसन्द करूँगा और वही उत्तर देता रहा हूँ कि कोई अज्ञात की प्रेरणा थी और ज्ञात-जगत् की घटना घटी और मैं मुनि बन गया। हम अज्ञात को छोडकर केवल ज्ञात को समझने का प्रयत्न करते है, केवल उसके आधार पर निष्कर्ष निकालना चाहते है, वह सच होने पर भी अधूरा सच होता है, पूरा सच नहीं होता। मैं मुनि बनने और मुनि तुलसी की छत्र-छाया मे नई जीवन-यात्रा चलाने को एक अज्ञात की प्रेरणा ही मानता हूँ। ज्ञात-जगत् मे इसका समाधानकारक उत्तर मुझे उपलब्ध नहीं होगा।

मेरे अध्ययन का प्रारम्भ दसवैकालिक से हुआ। वह एक जैन-आगम है। भाषा उसकी प्राकृत है और मुनि की जीवन-यात्रा सागोपाग निरूपित है। मेरा अध्ययन बहुत मंथर गति से चला। पूरे दिन मे उसके दो-तीन श्लोक कंठस्थ कर पाता था। इस मंथरगति से मुनि तुलसी भी प्रसन्न नहीं थे और पूज्य कालूगणि भी प्रसन्न नहीं थे। वे चाहते थे मैं त्वरित गति से आगे बढ़ूँ। कुछ दिन मैं उनकी चाह को पूरा नही कर सका। संस्कृत और प्राकृत का कभी नाम भी नहीं सुना था। अपरिचित से परिचित होने मे प्रारम्भिक कठिनाई होती है। मैंने भी इस कठिनाई का सामना किया। थोड़े दिनो बाद वह कठिनाई दूर हो गई। मेरी गति तेज हुई और मैं प्रतिदिन ८-१० श्लोक कंठस्थ करने लगा। अब सब प्रसन्न थे।

मैंने अनुभव किया कि मैं उपालम्भ और साधुवाद, भय और प्रेम—दोनो का मिश्रित जीवन जी रहा हूँ। मुनि तुलसी प्रमाद होने पर उलाहना भी बहुत देते और सही कार्य करने पर साधुवाद भी देते। मेरे प्रति उनके अन्तःकरण मे आकर्षण भी था और वे अनुशासनात्मक भय भी बनाए रखते थे। नीति का वचन है—भय के बिना प्रीति नहीं होती। मेरा अनुभव यह है कि प्रीति के बिना भय नहीं होता। दोनो सचाइयाँ अधूरी है, पर दोनो में [illegible] है। पूज्य कालूगणिजी जोधपुर चातुर्मास कर रहे थे। उस समय मुनि तुलसी की पूरी पाठशाला चल रही थी। उसमें आठ-दस साधु पढ़ रहे थे। अनुशासन कठोर था। केवल अध्ययन। परस्पर बातचीत करने के लिए [illegible] नहीं। हम पढ़ते-पढ़ते थक जाते। मन होता परस्पर मिलें और बातचीत करें। मुनि तुलसी के सामने [illegible] नहीं [illegible]। वे [illegible] दूसरे स्थान में जाते तब हम बातचीत करने बैठ जाते। उनके आने का [illegible] सब [illegible] पाठ कंठस्थ करने लग जाते। कभी पता नहीं चलता तो उलाहना मिलता। [illegible] हम एक साधु को [illegible] पास [illegible] देते। वह हमें मुनि तुलसी के आने की सूचना देता और हम [illegible]। यदि हमारे मन में उनके प्रति प्रीति नहीं होती तो हम उलाहनों के भय से भी मुक्त

हो जाते। जो केवल डरता है वह ढीठ बन जाता है। डर के पीछे भी एक बंधन-सूत्र होता है और वह है—प्रीति। छापर की घटना है। एक दिन मुनिवर ने मुझे कहा—"आज तुम्हें 'विगय' नही खानी है।" यह एक भूल का दंड था और मेरे जीवन मे ऐसे प्रायश्चित्त का यह पहला ही अवसर था। भोजन का समय हुआ। मुनिश्री चंपालालजी, मुनिवर और मैं – तीनो एक साथ भोजन करते। गोचरी मे आम का रस आया। "मैं नही खाऊँ और वे खाएँ"—यह उन्हे अच्छा नही लगा। उन्होने कहा—"तुम खाओ।" मैंने कहा—"नही खाऊँगा। आपने पहले कहा था कि तुम्हे विगय नहीं खानी है तो अब मैं कैसे खाऊँ?" मैं मेरी बात पर अड गया। हमारी भोजन की मंडली बडी थी। मुनिश्री मगनलालजी की सन्निधि मे लगभग २०-२५ साधु एक मडली मे भोजन करते थे। उन सबके बीच कोई बातचीत नहीं की जा सकती। मुनिवर ने कुछ शब्दो के संकेतो से मुझे विवश कर दिया और मैं अपने बाल-हठ को छोडने के लिए तैयार हो गया। एक किशोर के विकास मे सहयोगी बनना बहुत कठिन बात है। उसके मन को तोडकर चलने वाला भी उसका सहयोगी नही बन सकता और सब-कुछ उसके मन-चाहा करनेवाला भी उसका सहयोगी नही हो सकता। सहयोगी वह हो सकता है जो सब-कुछ मन-चाहा भी न करे और सब-कुछ अनचाहा भी न करे, दोनो के बीच संतुलन स्थापित कर सके। अध्ययन मे मन कम लगता है। हमने (मैंने तथा मुनि बुद्धमल्लजी ने) अभिधान-चिंतामणि को कंठस्थ करना शुरू किया। बडी मुश्किल से दो-तीन श्लोक कंठस्थ कर पाते। हमारी रुचि इधर-उधर घूमने और बातें करने मे ज्यादा रही। हमे इस स्थिति से बचाने के लिए मुनिवर हमारे साथ श्लोक रटते रहते। दो-तीन श्लोक रटने मे आधे घण्टे का समय बीत जाता, फिर दिन-भर हम छुट्टी ही मनाते। हँसना और मुस्कुराना – यह कोई सहज-सी आदत बन गई थी। बहुत बार ऐसा होता कि कुछ शब्दो के उच्चारण-काल मे हम हँस पडते। तब हमारा पाठ बंद हो जाता। हम समझते बहुत अच्छा हुआ। फिर हमे राजी कर अध्ययन शुरू कराया जाता। किशोरावस्था की कुछ जटिल आदतो को यदि मनोवैज्ञानिक ढंग से न सम्हाला जाता तो शायद हम बहुत नही पढ पाते। हम जब श्लोक कंठस्थ नही करते तब हमे खडा कर दिया जाता। खडा रहना मेरे लिए बहुत कठिन था। आधे घण्टे तक खडा रहना बहुत असह्य हो जाता, तब पानी पीने का या और किसी काम का बहाना लेकर मैं इधर-उधर घूम आता। यह स्थिति बहुत लंबे समय तक नही चली, लगभग दो-ढाई वर्ष तक वह चली। उसके बाद हमे यथार्थ का कुछ-कुछ अनुभव होने लगा। जब तक यथार्थ का अनुभव नहीं हुआ तब तक इस कठोर अनुशासन मे रहना बडा कठिन लगा। एक बार हम पूज्य कालूगणिजी के पास पहुँचे। हमने उनके चरणो मे एक विनम्र प्रार्थना रखी। हमने कहा—"गुरुदेव! तुलसी स्वामी हम पर कडाई बहुत करते है।" पूज्य गुरुदेव ने पूछा—"किसलिए?" हमने कहा—"पढाने के लिए।" फिर पूछा—"और किसी लिए तो कडाई नहीं करता?" हमने कहा—"नहीं।" तब गुरुदेव बोले—"पढाने के लिए तो वह करेगा, इसमे तुम्हारी नहीं चलेगी।" हम अवाक् रह गए। आए थे आशा लिए, हाथ लगी निराशा। आचार्यवर ने कहानी सुनाई—"राजा के पुत्र के सिर पर अध्यापक ने अनाज की पोटली रख दी। पढाई समाप्त हुई। विद्यार्थी की परीक्षा के लिए अध्यापक राज-सभा मे जा रहा था। बीच मे अनाज की दूकान आई। गेहूँ खरीदे। उनकी पोटली बाँधी और विद्यार्थी-राजकुमार को उसे उठाने को कहा। वह अस्वीकार कैसे करता, पर वह दब गया भार से और लज्जा से। परीक्षा हुई। वह सब विषयो मे उत्तीर्ण हुआ। राजा बहुत प्रसन्न हुआ। अध्यापक से पूछा—"राजकुमार ने विद्यार्जन कैसे किया?" अध्यापक ने

कहा—"बहुत अच्छे ढंग से किया, विनयपूर्वक किया।" राजकुमार से पूछा—"गुरुजी ने तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार किया ?" राजकुमार बोला—"बारह वर्ष तक तो अच्छा किया पर आज ।" राजा ने पूछा—"आज फिर क्या हुआ ?" राजकुमार ने पोटली की बात सुनाई और राजा का चेहरा तमतमा उठा। पूछा तो उत्तर मिला—"वह व्यवहार भी पढ़ाई का एक अंग था। वह पाठ राजकुमार को ही पढ़ाना था। आगे चलकर दण्ड वही देगा। भार उठाने में कितना कष्ट होता है, इसका भान करना था। यह भान हो गया है। अब वह किसी से अधिक भार नहीं उठायेगा।" राजा के पास अब कहने के लिए कुछ नहीं था।" आचार्यवर ने कहा—"अध्यापक राजकुमार से भी पोटली उठवा सकता है, तब फिर ।"

हमारे पास भी वापस कहने को कुछ नहीं था। हम चले आए। मन में और चिन्ता हो गई कि मुनिवर को पता चल जायेगा तो वे क्या कहेंगे ? पढ़ने को कैसे जाएँ ? सूर्योदय हुआ। श्लोक वाचन के लिए सकुचाते से गये और बाँच कर बिना कुछ उलाहना लिए आ गए। कई दिनों तक मन में भय भरा रहा, पर आपने कभी हमें भयभीत नहीं किया। आपको उस स्थिति का पता लग गया, पर हमें यह पता नहीं लगने दिया कि आपको उस स्थिति का पता लग गया है। अनुशासन एक कला है। उसका शिल्पी यह जानता है कि कब कहा जाए और कब सहा जाए। सर्वत्र कहा ही जाए तो धागा टूट जाता है और सर्वत्र सहा ही जाए तो वह हाथ से छूट जाता है। इसलिए वह मर्यादाओं की रेखाओं को जानकर चलता है।

हमारे संघ में उन्हीं दिनों व्याकरण के दो ग्रन्थ तैयार हुए। मुनि चौथमलजी स्वामी और पंडित रघुनन्दनजी के संयुक्त प्रयास से 'भिक्षु-शब्दानुशासन' तैयार हुआ और 'कालू-कौमुदी' का प्रणयन मुनि चौथमलजी स्वामी ने किया। हम सबने 'कालू-कौमुदी' का पाठ कण्ठस्थ करना शुरू किया और उसकी साधनिका भी प्रारम्भ की। मेरी स्मृति और बुद्धि—दोनों का विकास हुआ नहीं था। मेरे और सब साथी, साधनिका को हृदयंगम करते जाते थे और मुझे उसे समझने में बड़ी कठिनाई हो रही थी। बीदासर की घटना है। स्वरांत पुल्लिंग की साधनिका चल रही थी। हमें बताया गया 'जिन' शब्द की प्रथमा विभक्ति के एकवचन में 'सि' प्रत्यय का योग करने पर 'जिनः' रूप बनता है। मैंने पूछा—"हम 'सि' ही क्यों जोड़ें ? इसके स्थान पर 'ति' क्यों न जोड़ें ?" कितना अजीब प्रश्न था। कोई मेधावी छात्र ऐसा प्रश्न नहीं कर सकता। पर मैं बहुत छोटे गाँव से निष्क्रमण कर के आया था और गाँव में मेरी बुद्धि को विकसित होने का अवसर नहीं मिला, इसीलिए यह कठिनाई आ रही थी। [illegible] ने 'ग्राम' शब्द की व्युत्पत्ति की है—"जो बुद्धि आदि गुणों का ग्रास करता है, वह ग्राम है।" बौद्धिक विकास के लिए एक वातावरण चाहिए। ग्राम में वैसा वातावरण नहीं मिलता, इसलिए ग्राम में रहने वालों की बुद्धि कुंठित हो जाती है। उनमें बुद्धि का बीज नहीं होता—ऐसा नहीं है। उसे प्रस्फुटित होने की [illegible] नहीं मिलती, यह सच्चाई है। मैं एक छोटा बच्चा था। मुझे बुद्धि के विकास और कुंठा—ये दोनों [illegible] नहीं थे। मेरी [illegible] का [illegible] अवस्था के साथ जुड़ा हुआ था। एक निश्चित अवस्था से पहले बुद्धि का विकास नहीं होता—मेरी [illegible] था।

[illegible] था। [illegible] पर [illegible] दृष्टि से [illegible] वह [illegible] गुरुदेव के सामने बैठा था। उन्होंने मेरे भावों को

पडा और पूछा—"क्या नाश्ता नही मिला ?" मैंने कहा—"नहीं मिला।" "क्या आजकल बन्द हो गया ?" मैंने कहा—"हाँ, अभी बन्द है।" पूज्य गुरुदेव ने तत्काल साध्वी सोनाँजी से कहा—"नाश्ता ला दो।" टूटी हुई शृंखला फिर जुड गई। नाश्ता कोई बडी बात नही थी। प्रश्न है स्नेह का, करुणा का। यदि बालक को स्नेहपूर्ण वातावरण मिलता है तो विकास की सम्भावनाएँ बढ जाती है। ताडना मे सिकुडन पैदा होती है और स्नेह मे विकास। ताडना परिस्थिति विशेष मे होने वाली विवशता है। स्नेह मनुष्य का नि:सर्ग है। स्नेह की भावना के साथ, जल का सिंचन पा एक पौधा भी लहलहा उठता है—तब मनुष्य की बात ही क्या। मैंने ताडना बहुत कम पाई और स्नेह बहुत अधिक पाया। विकास का निमित्त पाने मे मैं सचमुच भाग्यशाली रहा हूँ।

पूज्य कालूगणि का एक विशेष स्वभाव था। उनके पास बैठे बाल-मुनियो को वे कुछ-न-कुछ सिखाते रहते। एक बार उन्होने हमे संस्कृत का एक श्लोक सिखाया—

बालसखित्वमकारणहास्यं, स्त्रीषुविवादमसज्जनसेवा
गदभयानमसंस्कृतवाणी, षट्सु नरो लघुतामुपयाति

इस श्लोक का कुछ अनुदान हमे मिला। हम लघुता की दिशा मे नही बढना चाहते थे। संस्कृत के प्रति हमारा अनुराग बढा और अकारण हँसने की आदत भी बदलने लगी।

एक बार उन्होने हमे एक दोहा सिखाया—

हर-डर गुरु-डर गाम-डर, डर-करणी में सार
तुलसी डरै सो ऊबरै, गाफिल खावै मार

इस दोहे ने एक भावना पैदा की। हम मुनि तुलसी से डरने लगे। मैं गोस्वामी तुलसी से परिचित नहीं था। मुनि बुद्धमल्लजी भी परिचित नही थे। हमने उसका यही अर्थ लगाया कि गुरुदेव हमे यह सम्बोधि दे रहे है कि जो तुलसी से डरता है वह उबर जाता है। सचमुच हमने इस सम्बोधि को स्वीकारा और हम उबर गए।

पूज्य कालूगणि हमारे अध्ययन के बारे मे कभी-कभी जानकारी लेते थे। वे मुख्यरूप से मुनि तुलसी पर ही निर्भर थे। बीदासर की घटना है। पूज्य गुरुदेव ने सभी बाल-साधुओ को हस्त-लिपि दिखलाने को कहा। मेरे सहपाठी और समवयस्क सभी साधुओ की हस्तलिपि सुन्दर हो गई थी। मेरी हस्तलिपि सुन्दर नही बन पाई। मेरी हस्तलिपि जैसे ही सामने रखी गयी, पूज्य गुरुदेव मुस्का दिए। उन्होंने कोई टिप्पणी नहीं की। मंत्री मुनि मगनलालजी स्वामी वही बैठे थे। उन्होने कहा—"नाथूजी (वे मुझे इसी सम्बोधन से सम्बोधित किया करते थे) के अक्षर तो छत पर सुखाने जैसे है।" छत पर उपले सुखाये जाते हैं। ये अक्षर भी वैसे ही टेढे-मेढे है। यह था उनके कहने का भाव। मुझे कुछ संकोच का अनुभव हुआ। बात वही समाप्त हो गई। अन्तर्मन मे बात समाप्त नहीं हुई। "मैं पीछे नहीं रहूँगा, सबसे आगे जाऊँगा"—अन्तश्चेतना मे यह संकल्प जाग गया और दीक्षा-पर्याय के तीन वर्ष पश्चात् वह सकल्प बाह्य जगत् मे प्रकट होने लगा।

पूज्य कालूगणि बीकानेर राज्य के थली-प्रदेश से प्रस्थान कर जोधपुर चातुर्मास करने जा रहे थे। डीडवाना पहुँचते-पहुँचते मेरी आँखो मे 'दाने' पड गए। उपचार किया पर कोई लाभ नही हुआ। आँखो से पानी बहने लगा। पाठ बिल्कुल बन्द हो गया। मेरे सहपाठी साधुओ को आगे बढने का अच्छा मौका मिल गया। डीडवाने

मे मुनि तुलसी को नाममाला सुना रहा था। उच्चारण मे अशुद्धियाँ आने लगीं। मुनिवर ने उलाहने के भाव मे कहा—"मैं तुम्हें आगे कुछ नहीं पढाऊँगा। आगे का अध्ययन बन्द करो। जो ग्रन्थ कंठस्थ किए हुए हैं, उन्हें शुद्ध करो, फिर आगे बढो।"

हम विहार करते-करते लूनी-जंक्शन पहुँचे। पूज्य कालूगणि ने बालोतरा की ओर विहार किया और मेरी आँखो मे पानी ज्यादा गिरने लगा, इसलिए मुझे मुनि हेमराजजी के साथ जोधपुर भेज दिया। पढना बिल्कुल बन्द था। मुनि हेमराजजी ने मुझे प्रोत्साहित किया—"तुम प्रतिदिन कंठस्थ-पाठ का जितना पुनरावर्तन करोगे उतना मैं अंकित करता जाऊँगा। और पूज्य कालूगणि के यहाँ पधारने पर उन्हे सब निवेदित कर दूँगा।" मैंने पुनरावर्तन शुरू किया। अभिधान-चिन्तामणि के पन्द्रह-सौ से अधिक श्लोक है। मैं एक दिन मे कई बार उसका पुनरावर्तन कर लेता। ढाई मास के पश्चात् पूज्य गुरुदेव चातुर्मास के लिए वहाँ पधारे। मुनि हेमराजजी ने मेरे पुनरावर्तन का लेखा-जोखा उनके चरणों मे प्रस्तुत किया। वह पुनरावर्तन कई लाख श्लोको की संख्या का हो गया था। पूज्य कालूगणि बहुत प्रसन्न हुए और मुझे साधुवाद दिया और साथ-साथ मुनि हेमराजजी को भी साधुवाद मिला। मैं मेरे विद्या-गुरु के पास गया। मैंने पाठ के पुनरावर्तन की बात बताई। वे प्रसन्न हुए, पर पूरे प्रसन्न नहीं हुए। उन्हें पता था कि मैंने गलतियों से भरे पाठ का ही पुनरावर्तन किया है। जब उन्हे दशवैकालिक, कालूकौमुदी का पूर्वार्ध और अभिधान-चिंतामणि का पाठ सुनाया तो वे प्रसन्न ही नहीं हुए, आश्चर्य से भर गए। "पाठ शुद्ध कैसे हुआ"—इस आश्चर्यपूर्ण प्रश्न का उत्तर कौन देता? मैं पुस्तक तो पढता नहीं था। केवल पुनरावर्तन करता था। मुझे स्वयं भी पता नहीं कि पाठ शुद्ध कैसे हो गया। आज उस घटना का उत्तर आसान लगता है। आँखें बाह्य जगत् के साथ अधिकतम सम्पर्क स्थापित करती है और अधिकतम विक्षेप उत्पन्न करती हैं। उन दिनों आँखों का सहज ही संयम हो रहा था। बाहर जानेवाली चेतना भीतर मे लौट रही थी। जब बाहर जाती चेतना भीतर मे लौट रही थी तो भीतर की सक्रियता बढ रही थी। कोई आश्चर्य नहीं कि जिस [illegible] कंठस्थ किया था, उसी पाठ की चेतना जाग गई और पाठ-शुद्धि अपने आप घटित हो गई। अब मेरी [illegible] बदल चुकी थी। सबसे पीछे रहनेवाला मैं, अब दौड मे आगे आने की तैयारी करने लगा। मैंने निश्चय किया—"अब मैं सबसे आगे रहूँगा।" मैंने अपने साथियों से पूछा कि वे कालूकौमुदी के उत्तरार्ध का कौन-सा [illegible] कर रहे है? पर किसी ने बताया नहीं। मैंने कंठस्थ करने की गति तेज कर दी। चातुर्मास पूरा [illegible] उनसे आगे निकल गया और पीछे किसी से भी नहीं रहा। चातुर्मास के मध्य मे कालूगणि ने [illegible] परीक्षा ली। उसमे भी मेरा स्थान अच्छा रहा। उस सफलता ने भावी सफलताओं [illegible] दिया। 'मोटा' गाव मे पाठ के उच्चारण की परीक्षा हो रही थी। पूज्य कालूगणि स्वयं [illegible] और मन्त्री मुनि मगनलालजी पास मे बैठे थे। कुछ विद्यार्थी-साधुओं की परीक्षा हो चुकी [illegible] मुझ [illegible] मे आया। मन्त्री मुनि ने कहा—"नाथूजी! आओ, और इस पाठ [illegible] और उसमे सफल रहा। मन्त्री मुनि बोले—"आज तो यह बहुत [illegible] ने कहा—अभी बच्चा है। "अभी सफलता का क्या पता चले?" उन्होंने [illegible] —

मैंने इसे कंठस्थ कर लिया। मुनिश्री तुलसी ने आचार्य हेमचन्द्र का प्राकृत-व्याकरण कंठस्थ करना शुरू किया। पूज्य गुरुदेव ने मुझे कहा—"तुम भी कंठस्थ करो।" मुझे कुछ मानसिक संकोच हुआ—"मैं मेरे विद्या-गुरु के साथ कैसे कर पाऊँगा ?" पर मुनिवर ने यही चाहा और प्राकृत-व्याकरण को कंठस्थ करने मे उन्होने मुझे अपना साथी बना लिया।

मैंने जोधपुर मे आँखों की चिकित्सा कराई। कुछ लाभ हुआ। पर पर्याप्त लाभ नही हुआ। दानों की चुभन और पानी गिरना—ये चलते रहे। मुनिवर ने अनेक उपाय किये। वे केवल अध्ययन ही नहीं अपितु जीवन की सारी व्यवस्था को सँभाले हुए थे। आँख का प्रश्न बहुत बड़ा प्रश्न है। हम लोग 'खेखा' मे थे। आँखो की चुभन के कारण नींद नहीं आ रही थी। मन उद्वेलित हो उठा। मन मे संकल्प और विकल्प का जाल-सा बिछ गया। सोचा आँखों की यही स्थिति रही तो जीवन व्यर्थ ही चला जायेगा। मैं अध्ययन नहीं कर पाऊँगा और न ही विकास कर पाऊँगा। पूज्य गुरुदेव के साथ भी कैसे रह सकूँगा ? क्या मुझे मुनिवर से भी अलग रहना पड़ेगा ? लम्बे समय तक ये संकल्प मुझे सताते रहे। फिर अचानक आस्था का स्वर जागा। रात के चार बजे होंगे। मन में अकल्पित शक्ति उतर आई। मन-ही-मन मैंने कहा—"मैं बिल्कुल ठीक हो जाऊँगा। मेरी आँखो की बीमारी ठीक हो जायेगी और मैं अपने लक्ष्य तक पहुँच पाऊँगा।" दिन मे मैंने सारी बात मुनिवर को बताई। उन्होंने मुझे आश्वासन दिया। मेरा मन और अधिक हल्का हो गया। उन्होंने उपचार की ओर अधिक ध्यान दिया। अनेक औषधियों का प्रयोग किया, पर लाभ नहीं हुआ। उदयपुर मे दानों को मिश्री से घिसना शुरू किया। उससे कुछ लाभ हुआ और बीमारी की भयंकरता समाप्त हो गई। मैं अनुभव करता हूँ कि मेरे विद्या-गुरु ने मुझे [illegible] ही दान नहीं किया, चर्म-चक्षुओं का भी दान दिया।

मुनि [illegible] व्याख्यान की सामग्री का संकलन करते थे। मेरे मन मे भी यह भावना जागी। मैंने भी [illegible] का निर्णय किया। मुनिवर को पता चला। उन्होने मनाही कर दी। मुझे ठेस लगी। उस समय [illegible] नहीं थी, पर विद्यार्थियों में होड़ चलती थी। कोई एक विद्यार्थी-साधु, व्याख्यान की सामग्री [illegible] मैं क्यों नहीं करूँ ? मैंने फिर आग्रह किया। मुनिवर अप्रसन्न हो गए। मैं इस विषय मे [illegible] कि वे अप्रसन्न न हों। पर कभी-कभार वे अप्रसन्न हो जाते तो उन्हें प्रसन्न किये बिना मुझे [illegible] नहीं मिलता था। [illegible] सायंकालीन प्रतिक्रमण के पश्चात् मैं उन्हें वन्दना करने गया। मैंने विनम्र स्वर मे कहा—"[illegible] भूल [illegible] तो मुझे बताएँ। मुझे क्षमा करें। आप अप्रसन्न न रहें।" वे नहीं बोले। मैं अपना [illegible] वन्दना की मुद्रा मे बैठा रहा। फिर भी वे नहीं बोले। लगभग दो घण्टे बीत [illegible] सोने का समय हो गया। वे पूज्य [illegible]गणिजी के पास चले गये और मैं मुनिश्री [illegible] के पास सोने के लिए चला गया।

[illegible] मुनिवर [illegible] भाई थे। हमारी रहन-सहन की सारी व्यवस्था वे ही [illegible] कठोर अनुशासन मे [illegible] थे। मुनिश्री चम्पालालजी स्वामी का अनुशासन भी [illegible] निरीक्षण रखते और [illegible]-सी भूल होने पर बहुत अप्रसन्न हो जाते। [illegible] था। याद कुछ देती है तो उसकी चोट भी सह ली जाती है।

तैयार होकर वहाँ चला जाता। पूज्य गुरुदेव कहते—"गाँठ ठीक से नहीं लगी।" वे उसे अपने हाथों से खोलते और फिर अपने हाथों से ही गाँठ लगाते। लंबे समय तक यह सिलसिला चला। इस छोटी-सी घटना ने क्या यह पाठ नहीं पढ़ाया कि मन की जटिल ग्रन्थियों को खोलना हम सीख जाएँ और कोई गाँठ पड़े तो भी वह इतनी उलझी हुई न हो, जिसे खोलना कठिन बन जाए।

मालवा की यात्रा हो रही थी। सर्दी का मौसम था। हमारी संघीय व्यवस्था के अनुसार, सोने का स्थान विभाग से निश्चित होता है। हम दीक्षा-पर्याय में बहुत छोटे थे। दीक्षा-पर्याय में बड़े साधुओं को अच्छा स्थान मिल गया और हमें सोने के लिए एक खुला स्थान मिला, जिसके कई दरवाजे थे। किंवाड बिल्कुल नहीं थे। मुनिश्री चम्पालालजी स्वामी को पता चला, तब वे आये और उन्होंने हम सब से कहा—"अपने-अपने सिरहाने में जो नया कपड़ा है, वह निकालो।" हमने निकाल दिए, उन्होंने कपड़ों को तानकर एक तम्बू-सा खड़ा कर दिया। चारों ओर से बन्द एक कपड़े का कमरा-सा बन गया। हमने सीखा—"हर अपाय के लिए उपाय होता है। यदि उपाय की मनीषा जाग जाए तो अपायों को निरस्त करने में कोई कठिनाई नहीं होती।

पूज्य कालूगणि की जन्म-भूमि छापर में मर्यादा-महोत्सव का आयोजन हो रहा था। मुनिवर वहाँ नहीं थे। शारीरिक अस्वस्थता के कारण लाडनूं में ही रह गए थे। सुखलालजी स्वामी और मुनि अमोलकचन्दजी लाडनूं से छापर आए। उन्होंने आचार्यवर से प्रार्थना की—"मुझे वहाँ भेजा जाए।" आचार्यवर ने उसे स्वीकार कर लिया। साध्वी-प्रमुखा झमकूजी को इसका पता चला। मेरे रजोहरण का प्रतिलेखन वे करती थीं। मध्याह्न के समय में उनके पास गया। उन्होंने कहा—"आप लाडनूं जा रहे हैं?" मैंने कहा—"जा रहा हूँ।" वे बोलीं—"फिर आपको गुरुदेव अपने पास नहीं रखेंगे, सदा के लिए अलग विहार करने वाले साधुओं के साथ भेज देंगे।" मैं कुछ असमंजस में पड़ गया। मैं पूज्य गुरुदेव के पास पहुँचा, साध्वी-प्रमुखा ने जो बात कही वह बतादी। पूज्य गुरुदेव ने मृदु मुस्कान के साथ कहा—"तुम तुलसी के पास लाडनूं चले जाओ। कोई चिन्ता मत करो।" मैंने उन मुनि-द्वय के साथ लाडनूं के लिए विहार किया। बीच में हम लोग एक दिन सुजानगढ़ रुके। वहाँ नथमलजी स्वामी का आतिथ्य स्वीकार किया। दूसरे दिन लाडनूं पहुँचे। मुनिवर ने तथा अन्य सभी साधुओं ने हमारी अगवानी की। अलग रहने में मुझे जो कठिनाई अनुभव हो रही थी, उसका समाधान हो गया। अध्ययन फिर से चालू हो गया। मुनिवर को भी पूज्य कालूगणि से अलग रहने के कारण एक रिक्तता अनुभव हो रही थी। उसे यत्किंचित् मात्रा में भरने का श्रेय मुझे प्राप्त हुआ, यह मैं मानता हूँ। एक दिन की घटना है। सभी साधु गोचरी के लिए गए हुए थे। मैं मुनिवर के पास बैठा था। उन्होंने मुझे अध्ययन के लिए प्रेरणा दी, जीवन-विकास के कुछ सूत्र बताए और फिर कहा—"तुम भी मेरे जैसे बनोगे?" मैंने कहा—"मुझे क्या पता? आप बनाएँगे तो बन जाऊँगा।" मुझे दूसरे साधु बहुत भोला समझते थे। मैं भोला अवश्य था, पर वे जितना समझते थे उतना नहीं था। सरलता मुझे प्रिय थी। कपट, प्रपंच, छलना के प्रति मेरे मन में घृणा थी। मैं सबके प्रति निश्छल व्यवहार करना पसन्द करता था। मैं अपने प्रति, अपने हितों के प्रति [illegible] था। मैंने अपने लिए कुछ सफलता के सूत्र निश्चित किए थे। मैं ऐसा कोई काम नहीं करूँगा जो मेरे विद्यागुरु को अप्रिय लगे। मैं ऐसा कोई काम नहीं करूँगा जो मेरे विद्यागुरु को यह सोचना पड़े कि मैंने जिस व्यक्ति का निर्माण किया वह मेरी धारणा के अनुरूप नहीं बन सका। मैं किसी भी व्यक्ति का अनिष्ट-चिन्तन

है। जीवन-निर्माण में छोटी-छोटी बातें बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। प्रतिक्रमण के पश्चात् मैं मंत्रीमुनि श्री मगनलालजी स्वामी के पास गया। उन्होंने सहजभाव से दो बोल कहे, वे मेरी अहंकार-मुक्ति की साधना मे संबल बन गए। उन्होंने कहा—'विद्या का और गुरु-कृपा का अहंकार नहीं होना चाहिए। हम मुनि है। हम किस बात का अहंकार करें। माँगना बहुत छोटा काम है। हम रोटी के लिए दूसरो के सामने हाथ पसारते है, फिर अहंकार किस बात का? न जाने कितनी बार यह जीव, बेर की गुठली बन कर पैरो से रौंदा जा चुका है'। फिर अहंकार किस बात का? इन छोटे-छोटे बोलों ने मन की गहरी पर्तों को छू लिया। अहंकार मेरी मृदुता पर कभी आक्रमण नहीं कर सका।

वि० सं० २००१ का चातुर्मासिक प्रवास मैंने सरदार शहर मे किया। आचार्यश्री के पास रहकर मैं जो अध्ययन कर सकता था, वह वहाँ नहीं हुआ। चातुर्मास के पश्चात् मैं फिर आचार्यवर के पास पहुँचा और फिर अध्ययन का क्रम चालू हो गया। एक मुनि ने कहा—"आपने इनको अलग क्यों भेजा?" आचार्यश्रीने कहा - "इनका स्वभाव संकोचशील बहुत है। संकोच को कम करने के लिए मैंने इन्हें अलग भेजा। व्याख्यान देना बहुत जरूरी है। यहाँ मेरे पास व्याख्यान देने की कला भी नहीं सीखी जाती। इसलिए भी अलग भेजना जरूरी था।' मैं यह सारी बात एक तटस्थ श्रोता की भाँति सुन रहा था। मैंने सोचा—"मेरे आचार्य मेरे लिए जो भी प्रिय या अप्रिय करते हैं, वे किसी चिन्तन के साथ करते है, मेरे हितो को ध्यान मे रखकर करते है।" इसलिए आचार्यश्री जो भी करें उनमें तार्किक बुद्धि का प्रयोग अपेक्षित नहीं लगता। मैं दर्शन-शास्त्र और तर्क-शास्त्र का विद्यार्थी था फिर भी मैं आचार्यश्री के आदेशों-निर्देशों को प्राय बिना तर्क के स्वीकार करने मे सफल रहा हूँ। मुझे आचार्यवर पर विश्वास रहा है और वे मुझ पर विश्वास करते रहे है। कलकत्ते में जापान द्वारा बमबारी हुई। तेरापंथी-महासभा के पुस्तकालय की हजारों-हजारों पुस्तकें गंगाशहर में लाई गई। आचार्यवर का वहाँ चातुर्मास हुआ। मुझे संस्कृत और प्राकृत की बहुत पुस्तकें पढ़ने का अवसर मिला। मैं मानता हूँ, उस चातुर्मास मे मेरे अध्ययन की नई दिशाएँ उद्घाटित हुईं। मैं सायं प्रतिक्रमण के पश्चात् आचार्यवर की वन्दना करने गया। पास मे ही मंत्री मुनि मगनलालजी स्वामी बैठे थे। वन्दना के अनन्तर उन्होंने पूछा—"आजकल क्या कर रहा है?" मैंने कहा—'कर्म-ग्रन्थ पढ रहा हूँ। तत्त्वार्थसूत्र की टीका पढ़ रहा हूँ और भी कुछ नाम गिनाए। वे तत्काल आचार्यश्री की ओर मुड़े और बोले—'महाराज! यह इतने ग्रन्थ पढ़ रहा है। मूल धारणा मे पक्का तो है न? कोई खतरा तो नहीं है?' आचार्यवर ने कहा—कोई खतरा नहीं है। सब ठीक है। विश्वास विश्वास से बढ़ता है। गुरु जब इतना विश्वास करे तो शिष्य भी उस विश्वास की रक्षा का प्रयत्न करता है। मैंने उस सच्चाई को जीवन में अनेक बार साकार होते देखा है।

मेरे मुनि-जीवन का पाँचवाँ दशक चल रहा है और मेरे विद्यार्थी-जीवन का भी पाँचवाँ दशक चल रहा है। इन पाँच दशकों में आचार्यश्री तुलसी ने मुझे जितनी प्रेरणाएँ दीं, उतनी प्रेरणायें एक गुरु ने अपने शिष्य को दीं या नहीं दीं यह अनुसन्धान का विषय है। शताब्दियों में ही कोई विरल गुरु होता है जो अपने शिष्य को इतनी प्रेरणा देता हो। मैंने पिछले तीस वर्षों के मुनि-जीवन का एक सिंहावलोकन किया है। प्रेरणा के मुख्य स्रोतों का अभी स्पर्श भी नहीं हुआ है। संस्कृत और प्राकृत जैसी प्राचीन भाषाओं का तलस्पर्शी अध्ययन, आशुकवित्व, दर्शन का

गुणात्मक अध्ययन, साम्यवाद आदि राजनीतिक दर्शनों का अध्ययन, पश्चिमी दर्शनों का अध्ययन, आचार्य भिक्षु और श्रीमज्जयाचार्य के साहित्य का अध्ययन, जैन-आगमों का शोधपूर्ण संपादन, प्रवचन की जनभोग्य-शैली, जैन-परम्परा में ध्यान की विच्छिन्न शृंखला का अनुसन्धान और उनका प्रयोगात्मक रूप, प्रेक्षाध्यान के शिविरो का संचालन आदि-आदि अनेक बिन्दु हैं जो समय समय पर मिली हुई प्रेरणाओ से दीर्घ रेखाओ मे बदले हैं। उन सबकी चर्चा कभी मेरी आत्म-कथा मे करना चाहूंगा। एक निबन्ध मे उनकी चर्चा सम्भव नहीं है।

आचार्यश्री ने एक कुशल शिल्पी और एक कुशल कर्मी के रूप मे एक प्रतिमा को गढा और ऐसे प्रस्तर की प्रतिमा को गढा जिसका कोई मूल्य नहीं था। प्रतिमा का इस प्रकार निर्माण किया कि उसे यह अनुभव भी नहीं होने दिया कि उसमे किसी विशिष्ट शक्ति का अवतरण या आरोपण किया जा रहा है। कोरा ज्ञान होता तो शून्य पूरा भरता नहीं। उसमे अहंकार को अपना आसन बिछाने का अवसर मिल जाता। ज्ञान के बाद ध्यान की प्रेरणा ने इस शून्य को भर दिया। यदि कोरा ज्ञान होता, ध्यान नहीं होता तो तेरापथ के नेतृत्व को, सर्वोच्च पद को [illegible] मन हर्ष से भर जाता। इस एक-छत्र गरिमामय पद पर आचार्य द्वारा नियुक्ति होना, एक महत्त्वपूर्ण क्षण है। इस पद पर रहकर मन मे समत्व का भाव जागृत रहे, यह उस सृजन की ही विशेषता है, जिसमे ज्ञान और ध्यान के तत्त्व समन्वित रहे और उनकी फल-श्रुति, समता के रूप मे प्रतिष्ठित रही। एक भाई ने कहा—"युवाचार्य बनने के बाद भी शरीर का वजन नहीं बढा, यह कैसे? कोई छोटा-मोटा पद प्राप्त होता है तो भी व्यक्ति शरीर मे फूल जाता है, फुर्ती भर जाती है। इतना सर्वोच्च पद पा लेने पर भी परिवर्तन क्यों नहीं आया?" मैंने स्मित के साथ कहा—"आचार्यश्री ने मुझे पहले योगी बना दिया और बाद मे आचार्य बनाया। इसलिए ऐसा नहीं हो सका।" 'वपु कृशत्व'—ध्यान सिद्धि का पहला लक्षण है शरीर की कृशता। इसलिए मासल होना शायद मेरी नियति मे ही नहीं है। आदमी हर्ष से मोटा होता है। पर मेरे आचार्य ने मुझे पहले ही समता में प्रतिष्ठित कर दिया, इसलिए विशिष्टता उपलब्ध होने पर हर्ष की बात भी मेरी नियति मे नहीं है। मेरे सृजन की नियति है समता। उसका विकास ही मेरी दृष्टि मे मेरी सफलता और मेरे सृजन की सफलता है।

★

३. नई शिक्षा-नीति

वर्तमान में शिक्षा और शिक्षा-संस्थान की सीमा बहुत व्यापक हो गई है। पुराने जमाने में कुछ विशिष्ट लोग ही शिक्षा प्राप्त करते थे। शिक्षण-संस्थान बहुत कम थे। आज कुछ राष्ट्रों में शत-प्रतिशत लोग साक्षर मिलते हैं। साक्षरता का अनुपात सभी देशों का बढ़ा है और बढ़ रहा है। आज के विश्व-विद्यालयों में शिक्षा की अनगिन शाखाएँ हैं। इन सबकी उपयोगिता भी प्रमाणित हो चुकी है। मनुष्य-जाति जीवन की सभी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उनका उपयोग कर रही है। समाज की समृद्धि बढ़ी है। साधन बढ़े हैं, सुविधा बढ़ी है। चिकित्सा के क्षेत्र में भारी प्रगति हुई है। शल्य-चिकित्सा में नए-नए कीर्तिमान स्थापित हो रहे हैं। मानव-शरीर के पुर्जे निर्मित हो रहे हैं। प्लास्टिक-सर्जरी अब आश्चर्य की बात नहीं रही। अन्तरिक्ष-यात्रा भी एक साधारण घटना हो गई है। अतीत में जो योग की सिद्धियाँ मानी जाती थीं, वे आज सामान्य व्यक्ति को उपलब्ध हो गई हैं—दूरश्रवण, दूरदर्शन आदि-आदि। वैज्ञानिक युग की सारी उपलब्धियों का विहगावलोकन कर लेने पर भी यह प्रश्न उभरे बिना नहीं रहता। क्या मानसिक शान्ति बढ़ी है? क्या मन का तनाव कम हुआ है? इस प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में नहीं मिलता। हर कोई कहेगा—मन का तनाव बढ़ा है, मन की अशान्ति बढ़ी है। ऐसा क्यों? बाहर में प्रचुर सम्पन्नता और भीतर में इतनी रिक्तता क्यों? सुखानुभूति के साधनों का विकास होने पर भी मन की शान्ति की समस्या क्यों? इस प्रश्न का उत्तर वर्तमान शिक्षा और वर्तमान के शिक्षा-संस्थान से नहीं मिलता। उनमें आन्तरिक जीवन के लिए कोई स्थान ही नहीं है। वहाँ वह सर्वथा बहिष्कृत है।

विज्ञान के क्षेत्र में परा-विद्या को आंशिक स्वीकृति मिली है। मानसिक तनाव और बढ़ती हुई पागलों की संख्या से भयभीत होकर वैज्ञानिकों ने ध्यान के विषय में खोजें शुरू की हैं। उनके परिणाम बहुत अच्छे मिले हैं। [illegible] फिर एक बार बाह्य-जगत् के साथ-साथ अन्तर-जगत् से परिचित होने की जिज्ञासा जाग उठी है। ऐसा प्रतीत हो रहा है कि अध्यात्म फिर गुह्य-विद्या की सीमा-रेखा को तोड़कर सामान्य श्रेणी में आ रहा है।

शिक्षा से अपेक्षा की जाती है कि वह मनुष्य को बदले, उसके चरित्र का निर्माण करे। लोगों की शिकायत है कि यह अपेक्षा पूरी नहीं हो रही है। मुझे लगता है कि शिकायत सही नहीं है। शिक्षा अपना काम ठीक कर रही है। इंजीनियरिंग-कॉलेज में पढ़ने वाला अच्छा इंजीनियर बन रहा है। मेडिकल-कॉलेज में पढ़ने वाला पूरा डॉक्टर बन रहा है। शिक्षा के सभी क्षेत्रों में इतना [illegible] रही है। वह अपना पूरा काम कर रही है। नहीं [illegible] की शिक्षा नहीं है। वर्तमान शिक्षा की सार्थकता को चुनौती नहीं दी जा सकती। [illegible] नहीं है। चरित्र-निर्माण की कोई शिक्षा ही नहीं है, तब तक हम शिक्षा से [illegible] बीज ही नहीं बोया जाता, उसके पौधे की आशा करना क्या समझदारी नहीं है? [illegible] शिक्षा विद्यार्थी को [illegible] कुशल बना सकती है, पर चरित्र-कुशल बनाने का दायित्व कैसे [illegible] शिक्षाओं के लिए [illegible] है। चिकित्सा की शिक्षा से चिकित्सा-कुशल

व्यक्तित्व का अंकन की जा सकती है, किन्तु चरित्र-कुशल व्यक्तित्व की अपेक्षा की जाए तो वह समझदारी नही होगी। बौद्धिक विकास, कार्य-कौशल और कार्य-क्षमता—ये शिक्षा के काम है और ये सबके सब पूरे हो रहे है। चरित्र-विकास के लिए जिस शिक्षा की अपेक्षा है, वह शिक्षा ही प्रचलित नही है, तब चरित्र-विकास की त्रुटि को वर्तमान शिक्षा पर आरोपित कर उसे दोषपूर्ण बतलाना, विचारपूर्ण नहीं लगता।

चरित्र का निर्माण, शिक्षा से नहीं होता, सामाजिक परिस्थिति और पारिपार्श्विक वातावरण से होता है—ऐसा माना जाता है। बच्चा जिस वातावरण मे पलता है, उसकी छाप उसके मन पर अंकित होती है और वही उसका चरित्र बनता है। इस दृष्टि से बच्चो के चरित्र-निर्माण का दायित्व अभिभावको पर होता है। दूसरे स्थान पर अध्यापको पर होता है। बच्चे उनके सम्पर्क मे रहते है, उनसे प्रभावित होते है, उनका आचरण सहज ही बच्चो पर प्रतिबिम्बित होता है। चरित्र-निर्माण का तीसरा तत्त्व माना जाता है—स्वाध्याय। कहानियाँ और जीवनियाँ—ये दोनो विद्यार्थी के मानस को बहुत प्रभावित करती है। बड़े लोगो की जीवनियाँ पढ़कर अनेक विद्यार्थियो मे आदर्श की निष्ठा उत्पन्न हुई और वे आदर्श की दिशा मे चल पड़े। महान धार्मिको और विचारको के विचार पढ़ने की प्रेरणा बनते है। उनसे भी अनेक लोग प्रेरित होकर जीवन का निर्माण करते है। चरित्र-निर्माण मे इन सभी साधनो की उपयोगिता है। इसे कोई अस्वीकार नही कर सकता। चरित्र-निर्माण का इन सबसे अधिक प्रभावी साधन जो है, उसके प्रति हमारा ध्यान आकर्षित नहीं है। वह है अपना आन्तरिक परिचय। आन्तरिक महानता के लिए आन्तरिक परिचय बहुत जरूरी है, किन्तु समस्या यह है कि हमे अपने आपसे परिचित होने का कोई अवसर ही नहीं मिलता। न शिक्षा हमारे आन्तरिक व्यक्तित्व से हमे परिचित कराती है और न धर्म ही हमारी इस आवश्यकता की पूर्ति करता है। प्राचीन काल मे शिक्षा के दो अग थे - अपरा विद्या और परा-विद्या। अपरा विद्या से विद्यार्थी बौद्धिक विकास और कर्म-कौशल को प्राप्त होता था तथा परा-विद्या से वह अपने आन्तरिक व्यक्तित्व से परिचित होता था। वर्तमान शिक्षा के साथ परा-विद्या का सम्बन्ध नही है। धर्म की शिक्षा वर्तमान विद्यालयो मे सम्भव नहीं है। धर्म के अनेक संप्रदाय है। कोई ऐसा सर्वमान्य धर्म नहीं है, जिसे निर्विवाद रूप से विद्यालयो मे पढ़ाया जा सके। इसलिए शिक्षा, विद्यार्थी को धर्म का बोध कराने मे सक्षम नहीं है। धर्म भी स्थूल कर्मकाण्डो मे उलझे हुए है। वे बाह्य-जगत् के स्थूल आकर्षणो का सहारा लेकर अपने अनुयायियो को आकर्षित करने मे लगे हुए है।

हमारा आन्तरिक व्यक्तित्व हमारे चरित्र को प्रभावित करता है। और उसी के प्रति हम सर्वाधिक अज्ञानी है। यह हमारे चरित्र की सबसे बड़ी समस्या है। इस समस्या को सुलझाने का उत्तरदायित्व शिक्षा-संस्थान उठा सकते है। कोई धर्म यह उत्तरदायित्व नही उठा सकता। आज का विद्यार्थी शैक्षणिक योग्यता प्राप्त कर विद्यालय से बाहर आता है, तब उसका धर्म के प्रति जितना आकर्षण होना चाहिए, उतना आकर्षण नहीं होता, इसीलिए धर्म उस दायित्व को नहीं उठा सकते। केवल शिक्षा-संस्थान ही उस दिशा मे कुछ कर सकते है। वे धर्म, नैतिकता और आध्यात्मिकता के नाम पर शायद बहुत नही कर सकते। चरित्र का सम्बन्ध जीवन से है। वह एक जीवन-विज्ञान है। जीवन-विज्ञान की एक विद्या-शाखा का विकास किया जाए तो आन्तरिक व्यक्तित्व से परिचित होने और उसे समझने-सँवारने का अधिक व्यापक अवसर मिल सकता है।

आज का प्रबुद्ध व्यक्ति मान्यताओं और उपदेशों पर अधिक निर्भर नहीं रह सकता। उसकी वैज्ञानिक उपलब्धियों पर आस्था है। इसलिए वह वैज्ञानिक खोजों को ही अधिक विश्वस्त मानकर चल सकता है। धर्म ने भी सत्य की खोज की थी और विज्ञान भी सत्य की खोज में लगा हुआ है। विज्ञान धर्म द्वारा खोजे गये तत्त्वों को पुनरुद्घाटित कर रहा है, इसलिए आज के सूत्रों को विज्ञान की भाषा में प्रस्तुत किया जाए, यह आवश्यक हो गया है। क्रोध मत करो, क्रोध करना अच्छा नहीं है, क्रोध करने वाला नरक में जाता है—यह भाषा आज के मानस को पकड़ती नहीं है। क्रोध के शारीरिक और मानसिक परिणाम होते हैं। उन पर आज काफी खोजें हुई हैं। क्रोध की उत्तेजना से एड्रिनल का स्राव असन्तुलित हो जाता है, रक्त दूषित हो जाता है और रक्तचाप बढ़ जाता है। हार्ट-ट्रबल आदि अनेक समस्याएँ पैदा होती हैं। शरीर-शास्त्र, चिकित्सा-शास्त्र और मानस-शास्त्र के निष्कर्ष एक साथ संकलित कर प्रस्तुत किए जाएँ तो व्यक्ति को अपनी आदत और उसके परिणामों से परिचित होने का अवसर मिल जाता है। आदत बदले या न बदले—इस चिन्ता को हम एक बार छोड़ भी दें किन्तु अपनी आदतों और उनके परिणामों से हम अनजान न रहें। इतना ही हमारे आन्तरिक व्यक्तित्व को बदलने के लिए कम नहीं है। हमारा आन्तरिक व्यक्तित्व नहीं बदलता, उसका सबसे बड़ा कारण है कि हम अपने आपसे परिचित नहीं हैं। अपने शक्ति-स्रोतों के विषय में हमारी कोई जानकारी नहीं है। तब उनके उपयोग का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। हमारे आन्तरिक व्यक्तित्व में जो बुराइयाँ हैं, उन्हें भी जानें, जो अच्छाइयाँ हैं उन्हें भी जानें। जो बुराइयों के स्रोत हैं, उन्हें भी जानें, जो अच्छाइयों के स्रोत हैं उन्हें भी जानें। बदलने की बात जानने के बाद ही हो सकती है। हम जानते ही नहीं, फिर बदलने की आशा कैसे कर सकते हैं? कायोत्सर्ग (शिथिलीकरण) और ध्यान के द्वारा हम नाड़ी संस्थान पर ही नहीं, स्वत:चालित नाड़ी-संस्थान पर भी नियंत्रण पा सकते हैं, ग्रन्थियों के स्रावों को संतुलित कर सकते हैं और वाञ्छनीय स्रावों को बढ़ा सकते हैं। हमारे आन्तरिक व्यक्तित्व में शरीर और मन की चिकित्सा के तत्त्व ही निहित नहीं हैं, किन्तु अतिचेतना जागरण के तत्त्व भी सन्निहित हैं। बौद्धिक चेतना का विकास होने के पश्चात् अति-चेतना का विकास बहुत आवश्यक होता है। यदि ऐसा नहीं होता है तो बौद्धिक विकास एक बड़ा खतरा भी बन सकता है। अणुअस्त्रों के निर्माण के रूप में वह आज समूची मानव-जाति के सिर पर मँडरा रहा है। उस खतरे का सर्वाधिक शक्तिशाली समाधान है अति चेतना का जागरण। अति चेतना का जागरण होने पर—

१ मनुष्य का मानसिक स्वास्थ्य विकसित होगा।
२ पागलपन नहीं होगा।
३ दूसरों के स्वत्व को हड़पने की भावना नहीं होगी।
४ सामाजिक विषमता नहीं होगी।
५ चिन्ता, भय और आतंक नहीं होगा।
६ सत्ता की दौड़ और पद का उन्माद नहीं होगा।

हम निराश न हों, अति-कल्पना भी न करें। यथार्थ के धरातल पर चलें। आन्तरिक व्यक्तित्व को बदलने की दिशा में प्रस्थान करें। असम्भव कुछ भी नहीं है। असम्भव को सम्भव बनाने के लिए शिक्षा के साथ [illegible] भाषा को सीखने की जरूरत है। इस धरातल पर हम लोग अनुभव की भाषा में सोचें और उसी भाषा में बोलें। यह सही युगमान्य आकांक्षा है प्रबुद्ध युग-चेतना की।

४. हम आचार्य भिक्षु बनें—

बर्नार्ड शॉ से कहा किसी व्यक्ति ने "आप महान् है, आपकी कृतियाँ महान् है ।" शॉ ने उत्तर दिया—"यह नहीं कि मैं महान् हूँ। मैं अभी जीवित हूँ। महान् वह होता है जिसकी कृतियाँ पाँच-सौ वर्ष वाद भी अमर रहती है। शेक्सपीयर महान है। वे आज भी जीवित हैं अपनी कृतियों के माध्यम से। मरकर ही व्यक्ति महान् होता है। मरने के वाद ही उसकी महानता आँकी जाती है। मैं अभी जिन्दा हूं। महान् नहीं हो सकता। मैं महान् तब बनूँगा जब मेरी कृतियाँ महान् बन जाएँगी।"

कोई भी पुरुष जीवन-काल में महान् कहलाने का अधिकारी कम बनता है। मरने के वाद उसकी महानता आँकी जा सकती है। आचार्य भिक्षु को आज हम महान कह सकते हैं। उन्हें हुए दो शताब्दियाँ बीत चुकी है। इन दो शताब्दियों ने उनकी महानता को सिद्ध कर दिया। और यह प्रमाणित कर दिया कि उन्होने जो कहा वह आज भी उतना ही सत्य है जितना उस समय था। अभी-अभी दिल्ली मे दिगम्बर-परम्परा के विद्वान सन्त उपाध्याय विद्यानन्दजी ने एक सभा मे कहा—"आचार्य भिक्षु ने संघ को जो व्यवस्थाएँ और मर्यादाएँ दीं, उनकी आज भी वही उपयोगिता और प्रयोजनीयता है। इसलिए मैं मानता हूं कि तेरापथ-संघ महान है, उनके आचार्यजी महान है।"

सौ वर्षों के वाद जो व्यक्ति पहचाना जाता है वह कम-से-कम हजार वर्ष तक अवश्य ही जीवित रहता है। दो सौ वर्षो के वाद जो व्यक्ति पहचाना जाता है वह कम-से-कम दो हजार वर्षो तक जीवित रहेगा ही, इसमे कोई सन्देह नहीं है। संघ की कुण्डली को देखकर ज्योतिषी कहते है कि इसके ग्रहो के फलित के अनुसार यह संघ दो हजार वर्षों तक चलता रहेगा। कभी विच्छिन्न नहीं होगा। मुझे लगता है कि जिस व्यक्ति ने शाश्वत को समझा है, वह दो हजार वर्ष क्या, बहुत आगे तक चलता रहेगा। क्योंकि जिसने शाश्वत के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर लिया, किसी सामयिक सत्य के साथ समझौता नहीं किया, वह चलता ही रहेगा, बीच मे विच्छिन्न नहीं होगा।

आचार्य भिक्षु ने सत्य को पकड़ा, शाश्वत को पकड़ा। बुद्धि के बल पर पकड़ा। आचार्य भिक्षु, बैठे-सत्य को लेने वाले पुरुष नहीं थे। वे गतिशील तथ्य को ग्रहण करते थे। वे "स्टेटिक" नही "डाइनामिक" थे।

एक आदमी के पास गाय थी। वह उसे बेचना चाहता था। उसे लेकर एक मार्ग पर बैठ गया। एक पथिक उधर से गुजरा। उसकी नजर गाय पर पड़ी। वह गाय खरीदना चाहता था। उसने गाय खरीद ली। गाय बेचने वाला रुपए लेकर चला गया। गाय हृष्ट-पुष्ट थी। खरीददार का मन प्रसन्न था। उसने गाय को उठाया। वह उठ नहीं सकी। वह अपंग थी। खरीददार का मन उदास हो गया।

दूसरा राही आया। गाय को देख उसका मन ललचा गया। उसने पूछा—"गाय बेचोगे ?" उसने कहा—"हाँ, बेचना चाहता हूँ।" राही ने कहा—"मैं बैठी-गाय नही खरीदूँगा। तुम इसे चलाकर दिखाओ।" गाय के मालिक ने कहा—"यह नही होगा। मैंने भी बैठी-गाय को खरीदा है इसलिए बैठी को ही बेचूँगा।" राही ने कहा—"तुम बेवकूफ हो सकते हो। मैं बेवकूफ नहीं बनूँगा। तुम्हे बेचना हो तो गाय को चलाकर दिखाओ।"

आचार्य भिक्षु भी बैठे-सत्य को लेने वाले नहीं थे। वे परीक्षित-सत्य के ग्राहक थे। उन्होंने सत्य-परीक्षण में अपनी बुद्धि से काम लिया, और सत्य का उद्‌घाटन किया। सत्य का जो पहलू नहीं जँचा उसे अस्वीकार कर डाला। उन्होंने इतना अस्वीकार किया है कि अस्वीकृतियों की लम्बी सूची बन जाती है। नेति-नेति—यह भी नहीं, यह भी नहीं—इन अस्वीकृतियों की लम्बी शृंखला है, उनके दर्शन में। उन्होंने यह भी कह डाला कि वे आगम भी मुझे मान्य नहीं हैं जो वीतराग-वाणी के विसंवादी हैं। केवल सवादी-प्रकरण ही मुझे मान्य है। जो उन्होंने यह भी कह डाला कि वे आगम भी मुझे मान्य नहीं हैं जो वीतराग-वाणी के विसवादी हैं। केवल संवादी-प्रकरण ही मुझे मान्य है। जो उन्होंने स्वीकार किया, वह भी बुद्धि के साथ और जो अस्वीकार किया वह भी बुद्धि के साथ।

मैंने सबसे पहले आचार्य भिक्षु को अपनी माँ से समझा। मैं छोटा बच्चा था। मैं सोया रहता। माँ जल्दी उठकर भिक्षु का स्मरण करती। वह गाती—"मंत्राक्षर सम नाम तुम्हारो, सत भीखणजी रो सुमरण कीजे।" मेरे कानों में ये शब्द पड़ते। संस्कार जमते गए। भिक्षु के प्रति मेरे अव्यक्त मन में एक श्रद्धा उत्पन्न हुई। मैं दीक्षित हुआ अपनी माँ के साथ। आठ-दस वर्ष तक मुझे आचार्य भिक्षु के बारे में समझने-सोचने का अवसर ही नहीं मिला। आचार्य श्री तुलसी ने मोड़ दिया। उन्होंने सोचा—"तेरापंथ के बारे में जो भ्रामक प्रचार किया जा रहा है, संदेह उत्पन्न किया जा रहा है, उसका निवारण अपेक्षित है। यदि यह निवारण नहीं होता है तो हमारे विकास में बाधाएँ उत्पन्न होती हैं।" आचार्यश्री ने मोड़ लिया। उन्होंने नए प्रकार से, आधुनिक सन्दर्भों में आचार्य भिक्षु के सिद्धान्तों की व्यवस्था प्रस्तुत की। उस समय तक मैं बहुत नहीं जानता था। मैंने आचार्यश्री द्वारा प्रस्तुत तर्कों को पकड़ना प्रारम्भ किया। वि० सं० २००१ से २००८ तक यह सिलसिला चलता रहा। 'जैन-सिद्धान्त-दीपिका' की रचना हुई और मैं उन तर्कों की गहराई में उतरने का प्रयत्न करता रहा। मैंने आचार्य भिक्षु को तर्क की कसौटी पर कसा और उन्हें समझने का प्रयास किया। पहले श्रद्धा से समझा, बाद में तर्क से समझा। अब मैं आचार्य भिक्षु को प्रतिबिम्बों से समझ रहा हूँ। उन्हें मैं प्रतिक्रियाओं से समझ रहा हूँ। मैंने एक किताब लिखी। उसका नाम रखा "भिक्षु-विचार-दर्शन"। उसमें मैंने भीखणजी को जैसा समझा, वैसा प्रस्तुत किया है। चण्डीगढ़ की लाइब्रेरी में वह किताब पहुँची। विद्वान् लाउन्स्टियन ने उसे आद्योपान्त पढ़ा। उसने पत्र में लिखा—"यह पुस्तक केवल पढ़ने की ही नहीं है। इसे पचाने की आवश्यकता है। कैसे महान व्यक्ति थे भिक्षु स्वामी।" अनेक ग्रन्थ लिखे गए। नया रूप आचार्य भिक्षु का सामने आया। उनके द्वारा प्रणीत साहित्य सामने आया। उसको देखकर विद्वान् बहुत प्रभावित हुए। आचार्य भिक्षु प्रथम श्रेणी के दार्शनिकों में गिने जाने लगे। बंगाल के प्रमुख विद्वान् डॉ० सातकोड़ी मुकर्जी ने आचार्य भिक्षु को पढ़कर कहा—"आचार्य भिक्षु मारवाड़ में जन्मे, इसलिए वे बहुत ही अपरिचित रहे। यदि वे जर्मनी में जन्मते तो "कॉण्ट" से भी ज्यादा उनका महत्त्व होता।"

यह प्रश्न होता है कि क्या आचार्य भिक्षु ने इतने गूढ़ विचार दिये हैं? इतने गूढ़ सिद्धान्त दिये हैं? क्या उनका चिन्तन इतना गहरा था? क्या उनका दर्शन इतना गूढ़ था?

मैं मानता हूँ यह बात कही जाती है, कि दुनिया में आज तक किसी भी व्यक्ति ने परम सत्य की अभिव्यक्ति की है तो उस व्यक्ति ने की है जिसने मन से नहीं जाना, मन से चिन्तन नहीं किया, मन से विचार नहीं किया।

मन से सोचने वाला, मन से विचार करने वाला व्यक्ति कभी गूढ दर्शन को अभिव्यक्ति नही दे सकता। वह बडा सत्य उद्घाटित नहीं कर सकता। जिस व्यक्ति को परम सत्य उपलब्ध हुआ है, उस व्यक्ति ने सोचा नहीं, साक्षात् किया है, देखा है, अनुभव किया है। यह अनुभव की बात ही दूसरो के लिए काम की बात बनती है। आचार्य भिक्षु अनुभव का जीवन जीने वाले व्यक्ति थे। उनका अनुभव विराट् था। उन्होने चिरन्तन सत्य हमे दिया, व्यवस्था के क्षेत्र मे, तत्वज्ञान के क्षेत्र मे और आचार के क्षेत्र मे। सचमुच वे महान थे, सहजात प्रतिभा के धनी थे। वे आए, चिरन्तन-सत्य दिया और चले गये। आप और हम आज भी उनका पूरा मूल्यांकन नही कर पा रहे है। इसका कारण है कि हमारी भूमिका भिन्न है। वह आचार्य भिक्षु को जिस भूमिका से देखते है वह भूमिका भिन्न है और जिस भूमिका पर भिक्षु है वह भिन्न है। इसीलिए यह अन्तर आ रहा है। आचार्य भिक्षु ने जो सत्य कहा वह अपनी उच्च भूमिका पर खडे होकर कहा था।

एक छोटी-सी कहानी है। अन्धकार ब्रह्मा के पास गया। उसने गिडगिडाते हुए कहा—"भगवन्! सूर्य निरन्तर मेरा पीछा करता है। आपने मुझे बनाया है तो इस दुनियाँ मे मुझे भी जीने का अधिकार है। आप इस बात पर ध्यान दें और सूर्य को मेरा पीछा करने से रोकें। मुझे बचाएँ।" ब्रह्मा ने कहा—"अच्छी बात है। तुम्हें भी जीने का अधिकार है। तो फिर सूर्य तुम्हारे पीछे क्यो पडा है? तुम जाओ। मैं व्यवस्था कर देता हूँ।"

ब्रह्मा ने सूर्य को बुलाकर कहा—"तुम अन्धकार का पीछा क्यो करते हो?" सूर्य ने कहा—"कौन अन्धकार? कैसा अन्धकार? मैं नही जानता। मैं जानता ही नहीं कि अन्धकार कैसा होता है।" ब्रह्मा ने कहा—"अभी-अभी अन्धकार मेरे पास आया था। उसने कहा कि तुम निरन्तर उसका पीछा करते हो।" सूर्य बोला—"क्षमा करें। मुझे पता ही नहीं है कि अन्धकार कौन है? क्या है? कैसा है? मैंने उसे आज तक नही देखा। पीछा करने की यह बात झूठी है। आप कृपा कर उस अन्धकार को मेरे सामने लाएँ तो सही। मैं देखूँ कि वह कैसा है?" ब्रह्मा गए। अन्धकार से कहा—"चलो, सूर्य के सामने यह प्रमाणित करो कि वह तुम्हारा पीछा करता है।"

अन्धकार बोला—"भगवन्! यह कैसी बात। मैं सूर्य के सामने कैसे जाऊँ? कैसे खडा रहूँ? जहाँ वह आता है, वहाँ मेरा लोप हो जाता है। उसके समक्ष आप भी मुझे नही पहचान पायेंगे।"

सचमुच सूर्य को आज तक पता नही चला कि अन्धकार कैसा है। उसकी अन्धकार से आज तक मुलाकात ही नहीं हुई है।

सचमुच हम भी भिक्षु को समझने मे सफल नही हुए है। उनकी महानता को हमने पहचाना नहीं। हम कह देते है कि आचार्य भिक्षु ने इतने भीषण कष्ट सहे, यातनाएँ झेलीं। आज यदि भिक्षु को भगवान के सामने खडा कर कहा जाए—"भगवन्! इन्होने इतनी पीडा सही है, इतना कष्ट सहा है, इतनी यातनाएँ झेली है, निन्दा सही है, अपमान सहा है। सारा जीवन सहने मे ही बिताया है।" आचार्य भिक्षु कहेंगे—"यातना क्या होती है, मैं जानता ही नहीं। कष्ट क्या होता है, मैं जानता ही नही।"

जो व्यक्ति प्रकाशमय बन जाता है। आत्म-केन्द्रित बन जाता है और जिसके लिए आगे-पीछे, पहले और बाद में, आत्मा के अतिरिक्त शेष कुछ रहता ही नहीं। वह नहीं जानता कि यातना और पीडा क्या होती है? कष्ट क्या होता है? भूख और प्यास क्या होते हैं? जो व्यक्ति यातनाओं को जानता है, यातनाओं का अनुभव करता है, वह वास्तव में यातना को सह नहीं सकता। कष्टों को जाननेवाला, संवेदन करनेवाला, कष्टों को सह नहीं सकता।

आचार्य भिक्षु पूर्णरूपेण आत्म-केन्द्रित थे। उनके लिए तीन शब्द शेष थे—आत्मा, महावीर और जिन-आज्ञा। इन तीनों शब्दों में आचार्य भिक्षु के अस्तित्व को खोजा जा सकता है। इन शब्दों के अतिरिक्त उनके अस्तित्व को नहीं खोजा जा सकता। उनकी हर बात में सबसे पहले है आत्मा। आत्मा के ही दो पर्याय हैं—महावीर और जिन-आज्ञा। इन तीनों में कोई अन्तर नहीं है। जो व्यक्ति इतना आत्म-केन्द्रित हो जाता है वह यातना और पीडा को कभी नहीं जानता, कभी नहीं पहचानता।

हमें लगता है कि भिक्षु को पहचान लिया। किन्तु मैं मानता हूँ कि हमने भिक्षु को पहचाना नहीं। मेरा एक सूत्र है कि आचार्य भिक्षु का जो अनुयायी होगा वह रूढिवादी नहीं होगा। वह पुराणपंथी नहीं होगा। वह न प्राचीनता से चिपका रहेगा और न नवीनता से चिपका रहेगा। वह केवल सत्य का समर्थक होगा। वह सत्य से चिपकेगा। मैंने ढाई-तीन हजार वर्ष में प्रवहमान विभिन्न दार्शनिक धाराओं को पढ़ा है। धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन किया है। मैं उस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि आचार्य भिक्षु के समान विनम्र सत्य का शोधक विरला ही मिलेगा। उन्होंने सत्य-शोधक व्यक्ति के लिए जो आचार-संहिता प्रस्तुत की, वैसी आचार-संहिता हमारे वैचारिक साहित्य में नहीं मिलेगी। उन्होंने कहा—"जो सत्य का शोधक है, उसे अनुभव की वाणी को स्वीकार करना चाहिए। उसे विचारों को इतना महत्त्व नहीं देना चाहिए। जिन-आज्ञा का मतलब है—"अनुभव की वाणी।" उन्होंने कहा—"जो बात जिन-वाणी में न मिले, उसका निर्णय अपने निष्पक्ष, तटस्थ तथा राग-द्वेष-रहित भाव से करे।" उन्होंने कहा—"इस प्रकार लिए गये निर्णय को, यदि बुद्धि-बल से समझ में आए तो उसे बुद्धि से स्वीकार करे। यदि बुद्धि से समझ में न आए तो उसे श्रद्धा से स्वीकार करे और यदि वह श्रद्धागम्य न हो तो उसे केवलीगम्य कर दे। केवली-गम्य करने का मतलब है—अनन्तकाल, अनन्तदेश और अनन्तसत्य के लिए मैं अपने तुच्छ विचारों को समर्पित करता हूँ। जब मैं अनन्त तक पहुँच जाऊँगा तभी समझ पाऊँगा। अभी उसका आग्रह नहीं करूँगा।

यह था उनका सत्य-शोध के प्रति विनम्र भाव।

आचार्य भिक्षु-जैसे विनम्र सत्य-शोधक के अनुयायी क्या रूढ़िवादी हो सकते हैं? आचार्य तुलसी कभी थोड़ा-सा परिवर्तन करते हैं तो लोगों का दिमाग झनझना उठता है। वे नहीं जानते कि आचार्य तुलसी जो कर रहे हैं, उसके पीछे कौन-सा तत्त्व है? क्या वे अपने मन से कर रहे हैं? नहीं, वे मन से नहीं करते। उसके पीछे आचार्य भिक्षु के सत्य-शोध की इतनी प्रबल परम्परा है कि उन्हें परिवर्तन करने में कोई कठिनाई नहीं होती। जो आचार्य भिक्षु के परिवर्तनों को जानता है, उसे आचार्य तुलसी के परिवर्तनों के विषय में कोई आश्चर्य नहीं हो सकता।

मैं आपसे कह रहा था कि मैंने भिन्न-भिन्न समयों मे आचार्य भिक्षु के भिन्न-भिन्न रूपों को देखा है। उनमे एक रूप था उनका जिन-वाणी का, जिन-आज्ञा का।

आचार्य भिक्षु जिन-वाणी के प्रति सर्वात्मना समर्पित थे। उनकी जिन-वाणी के प्रति दृढ श्रद्धा थी।

एक वात और। आचार्य भिक्षु ने उस समय जो सपने लिए थे, उन्हें पूरा करने वाले उनके पास कोई नहीं थे। काश! हम होते उस समय तो उनके सारे सपने साकार कर देते। हम नही थे। खैर, उन्होने जिस जिन-वाणी के प्रति अपनी अगाध श्रद्धा व्यक्त की थी, उस जिन-वाणी को सामयिक अभिव्यक्ति देने के लिए आचार्य तुलसी प्रयत्नशील है।

आचार्य भिक्षु का एक रूप अभी हमारे सामने नही आया है। वह है योगी का रूप। उनके बहुत सारे रूप हमारे सामने प्रस्तुत हो चुके है। वे आगमो के कुशल व्याख्याता थे। वे निपुण साहित्यकार थे। वे तपस्वी और कष्ट-सहिष्णु थे। वे सारे रूप हमारे सामने है। मैं मानता हूँ कि वे वहुत वड़े योगी थे। आप पूछेंगे—"कैसे ?" एक वात से प्रमाणित करता हूँ।

भिक्षु अपने गुरु रघुनाथजी के साथ थे। एक वार चर्चा के प्रसंग मे रघुनाथजी ने कहा—"यदि कोई साधक एक घण्टे भी विशुद्ध चारित्र की आराधना कर लेता है तो वह मुक्त हो जाता है।" आचार्य भिक्षु ने कहा —"यदि यह वात है तो मैं तीन घण्टे श्वास रोककर बैठ जाऊँगा।" जिस व्यक्ति का श्वास पर नियंत्रण नहीं है, क्या वह ऐसी वात कह सकता है ? तीन घण्टो तक श्वास रोकने की वात तो दूर, पाँच मिनट तक भी कुभक करना कठिन हो जाता है। ऐसी स्थिति मे यदि कोई व्यक्ति कह दे कि ऐसे मोक्ष की प्राप्ति होती हो तो मैं तीन घण्टे कुभक की स्थिति मे रह सकता हूँ, तो निश्चित ही वह योगी होगा। अन्यथा वह इतनी बडी बात नहीं कह सकता। यह पहली वात है।

दूसरी वात है कि जव आचार्य भिक्षु का देहावसान हुआ, तव वे पद्मासन की मुद्रा मे बैठे थे। शरीर शान्त, मन शान्त और सव कुछ शान्त था। मृत्यु से कुछ ही क्षणो पूर्व एक दर्जी आया। हाथ की सूई को अपनी पगडी मे खोसते हुए वोला "सव तैयार है शव-यात्रा का विमान तैयार है। अभी-अभी मैं उसका काम पूरा करके आ रहा हूँ।" आचार्य भिक्षु ने कहा—"हम भी तैयार है। लो, अब मैं भी चला।" यह कहते-कहते उनके प्राण निकल गए। वही पद्मासन की मुद्रा थी।

पद्मासन की मुद्रा मे प्राण-विसर्जन उसी व्यक्ति का होता है जिसकी योग-साधना परिपक्व हो चुकी है। यह जाग्रत मृत्यु है। ऐसी मृत्यु योगियो की ही होती है। निश्चित ही वे योगी थे।

आचार्य तुलसी कुछ भी नया नही कर रहे है। वे आचार्य भिक्षु के सपनो को मात्र साकार कर रहे है। प्रेक्षा-ध्यान की परम्परा उसी की एक कडी है।

आप आचार्य भिक्षु के अनुयायी हैं तो आपका यह परम कर्तव्य है कि आप उनके सपनो को सिद्ध करते चले जाएँ। आप स्वय आचार्य भिक्षु बन जाएँ। आचार्य भिक्षु की स्थिति तक पहुँचने मे आपको अनेक तूफानों और बवंडरो का सामना करना पड सकता है। आप सामना करते रहें। आगे बढ़ें और उनके सभी सपनों को सिद्ध करने मे प्रतिपल प्रयत्नशील रहे। ❀

५. संस्कृत-साहित्य : एक दृष्टि

भगवान् महावीर के युग मे संस्कृत, पंडितो की भाषा बन गई थी। भाषा के आधार पर दो वर्ग स्थापित हो गए थे—एक वर्ग उन पण्डितों का था, जो संस्कृतविदो को ही तत्त्वद्रष्टा मानते थे और संस्कृत नहीं जाननेवालों की बुद्धि पर अपना अधिकार किए हुए थे। दूसरा वर्ग उन लोगो का था, जो यह मानते थे कि संस्कृतविद् ही तत्त्व की व्याख्या कर सकते है।

भगवान महावीर ने अनुभव किया कि सत्य को खोजने की क्षमता हर व्यक्ति मे है। उस पर भाषा का प्रतिबन्ध नहीं हो सकता। जिसका चित्त राग-द्वेष शून्य है, वह संस्कृतविद् न होने पर भी सत्य को उपलब्ध हो जाता है और जिसका चित्त राग-द्वेष शून्य नहीं होता, वह संस्कृतविद् होने पर भी सत्य को उपलब्ध नहीं होता। सत्य और भाषा का गठबन्धन नहीं है—इस सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए भगवान महावीर ने जन-भाषा प्राकृत को सत्य-निरूपण का माध्यम बनाया।

भगवान महावीर ने प्राकृत मे उपदेश किया। उनके प्रमुख शिष्य गौतम आदि गणधरों ने उसका प्राकृत मे ही गुंफन किया। उनके निर्वाण की शताब्दी तक धर्मोपदेश तथा ग्रन्थ-रचना मे प्राकृत का ही उपयोग होता रहा। निर्वाण की छठी शताब्दी मे फिर संस्कृत का स्वर गुंजित हुआ। आर्यरक्षित[1] ने संस्कृत और प्राकृत दोनों को ऋषि-भाषा कहा[2]। उनकी यह ध्वनि, स्थानांग के स्वर-मण्डल मे भी प्रतिध्वनित हुई। उमास्वाति (स्वामी) ने मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्र) का संस्कृत मे प्रणयन किया। उनका अस्तित्व काल विक्रम की तीसरी से पाँचवीं शताब्दी के मध्य माना जाता है। जैन-परम्परा मे इसी कालावधि मे संस्कृत-युग प्रारम्भ हुआ। जैन-आचार्यो ने प्राकृत को तिलाञ्जलि नहीं दी। प्राकृत मे ग्रन्थ-रचना का कार्य अनवरत चलता रहा। भगवान महावीर ने लोक-भाषा के प्रति जो दृष्टिकोण निर्मित किया था, उसे विस्मृत नहीं किया गया और संस्कृत के अध्येताओं मे जो पाण्डित्य-प्रदर्शन की भावना थी, उसे भी स्मृति मे रखा गया। फिर भी दर्शन-युग की स्थापना के काल मे जैन-दर्शन को प्रतिष्ठित करने की दृष्टि से, संस्कृत की अनिवार्यता अनुभव की। सिद्धर्षि ने जैन-लेखकों की इस अनुभूति को स्पष्ट अभिव्यक्ति दी है। उन्होंने लिखा है—

१- आर्यरक्षित का जन्मकाल : ईस्वी पूर्व ४ (वि० सं० ५२), दीक्षा ई० स० १८ (वि० सं० ७४), युगप्रधान ई० स० ५८ (वि० स० ११४), स्वर्गवास ई० स० ७१ (वि० सं० १२७)।

२- अनुयोगद्वार, स्वरमण्डल

सक्कयं पागयं चेव, पसत्थं इसिभासियं।

'संस्कृता प्राकृता चेति, भाप प्राधान्यमर्हत ।
तत्रापि संस्कृता तावद्, दुर्विदग्ध हृदि स्थिता ॥
बालानामपि सद्बोध-कारिणी कर्णपेशला ।
तथापि प्राकृता भाषा, न तेषामभिभाषते ॥
उपाये सति कर्तव्यं, सर्वेषां चित्तरञ्जनम् ।
अत स्तदनुरोधेन, संस्कृतेयं करिष्यते ॥'

"संस्कृत और प्राकृत ये दो प्रधान भाषाएँ है । संस्कृत दुर्विदग्ध-पंडितमानी जनो के हृदय मे बसी हुई है। प्राकृत-भाषा जन-साधारण को प्रकाश देने वाली और श्रुति-मधुर है, फिर भी उन्हें वह अच्छी नहीं लगती ।

मेरे सामने संस्कृतप्रिय जनो के चित्तरंजन का उपाय है । इसीलिए उनके अनुरोध से मैं प्रस्तुत कथा को संस्कृत भाषा में लिख रहा हूँ ।"

गुप्त-साम्राज्य काल मे संस्कृत का प्रभाव बहुत बढ गया । जैन और बौद्ध परम्पराओ मे भी संस्कृत-भाषा प्रमुख हो गई ।

उत्तर भारत मे गुजरात और राजस्थान, दोनो जैन-धर्म के प्रमुख केन्द्र रहे । इन दोनों मे जैन-मुनि स्थान-स्थान पर विहार करते थे । उनकी साहित्य-साधना भी प्रचुर मात्रा मे हुई । राजस्थान की जैन-परम्परा मे संस्कृत-साहित्य के प्रथम निर्माता हरिभद्रसूरि है । उनका अस्तित्वकाल वि० की ८वी-९वीं शताब्दी (७५७-८५७) है । उन्हें प्राकृत और संस्कृत दोनों भाषाओ पर समान अधिकार प्राप्त था । उनकी लेखनी दोनो भाषाओ पर समान रूप से चली । उनकी प्राकृत रचनाएँ जितनी विपुल संख्या मे और जितनी महत्त्वपूर्ण हैं, उतनी ही महत्त्वपूर्ण और उतनी ही विपुल संख्या मे उनकी संस्कृत-रचनाएँ है । उन्होने धर्म, योग, दर्शन, न्याय, अनेकान्त, आचार, अहिंसा आदि अनेक विषयो पर लिखा । आगम-सूत्रो पर अनेक विशाल व्याख्या-ग्रन्थ लिखे ।

जैन-दर्शन ने सत्य की व्याख्या, नय-पद्धति से की । तीर्थंकर का कोई भी वचन नय-शून्य नहीं है—इस उक्ति की प्रतिध्वनि यह है कि कोई भी वचन निरपेक्ष नही है । प्रत्येक वचन को नय-दृष्टि से ही समझा जा सकता है । सिद्धसेन दिवाकर और समतभद्र ने अनेकान्त और नयवाद को दार्शनिक धरातल पर प्रस्फुटित किया । उसके पल्लवनकारो मे हरिभद्रसूरि एक प्रमुख व्यक्तित्व है । उन्होने संस्कृत-साहित्य को, कल्पना और अलंकार की कसौटी से कसे हुए कवित्व तथा तर्कवाद और निराकरण-प्रधान शैली से परिपुष्ट तार्किकता से ऊपर उठाकर, स्वतंत्र चिन्तन और समन्वय की भूमिका पर प्रतिष्ठित किया । उनके "लोक-तत्त्व-निर्णय" नामक ग्रन्थ मे स्वतंत्र चिंतन की ऐसी चिरतन व्याख्या हुई है, जिसे कालातीत कहा जा सकता है । उन्होने लिखा है—

मातृमोदकवद् बाला:, ये गृण्हन्त्यविचारितम् ।
ते पश्चात् परितप्यन्तं, सुवर्णग्राहको यथा ॥[1]

---

१ लोकतत्त्वनिर्णय, १९ ।

अर्थात् माँ के द्वारा दिए हुए मोदक को, विना किसी विचार के, ले लेनेवाले बालक की भाँति, विना विचार किए दूसरे के विचार को स्वीकार करनेवाला वैसे ही पश्चाताप करता है जैसे विना परीक्षा किए स्वर्ण को खरीदने वाला पछताता है। सुनने के लिए कान है। विचारणा के लिए वाणी और बुद्धि है। फिर भी जो व्यक्ति श्रुत-विषय पर चिन्तन नहीं करता, वह कर्तव्य को कैसे प्राप्त हो सकता है—

श्रोतव्ये च कृतौ कर्णौ, वाग्बुद्धिश्च विचारणे।
यः श्रुतं न विचारेत, स कार्यं विन्दते कथम्[1] ॥

आगम-युग मे श्रद्धा पर बहुत बल दिया गया। "ईश्वरीय आदेशो और आप्त-वचनों पर सन्देह नहीं किया जा सकता"—इस मान्यता ने चिन्तन की धारा को क्षीण बना दिया था। अधिकांश लोग किसी व्यक्ति की वाणी या ग्रन्थ को, विना किसी चिन्तन के, स्वीकार कर लेते थे। इस परम्परा ने रूढिवाद की जड़ें बहुत सुदृढ बना दी थीं। उन्हें तोड़ना श्रम-साध्य था। वैसे वातावरण मे, दूसरों पर भरोसा कर चलने को बुरा कहना, कहने वाले के लिए अच्छा नहीं था। फिर भी कहा गया—

हटो हठे यद्वदभिप्लुतः स्यात्, नौ नावि बद्धा च यथा समुद्र।
तथा परप्रत्ययमात्रदक्षः, लोकः प्रमादाम्भसि बाम्भ्रमीति[2] ॥

"जो व्यक्ति दूसरो की वाणी का अनुसरण करने में ही दक्ष है, वह प्रमाद के जल मे वैसे ही भ्रमण करता है, जैसे जलकुम्भी का पौधा, दूसरे पौधे के पीछे बहता है और जैसे नाव से बँधी हुई नाव उसके पीछे-पीछे चलती है।"

हरिभद्रसूरि को समन्वय का पुरोधा और उनकी रचनाओ को "समन्वय की संहिता" कहा जा सकता है। जब सम्प्रदायों मे अपने-अपने इष्टदेव के नाम की महिमा गाई जा रही थी, उस समय यह स्वर कितना महत्त्वपूर्ण था—

यस्य निखिलाश्च दोषाः सन्ति सर्वे गुणाश्च विद्यन्ते।
ब्रह्मा वा विष्णु र्वा, हरो जिनो वा नमस्तस्मै[3] ॥

जिसके समस्त दोष नष्ट हो चुके हैं, सब गुण प्रकट हो गए हैं, उसे मेरा नमस्कार है, फिर वह ब्रह्मा हो या विष्णु, महादेव हो या जिन।

"शास्त्रवार्ता" हरिभद्रसूरि की एक महत्त्वपूर्ण कृति है। सात सौ श्लोकवाले इस ग्रन्थ मे विभिन्न दर्शनो के मतों की समीक्षा है। उसमे निरसन की दृष्टि मुख्य नहीं है। समन्वय की दृष्टि सतत उपलब्ध है। उसका आधारभूत तत्त्व यह है—

---

१ लोकतत्त्वनिर्णय, २०।
२. लोकतत्त्वनिर्णय, १४।
३. लोकतत्त्वनिर्णय, ४०।

शास्त्रकारा महात्मानः, प्रायोः वीतस्पृहा भवे ।
सत्त्वार्थसंप्रवृत्ताश्च, कथं तेऽयुक्तभाषिणः ॥
अभिप्रायस्ततस्तेषां, सम्यग्मृग्यो हितैषिणा[1] ।

"जितने भी शास्त्रकार है, वे सब महात्मा है । प्राय वे स्पृहारहित और जन-हित के लिए प्रवृत्त होते है वे अयुक्तभावी कैसे होगे ? इसलिए सत्य-संधित्सु व्यक्ति को उनके अभिप्राय की सम्यक् गवेषणा करनी चाहिए ।"

बौद्ध-विद्वान् दिङ्नाग (५वीं शती) के न्याय-प्रवेश पर लिखित टीका इसका साक्ष्य है कि अनेकान्त का दृष्टिकोण सम्प्रदायातीत है ।

"षड्दर्शन-समुच्चय" एक लघु कृति है पर इस दृष्टि से यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है कि उसमे सभी दर्शनों के अभ्युपगमों का तटस्थ निरूपण है ।

'अनेकान्तजयपताका' (स्वोपज्ञवृत्ति सहित), 'अनेकान्तवाद-प्रवेश' और 'सर्वज्ञसिद्धि' जैन-न्याय के उल्लेखनीय ग्रन्थ है ।

सोलह षोडशको और बत्तीस अष्टको मे विविध विषय चर्चित है । वे केवल कर्त्ता की बहुश्रुतता के ही द्योतक नहीं है, संस्कृत-साहित्य के गौरव-स्तम्भ भी है, उनमे सिद्धान्त-प्रतिपादन के साथ-साथ कवित्व भी है—

शुश्रूषा चेहाद्यं लिङ्गं खलु वर्णयन्ति विद्वांसः ।
तदभावेपि श्रावण मसिरावनिकूपखननसमम्[2] ॥

"बुद्धि का पहला गुण शुश्रूषा है । उसे जाग्रत किए बिना तत्त्व-ज्ञान सुनाने का प्रयत्न वैसा ही है, जैसा जलस्रोत-रहित भूमि मे कुआँ खोदने का प्रयत्न ।

कुछ विद्वान कहते है—"जैन-साहित्य मे गृहस्थ-धर्म की सर्वाङ्गीण मीमांसा नहीं मिलती । यदि 'धर्म-बिन्दु' उन्हें उपलब्ध होता तो यह आलोचना नही होती ।" आठ अध्याय वाले इस ग्रन्थ के प्रथम तीन अध्यायों मे गृहस्थ के लौकिक और लोकोत्तर दोनो जीवन-पक्षो का संतुलित निरूपण है ।

हरिभद्रसूरि ने योग की विविध परम्पराओ का समन्वय कर जैन-योग-पद्धति को नया रूप प्रदान किया था । "योगविंशिका" प्राकृत मे लिखित है । संस्कृत मे उनकी दो महत्त्वपूर्ण कृतियाँ है—"योग-दृष्टि-समुच्चय" और "योग-बिन्दु" । उनमे जैन-योग और पतंजलि की योग-पद्धति का तुलनात्मक अध्ययन बहुत सूक्ष्म मति से प्रस्तुत किया गया है । अनेकान्त दृष्टि प्राप्त होने पर साम्प्रदायिक अभिनिवेश समाप्त हो जाता है । योग-मार्ग मे भी वह नहीं होता । यह आशय इन शब्दो मे व्यक्त हुआ है —

---

१. शास्त्रवार्तासमुच्चय, ३/१५, १६ ।
२. षोडशक, ११ १

आत्मीय परकीयो वा, कः सिद्धान्तो विपश्चिताम् ।
दृष्टेष्टाबाधितो यस्तु, तस्य कार्य परिग्रहः[1] ॥

"ज्ञानी के लिए कोई भी सिद्धान्त अपना या पराया नहीं होता। जो प्रत्यक्ष और हेतु से अबाधित होता है, वही उसके लिए मान्य है।"

विक्रम की आठवीं शती में, संस्कृत-साहित्य की जो धारा प्रवाहित हुई, वह वर्तमान शती तक अविच्छिन्न रूप में प्रवाहित है। वह कभी विशाल हुई है और कभी क्षीण, पर उसका अस्तित्व निरंतरित रहा है। जैन-परम्परा के संस्कृत-साहित्य पर अभी कोई व्यवस्थित कार्य नहीं हुआ है। लेखक, लेखन-स्थान, लेखन-काल ये सब अभी निर्णय की प्रतीक्षा में हैं। अब तक "संस्कृत-साहित्य का इतिहास" इस शीर्षक से जितने प्रबन्ध लिखे गए हैं, वे या तो जैन-परम्परा के संस्कृत-साहित्य का स्पर्श नहीं करते या दो-चार प्रसिद्ध ग्रन्थों का विवरण प्रस्तुत कर विषय को सम्पन्न कर देते हैं। जैन-विद्वान भी इस कार्य के प्रति उदासीन रहे हैं। इन दिनों कुछ ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, पर वे अपेक्षा के अनुरूप शोधपूर्ण और वैज्ञानिक पद्धति से लिखित नहीं हैं। मैं इस अपेक्षा को इसलिए प्रस्तुत कर रहा हूँ कि "जैन-परम्परा के संस्कृत साहित्य का इतिहास" इस विषय का एक महाग्रन्थ आधुनिक शैली में तैयार किया जाए। मैं नहीं मानता कि इस लघुकाय निबन्ध में मैं राजस्थान के जैन-लेखकों की सभी संस्कृत-रचनाओं के साथ न्याय कर सकूँगा।

हरिभद्रसूरि की रचनाओं के बाद, सिद्धर्षि की महान कृति "उपमितिभवप्रपंचकथा" है। यह वि० सं० ९०६ (ई० सं० ९६२) में लिखी गई थी। शैली की दृष्टि से यह एक अपूर्व ग्रन्थ है। इसमें काल्पनिक पात्रों के माध्यम से धर्म के विराट् स्वरूप को रूपायित किया गया है। डॉ० हीरालाल जैन ने लिखा है—"इसे पढ़ते हुए अंग्रेजी की जॉन बनयन कृत "पिल्ग्रिम्स प्रोग्रेस" का स्मरण हो आता है, जिसमें रूपक की रीति से धर्म-बुद्धि और उसमें आने वाली विघ्न-बाधाओं की कथा कही गई है[2]।" सिद्धर्षि ने उपदेशमाला की टीका लिखी, कुछ अन्य ग्रन्थ भी लिखे। पर मैं केवल उन्हीं ग्रन्थों का नामोल्लेख करना अपेक्षित समझता हूँ, जिनका विधा और वर्ण्य-विषय की दृष्टि से वैशिष्ट्य है।

विधा और प्रेरक तत्त्व—

देश, काल, मान्यताएँ, परिस्थितियाँ, लोक-मानस, लोक-कल्याण, जन-प्रतिबोध, शिक्षा और उद्देश्य—ये लेखन के प्रेरक तत्त्व होते हैं। लेखन की विधाएँ प्रेरक तत्त्वों के आधार पर बनती हैं। जैन-लेखकों ने अनेक प्रेरणाओं से संस्कृत-साहित्य लिखा और अनेक विधाओं में लिखा। धर्म-प्रचार के उद्देश्य से धार्मिक और दार्शनिक ग्रन्थ लिखे गए। अपने अभ्युपगम की स्थापना और प्रतिपक्ष-निरसन के लिए तर्क-प्रधान न्याय-शास्त्रों की रचना हुई। जन-प्रतिबोध और शिक्षा के उद्देश्य से कथा-ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। लोक-कल्याण की दृष्टि से आयुर्वेद

1. योगबिन्दु ५२४
2. भारतीय संस्कृति में जैन-धर्म का योगदान, पृ० १७४।

और ज्योतिष के ग्रन्थ निर्मित हुए। देश, काल और लोक-मानस को ध्यान मे रखकर, जैन-लेखको ने, प्राकृत के साथ-साथ संस्कृत-भाषा को भी महत्त्व दिया। प्राकृत-युग (विक्रम की तीसरी शती तक) मे जैन-लेखको ने केवल प्राकृत मे लिखा। प्राकृत-सस्कृत मिश्रित युग (विक्रम की चौथी शती से आठवी शती के पूर्वार्ध तक) मे अधिकाश रचनाएँ प्राकृत मे हुईं और कुछ-कुछ संस्कृत मे भी। विक्रम की पाँचवीं से सातवी शती के मध्य लिखित आगम चूर्णियो मे मिश्रित भाषा का प्रयोग मिलता है—प्राकृत के साथ-साथ सस्कृत के वाक्य भी प्रयुक्त है। आठवीं शती के उत्तरार्ध म हरिभद्रसूरि ने प्रथम बार आगम की व्याख्याएँ संस्कृत मे लिखीं। विक्रम की ग्यारहवी शती के उत्तरवर्ती संस्कृत-प्राकृत मिश्रित युग मे आगमो की अधिकाश व्याख्याएँ संस्कृत मे ही लिखी गईं। अन्य साहित्य भी अधिक मात्रा मे संस्कृत मे ही लिखा गया और अनेक विधाओ मे लिखा गया। गुजरात, मालवा (मध्य प्रदेश) और दक्षिण भारत मे लिखा गया और राजस्थान मे भी लिखा गया।

आयुर्वेद—

आयुर्वेद का सम्बन्ध जीवन से है। जीवन का सम्बन्ध स्वास्थ से है। स्वास्थ्य का सम्बन्ध हित-मित आहार से है। हित-मित आहार करते हुए भी यदि रोग हो जाएँ तो चिकित्सा की अपेक्षा होती है। जैन-विद्वानो ने इस अपेक्षा की भी यथासम्भव पूर्ति की है। उन्होने राजस्थानी मे आयुर्वेद के विषय मे प्रचुर साहित्य लिखा। कुछ ग्रन्थ संस्कृत मे भी लिखे। हर्षकीर्तिसूरि (वि० की १७वी शती) का "योगचिन्तामणि" और यतिहस्तिरुचि (वि० की १८वी शती) का "वैद्यवल्लभ" दोनो प्रसिद्ध ग्रन्थ है। ये चिकित्सा-क्षेत्र मे बहुत प्रचलित रहे है। इन पर अनेक व्याख्याएँ लिखी गईं।

ज्योतिष्—

वि० की आठवीं शती से जैन-मुनियो और यतियो ने ज्योतिष के ग्रन्थ लिखने शुरू किए। यह क्रम १९वीं शती तक चला। नरचन्द्रसूरि ने वि० सं० १२८० मे ज्योतिस्सार (नारचन्द्र ज्योतिष्) नामक ग्रन्थ की रचना की।

उपाध्याय नरचन्द्र ने विक्रम की चौदहवीं शती मे वेडाजातक वृत्ति, प्रश्नशतक, प्रश्न चतुर्विंशतिका आदि अनेक ग्रन्थ लिखे। डॉ० नेमीचंद्र शास्त्री ने इसके ग्रन्थों का मूल्याकन करते हुए लिखा है—वेडाजातक-वृत्ति मे लग्न और चन्द्रमा से ही समस्त फलो का विचार किया गया है। ये जातक-ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी हैं। प्रश्नचतुर्विंशतिका के प्रारंभ मे ज्योतिष् का महत्त्वपूर्ण गणित लिखा है। ग्रन्थ अत्यन्त गूढ और रहस्यपूर्ण है।[1]

उपाध्याय मेघविजय ने विक्रमी की अठारहवी शती के पूर्वार्घ मे 'वर्षप्रबोधि', 'रमलशास्त्र', 'हस्तसंजीवन' आदि अनेक ग्रन्थ लिखे। डॉ० नेमीचन्द्र शास्त्री के अनुसार—"इनके फलित ग्रन्थो को देखने से संहिता और सामुद्रिक शास्त्र से बँधी प्रकाण्ड विद्वता का पता सहज मे लग जाता है"[2]।

---

१ भारतीय ज्योतिष्, पृ० १०२, सस्करण छठा

२ भारतीय ज्योतिष्, पृ० १०६, संस्करण छठा

मध्य युग में जैन-उपाश्रय शिक्षा, चिकित्सा और ज्योतिष् के केन्द्र बन गए थे। जैसे-जैसे जन-सम्पर्क बढा वैसे-वैसे लोक-कल्याणकारी प्रवृत्तियाँ और तद्विषयक साहित्य की मात्रा बढी।

स्तोत्र—

समूचा उत्तर-भारत भक्ति की लहर से आप्लावित हो रहा था। ईश्वर और गुरु की स्तुति ही धर्म की प्रधान अंग बन रही थी। जैन-धर्म भी उस धारा से अप्रभावित नही था। इन बारह-सौ वर्षों मे विपुल मात्रा मे स्तोत्र रचे गए। स्तोत्र के पाठ की प्रवृत्ति भी विकसित की गई। संस्कृत नहीं जाननेवाले भी स्तोत्र का पाठ करते थे। इसके साथ श्रद्धा और विघ्न-विलय की भावना दोनो जुडी हुई थी।

स्तोत्रों के साथ मंत्र-ग्रन्थो का भी निर्माण हुआ। ऐहिक सिद्धि के लिए मंत्र, यन्त्र और तंत्र तीनो का प्रयोग होता था। फलत तीनों विषयो पर अनेक ग्रन्थों की रचना हुई।

यात्रा-ग्रन्थ—

जिनप्रभसूरि ने वि० स० १३८९ (ई० स० १३३२) मे "विविध तीर्थकल्प" नामक ग्रन्थ का निर्माण किया। तीर्थ-यात्रा मे जो देखा, उसका सजीव वर्णन हुआ है। उसमे भक्ति, इतिहास और चरित तीनों एक-साथ मिलते हैं।

महाकाव्य और काव्य—

जन-साधारण में संस्कृत का ज्ञान नहीं था। फिर भी उसमें सस्कृत और संस्कृतज्ञ के प्रति सम्मान का भाव था। कुछ लोग सहृदय थे, वे काव्य के मर्म को समझते थे। काव्य-शक्ति दुर्लभ मानी जाती थी। राजस्थान के जैन कवियों ने केवल काव्यों की ही रचना नहीं की, उनमे कुछ प्रयोग भी किए। उदाहरण के लिए महामहोपाध्याय समयसुन्दर की अष्टलक्षी, जिनप्रभसूरि के द्वयाश्रय काव्य और उपाध्याय मेघविजय के सप्तसधान-काव्य को प्रस्तुत किया जा सकता है।

अष्टलक्षी वि० स० १६४९ की रचना है। उसमे 'राजानो ददते सौख्यम्' इन आठ अक्षरों के आठ लाख अर्थ किए गए हैं।

महाकवि धनंजय (ग्यारहवीं शती) का द्विसन्धान काव्य तथा आचार्य हेमचन्द्र का द्वयाश्रय काव्य प्रतिष्ठित हो चुका था। विक्रम की चौदहवीं शती मे जिनप्रभसूरि ने श्रेणिक द्वयाश्रय काव्य लिखा। उसमे कातन्त्र-व्याकरण की दुर्गसिंह-कृत वृत्ति के उदाहरण और मगधपति श्रेणिक का जीवन-चरित—दोनो एक साथ चलते है।

विक्रम की अठारहवीं शती मे उपाध्याय मेघविजय, ने सप्तसधान काव्य का निर्माण किया। उसमे ऋषभ, शान्तिनाथ, अरिष्टनेमि, पार्श्व और महावीर—इन पाँच तीर्थंकरों तथा राम और कृष्ण के चरित निबद्ध हैं।

विक्रम की तेरहवीं शती में सोमप्रभाचार्य ने 'सूक्तिमुक्तावलि' की रचना की। वह सुभाषित सूक्त होने के साथ साथ सरल भाषा, प्रसाद-गुण-सम्पन्न पदावलि और कलात्मक कृति है। इनकी 'शृंगारवैराग्य-तरंगिणी' भी एक महत्वपूर्ण कृति है।

'सूक्तिमुक्तावलि' का दूसरा नाम 'सिन्दूरप्रकर' है। उस पर अनेक व्याख्याएं लिखी गईं। इसका अनुसरण कर कर्पूरप्रकर, कस्तूरीप्रकर, हिंगुलप्रकर आदि और सूक्ति-ग्रन्थों का सृजन हुआ।

विक्रम की सातवी शती तक जैन-लेखक धर्म, दर्शन, न्याय, गणित, ज्योतिष्, भूगोल, खगोल, जीवन-चरित और कथा—मुख्यत इन विषयो पर ही लिखते रहे।

विक्रम की आठवीं शती से लेखन की धाराएँ विकसित होने लगी। उसमे सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तन साम्प्रदायिक प्रतिस्पर्धा और संघर्ष, लोक-संग्रह के प्रति झुकाव, जैन-शासन के अस्तित्व की सुरक्षा, शक्ति-प्रयोग, शक्ति-साधना, चमत्कार-प्रदर्शन, जनता को आकर्षित करने का प्रयत्न, बाह्याचार पर अतिरिक्त बल आदि अनेक कारण बने।

बौद्ध-कवि अश्वघोष का 'बुद्धचरित' बहुत ख्याति पा चुका था। महाकवि कालिदास, माघ और भारवि के काव्य प्रसिद्धि के शिखर पर थे। उस समय जैन-कवियो मे भी संस्कृत-भाषा मे काव्य लिखने की मनोवृत्ति विकसित हुई। राजस्थान के जैन-लेखक भी इस प्रवृत्ति मे पीछे नहीं रहे। महाकाव्यो की शृंखला मे भी अनेक काव्यो की रचना हुई। उनमे 'भरत बाहुबलि' महाकाव्य का उल्लेख अनिवार्य है।

जैनेतर ग्रन्थों पर टीकाएँ—

जैन-आचार्यो और विद्वानो को उदारता का दृष्टिकोण विरासत मे प्राप्त था। उन्होंने उसका उपयोग साहित्य की दिशा मे भी किया। जैन-लेखको ने बौद्ध और वैदिक साहित्य पर अनेक व्याख्याएँ लिखीं। राजस्थान के जैन-लेखक इसमे अग्रणी रहे है। हरिभद्रसूरि ने बौद्ध-विद्वान् दिङ्नाग (ईसा की पाँचवी शती) के न्याय-प्रवेश पर टीका लिखी। पार्श्वदेवगणि (अपर नाम श्रीचन्द्रसूरि) ने विक्रम की बारहवी शती मे न्याय-प्रवेश पर पंजिका लिखी।

बौद्ध-आचार्य धर्मदास के 'विदग्धमुखमंडन' पर जिनप्रभसूरि ने एक व्याख्या लिखी।

खरतरगच्छीय जिनराजसूरि ने विक्रम की पंद्रहवी शती मे नैषध-चरित पर टीका लिखी।

विक्रम की पन्द्रहवीं शती मे वैराठ के अंचलगच्छीय श्रावक वाडव ने कालिदासीय कुमारसंभव, मेघदूत, रघुवंश तथा माघीय काव्यो पर 'अवचूरि' विधा की व्याख्याएँ निर्मित की।

सिंहावलोकन—

राजस्थान मे संस्कृत की सरिता प्रवाहित हुई, उसमे जैन-आचार्य आदि-स्रोत रहे हैं। ईसा की सातवीं शती मे महाकवि माघ (भीनमाल-प्रदेश) अपनी काव्य शक्ति से राजस्थान की मरुधरा को अभिषिक्त कर रहे थे, तो दूसरी ओर हरिभद्रसूरि (चित्तौडगढ) अपनी बहुमुखी प्रतिभा से मरुधरा के कण-कण को प्राणवान् बना रहे थे। इसके उत्तरकाल मे भी जैन-लेखको की लेखनी, सभी दिशाओं मे अनवरत चली। वह आज भी गतिशील है। वर्तमान शती मे राजस्थान मे विहार करने वाले जैन-आचार्यो, साधु-साध्वियों और लेखको ने अनेक ग्रन्थों, काव्यों और महाकाव्यो की रचना की है। संस्कृत के अध्ययन-अध्यापन की प्रवृत्तियाँ भी प्रचलित है। प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश आज प्रचलित भाषाएँ नही हैं। फिर भी ये बहुत समृद्ध भाषाएँ है। वर्तमान की भाषा का प्रयोग करते हुए भी इनका मूल्य विस्मृत न करना—जैन-परम्परा का यह चिरंतन-सूत्र, आज भी उसकी स्मृति मे है। संस्कृत के विकास और उसकी प्रवृत्ति के पीछे भी वह सर्वत्र प्राणवान् रहा है।

६. महावीर की पाँच प्रतिमाएँ

तव चेतसि वर्तेऽहमिति वार्ताऽपि दुर्लभा ।
मच्चित्ते वर्त्तसे चेत्त्वमलमन्येन केनचित् ॥

महावीर ! मैं आपके चित्त मे रहूँ—यह बहुत दुर्लभ है । मैं यह विनिमय करना भी नहीं चाहता कि आप मेरे चित्त मे रहें और मैं आपके चित्त में रहूँ । यह विनिमय की बात भी दुर्लभ है । मैं न आपसे यह अनुरोध करता हूँ कि आप मेरे चित्त मे रहें और न यह विनिमय ही करता हू, मैं सीधा समर्पण ही कर देता हूँ कि आप मेरे चित्त मे रहें । यह मेरा चित्त सदा आपके लिए खुला है । यदि इस चित्त मे आप रहना स्वीकार करते है तो फिर मुझे और कुछ भी नही चाहिए ।

साधना का, सिद्धान्त का और दर्शन का सबसे बडा सूत्र है—एक-पक्षीय समर्पण ।

जब हम दर्शन की बात करते है, तो हम पहले उसे देखें, जिसने देख लिया है । जो स्वयं नहीं देखता, जिसके चक्षु उद्घाटित नहीं हैं, उसे देखने से हमे क्या उपलब्ध होगा ? हम उसी को देखें जो स्वयं द्रष्टा है, जिसने स्वय देख लिया है ।

महावीर को देखने का, महावीर के लिए अपने चित्त को खाली करने का अर्थ है—महावीर का अवतरण । मैं आज निर्वाण की बात नहीं करूँगा, अवतरण की बात करूँगा । अपने चित्त मे महावीर का अवतरण तभी हो सकता है जब चित्त पूर्ण रूप से खाली हो । आप सोचेंगे कि चित्त में क्या भरा है ? हमारा चित्त भय से भरा पड़ा है । हर आदमी का चित्त भय से आक्रान्त है । वह सोचता है कि अमुक मार्ग अच्छा है, पर उस पर कैसे चलूँ ? घर वाले क्या कहेंगे ? मित्र क्या कहेंगे ? वातावरण मे क्या होगा ? इस चिन्तन-ही-चिन्तन मे कर्तव्य पड़ा रह जाता है और वह आदमी हजारों दूसरे कर्तव्य करता चला जाता है । अनेक प्रकार के भयो से मनुष्य का चित्त आक्रान्त है । जब तक भय समाप्त नहीं होता, सत्य का द्वार कभी नही खुलता । सात्विकता, सरलता, भलाई, अच्छाई, पवित्रता इन सबके ताले लगे रहते है । इन सब तालो को खोलने का एक मात्र उपाय है—अभय । जो अभय को नहीं जानता वह महावीर को नहीं जानता । जो अभय को नहीं देखता वह महावीर को नहीं देखता । यदि कोई व्यक्ति महावीर की प्रतिमा को अपने हृदय मे प्रतिष्ठापित करना चाहे तो उसे वह अभय के माध्यम से ही कर पायेगा । अभय जिस व्यक्ति को प्राप्त हो गया उसे महावीर स्वयं प्राप्त हो गये । जिसे अभय प्राप्त नहीं हुआ, जो भीरु है, जो डरता है, जो कायर है वह कभी महावीर को नहीं देख सकता । महावीर ने अहिंसा से पहले अभय की बात कही । उन्होंने स्पष्ट रूप मे कहा—जो अभय नही है वह कभी अहिंसक नहीं हो सकता । यह कायरता का धर्म नहीं है, यह डर का धर्म नहीं है । यदि आप महावीर को समझना चाहते हैं तो शब्दो के दर्पण को तोड़ें । आप उनकी उस प्रतिमा को हृदय मे प्रतिष्ठित करें जहाँ वे चुनौतियो को झेलने के लिए [illegible] हैं । एक मन्दिर मे जाकर महावीर ठहरे । पुजारी ने कहा—"यहाँ मत ठहरो । रात को यहाँ रहोगे तो सुबह जीवित नहीं मिलोगे ।" महावीर ने कहा—"मुझे तो यहीं ठहरना है । जो आज कसौटी मिल

रही है, उसे यूं ही जाने दूं ? तुम मुझे मनाही कर रहे हो ? यह तो मेरे जीवन की कसौटी है। मैंने अभय की साधना की है। कोई कुछ भी करे, भले शूलपाणि का मन्दिर हो या श्मशान भूमि। यक्ष चाहे आदमियो को मार डालता हो, उससे मुझे क्या ? मैं अपनी कसौटी से पीछे नहीं हटूंगा। मर जाऊंगा तो मर जाऊंगा।' वे उसी मन्दिर मे रात भर रहे।

महावीर-जैसे तपस्वी साधक के अनुत्तीर्ण होने की बात ही प्राप्त नही होती। वे रात भर रहे। यदि आप महावीर को अपने हृदय मे प्रतिष्ठापित करना चाहते है तो महावीर की उस प्रतिमा का ध्यान करें, जिसमे भयंकर कष्ट सामने है, लोग महावीर को मनाही कर रहे है, फिर भी वे उन कष्टो के सामने खड़े है। यक्ष आ रहा है, कष्ट दे रहा है, सता रहा है, फिर भी वे अविचल शान्त खड़े है। नही लगता कि कुछ हो रहा है क्योंकि वे अपने शरीर मे नहीं है। जब वे अपने शरीर मे ही नही है तो शरीर को जो कुछ हो रहा है, वह उनके लिए व्यर्थ है। उन पर कोई प्रभाव नहीं हो रहा है। जो व्यक्ति शरीर को ही जानता है, शरीर को ही सब कुछ मानता है, शरीर को ही सर्वस्व मानकर चलता है, वह भय को निमन्त्रण देता है। भय को निमन्त्रित करने का पहला कारण है—शरीर की आसक्ति, शरीर का मोह। जिस व्यक्ति का शरीर के प्रति मोह है वह निश्चित ही डरपोक है, भीरु है, कायर है। मैं नहीं मानता कि युद्ध मे लडने वाला योद्धा अभय होता है। वह भी अपने आपको बहुत बचाता है। वह पूरी सुरक्षा रखता है कि कहीं शस्त्र का प्रहार न लग जाए। वह बचाव करता है। वह अभय नहीं होता। अभय वह होता है जो शरीर का बचाव नहीं करता। वह शरीर को ऐसे छोड देता है जैसे वह उसका कुछ भी न हो, चाहे वह अभी चला जाए, कुछ भी हो जाए।

महावीर पूर्ण अभय थे। शरीर के प्रति होने वाली आसक्ति और मोह, पूर्ण नष्ट हो चुके थे। वे अपने शरीर को विसर्जित करते चलते थे। उन्होने जब साधना प्रारम्भ की तब उनका पहला सकल्प था—"साढे बारह वर्ष तक, पूरे साधना-काल तक मै अपने शरीर को विसर्जित करता हू, मृतवत् मान लेता हूँ। मैं केवल अपने चैतन्य मे रहूँगा, मैं केवल अपने मे रहूँगा। मै शरीर मे नहीं रहूँगा, कभी नहीं रहूँगा।" जो व्यक्ति शरीर को छोडकर चलता है, जो अपने मे रहता है, जो अपने चैतन्य-केन्द्र मे रहता है, वह सर्व शक्तिशाली है, अभय है। उसे दुनियाँ की कोई भी शक्ति भयभीत नहीं कर सकती, उसे कोई परास्त नही कर सकता।

महावीर को समझने का, महावीर के दर्शन की व्याख्या करने का, महावीर के साक्षात्कार का, महावीर के निर्वाण को समझने का सबसे पहला सूत्र है—अभय। आप अभय को समझें, महावीर आपकी समझ मे तत्काल आ जायेंगे।

आप महावीर के बारे मे कुछ सुनना चाहते है। क्या सुनेंगे ? घटनाओ को सुनना कोई बडी बात नही है। दुनियाँ मे घटना करने वाले लोग ज्यादा होते है जो दुनियाँ मे ज्यादा आतक फैलाते है। जिन्होने ज्यादा आतंक फैलाया, घटनाएं उनके साथ अधिक जुडी। घटनाएं नादिरशाह के साथ जुडी हुई है। घटनाएं हिटलर के साथ जुडी हुई है। इनके साथ इतनी घटनाएँ जुडी हुई हैं कि शायद ही किसी धर्म-गुरु के साथ इतनी घटनाएँ जुडी हुई हो। इन्होने सारे जगत् को भयभीत कर दिया, प्रकपित कर दिया। दुनियाँ ने इनके पतन को देखा और देखा कि ये पतन की ओर बढ़ते ही गए। पतन-ही-पतन। ये भयभीत करनेवाली घटनाएँ, कँपाने वाली घटनाएं समूची

मानवता को लील जाने वाली घटनाएँ, किसी धर्म-गुरु के साथ घटित नहीं होतीं।

हम महावीर को घटनाओं के सन्दर्भ में क्यों देखें ? हम महावीर को उस सन्दर्भ मे देखें जहाँ सारी घटनाएं समाप्त हो जाती हैं, जहाँ घटनातीत अघटित-व्यक्तित्व शेष रह जाता है। हम उसको देखें, वह है उनकी समता।

महावीर ने समत्व की प्रतिष्ठा की। इतना समत्व, इतना सामायिक कि दुनियाँ में अन्यत्र दुर्लभ है। एक मुहूर्त का सामायिक भी बहुत कठोर होता है। महावीर का सामायिक बहुत बड़ा था, लम्बा था। उस सामायिक में जो भी कल्पित या अकल्पित कष्ट आया, वह अतिथि की तरह रहा और अपने आप चला गया, समाप्त हो गया। सामान्यतः सामायिक मे भी यदि कोई अप्रिय शब्द कानों मे पड़ता है तो सामायिक विचलित हो जाता है। सामायिक मे विपरीत विकल्प आता है तो मन स्खलित हो जाता है। किन्तु महावीर का सामायिक विचित्र था। उसमे न जाने क्या-क्या घटित हुआ, अनुकूल भी घटित हुआ और प्रतिकूल भी घटित हुआ, मच्छरों ने काटा, साँप ने डसा, और-और भी घटित हुआ जो हृदय को कँपा देने वाला था। एक रात में बीस मरणान्तक कष्ट आए। ऐसे कष्ट कि साधारण आदमी बीस बार मर जाए। ऐसे कष्ट चाहे बाहर से न आए हो, किन्तु वे भीतर से आए अवश्य थे। जब साधक, साधना के अग्रिम शिखरों पर आरोहण करता है तब संचित संस्कार, संचित वासनाएं, संचित वृत्तियाँ पूरा आक्रमण करती हैं। उन आक्रमण को झेलना सहज नहीं होता। इतना तीव्र प्रहार होता है कि सामायिक चूर-चूर हो जाता है। महान् भयंकर आक्रमण होता है संस्कारों का, और वृत्तियों का। आदमी के अणु-अणु को कम्पित कर देता है। एक ही रात मे ऐसे बीसों आक्रमण हुए। महावीर देखते रहे। चलचित्र की भांति दृश्य आते गए। महावीर देखते रहे। दृश्य आते रहे और जाते रहे। महावीर अडोल थे। अन्तर्वृत्तियों का आक्रमण भयंकर था। दूसरा कोई सामान्य साधक होता तो स्खलित हो जाता, विचलित हो जाता। महावीर ने उन सबको झेला। उन्होंने इस प्रकार झेला कि सारे आक्रमण विफल हो गए। महावीर अपने सामायिक मे प्रतिष्ठित रहे।

यदि आप महावीर को देखना चाहें तो आप उनकी प्रतिमा का ध्यान करें जो इतने भयंकर आक्रमणों के बीच भी सामायिक में प्रतिष्ठित है। इसी प्रकार आप महावीर की सहिष्णुता की प्रतिमा और धृति की प्रतिमा का ध्यान करें, आप उन्हें साक्षात् कर लेंगे।

अभय की प्रतिमा, समत्व की प्रतिमा, सहिष्णुता की प्रतिमा और धृति की प्रतिमा—ये चार प्रतिमाएं आपको महावीर के दर्शन कराने में सक्षम है। एक बात और—

उनकी पांचवीं प्रतिमा है—निरन्तर जलते रहना, कभी नहीं बुझना। यह है—अप्रमाद का सूत्र। अप्रमाद का अर्थ है—निरन्तर जलना। तुम कभी मत बुझो, निरन्तर जलते रहो। वे दीपक महावीर को प्रिय नहीं थे जो एक बार जले और दो घंटे बाद बुझ जाएं। महावीर को वह दीपक प्रिय था जो एक बार जल गया तो जल ही गया। अखण्ड-ज्योति। बुझने वाली ज्योति महावीर को प्रिय नहीं थी। निरन्तर जलना, निरन्तर अप्रमाद। क्यों ? किसलिए ? महावीर ने इसका दर्शन भी दिया। उन्होंने कहा—"अभी तुम्हें आत्मा प्राप्त नहीं है। जब-तक वह प्राप्त न हो जाए, तुम शान्त मत बैठो। निरन्तर युद्ध करते रहो। प्रकाश रहेगा। निरन्तर हाथ हिलाते रहो, प्रकाश रहेगा। जिस क्षण हाथ बन्द किया प्रकाश रुक जाएगा।" महावीर ने समझाया—

एक बहुत बड़ा तालाब में मीठा था। तालाब पर सेवाल छायी हुई थी। गहरी सेवाल। कोई छिद्र नहीं,

कोई विवर नहीं। कछुआ आया। कुछ सेवाल हटी। कछुए ने आकाश को देखा। बहुत सुन्दर आकाश। कितने तारे झिलमिला रहे थे। सुन्दर चाँद चमक रहा था। मुक्त आकाश। मुक्त वातावरण। सारे आकाश मे दीए-ही-दीए जल रहे थे। कछुए ने सोचा—"कितना मनोहर दृश्य है ? मैं अपने साथियों को भी दिखाऊँ।" वह पानी के भीतर गया। सारे परिवार को लेकर पानी के ऊपर आया। आश्चर्य। सेवाल छा रही थी। वह विवर भी ढक चुका था। आकाश दीखना बन्द हो गया। सब निराश हो गए।

महावीर ने कहा—"बंद मत होने दो। हाथ हिलाते रहो। ये हाथ निरन्तर हिलते रहें। पुरुषार्थ की आग कभी न बुझने पाए। पुरुषार्थ की ज्योति पर कभी भी राख न आने पाए। पुरुषार्थ का दीया कभी बुझने न पाए। सतत अप्रमत्त रहो। अप्रमाद-अप्रमाद-अप्रमाद। जागृत रहोगे तो तुम्हारा प्रकाश काम करेगा।

महावीर को समझना है तो उनके पुरुषार्थ की प्रतिमा को समझो और अप्रमाद की प्रतिमा को समझो।

इन पाँच प्रतिमाओ के रूप मे मैंने महावीर को देखा। मैं उनके दर्शन की व्याख्या करना नहीं चाहता। मैंने इन पाँच प्रतिमाओ के माध्यम से उन्हें देखा है। यह मेरे दर्शन की बात मैंने आपके सामने प्रस्तुत की है।

७. समाजवाद में कर्मवाद का मूल्यांकन

मैं कल्पना करने मे कठिनाई का अनुभव करता हूँ कि एक आदमी भारत मे जनमा हो और कर्मवाद को न जानता हो, नियति, प्रारब्ध और भाग्य के विषय मे कुछ-न-कुछ न जानता हो। भारत के सभी आस्तिक दर्शनों ने किसी-न-किसी रूप में कर्म के अस्तित्व को स्वीकारा है। भारत की मिट्टी मे कर्म के सिद्धान्त की जड़ें गहरे तक जमी हुई है। खेतों, खलिहानो मे भी यदा-कदा कर्म का स्वर सुनाई देता है। घटना की सफलता और असफलता--दोनों मे कर्म की दुहाई सुनने को मिलती है। सफल होने वाला व्यक्ति अपनी सफलता का श्रेय पूर्वजन्म मे किए हुए पुण्य को देता है और कहता है—"पूर्वजन्म मे अच्छे कर्म किए थे इसलिये मुझे यह सफलता मिली है।" असफल होने वाला भी अपनी असफलता का दायित्व कर्म पर डाल देता है—"ऐसा ही कोई कर्म किया हुआ था, मैं क्या करूँ।" कर्म का इतना गहरा संस्कार है कि उसके लिए मुझे विशेष चर्चा की आवश्यकता का अनुभव नहीं होता।

आज के युग मे जीनेवाला, थोड़ा-बहुत भी जनसम्पर्क मे आने वाला पढ़ने-लिखने वाला और राजनैतिक वातावरण से परिचित रहने वाला, कौन व्यक्ति ऐसा होगा जो समाजवाद के नाम से अनजान हो ? भारत मे, इन वर्षों में कई बार समाजवाद की स्थापना के संकल्प को दोहराया गया है। समाजवाद एक राजनैतिक प्रणाली है, एक आर्थिक प्रणाली है। कर्मवाद एक आध्यात्मिक प्रणाली है। दोनों का क्षेत्र भिन्न है। दोनो की सीमाएँ और मर्यादाएँ भिन्न हैं।

समाजवाद कोरी आर्थिक प्रणाली ही नहीं है, कोरा राजनैतिक वाद ही नहीं है। उसके तीन मुख्य पहलू हैं---दार्शनिक, राजनीतिक और आर्थिक। यदि वह केवल आर्थिक आन्दोलन होता तो आज तक चल नहीं पाता। यदि वह कोरा राजनैतिक आन्दोलन होता तो भी वह आज तक चल नहीं पाता। वह चल रहा है और इसलिए चल रहा है कि उसके पीछे एक दर्शन है, एक सुनियोजित विचारधारा है। वही आन्दोलन लम्बे समय तक टिक सकता है जिसकी पृष्ठ-भूमि मे दर्शन होता है। समाजवाद के दार्शनिक पक्ष को ऐतिहासिक द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कहा जाता है। इसका पहला या मूलभूत सिद्धान्त यह है—इस जगत् का आधार अचेतन है, अचित है। इस जगत् का आधार कोई चेतन नहीं है। उससे एक परिस्थिति उभरती है। वह है—केवल वर्तमान, न अतीत न भविष्य। आदमी जन्म लेता है। उसके पीछे कोई अतीत नहीं होता, उसका कोई भविष्य नहीं होता, कोरा वर्तमान होता है। हम कह सकते हैं कि भारतीय दर्शन मे जो भाषा चार्वाक की थी, वही भाषा समाजवादी दर्शन की है। चार्वाक ने भी केवल वर्तमान को स्वीकारा था और समाजवादी-दर्शन भी केवल वर्तमान को स्वीकारता है। दोनों की उद्देश्य-गत वास्तविकता बहुत भिन्न है। चार्वाक-दर्शन पुनर्जन्म और कर्मवाद को अस्वीकार कर, वर्तमान जीवन को सुख से जीने के उद्देश्य से अस्तित्व में आया था और समाजवाद विषमतापूर्ण समाज-व्यवस्था को बदलने के उद्देश्य से अस्तित्व मे आया था। उद्देश्य की दृष्टि से दोनों मे कोई तुलना नहीं की जा सकती। केवल इतनी तुलना की जा सकती है कि चार्वाक भी अनात्मवादी दर्शन है और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद भी अनात्मवादी दर्शन है।

जिस दर्शन को केवल वर्तमान सम्मत होता है, अतीत और भविष्य सम्मत नहीं होते, उस लम्बी-चौड़ी

चर्चा मे जाने की जरूरत नही होती, कोई लम्बी चिंता करने की जरूरत नहीं होती। उसे अदृष्य जगत् में जाने की अपेक्षा नहीं होती और बहुत सूक्ष्म अवगाहन करने की भी कोई जरूरत नही होती। जो द्रष्ट है, उपलब्ध है, उसी की जरूरत होती है। इससे समाजवाद का दूसरा सिद्धान्त फलित होता है। वह है परिस्थितिवाद। जब केवल वर्तमान है तो केवल वर्तमान मे परिस्थितिवाद पनपता है। निष्कर्ष की भाषा मे कहा जा सकता है कि व्यक्ति परिस्थिति की देन है। व्यक्ति के समूचे व्यक्तित्व का निर्माण परिस्थिति से होता है। जैसी परिस्थिति होती है वैसा ही व्यक्ति का निर्माण हो जाता है। व्यक्ति के निर्माण का पूरा दायित्व परिस्थिति पर होता है। केवल वर्तमान और केवल परिस्थिति के आधार पर समाजवाद का तीसरा सिद्धान्त बनता है—समाज-व्यवस्था का परिवर्तन। परिवर्तन की प्रक्रिया का मूल आधार आर्थिक पक्ष है। आर्थिक समस्या मूलभूत समस्या है। इसे सुलझाए बिना सामाजिक समस्याएं सुलझ नहीं सकतीं। कार्ल मार्क्स ने इस भाषा मे सोचा था—"समाज जो बनता-बिगडता है, वह अर्थ के आधार पर बनता-बिगडता है। अर्थ-व्यवस्था ही समाज की रीट है और उसके आधार पर ही समाज अच्छा या बुरा बनता है।" केवल मार्क्स ही ऐसा सोचने वाला व्यक्ति हुआ, यह नही कहा जा सकता। भारतीय चिंतको मे भी इस प्रकार का चिंतन प्रस्फुटित हुआ था। पूरे समाज के संदर्भ मे भारतीय चिंतन तीन वर्ग (धर्म, अर्थ और काम) अथवा चतुर् वर्ग (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) मे विभाजित था। यह प्रश्न चलता था कि त्रिवर्ग या चतुर्-वर्ग मे मुख्य कौन ? भिन्न-भिन्न मत थे। कोई धर्म को मुख्य मानता और कोई काम को मुख्य मानता और कोई मोक्ष को मुख्य मानता। भारतीय राजनीति के नक्षत्र महामात्य कौटिल्य ने इन सब मतो का उल्लेख कर, अन्त मे अपने अभिमत का उल्लेख किया है। वह उल्लेख मार्क्स के चिंतन से भिन्न नही है। कौटिल्य के अनुसार सब वर्गों मे अर्थ ही प्रधान है। धर्म और काम—इन दोनो के मूल मे अर्थ है। अर्थ है तो धर्म (न्यायाधिकरण) होता है और अर्थ है तो काम होता है। अर्थ के बिना कुछ भी नही होता—न धर्म और न काम। अर्थ को प्रधानता देने वाले चिन्तक, भारत मे बहुत प्राचीन काल मे हुए है। और यह एक सच्चाई है कि समाज के बनने-बिगडने मे अर्थ का बहुत बडा हाथ होता है। समाजवाद का दूसरा पक्ष है—आर्थिक। मार्क्स ने इस बात पर ध्यान दिया कि जब तक अर्थ-व्यवस्था मे परिवर्तन नहीं किया जाता, तब-तक समाज का विकास नही हो सकता, सामाजिक परिवर्तन नही हो सकता। आर्थिक व्यवस्था समाजवाद का ध्येय बन गया। यह उनका दूसरा पक्ष है। अब प्रश्न यह रहा कि ध्येय को प्राप्त कैसे किया जाए ? केवल दार्शनिक समाजवाद, दार्शनिक समतावाद या दार्शनिक साम्य से ध्येय-सिद्धि नहीं हो सकती। यह उन्हें स्पष्ट प्रतीत हुआ। इतिहास के अध्ययन के पश्चात् वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि दार्शनिक साम्यवाद का बखान करते-करते हजारो वर्ष बीत गए पर समाज नहीं बदला। वे समाज को बदलना चाहते थे। ध्येय की पूर्ति के लिए उन्होने तीसरा पक्ष चुना जो समाजवाद का राजनीतिक पक्ष है, ध्येय की पूर्ति का एकमात्र साधन है। समाजवादी धारणा के अनुसार जब तक राज्यसत्ता हाथ मे नहीं आती, तब-तक समाज को नही बदला जा सकता। समाजवादी उद्देश्यो की पूर्ति को अनिवार्य शर्त है राज्य-सत्ता को हथियाना। राज्य की सत्ता शोषित वर्ग के हाथ में होनी चाहिए। धनिको और गरीबो तथा मिल-मालिको तथा मजदूरो के बीच जो वर्ग-संघर्ष चल रहा है, वह तब तक नही मिटेगा, जब तक शोषित वर्ग के हाथ मे राज्यसत्ता नहीं आएगी। इनके हित परस्पर विरोधी है। उनमे कोई समझौता नहीं हो सकता। समाजवाद के आचार्यों ने यह प्रतिपादन किया—पूँजीवादी लोगो के हित और

शोषित लोगों के हित इतने विरोधी हैं कि उनमें समझौते की कोई सम्भावना नहीं है। इस विरोध को मिटाने का एक ही उपाय है, और वह है—शोषित वर्ग के हाथ में सत्ता आना।

समाजवाद के तीनों पक्ष—दार्शनिक, आर्थिक और राजनीतिक—हमारे सामने हैं। इन तीनों पक्षों के सन्दर्भ में हमें कर्मवाद को समझना है, उसकी मीमांसा करना है। कर्मवाद का दार्शनिक पक्ष, समाजवाद के दार्शनिक पक्ष से बिल्कुल उल्टा है। कर्म का अस्तित्व उन दार्शनिकों ने स्वीकार किया जो जगत् का आधार चेतन-अचेतन—इन तत्त्व-द्वयी को या केवल चेतन को स्वीकार करते हैं। केवल अचेतन को जगत् का आधार माननेवाला, कर्म के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता। आत्मवादी दर्शनों की मुख्य दो धाराएँ हैं—द्वैतवाद, अद्वैतवाद। द्वैतवादी धारा के अनुसार चेतन और अचेतन—इन दोनों का अस्तित्व है। अद्वैतवादी धारा केवल चेतन-तत्त्व के अस्तित्व को स्वीकार करती है। जिन दर्शनों ने कर्म को स्वीकार किया, उनमें एक भी दर्शन ऐसा नहीं है जो कर्म को स्वीकृति देता हो और चेतन-तत्त्व को स्वीकार न करता हो। चेतन-तत्त्व को स्वीकार किए बिना, कर्म का कोई मूल्य नहीं होता, कोई अर्थ नहीं होता। कर्मवाद की धारणा के साथ अतीत जुड़ा हुआ है, और भविष्य भी जुड़ा हुआ है। यदि हमारा कोई अतीत नहीं है तो कर्मवाद को स्वीकार करने की जरूरत नहीं है। यदि हमारा कोई भविष्य नहीं है तो कर्मवाद को स्वीकार करने की कोई जरूरत नहीं है। कर्मवाद के साथ भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों काल जुड़े हुए हैं।

कर्मवाद का दूसरा सिद्धान्त है—परिस्थितिवाद का अस्वीकार। केवल वर्तमान को स्वीकार करनेवालों को परिस्थितिवाद मान्य हो सकता है, किन्तु कर्म को स्वीकार करने वालों को वह मान्य नहीं हो सकता। परिस्थिति को निमित्त माना जा सकता है, एक हेतु या कारण माना जा सकता है। पर सारा भार परिस्थिति पर नहीं लादा जा सकता, नहीं थोपा जा सकता। वह इतना भार उठाने में सक्षम भी नहीं है। जहाँ कर्मवाद की स्वीकृति है वहाँ जन्म की स्वीकृति है, पूर्वजन्म और भावी-जन्म की स्वीकृति है। जहाँ इनकी स्वीकृतियाँ हैं वहाँ परिस्थितिवाद का एकाधिकार स्वीकृति नहीं हो सकती।

तीसरा प्रश्न है—आर्थिक-पक्ष का। वहाँ कर्मवाद की सामान्य धारणा, प्रचलित धारणा यह है—कोई आदमी धनी होता है तो लोग कहते हैं—बहुत भाग्यशाली है, बड़ा पुण्य किया है इसलिए इतना धन मिल गया। कोई गरीब होता है तो लोग कहते हैं—भाग्यहीन आदमी है, अच्छा कर्म नहीं किया, इसलिए दुःख भोग रहा है, गरीबी भोग रहा है। कर्मवाद को इस रूप में समझा गया है कि धनी होना पुण्य-कर्म का योग है और निर्धन होना पाप-कर्म का योग है। कोई आदमी बड़े-से-बड़ा धनी होता है तो उसे मान्यता मिल जाती है। बहुत धन के संग्रह को बुरा नहीं माना जाता, कर्मवाद के संदर्भ में उसका समर्थन किया जाता है। किसी आदमी को रोटी नहीं मिलती, तो कर्मवाद के संदर्भ में उसका समाधान इस प्रकार दिया जाता है—उसने पिछले जन्म में बहुत बुरे कर्म किए हैं। यदि रोटी न मिले तो लोग क्या करें। स्वयं का किया हुआ कर्म है, वह भोगेगा, हमें उससे क्या? कर्मवाद के संदर्भ में गरीबी और अमीरी—दोनों अवस्थाओं के बारे में निर्णय दिया जाता है, उन्हें भाग्य के साथ जोड़ दिया जाता है। इस आर्थिक पक्ष पर ही है जहाँ समाजवाद और कर्मवाद की भारी टक्कर होती है। यद्यपि दार्शनिक पक्ष भी दोनों के भिन्न हैं। वहाँ मतभेद भी है। पर वहाँ इतना भेद नहीं है तो इतना संघर्ष भी नहीं है। संघर्ष का मुख्य

बिन्दु है—आर्थिक व्यवस्था। समाजवाद की यह स्थापना है, केवल स्थापना ही नही प्रयोग कर चुका है, कि संपत्ति समाज की है। उस पर व्यक्ति का स्वामित्व स्वीकार नही किया जा सकता। समाज का स्वामित्व स्थापित होना चाहिए। उत्पादन, विनिमय और वितरण पर समाज का स्वामित्व स्थापित होना चाहिए। समाजवाद की मर्यादा मे संपत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व मान्य नहीं है। कर्मवाद की व्याख्या करनेवाले संपत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व को भी न्यायपूर्ण और उचित ठहराते है। यह बहुत उलझन-भरा प्रश्न है। इसीलिए यह प्रश्न बार-बार सामने आता है कि समाजवाद या साम्यवाद की स्थापना होने पर कर्मवाद का क्या होगा? कर्मवाद कैसे टिक पाएगा? ऐसा लगता है कि दुनियाँ मे गरीब और धनवान दोनो टिके रहें तब तो कर्मवाद टिकेगा और ये दोनों न रहें तो कर्मवाद का सारा महल ढह जाएगा। पता नहीं, यह सिद्धान्त क्यो बन गया। पर सचमुच बन गया। जब-जब विज्ञान के द्वारा नई उपलब्धियो की घोषणा होती है, तब-तब पहला प्रश्न यह होता है कि अब धर्म कैसे टिकेगा? आत्मा और पुनर्जन्म का सिद्धान्त कैसे टिकेगा? कर्मवाद कैसे टिकेगा? मुझे लगता है कि बहुत ही छिछले चिन्तन के कारण इस प्रकार के तात्कालिक विचार बन जाते है, काल्पनिक और कृत्रिम समस्याएँ हमारे सामने उपस्थित हो जाती है। क्या गरीब और अमीर का भेद मिट जाने मात्र से, कर्मवाद समाप्त हो जायेगा? यदि कर्मवाद का आधार इतना कमजोर है तो मैं भगवान् से प्रार्थना करूँ कि उसे समाप्त होने दें। यद्यपि मैं जैन-मुनि हूँ। भगवान् को मानता हूँ पर भाग्य-विधाता को नही मानता। फिर भी भावना के आवेग मे प्रार्थना करता हूँ कि ऐसे कर्मवाद को समाप्त हो जाने दें। हमे कोई प्रयोजन नही है। जिसकी भित्ति इतनी कमजोर हो, जिसकी नींव इतनी कमजोर हो, उसे टिकाकर भी हम क्या कर पायेंगे? उसे कब तक टिका पायेंगे? ये व्यवस्थायें तो बदलती रहेंगी। कभी समाजवाद का अगला चरण भी आ सकता है। दुनियाँ के बहुत बड़े हिस्से मे समाजवाद या साम्यवाद का प्रयोग हो चुका है। वहाँ आर्थिक व्यवस्था को सर्वथा बदल दिया गया है। तो हम मान लें कि उन देशो मे कर्मवाद समाप्त हो गया है। रूस मे कर्मवाद समाप्त, चीन मे कर्मवाद समाप्त और जितने भी साम्यवादी या समाजवादी राष्ट्र है उन सब मे भी कर्मवाद समाप्त। कुछ दिनो पूर्व, धर्मयुग के सम्पादक धर्मवीर भारती की चीन-यात्रा के संस्मरण पढे। चीन-जैसे विशाल देश मे किसी भी व्यक्ति के पास अपनी व्यक्तिगत कार नहीं है। वहाँ कोई बडा उद्योगपति या भू-स्वामी नही मिलेगा। व्यक्तिगत स्वामित्व इतना सीमित कर दिया गया कि सम्पत्ति के आधार पर कोई बडा या छोटा आदमी नही होगा। कोई भिखारी नहीं मिलेगा। एक कृपा कर रोटी देनेवाला, और दूसरा दीनतापूर्वक रोटी लेनेवाला नही मिलेगा। जिसे रोटी न मिलती हो, ऐसा गरीब नहीं मिलेगा। जिसने लाखो और करोडो की सम्पदा कमा ली हो—ऐसा भाग्यशाली भी नहीं मिलेगा। तो क्या कर्मवाद समाप्त हो गया? यही वह बिन्दु है जिस पर विमर्श जरूरी है। कर्म के विषय मे बहुत भ्रान्तियाँ पैदा हो गई है। उन्हें तोडना आवश्यक है। कभी-कभी भ्राँतियो का वात्याचक्र इतना बडा बन जाता है कि आदमी मूल तक पहुँच ही नहीं पाता, परिधि मे ही उलझ जाता है।

कर्म व्यक्ति की आन्तरिक अवस्था मे होने वाले परिवर्तन का घटक है। प्राणीमात्र मे निरन्तर आन्तरिक परिवर्तन होता है, वह सारा-का-सारा कर्मकृत होता है। एक व्यक्ति क्रोधी है। कोई क्रोध क्यो करता है? इसलिए करता है कि उसके भीतर कर्म है। अभिमान, माया, लोभ, राग और द्वेष—ये सारे-के-सारे उसके

शोषित लोगों के हित इतने विरोधी हैं कि उनमें समझौते की कोई सम्भावना नहीं है। इस विरोध को मिटाने का एक ही उपाय है, और वह है—शोषित वर्ग के हाथ में सत्ता आना।

समाजवाद के तीनों पक्ष—दार्शनिक, आर्थिक और राजनीतिक—हमारे सामने हैं। इन तीनों पक्षों के संदर्भ में हमें कर्मवाद को समझना है, उसकी मीमांसा करना है। कर्मवाद का दार्शनिक पक्ष, समाजवाद के दार्शनिक पक्ष से बिल्कुल उल्टा है। कर्म का अस्तित्व उन दार्शनिकों ने स्वीकार किया जो जगत् का आधार चेतन-अचेतन—इस तत्त्व-द्वयी को या केवल चेतन को स्वीकार करते हैं। केवल अचेतन को जगत् का आधार माननेवाला, कर्म के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता। आत्मवादी दर्शनों की मुख्य दो धाराएं हैं—द्वैतवाद, अद्वैतवाद। द्वैतवादी धारा के अनुसार चेतन और अचेतन—इन दोनों का अस्तित्व है। अद्वैतवादी धारा केवल चेतन-तत्त्व के अस्तित्व को स्वीकार करती है। जिन दर्शनों ने कर्म को स्वीकार किया, उनमें एक भी दर्शन ऐसा नहीं है जो कर्म को स्वीकृति देता हो और चेतन तत्त्व को स्वीकार न करता हो। चेतन-तत्त्व को स्वीकार किए बिना, कर्म का कोई मूल्य नहीं होता, कोई अर्थ नहीं होता। कर्मवाद की धारणा के साथ अतीत जुड़ा हुआ है, और भविष्य भी जुड़ा हुआ है। यदि हमारा कोई अतीत नहीं है तो कर्मवाद को स्वीकार करने की जरूरत नहीं है। यदि हमारा कोई भविष्य नहीं है तो कर्मवाद को स्वीकार करने की कोई जरूरत नहीं है। कर्मवाद के साथ भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों काल जुड़े हुए हैं।

कर्मवाद का दूसरा सिद्धान्त है—परिस्थितिवाद का अस्वीकार। केवल वर्तमान को स्वीकार करनेवालों को परिस्थितिवाद मान्य हो सकता है, किन्तु कर्म को स्वीकार करने वालों को वह मान्य नहीं हो सकता। परिस्थिति को निमित्त माना जा सकता है, एक हेतु या कारण माना जा सकता है। पर सारा भार परिस्थिति पर नहीं लादा जा सकता, नहीं लादा जा सकता। वह इतना भार उठाने में सक्षम भी नहीं है। जहाँ कर्मवाद की स्वीकृति है वहाँ चेतन की स्वीकृति है, पूर्व-जन्म और भावी-जन्म की स्वीकृति है। जहाँ इनकी स्वीकृतियाँ हैं वहाँ परिस्थितिवाद की [illegible] स्वीकृति नहीं हो सकती।

तीसरा प्रश्न है—आर्थिक पक्ष का। कर्मवाद की सामान्य धारणा, प्रचलित धारणा यह है—कोई आदमी धनी होता है या [illegible] है—बड़ा भाग्यशाली है, बड़ा पुण्य किया है इसलिए इतना धन मिल गया। कोई निर्धन होता है या [illegible] है—भाग्यहीन आदमी है, अच्छा कर्म नहीं किया, इसलिए दुःख भोग रहा है, [illegible] है। कर्मवाद को इस रूप में समझा गया है कि धनी होना पुण्य-कर्म का योग है और निर्धन होना पाप कर्म का योग है। कोई आदमी करोड़ों का धनी होता है तो उसे मान्यता मिल जाती है। बहुत धन के संग्रह का [illegible], कर्मवाद के संदर्भ में उसका समर्थन किया जाता है। किसी आदमी को रोटी नहीं [illegible] समझा दिया जाता है—उसने पिछले जन्म में बहुत बुरे कर्म किए हैं। [illegible] उसका किया हुआ कर्म है, वह भोगेगा, हम उसमें क्या? कर्मवाद के [illegible] भाग्य के साथ जोड़ दिया जाता है। [illegible] होती है। यद्यपि दार्शनिक पक्ष भी [illegible] है तो इतना सशक्त भी नहीं है। संघर्ष का मुख्य

बिन्दु है—आर्थिक व्यवस्था। समाजवाद की यह स्थापना है, केवल स्थापना ही नही प्रयोग कर चुका है, कि संपत्ति समाज की है। उस पर व्यक्ति का स्वामित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता। समाज का स्वामित्व स्थापित होना चाहिए। उत्पादन, विनिमय और वितरण पर समाज का स्वामित्व स्थापित होना चाहिए। समाजवाद की मर्यादा मे संपत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व मान्य नहीं है। कर्मवाद की व्याख्या करनेवाले संपत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व को भी न्यायपूर्ण और उचित ठहराते है। यह बहुत उलझन-भरा प्रश्न है। इसीलिए यह प्रश्न बार-बार सामने आता है कि समाजवाद या साम्यवाद की स्थापना होने पर कर्मवाद का क्या होगा ? कर्मवाद कैसे टिक पाएगा ? ऐसा लगता है कि दुनियाँ मे गरीब और धनवान दोनो टिके रहें तब तो कर्मवाद टिकेगा और ये दोनो न रहे तो कर्मवाद का सारा महल ढह जाएगा। पता नहीं, यह सिद्धान्त क्यो बन गया। पर सचमुच बन गया। जब-जब विज्ञान के द्वारा नई उपलब्धियो की घोषणा होती है, तब-तब पहला प्रश्न यह होता है कि अब धर्म कैसे टिकेगा ? आत्मा और पुनर्जन्म का सिद्धान्त कैसे टिकेगा ? कर्मवाद कैसे टिकेगा ? मुझे लगता है कि बहुत ही छिछले चिन्तन के कारण इस प्रकार के तात्कालिक विचार बन जाते है, काल्पनिक और कृत्रिम समस्याएं हमारे सामने उपस्थित हो जाती है। क्या गरीब और अमीर का भेद मिट जाने मात्र से, कर्मवाद समाप्त हो जायेगा ? यदि कर्मवाद का आधार इतना कमजोर है तो मैं भगवान् से प्रार्थना करूं कि उसे समाप्त होने दें। यद्यपि मैं जैन-मुनि हूं। भगवान् को मानता हूँ पर भाग्य-विधाता को नहीं मानता। फिर भी भावना के आवेग मे प्रार्थना करता हूं कि ऐसे कर्मवाद को समाप्त हो जाने दें। हमें कोई प्रयोजन नहीं है। जिसकी भित्ति इतनी कमजोर हो, जिसकी नीव इतनी कमजोर हो, उसे टिकाकर भी हम क्या कर पायेंगे ? उसे कब तक टिका पायेंगे ? ये व्यवस्थायें तो बदलती रहेगी। कभी समाजवाद का अगला चरण भी आ सकता है। दुनियाँ के बहुत बडे हिस्से मे समाजवाद या साम्यवाद का प्रयोग हो चुका है। वहाँ आर्थिक व्यवस्था को सर्वथा बदल दिया गया है। तो हम मान लें कि उन देशो मे कर्मवाद समाप्त हो गया है। रूस मे कर्मवाद समाप्त, चीन मे कर्मवाद समाप्त और जितने भी साम्यवादी या समाजवादी राष्ट्र है उन सब मे भी कर्मवाद समाप्त। कुछ दिनो पूर्व, धर्मयुग के सम्पादक धर्मवीर भारती की चीन-यात्रा के संस्मरण पढे। चीन-जैसे विशाल देश मे किसी भी व्यक्ति के पास अपनी व्यक्तिगत कार नही है। वहाँ कोई बडा उद्योगपति या भू-स्वामी नहीं मिलेगा। व्यक्तिगत स्वामित्व इतना सीमित कर दिया गया कि सम्पत्ति के आधार पर कोई बडा या छोटा आदमी नही होगा। कोई भिखारी नही मिलेगा। एक कृपा कर रोटी देनेवाला, और दूसरा दीनतापूर्वक रोटी लेनेवाला नहीं मिलेगा। जिसे रोटी न मिलती हो, ऐसा गरीब नहीं मिलेगा। जिसने लाखो और करोडो की सम्पदा कमा ली हो—ऐसा भाग्यशाली भी नहीं मिलेगा। तो क्या कर्मवाद समाप्त हो गया ? यही वह बिन्दु है जिस पर विमर्श जरूरी है। कर्म के विषय मे बहुत भ्रान्तियाँ पैदा हो गई है। उन्हें तोडना आवश्यक है। कभी-कभी भ्रांतियों का वात्याचक्र इतना बडा बन जाता है कि आदमी मूल तक पहुँच ही नही पाता, परिधि मे ही उलझ जाता है।

कर्म व्यक्ति की आन्तरिक अवस्था मे होने वाले परिवर्तन का घटक है। प्राणीमात्र में निरन्तर आन्तरिक परिवर्तन होता है, वह सारा-का-सारा कर्मकृत होता है। एक व्यक्ति क्रोधी है। कोई क्रोध क्यो करता है ? इसलिए करता है कि उसके भीतर कर्म है। अभिमान, माया, लोभ, राग और द्वेष—ये सारे-के-सारे उसके

आन्तरिक कर्म के परिणाम है, आन्तरिक व्यक्तित्व के परिणाम है। कर्म की दो मुख्य प्रकृतियाँ है—स्वभाव हैं—(१) जीव-विपाकी (२) पुद्गल विपाकी। पहली प्रकृति का जीव मे परिपाक होता है। दूसरी प्रकृति का पुद्गल के द्वार मे परिपाक होता है। शरीर मिलता है, वचन मिलता है, मन मिलता है। ये सब पुद्गल-विपाकी प्रकृति के परिणाम हैं। कर्म के बिना इनकी व्याख्या नहीं की जा सकती।

मनोविज्ञान ने आन्तरिक व्यक्तित्व की बहुत सारी व्याख्याएँ प्रस्तुत की है। मैं मानता हूँ कि कर्मवाद की जो व्याख्याएँ अस्पष्ट थीं, वे आज मनोविज्ञान के सन्दर्भ मे समझी जा सकती है। मनोविज्ञान ने सचमुच बहुत उपकार किया है। मेरी यही धारणा बन गई है कि कर्मवाद को समझे बिना मनोविज्ञान को पूरा नहीं समझा जा सकता और मनोविज्ञान को समझे बिना कर्मवाद की पूरी व्याख्या नही की जा सकती। कर्मवाद को समझने के लिए मनोविज्ञान को समझना बहुत जरूरी है और मनोविज्ञान को समझने के लिए कर्मवाद को समझना जरूरी है। दोनों मे गहरा सम्बन्ध है। मनोविज्ञान ने व्यक्तित्व की, और व्यक्ति के अन्तर्मन की तथा अवचेतन मन और अचेतन मन की जो व्याख्याएँ की है, वे कर्म के द्वारा ही घटित होती है। कर्म हमारे समूचे व्यक्तित्व को प्रभावित करता है। अर्थ-व्यवस्था को बदल देने, गरीबी को समाप्त कर देने और गरीब और अमीर के भेद को कम कर देने के बाद क्या यह दावा किया जा सकता है कि रूस और चीन में कोई आदमी गुस्सा नहीं करता, कोई अभिमान नहीं करता, राग और द्वेष नहीं करता, प्रियता और अप्रियता की अनुभूति नहीं करता? व्यक्तिगत स्वामित्व की व्यवस्था होने पर भी क्या कोई बेईमानी नहीं करता? भ्रष्टाचार नहीं करता? अप्रामाणिकता और भ्रष्टाचार वहाँ कम अवश्य हुए हैं, पर समाप्त नहीं हुए हैं। बड़े-बड़े अधिकारी भी आर्थिक घोटाले करते है। यह सोवियत संघ और चीन की राष्ट्रीय रिपोर्टों के अध्ययन से ज्ञात होता है। जहाँ मरने के बाद बाप की सम्पत्ति बेटे को नहीं मिलती, वहाँ कोई आर्थिक घोटाला किसलिए करे—इस प्रश्न के उत्तर मे यही कहा जा सकता है कि व्यक्ति का स्वभाव नहीं बदलता, मनोवृत्ति नहीं बदलती। और इसलिए नहीं बदलती कि परिस्थिति बदल जाने पर भी [illegible] ग्रन्थियों के स्राव और उनको प्रवित करने वाले कर्म के स्राव नहीं बदलते, वहाँ [illegible], आचरण और व्यवहार नहीं बदलता। मनुष्य का आन्तरिक व्यक्तित्व जो है वह, [illegible] से प्रभावित होता है, कर्म के द्वारा संचालित होता है। कर्म के आन्तरिक संचालन को, जब हम पदार्थ [illegible] है, तभी [illegible] बढ़ जाती है। सामाजिक व्यवस्था का एक उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत [illegible] है, वैसी व्यवस्था समाजवादी और साम्यवादी भी नहीं कर [illegible] "(राज्य-सत्ता-रहित राज्य)" की कल्पना की। समाजवाद का अन्तिम ध्येय है [illegible]। [illegible] साम्यवादी देशों मे पूरा एकाधिनायकवाद है [illegible] कठिनाई होती है। पता नहीं आदमी कब [illegible], इतना भगाना पड़ेगा और यह [illegible], [illegible] प्रतीत नहीं होगी। जैन-आगमों मे [illegible]। और वैसी व्यवस्था मे जीनेवाला [illegible] नहीं [illegible]। आज की व्यवस्था और परिस्थिति में

जीनेवाला मनुष्य तो नहीं ही रहता। कल्पातीत देवों की व्यवस्था मे कोई इन्द्र नहीं होता, कोई प्रेष्य नहीं होता, कोई स्वामी नहीं होता, कोई सेवक नहीं होता। सब समान होते हैं और सबके सब आत्मानुशासित होते है। अनुशासन और तन्त्र जैसी कोई व्यवस्था नहीं होती। सबके सब ऋद्धि, बल और द्युति मे समान होते है। हमारे कुछ दार्शनिकों या योगियो ने सुपर ह्यूमैन (अति मानव) और सुपर कॉन्शियसनेस (अति चेतना) के अवतरण की कल्पना की है, उनका सुव्यवस्थित वर्णन प्रस्तुत पद्धति मे मिलता है। समाजवादी व्यवस्था मे सम्पत्ति का उत्तराधिकार नहीं होता पर सबके पास समान ऋद्धि नहीं है। किसी के पास कम धन होता है और किसी के पास अधिक धन होता है, किन्तु कल्पातीत व्यवस्था मे सम्पदा भी सबके पास समान होती है। न कोई बडा आदमी है और न कोई छोटा आदमी है। शारीरिक बल भी समान और चिंतन भी समान। ऐसा समाजवाद न जाने कब आएगा? सैकडो-सैकडो वर्षों की साधना के बाद मनुष्य उस कल्पातीत व्यवस्था तक पहुँच पाएगा या नही, यह नहीं कहा जा सकता। उस कल्पातीत व्यवस्था का आधार—वहाँ जन्म लेने वाले देवो का आन्तरिक परिवर्तन है। उनके क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष तथा प्रियता और अप्रियता का संवेदन कम होता है, इसलिए उनमे असंभव प्रतीत होने वाली समानता सहज ही घटित हो जाती है। समाजवादी व्यवस्था का आधार बाहरी परिवर्तन है। बाहर से घटित होने वाली समानता उतनी व्यापक और स्थायी नही होती, जितनी व्यापक और स्थायी आन्तरिक परिवर्तन से घटित होने वाली समानता होती है। आन्तरिक परिवर्तन से भी व्यवस्था का परिवर्तन होता है और व्यवस्था के परिवर्तन से भी आन्तरिक अवस्था मे कुछ परिवर्तन सभव हो सकता है। निमित्त न मिलने पर कुछ उत्पादन भी निष्क्रिय हो सकते है। फिर भी इस सच्चाई को अस्वीकार नही किया जा सकता कि आन्तरिक परिवर्तन के बिना व्यवस्था का परिवर्तन नियंत्रण के साथ ही चल सकता है। उसमे राज्यरहित-राज्य की परिकल्पना संभव नहीं हो सकती। जब तक मनुष्य का आन्तरिक व्यक्तित्व नही बदलेगा, उत्तेजना, आवेश और वासना कम नहीं होगी तब तक वह स्थिति उपलब्ध नही होगी।

उक्त विश्लेषण से उस निष्कर्ष पर सहज ही पहुँचा जा सकता है कि समाजवाद या साम्यवाद की स्थापना होने पर, आर्थिक व्यवस्था की समानता होने पर भी कर्मवाद के सिद्धान्त मे कोई बाधा नही आती। यदि समानता के कारण कोई बाधा आती होती तो कर्मवाद का सबसे अधिक विशद वर्णन करने वाले जैन-आगमो मे कल्पातीत समानता का कोई उल्लेख नहीं मिलता। और वह मिलता है, इससे हम समझ सकते है कि आर्थिक समानता और कर्मवाद का सिद्धान्त, एक-दूसरे की उत्थापना करने वाले नही है। कर्मवाद का संबंध व्यवस्था से नहीं, हमारी आन्तरिक प्रक्रियाओ से है। जहाँ कर्मवाद को व्यवस्थाओ के साथ, समाज की बदलती हुई परिस्थितियो के साथ जोड़ देते है, वहाँ उसकी व्यर्थता प्रतीत होने लग जाती है और उसके विषय मे अनेक भ्रान्तियाँ पनप जाती है। यदि कर्मवाद को हमारे आन्तरिक व्यक्तित्व के साथ जोडें तो भ्रान्तियाँ कभी नही पनप पाएँगी। हमारे स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और अति सूक्ष्म शरीर मे होने वाले परिवर्तनो, रासायनिक परिवर्तनो और बदलते हुए विद्युत-प्रवाहो की सर्वांगीण व्याख्या, कर्मवाद के संदर्भ को छोडकर नहीं की जा सकती। हम कर्म और कर्म की सहायक-सामग्री (नो-कर्म) को एक मान लेते हैं तब कठिनाई पैदा होती है, भ्रान्तियाँ पनपती है। व्यवस्था-परिवर्तन को कर्म-विपाक के निमित्त के रूप मे समझा जा सकता है, किन्तु उसका सीधा संबंध कर्म के साथ स्थापित नहीं किया जा सकता।

इस सचाई को समझ लेने पर अकाल मृत्यु, बुढ़ापा और बीमारियों—इन सबमें परिवर्तन लाया जा सकता है। आर्थिक व्यवस्था, चिकित्सा की सुविधा और जीवन-यापन की सुविधा होने पर इन सारी स्थितियों में परिवर्तन हो सकता है। कर्मवाद का इस परिवर्तन से कोई विरोध नहीं है।

सौभाग्यवश भारतीय दर्शनों में और विशेषतः जैन-दर्शन में कर्मवाद का बहुत गहरा चिंतन, बहुत विस्तार के साथ हुआ है। मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि कर्मवाद को समझे बिना, ध्यान भी ठीक नहीं किया जा सकता, आध्यात्मिक विकास भी ठीक से नहीं किया जा सकता। जो व्यक्ति आध्यात्मिक विकास करना चाहता है,, मन को एकाग्र करना चाहता है, मानसिक स्थिरता को उपलब्ध होना चाहता है, अपनी मानसिक समस्याओं को समाधान देना चाहता है, उसके लिए कर्म का अध्ययन बहुत जरूरी है। कर्म की प्रक्रिया को समझे बिना, तात्पर्य की भाषा में आन्तरिक व्यक्तित्व को समझे बिना मन चंचल होता है और हम मान बैठते हैं कि मन चचल है। यह मानना बहुत बड़ी भूल है। यदि कोई मुझे कहे कि मन बहुत चंचल है तो मैं इसे बहुत बड़ी भूल मानता हूँ। मन बिल्कुल चचल नहीं है। मेरे हाथ में यह कपड़ा है। मैं हाथ हिलाता हूँ और यह हिल रहा है। क्या यह चंचल है? आप इसे चंचल ही मानेंगे पर यह चंचल कहाँ है? बेचारा विचारा क्या चचल और क्या अचचल? हाथ हिलता है तो यह चंचल है और हाथ नहीं हिलता है तो यह अचचल है। हवा का क्या ठण्डा और क्या गरम? थोड़ी-सी वर्षा होती है तो हवा बहुत ठण्डी हो जाती है, थोड़ी बर्फ पड़ती है तो हवा बहुत ठण्डी हो जाती है और तेज धूप तपती है तो हवा बहुत गरम हो जाती है। यह बालू ठण्डी है या गरम? यदि कोई सर्दी में बालू पर चलता है तो ऐसा लगता है कि वह बर्फ में चल रहा है और कड़ी धूप में बालू पर चलता है तो ऐसा लगता है कि वह आग पर चल रहा है। हमारे मन की भी यही स्थिति है। जब कर्म-शरीर की प्रेरणाएं जागती हैं, वृत्तियाँ उभरती हैं तो मन बड़ा चंचल हो जाता है। भीतर की वृत्तियाँ शान्त होती हैं तो मन शान्त और स्थिर हो जाता है। जीवन की प्रत्येक समस्या पर चिन्तन करने के लिए कर्मवाद को पढ़ना आवश्यक है। बदलती हुई सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियों से हम घबराएं नहीं। बार-बार कर्मवाद के समाप्त होने की बात न सोचें, किन्तु उन परिस्थितियों के सन्दर्भ में कर्मवाद का सही-सही मूल्यांकन करें तो ऐसा प्रतीत होगा कि जो सत्य त्रैकालिक दृष्टि तथा साक्षात् अनुभव के द्वारा उपलब्ध किया गया है, जो स्वयं अप्रकम्प है वह इन छोटे-मोटे झंझावातों के द्वारा कभी समाप्त नहीं हो सकता।

(महाप्रज्ञजी द्वारा ७ अगस्त १९७८ को दिया गया भाषण)

८. चरित्र का प्रश्न : वैयक्तिक या सामाजिक ?

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली
अप्पा कामदुहा धेणु, अप्पा मे नंदणं वणं

—आत्मा वैतरणी नदी है, आत्मा कूट शाल्मली वृक्ष है, आत्मा कामदुधा धेनु है और आत्मा ही नन्दन-वन है।

आत्मा वैतरणी नदी भी है और वह नन्दन-वन भी है। आत्मा के ये दो पक्ष है। एक ओर वह वैतरणी नदी है जिसके जल की धार इतनी तीक्ष्ण है कि उसके स्पर्श से शरीर के सारे अवयव कट जाते है। दूसरी ओर वह नन्दन-वन है जो व्यक्ति को आनन्द से भर देता है। मनुष्य का चिन्तन एक ओर वैतरणी नदी है तो दूसरी ओर वह नन्दन-वन है। कोई एक चिन्तन ऐसा प्रस्तुत होता है कि वह व्यक्ति और समाज को रसातल तक पहुँचा देता है—कोई एक चिन्तन ऐसा प्रस्तुत होता है कि वह व्यक्ति और समाज को हिमालय की चोटी पर पहुँचा देता है। चिन्तन ही व्यक्ति को नीचे लाता है और चिन्तन ही व्यक्ति को ऊपर ले जाता है। इसलिए कहा जा सकता है कि चिन्तन ही वैतरणी नदी है और चिन्तन ही नन्दन-वन है।

आज के युग मे एक चिन्तन उभरा। वह मनुष्य के जीवन को दो खण्डो मे विभक्त करता है—व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक जीवन। सार्वजनिक क्षेत्र मे काम करनेवाले व्यक्ति का व्यक्तिगत जीवन कैसा है—इसकी चिन्ता आवश्यक नही समझी जाती। एक तर्क है कि व्यक्तिगत जीवन का अपना मामला है। उसमे दूसरे का हस्त-क्षेप क्यो होना चाहिए ? कोई व्यक्ति कैसा ही जीवन जीता है, यह उसीका प्रश्न है। दूसरे को इससे क्या ? एक आदमी बोला—"मियाँजी। आम आए है।" मियाँ ने कहा—"मुझे क्या ?" वह बोला—"आपके ही आए है।" मियाँ ने कहा—"फिर तुझे क्या ?" आज का आदमी इसी भाषा मे सोचता है कि मेरा चरित्र चाहे जैसा हो उससे दूसरे को क्या मतलब ? किसी व्यक्ति के चरित्र की समालोचना चलने पर वह उत्तर की भाषा मे कहता है—"तुम मेरे व्यक्तिगत जीवन मे हस्तक्षेप क्यो कर रहे हो ?" इस चिन्तन ने नैतिकता और आचार को बहुत धक्का पहुँचाया है, सामाजिक जीवन मे अनेक बुराइयो को पनपने का अवसर दिया है, समाज मे अनेक विकृतियाँ बढती है। एक हत्यारे के प्रति आपके मन मे अनादर का भाव पैदा हो सकता है। एक चोर के प्रति आपके मन मे घृणा पैदा हो सकती है। एक डाकू के प्रति आपका मन आक्रोश से भर सकता है। एक व्यभिचारी के प्रति आपके मन मे तिरस्कार के भाव उभर सकते है। परन्तु हत्यारे, चोर, डाकू और व्यभिचारी को किसने पैदा किया ? क्या आज की गलत मान्यताएँ, गलत चिन्तन, उनको पैदा करने मे उत्तरदायी नही है ? क्या आज का सामाजिक वातावरण उनके निर्माण के लिए उत्तरदायी नहीं है ? सचमुच इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए।

एक व्यक्ति सार्वजनिक क्षेत्र मे काम करता है, ऊँचे पद पर आता है, उसका चरित्र सबके लिए अनुकरणीय बन जाता है। यह चिन्तन कि उसके व्यक्तिगत जीवन से हमे क्या प्रयोजन, अपने आप मे भ्रान्त है। मैं मानता हूँ, कि अत्याचार को बढावा देने का इससे बडा कोई सूत्र नहीं हो सकता।

भारतीय चिन्तन की ये प्रारम्भिक रेखाएँ थीं कि शासन पर या सामाजिक क्षेत्र में कोई व्यक्ति प्रमुख होता है तो सबसे पहले यह देखना चाहिए कि उसका चरित्र कैसा है ? उसका आचार कैसा है ? उसकी बौद्धिक और कर्मजा शक्ति कैसी है ? यदि—वह इन गुणों से सम्पन्न है तो उससे समाज का बहुत भला हो सकता है। यदि वह चरित्रवान् नहीं है, बौद्धिक और कर्मजा-शक्ति से सम्पन्न है तो वह समाज में विग्रहों को जन्म देने वाला होता है। उसके कारण समाज को अनेक यातनाएँ भुगतनी पड़ती हैं।

महामात्य कौटिल्य मगध-सम्राट चन्द्रगुप्त का भाग्य विधाता था। वह मगध-साम्राज्य का सर्वेसर्वा था। उसने जैसा जीवन जीया, वैसे जीवन की कल्पना करना भी आज कठिन है। वह एक छोटी-सी झोंपड़ी में रहता था। वहाँ कुछ अत्यन्त आवश्यक वस्तुएँ थीं। न रक्षा का प्रबन्ध और न कोई सजावट का साधन। न चोरी की चिन्ता और न किसी प्रकार का भय। ऐसी कुटिया में रहता था महामात्य कौटिल्य, जो अपने युग का सबसे बड़ा बुद्धिमान और शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति था।

महात्मा गाँधी ने सादगी पर बल दिया। वे स्वयं सादगी से रहे और उन्होंने आसपास के वातावरण को भी सादगीमय बनाए रखा। उन्होंने आचार की छोटी-छोटी बातों पर भी बड़ी सूक्ष्मता से ध्यान दिया। एक बार दो पैसों की गड़बड़ को लेकर महादेव भाई को इतना उलाहना दिया कि सुननेवाले आश्चर्य में पड़ गए। एक श्रोता ने कहा—"महात्माजी ! दो पैसों के लिए आप इतना उलाहना दे रहे हैं, यह क्या अच्छा है ?" महात्माजी ने कहा—"प्रश्न दो पैसों का नहीं है, प्रश्न सार्वजनिक पैसे का है। प्रश्न हमारे चरित्र का है। यदि उसमें दो पैसों की गड़बड़ होती है तो उससे विश्वास को धक्का लगता है।"

कौटिल्य ने एक सूत्र दिया कि राजा को जितेन्द्रिय होना चाहिए। आज राजा का अर्थ बदल गया। आज की भाषा में कहा जा सकता है कि प्रत्येक शासक या प्रशासक को जितेन्द्रिय होना चाहिए। जो शासक आत्म-नियन्त्रण का पाठ नहीं पढ़ता, वह समाज के लिए अभिशाप बन जाता है। चरित्र की बीमारी संक्रामक बीमारी है। यह छूत का रोग एक व्यक्ति तक ही सीमित नहीं रहता, बहुत प्रसरणशील है। एक व्यक्ति की बुराई हजारों-हजारों व्यक्तियों तक पहुँच जाती है। उन सबको बीमार कर डालती है। शीर्षस्थ व्यक्ति की बीमारी का प्रसरण शीघ्र होता है, तीव्र गति से होता है। वह अपनी चपेट में हजारों-हजारों व्यक्तियों को ले लेता है। पृथ्वीराज चौहान की विलासिता भारत की परतन्त्रता का एक मुख्य कारण बना। फ्रान्स के सम्राट लुई ने जिस प्रकार का विलासी जीवन जीया, वह समूचे फ्रान्स के लिए अभिशाप बन गया। जिन शासकों ने चरित्रहीन जीवन जीया, उनके आसपास रहने वाले अधिकारी भी चरित्रहीन बन गए। अधिकारी ही नहीं, सारी प्रजा चरित्रहीन हो गई। समूचा समाज विलासिता में डूब गया, उसकी तेजस्विता जाती रही। चरित्रबल के बिना तेजस्विता नहीं आती। **जिस समाज के अग्रणी लोग चरित्रहीन होते हैं, वह समाज निश्चित ही तेजहीन और शक्तिशून्य हो जाता है।**

अच्छा तो यह होता है कि शासक या अधिकारी के बन्धु और मित्र भी चरित्रवान् हों। पर इसका दायित्व कोई शासक या अधिकारी कैसे ले सकता है ? चरित्रहीन पारिवारिक जनों और मित्रों के कारण शासकवर्ग को काफी हानि उठानी पड़ती है। इसे वर्तमान की घटनाओं से आँका जा सकता है। सत्ता, धन और अधिकार के बल पर अत्याचार करने की क्षमता बढ़ जाती है। छोटा आदमी बड़ा अत्याचार नहीं कर सकता। बड़ा आदमी ही बड़ा

अत्याचार कर सकता है। पारलौकिक भाषा में कमजोर आदमी बड़े नरक—सातवें नरक में नहीं जा सकता। बड़े नरक में जाने के लिए बड़ा आदमी चाहिए, बड़ी ताकत चाहिए। कमजोर आदमी बहुत बड़ा अच्छा काम नहीं कर सकता तो बहुत बड़ा बुरा काम भी नहीं कर सकता। अच्छा या बुरा बड़ा काम शक्तिशाली आदमी ही कर सकता है। जिसके पास धन की शक्ति है, सत्ता की शक्ति है, अधिकार की शक्ति है और वह आत्म-संयम से शून्य है तो उस एक व्यक्ति के कारण हजारों-हजारों व्यक्तियों को यातनाएँ भुगतनी पड़ती हैं। समूचे समाज में गलत मान्यताएँ चल पड़ती हैं।

आज के मनोविज्ञान ने एक ऐसी मान्यता दी, जिससे बुराई को पनपने में पूरा सहयोग मिला। उसका एक सूत्र है—इच्छाओं का दमन मत करो, उन्हें भोगो। भारतीय मनोविज्ञान का स्वर था—इच्छाओं का संयम करो। आधुनिक मनोविज्ञान के स्वर ने भारतीय मनोविज्ञान के स्वर को क्षीण कर डाला। इच्छा-संयमन की बात कठिन होती है और इच्छा-भोग की बात सरल। आदमी सरल को जल्दी पकड़ता है। आज का आदमी मनोविज्ञान का सहारा लेकर इच्छाओं को मुक्त-भाव से भोगने लगा है। फलतः वह विलासी बनता जा रहा है, चरित्रहीन बनता जा रहा है। सीमाएँ टूट रही हैं। विशेषतः बड़े लोगों के लिए कोई सीमा ही नहीं रही। उन्होंने इस सच्चाई को भुला दिया कि जीवन में सीमाएँ आवश्यक हैं। सीमाबोध की विस्मृति का परिणाम यह हो रहा है कि हत्या, अपराध और पागलपन बढ़ रहा है। वर्तमान सरकारें इन अपराधों को रोकने के लिए बजट का बहुत बड़ा हिस्सा व्यय कर रही हैं। फिर भी अपराध अपनी गति से बढ़ते ही जा रहे हैं। कुछ देशों में इतना आतंक बढ़ा है कि आदमी घर से बाहर जाता है और सांझ को सुरक्षित लौट आता है तो उसे अपना सौभाग्य मानता है। कोई तय नहीं कि वह जिन्दा लौट आए। इतना सर्वत्र आतंक, भय और आशंका। सचमुच इस मनोवैज्ञानिक धारा ने मनुष्य को निरंकुश बनने में सहयोग दिया है।

चरित्रहीनता के तीन रूप हैं—

१. क्रूरता—यह हत्या, मारकाट के रूप में प्रकट होती है।

२. परिग्रह—यह आर्थिक अपराध, व्यावसायिक भ्रष्टता, चोरी, डकैती के रूप में प्रकट होती है।

३. व्यभिचार—यह कामुकता के रूप में प्रकट होता है।

हिंसा, अर्थ-लोलुपता और कामुकता—ये तीनों समूचे समाज को प्रभावित करती हैं। वर्तमान में हत्याएँ बढ़ी हैं। उनके पीछे सत्ता और धन की शक्ति तो काम करती ही है, इच्छाओं को भोग लेने, जो इच्छा पैदा हुई उसे कर डालने की मनोवृत्ति भी काम करती है। एक विद्यार्थी ने सिनेमा देखा। हत्यारे को समाचार-पत्रों की सुर्खियों में समूचे विश्व में प्रसिद्ध होते देखा। वह दृश्य उसके मन को भा गया। वह विश्व-विद्यालय के भवन की गुंबज पर बैठा और उसने चार-पांच छात्रों की हत्या कर डाली। न्यायाधीश के सामने अपने अपराध को स्वीकार करते हुए उसने कहा—"मेरे मन में समूचे राष्ट्र में प्रसिद्ध होने की इच्छा जागी, उसे पूरा करने के लिए मैंने ये हत्याएँ की।" कैसा पागलपन? यह पागलपन क्यों आया? इच्छाओं को भोग लेने की मनोवृत्ति के कारण ही ऐसा हुआ। किसी भी कीमत पर इच्छा को पूरा कर लेना चाहिए—यह मनोभाव पागलपन पैदा करता है।

परिग्रह की लोलुपता के कारण ही चरित्रहीनता, भ्रष्टाचार का फैलाव हुआ है। अर्थ-अर्जन में जिन साधनो का प्रयोग किया जाता है, उन (पैसे) साधनों की चर्चा प्राचीन साहित्य मे विरल ही मिलेगी। येन-केन-प्रकारेण धन अर्जित करने की भावना सारे समाज मे व्याप्त है। समाज में आदमी बड़ा है, जो बड़ा है जो विपुल संपत्ति के स्वामी हैं। बड़ी गाड़ियाँ वे ही रख सकते है जिनके पास विपुल साधन है। रंग-बिरंगे महल की रचना बडे साधनवाला ही दे सकता है। छोटा आदमी छोटा ही रह जाता है। सामाजिक मानदंड ही ऐसा हो गया है कि बडा वह माना जाता है, जिसके पास अपार संपत्ति है। बड़ा वह माना जाता है, जिसके पास धन-अधिकार है। बडा वह माना जाता है, जिसकी पहुँच ऊपर तक है। ऐसे बड़े आदमी ही बड़ी आर्थिक गड़बड़ियाँ कर सकते है। छोटा आदमी छोटी गड़बड़ी कर सकता है, पर बड़ा आर्थिक घोटाला करने के लिए उसके पास साधन ही कहाँ ? निस्सन्देह समूचा समाज आर्थिक चरित्रहीनता के परिणामों को भोग रहा है।

व्यभिचार के परिणामो से आज समूचा समाज आक्रान्त है। ब्रह्मचर्य का अर्थ ही खो गया है। हजारों-हजारो वर्षों के चिन्तन और हजारो वर्ष पुरानी परंपरा मे ब्रह्मचर्य की गुणगाथा गाई गई थी। वह आज विस्मृत हो गई है। जो तथ्य मनुष्य के व्यक्तिगत स्वास्थ्य से ऊपर सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन को प्रभावित करता था, उसे सर्वथा भुला दिया गया है। अति अब्रह्मचर्य के कारण धृति, सहिष्णुता, प्रतिभा और स्वास्थ्य की अपरिमित हानि हुई है। अनेक प्रकार की विकृतियाँ और कुण्ठाएँ पनपी है।

सुकरात से पूछा गया—"जीवन मे संभोग कितनी बार करना चाहिए ?" सुकरात ने उत्तर दिया—"एक बार।" यदि यह संभव न हो तो ? उत्तर मिला—"वर्ष मे एक बार।" फिर प्रश्न हुआ यदि यह भी संभव न हो तो ? उत्तर मिला—"महीने मे एक बार।" यदि यह भी संभव न हो तो ? सुकरात ने कहा—"फिर कफन सिर पर रखलो और चाहे जैसा करो।"

वडे-से-वडे साम्राज्य के पतन मे कामुकता का हाथ रहा है। सुरा और सुन्दरी ने क्या-क्या नहीं किया ? अनेक युद्धों के पीछे कामुकता की कहानी जुड़ी हुई है। जो शासक कामुक होते हैं, उनके अधिकारी भी इन सीमाओं से वच नहीं पाते। कूटनीति मे सुंदरियो का उपयोग किया जाता रहा है। प्रशिक्षित युवतियाँ दूसरे राष्ट्र के बड़े अधिकारियों को फँसाने मे अपना जाल विछाती रही है और उससे राष्ट्र का पतन होता रहा है। कामुकता गुप्तचरी का सवसे वडा अस्त्र है।

स्पार्टा-द्वीप के तीन सौ सैनिकों ने दस हजार सैनिकों को पराजित कर दिया। कहाँ तीन-सौ की अल्प संख्या और कहाँ दस हजार की विपुल संख्या। स्पार्टा के एक सिपाही से पूछा गया—"क्या तुम्हारे राष्ट्र मे व्यभिचार होता है ?" उसने कहा—"नहीं होता।" फिर पूछा—"यदि कोई व्यभिचार करले तो उसे क्या दंड भोगना पड़ता है ?" सिपाही ने कहा—"उसका वह वडा वैल छीन लिया जाता है जिसका सिर एक पहाड़ी पर होता है और पूँछ दूसरी पहाडी पर।" उसने कहा—"इतना वडा वैल सभव नहीं है।" सिपाही बोला—"यदि यह सभव नही है तो स्पार्टा मे व्यभिचार भी संभव नहीं है।"

पहले स्पार्टा व्यभिचार मे डूवा हुआ था। उसके नागरिक कमजोर और तेजहीन थे। वहाँ एक ऋषि पैदा हुआ। उसने ब्रह्मचर्य का पाठ पढाया। नागरिकों को आत्म-संयम सिखाया। उनके चरित्र को उठाने का उपक्रम

किया। व्यभिचार के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था थी। वहाँ व्यभिचार खत्म हो गया। फिर जो संतान पैदा हुई वह शक्तिशाली हुई। वहाँ का एक सैनिक, सौ सैनिको के लिए पर्याप्त हो गया।

आज तक दुनियाँ मे जितने भी महत्त्वपूर्ण कार्य हुए है वे सब उन व्यक्तियो ने किये है जो विलासी और कामुक नहीं थे। मुझे आश्चर्य होता है जब मै यह सुनता हूँ कि अमुक बड़े अधिकारी के आसपास कामुकता का वातावरण है। वह उसे यह कह कर टाल देता है कि यह उसका व्यक्तिगत मामला है। यह उसकी पर्सनल लाइफ है। इसमे किसी को हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। इस चिंतन ने भारतीय आत्मा पर गहरा प्रहार किया है। उसकी हत्या ही कर डाली है।

प्राचीन राजनीति का सूत्र है—"राजा कालस्य कारणम्"। राजा काल का कारण होता है। काल उसके पीछे-पीछे चलता है। एक छोटी कहानी है। एक राजा जंगल मे भटक गया। प्यास से आकुल-व्याकुल होकर वह इधर-उधर घूमने लगा। उसे एक झोपडी दिखाई दी। वह वहाँ पहुँचा। वहाँ एक बूढा आदमी बैठा था। पास ही ईख का खेत था। राजा ने पानी माँगा। बूढे ने दो-चार ईख तोडे, कोल्हू मे उन्हें पेरा। ईख के रस से एक कटोरा भर गया। राजा ने वह पीया और उसका मन पुलकित हो गया। उसने बूढे से पूछा—"क्या ईख पर 'कर' भी लगता है ?" बूढे ने कहा—"नही। हमारा राजा दयालु है। वह भला हमसे क्या 'कर' लेगा ? राजा ने मन ही मन सोचा—"ऐसी मीठी चीज पर अवश्य ही 'कर' लगना चाहिए। मन मे संकल्प-विकल्प उठने लगे। आखिर 'कर' लगाने का निश्चय कर लिया। राजा ने चलते-चलते बूढे से कहा—"एक प्याला रस और पिलाओ।" बूढे ने फिर दो-चार ईख तोडे। उन्हें कोल्हू मे पेरा। पर रस से कटोरा नही भरा। राजा अचंभे मे पड गया। उसने पूछा—"यह क्या ? पहले ईख के रस से कटोरा भर गया था, अब नही भरा, यह क्यो ?" बूढा दूरदर्शी था। उसने कहा—"लगता है, मेरे राजा की नीयत बिगड गई है, अन्यथा ऐसा नहीं होता।" राजा मन-ही-मन पछताने लगा।

राजा की नीयत का इतना असर होता है। क्या अधिकारियो और मंत्रियो के चरित्र का प्रभाव समाज पर नहीं पडता ? क्या अग्रगी व्यक्तियो के आचरण का असर समाज पर नही होता ? होता है, अवश्य ही होता है। हम इसे व्यक्तिगत मामला कह कर नहीं टाल सकते। जहाँ इस प्रश्न को टाल देते है वहाँ नाना प्रकार की विकृतियाँ पैदा हो जाती है, अन्याय करने की खुली छूट मिल जाती है।

इच्छाओ को भोगो—इस सिद्धान्त के परिणामो को देखकर इस पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता का अनुभव हो रहा है। एक व्यक्ति ने कहा—"मैं किसी को प्रमाण नही मानता। केवल अपनी इच्छा को ही प्रमाण मानता हूँ। भीतर से जो इच्छा उठती है, अन्तर मे जो प्रेरणा जागती है, वही कर देता हूँ।" मैंने कहा—"यह बहुत बडी बात है। तुम तो वीतराग बन गए। पूर्ण पवित्र बन गए। तुम्हारी अन्तर्आत्मा जो कहती है, वही तुम करते हो।" यह बात वीतराग व्यक्ति के लिए लागू होती है। निर्मल व्यक्ति के लिए लागू होती है जिसके सारे कषाय-कल्मष धुल जाते हैं, जिसका चिन्तन सर्वथा विशुद्ध बन जाता है, जिसके चिन्तन मे न राग है और न द्वेष है, वैसा व्यक्ति जो कहता है वही करता है और जो करता है वही कहता है। उसका द्वैध समाप्त हो जाता है। वैसा

व्यक्ति अपने अन्तःकरण का प्रमाण माने, यह उचित है। किन्तु जिसमें हजारों लिप्साएँ हैं, हजारों-हजारों कामय-कामय हैं, हजारों प्रकार के बुरे विचारों और चिन्तन से मन भरा पड़ा है, वह व्यक्ति यह कहे कि मुझे मेरी अंतर-प्रेरणा जगी है, यही मैं करता हूँ—इससे बड़ा और क्या धोखा हो सकता है। [illegible] अंधकार को अपने-आप में पालता है, उसकी [illegible] प्रज्ञा-शक्तियाँ भी नष्ट हो जाती हैं। मनुष्य [illegible] विकृत चिन्तन के जाल में इस प्रकार फँस जाता है कि उससे मुक्त हो पाना उसके लिए कठिन हो जाता है। [illegible] चिन्तनों, मान्यताओं और धारणाओं ने समाज का बहुत [illegible] किया है। [illegible] ही अहित नहीं होता, उसके कारण सैकड़ों-सैकड़ों व्यक्तियों का [illegible] होता है। हम फिर इस विषय पर गंभीरता से विचार करें कि चरित्र का प्रश्न वैयक्तिक नहीं, सामाजिक है।

एक मकान है। पास में एक खाली प्लॉट है। मकान मालिक उस प्लॉट में [illegible] उस मकान में भी खिड़की नहीं निकाल सकता। नगरपालिका की स्वीकृति के बिना अपने ही मकान में [illegible] परिवर्तन नहीं कर सकता। कितना नियंत्रण। अपने मकान का पदार्थ में भी [illegible] नहीं है। एक ओर इतना नियंत्रण और दूसरी ओर चरित्र के विषय में इतनी छूट। पदार्थ के [illegible] इतना नियंत्रण और चेतन को इतनी छूट। क्या कहा जाय? होना तो यह चाहिए कि चेतन के प्रति नियंत्रण हो और पदार्थ के प्रति अनियंत्रण रहे। जहाँ नियंत्रण की जरूरत नहीं है वहाँ नियंत्रण थोपे जा रहे हैं और जहाँ नियंत्रण की जरूरत है वहाँ व्यक्ति को खुली छूट दी जा रही है। पता नहीं इस विकृत चिन्तन का अन्त कहाँ होगा?

आज अध्यात्म के क्षेत्र में काम करने वाले अनेक विचारक प्रचारक हो रहे हैं। वे कहते हैं इच्छाओं का दमन मत करो। इच्छाओं को भोगो। इस विचार से फिर एक नया "वाम-मार्ग" प्रस्थापित हो रहा है। इस नए वाम-मार्ग की घोषणा है—इच्छाओं का दमन अनावश्यक है। इससे शक्तियाँ क्षीण होती हैं। जैसा हो वैसा हो जाए। जो हो उसे कर दिया जाए। सम्भोग से समाधि तक जा सकती है। वे मूर्च्छा की समाधि का प्रयोग समाधि के रूप में प्रस्तुत कर एक बड़ी भ्रान्ति को जन्म दे रहे हैं। एक व्यक्ति को क्लोरोफार्म सुंघाया जाता है, वह बेहोश हो जाता है। अन्य किसी भी प्रकार की नशीली वस्तु का सेवन कराया जाता है और व्यक्ति एक प्रकार की समाधि में चला जाता है। चित्त की शून्यता घटित हो जाती है। क्या बेहोशी और समाधि को एक ही माना जा सकता है? इस बेहोशी की समाधि ने अनेक लोगों के मस्तिष्कों को भ्रान्त बना डाला। उनके लिए आत्म-संयम का अर्थ ही लुप्त हो गया।

हम केवल प्रवाह-पाती न बनें, केवल अनुगमन न करें, कोरे अनुगामी न बनें। हम अपने स्वतंत्र चिन्तन का भी उपयोग करें। अनुयायी होना एक अच्छी बात हो सकती है और खतरनाक बात भी हो सकती है। केवल दूसरों के पीछे चलना, उनका अन्धानुसरण करना अच्छी बात नहीं है। इच्छाओं के नियंत्रित उपभोग ने समाज को पतन के कगार पर ला खड़ा किया है। हम इस सचाई का अनुभव करें।

मुट्ठी-भर हड्डियों के ढाँचे में अपने अस्तित्व को बनाए हुए महात्मा गाँधी ने भयंकर शारीरिक यातनाएँ सहीं। यह कैसे सम्भव हुआ? उन्होंने भारी समस्याओं का सामना किया। कभी घुटने नहीं टेके। यह कैसे संभव

हुआ ? यदि उनके पास ब्रह्मचर्य का बल नहीं होता तो वे कभी टूट जाते । उनके बारे मे कहा जाता है कि उन जैसा कुरूप और सुरूप व्यक्ति इतिहास मे दुर्लभ मिलेगा । शारीरिक दृष्टि से वे सुरूप नही थे, किन्तु चरित्र की दृष्टि से इतने लुभावने थे कि वे हर व्यक्ति को आकृष्ट कर लेते थे । आत्म-संयम से ऊर्जा उत्पन्न होती है, आभा-मंडल तेजस्वी होता है, सहनशीलता और धृति बढती है, प्रतिभा सूक्ष्म होती है । इन सबको हम भूल गए । सयम के साथ जो आनन्द की भावना जुडी हुई है, उसे भी हमने भुला दिया । केवल दमन, विग्रह और नियत्रण शब्द पर ही अटक गए। चिन्तन के इस अवरोध को मिटाए विना चरित्र के अवरोध को समाप्त नही किया जा सकता ।

चरित्र का प्रश्न कभी वैयक्तिक नही है, वह सामाजिक है । चरित्रहीन व्यक्ति के द्वारा जहाँ परिवार दूषित होता है वहाँ गाँव और समूचा समाज दूषित होता है, विकृतियाँ फैलती है । चरित्रहीन व्यक्ति यदि ऊँचे पद पर होता है तो उसके आचरण से सारा राष्ट्र भी प्रभावित होता है । और कभी-कभी अन्तर-राष्ट्रीय-जगत् भी प्रभावित हो जाता है । हम इस भेद-रेखा को मिटा दें कि व्यक्ति का एक जीवन होता है व्यक्तिगत, और दूसरा जीवन होता है सामाजिक, जीवन को इस प्रकार खण्डित नही किया जा सकता । जीवन एक और अखण्ड है । व्यवहार आचरण से फलित होता है और व्यवहार दूसरो के प्रति होता है, इसलिए व्यवहार और आचरण के बीच कोई लक्ष्मण-रेखा नही खीची जा सकती । हम फिर एक वार गहरे मे उतर कर आचरण और व्यवहार की एकात्मकता का अनुभव करें ।

(२२ अगस्त १९७८ को दिया गया भाषण)

९. मन्त्र क्या है ?

हम शब्द से जितने प्रभावित हैं उतने और किसी से नहीं हैं। हमारा सारा जगत् शब्दमय है। भारत में एक दर्शन है जो शब्द को ब्रह्म मानता है। वह है शब्दाद्वैतवाद। मैं इस दर्शन की मीमांसा नहीं कर रहा हूँ। साधना की दृष्टि से जब गहरे में उतरकर देखता हूं तो मुझे लगता है कि हम सबसे अधिक शब्द से प्रभावित हैं। सभी कहते हैं कि मन चंचल है। मुझे ऐसा नहीं लगता। मन चंचल नहीं है। मन के तीन कार्य हैं—स्मृति, कल्पना और चिन्तन। मन अतीत की स्मृति करता है, भविष्य की कल्पना करता है और वर्तमान का चिन्तन करता है। किन्तु शब्द के बिना न स्मृति होती है, न कल्पना होती है और न चिन्तन होता है। सारी स्मृतियाँ, सारी कल्पनाएँ और सारे चिन्तन शब्द के माध्यम से चलते हैं। हम किसी की स्मृति करते हैं तब तत्काल शब्द की एक आकृति बन जाती है। उस आकृति के आधार पर हम स्मृत वस्तु को जान जाते हैं। कलकत्ते की स्मृति हुई और शब्द के माध्यम से हम कलकत्ते को जान गए। तर्क-शास्त्र में स्मृति का एक आकार बताया है। वह आकार है—'वह'। स्मृति शब्द के माध्यम से होती है।

हम किसी वस्तु की कल्पना करते हैं। उसमें भी शब्द माध्यम बनता है। आकृतियाँ बनती हैं।

हम चिन्तन करते हैं। मन बाहर से पुद्गलों को ग्रहण करता है। वे शब्द की आकृतियों को ग्रहण करते हैं। चिन्तन भी शब्द के माध्यम से होता है।

मन के तीनों कार्य—स्मृति, कल्पना और चिन्तन—शब्द के द्वारा निष्पन्न होते हैं। ये तीनों मन को चंचल बनाते हैं। यह दोष किसका है—मन का या शब्द का ? यह दोष वाक्-प्रयत्न का है या मन का ? यदि शब्द का सहारा न मिले, यदि मन को शब्द की वैसाखी न मिले तो मन चंचल हो नहीं सकता। मन लंगड़ा है। उसे चलने के लिए शब्द की वैसाखी चाहिए। मन की गति को सहारा मिलता है शब्द से और वाक्-प्रयत्न से। इसे ही मन की चंचलता कह दिया जाता है। मन चंचल नहीं है। उसको चंचल कहना एक अनुभूति मात्र है। हम गहरे में उतरकर देखें तो ज्ञात होगा कि चंचलता मन की नहीं है। सारी चंचलता है ध्वनि की, शब्द की, भाषा की। यदि हमें मन को निर्विकल्प बनाना है, सारे विकल्पों को शान्त करना है, मन को स्थिर करना है तो मन पर ध्यान देने की अपेक्षा शब्द पर अधिक ध्यान देना चाहिए। इसके लिए योग के आचार्यों ने कुछ उपाय सुझाए हैं। उनमें एक महत्त्वपूर्ण उपाय है—"खेचरी मुद्रा"। जीभ को तालु की ओर मोड़ना खेचरी-मुद्रा है। जब यह लगे कि विकल्पों का ज्वार आ रहा है, तब खेचरी-मुद्रा करने पर विकल्पों का ताँता टूट जाता है। जीभ को दाँतों के बीच दबाए रखने से भी विकल्पों का प्रवाह रुक जाता है। एक उपाय यह भी है। नीचे के दाँतों की श्रेणी के पास ज्ञान-तंतु हैं। वहाँ जीभ को अटका दें, जीभ को स्थिर कर दें, सारे विकल्प शान्त हो जाएंगे। जीभ और विकल्प का संबंध बहुत अटपटा-सा लग सकता है। प्रश्न उठ सकता है कि जीभ और विकल्प का संबंध ही क्या ? विकल्प का संबंध मन से तो हो सकता है, किन्तु जीभ से कैसे हो सकता है ? गहराई से पर्यालोचन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि विकल्पों का स्रोत है—शब्द, भाषा। भाषा का संबंध जीभ से है। जब जीभ स्थिर होती है, तब मन स्थिर होता है। जब जीभ चंचल होती है, तब मन भी चंचल हो जाता है। यह स्थायी अनुबंध है। मन में कोई इच्छा उत्पन्न होती है,

उसे अभिव्यक्ति देने के लिए भाषा का माध्यम लेना पडता है। भाषा वाहन बनती है। मन उस वाहन पर चढकर अपने गंतव्य तक पहुँच जाता है।

जब तक हम मन की चंचलता के माध्यम को नही समझेंगे तब तक मन की चंचलता को नही मिटा पायेंगे। हमने मन पर जो चंचलता आरोपित कर रखी है, उसे भी समाप्त नही कर पायेंगे। इसके लिए शब्द को समझना अत्यन्त आवश्यक है।

शब्द अनेक प्रकार का होता है। मैं दो प्रकार के शब्द की ही चर्चा करूँगा। शब्द का एक प्रकार है—जल्प और दूसरा प्रकार है—अन्तर्जल्प। हम बोलते है यह है जल्प। जल्प का अर्थ है—स्पष्ट वचन। व्यक्त वचन हम बोलते नही, किन्तु मन मे सोचते है, मन मे विकल्प करते है, यह है अन्तर्जल्प। मुँह बन्द है, होठ स्थिर है, न कोई सुन रहा है, फिर भी मन में आदमी बोलता चला जा रहा है, यह है अन्तर्जल्प। सोचने का अर्थ ही है—भीतर मे बोलना। सोचना और बोलना दो नहीं है। सोचने के समय मे भी हम बोलते है और बोलने के समय मे भी हम सोचते है। जब हम जोर से बोलते है तब बाहर मे बोलते है और जब मन मे विकल्प करते है तो भीतर मे बोलते है। एक है जल्प और दूसरा है अन्तर्जल्प। हम भीतर बोलने को बोलना नही मानते। बाहर बोलने को ही बोलना मानते है। किन्तु दोनो मे कोई अन्तर नही है। आदमी ने मन मे सोचा—"मुझे बम्बई जाना है।" उसने यह मन की बात अपने मित्र को कही। दोनो प्रसंगो मे शब्द का सहारा लिया गया है। इस दृष्टि से दोनो मे कोई अन्तर नहीं है। एक मन की भाषा है और दूसरी बाहर की भाषा है। भाषा दोनो है। केवल जल्प और अन्तर्जल्प का अन्तर आया किन्तु तात्त्विक अन्तर कुछ भी नही आया। यदि हम साधना के द्वारा, अध्यात्म-चेतना के जागरण के द्वारा निर्विकल्प या निर्विचार अवस्था की ओर जाना चाहते है तो हमे शब्द को समझकर, उसके चक्रव्यूह को तोडना होगा। इसे तोडे बिना केवल चैतन्य की अनुभूति का क्षण, केवल निर्विचार की अनुभूति का क्षण हमे प्राप्त नहीं हो सकता।

शब्द उत्पन्न होता है तब सूक्ष्म प्रयत्न होता है। जब-जब वह प्रबल होता है तब स्थूल होता चला जाता है। शब्द की उत्पत्ति का यही क्रम है कि वह उत्पत्ति काल मे सूक्ष्म होता है और बाहर आते-आते स्थूल बन जाता है। जो सूक्ष्म है वह हमे सुनाई नहीं देता। जो स्थूल होता है वही हमे सुनाई देता है। ध्वनि विज्ञान के अनुसार दो प्रकार की ध्वनियाँ होती है—द्रव्य-ध्वनि और अद्रव्य-ध्वनि। अद्रव्य-ध्वनि अर्थात् अल्ट्रा साउण्ड (Ultra Sound), सुपर सोनिक (Super Sonik) यह सुनाई नही देता। हमारा कान केवल ३२४७० कंपनों को ही पकड सकता है। कपन तो अरबो होते है। किन्तु कान ३२४७० आवृत्ति के कंपनो को पकड सकता है, सूक्ष्म कंपनो को नही पकड सकता। यदि हमारा कान सूक्ष्म कंपनो को पकडने लग जाए तो आदमी जी ही नहीं सकता। आदमी कमरे मे जाता है। चारो ओर से दरवाजे बद कर अपने को अकेला मानता है। किन्तु कान यदि सूक्ष्म शब्दो को पकडने लग जाए तो ज्ञात होगा कि आदमी कहीं भी अकेला नहीं है। अकेले होने की बात मिथ्या है। हमारे चारो ओर इतना कोलाहल है कि यदि हम सारा सुन सकें तो पागल होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं बच सकता। किन्तु प्रकृति की इतनी सुन्दर व्यवस्था है कि कान उतने ही प्रकंपनो को सुन सकता है जिससे कोई बाधा न आए। यह समूचा आकाश ध्वनि-तरंगो से प्रकंपित है। अनन्तकाल से इस आकाश मे भाषा-वर्गणा के पुद्गल बिखरे पडे है। एक आदमी बोलता है। वह बोल चुका। बोलते समय भाषा-वर्गणा के पुद्गल निकलते है और आकाश मे जाकर

म्पित हो जाते हैं। हजारों-लाखों वर्षों तक वे उसी रूप में रह जाते हैं। [illegible]। वैज्ञानिकों ने एक प्रयत्न शुरू किया कि कोई ऐसा यंत्र बनाया जाए जो अतीत के महापुरुषों की भाषा के परमाणुओं को पकड़ सके। उसके आधार पर यह देखा जा सके कि उन-उन महापुरुषों ने क्या कहा था, और आज उनके नाम पर जो कहा जा रहा है वह कितना यथार्थ है और कितना अयथार्थ? उन महापुरुषों ने वही बात कही थी जो आज प्रचलित है या दूसरी बात कही थी? उसे परखा जा सके, उसकी कसौटी की जा सके। अभी तक वे पूरे सफल नहीं हुए हैं, किन्तु यह [illegible] असम्भाव्य नहीं रहा है। जैन-सिद्धान्तों की यह बात है कि मनुष्य जो सोचता है, उसकी भावना के पुद्गल करोड़ों वर्षों तक आकाश में अपनी आकृतियाँ बनाए रख सकते हैं। यदि कोई साधन विकसित किया जा सके, यदि कोई ऐसा यंत्र बन सके तो उन आकृतियों को पकड़ा जा सकता है।

यह सारा जगत् तरंगों से आंदोलित है। विचारों की तरंगें, कर्म की तरंगें, भाषा और शब्द की तरंगें पूरे आकाश में व्याप्त हैं। व्यक्ति का मस्तिष्क और स्नायविक प्रणाली भी आंदोलित हो रही है। इस स्थिति में मंत्र की उपयोगिता का आकलन किया जा सकता है। मंत्र क्या है और उसके द्वारा क्या किया जा सकता है—यह भी सोचने का अवसर मिलता है। मंत्र एक प्रतिरोधात्मक शक्ति है। मंत्र एक कवच है। मंत्र एक प्रकार की [illegible] है। संसार में होने वाले प्रकम्पनों से कैसे बचा जा सकता है? उनके प्रभावों को कैसे कम किया जा सकता है? इन प्रश्नों का उत्तर है कि व्यक्ति प्रतिरोधात्मक शक्ति का विकास करे और मंत्र की भाषा में कहा जा सकता है कि कवचीकरण का विकास करे। प्राचीन काल में योद्धा कवच पहनकर ही रणभूमि में उतरते थे। उन कवचों के आधार पर योद्धा, शत्रुओं के प्रहारों को झेलने में समर्थ हो जाते थे। मन्त्र-साधना कवच बनाने की साधना है। इससे आने वाले प्रकम्पनों के प्रहारों से बचा जा सकता है।

प्रत्येक व्यक्ति के चारों ओर आभा-मण्डल होता है, एक वलय होता है। अच्छा विचार होता है तो अच्छा आभा-मण्डल बन जाता है। बुरा विचार होता है तो बुरा आभा-मण्डल बन जाता है। अच्छा परिणाम अच्छी लेश्या। बुरा परिणाम बुरी लेश्या। यदि हम मंत्र-शक्ति का उपयोग करें और शब्दों की ऐसी संयोजना करें कि ऊर्जा का आभा-मण्डल बने तो हम उस शब्द-विन्यास का उच्चारण करें। सूक्ष्म उच्चारण करें या सूक्ष्मातिसूक्ष्म उच्चारण करें। उससे ऊर्जा का आभा-वलय निर्मित होगा। वह इतना शक्तिशाली और इतना प्रतिरोधात्मक बनेगा कि बाहर की कोई भी शक्ति आक्रमण नहीं कर पायेगी। शब्द में अनन्त शक्ति होती है। प्रत्येक अक्षर शक्ति से भरा होता है। मंत्र-शास्त्र की जो खोजें हुई हैं, वे बड़ी अद्भुत हैं। उन खोजों ने जो विवरण प्रस्तुत किया, उसे हम भूल गए, अन्यथा हम औषधि के स्थान पर मंत्र का ही उपयोग करते। सन्देशवाहक के स्थान पर हम मंत्र से ही काम कर लेते। समाचार मँगाने या प्रेषित करने के लिए हम मंत्र का ही उपयोग करते। सारा काम मंत्र से हो जाता।

मंत्र-शक्ति का सदुपयोग भी हो सकता है और दुरुपयोग भी हो सकता है। आचार्य भद्रबाहु ने संघ की सुरक्षा के लिए 'उवसग्गहर-स्तोत्र' का निर्माण किया। उसको संघ को देते हुए कहा—"जब भी कोई समस्या आए, विघ्न उपस्थित हो, उस समय इस स्तोत्र का उच्चारण करने पर देव प्रस्तुत होगा, संकट का निवारण करेगा।" उपयोग और दुरुपयोग साथ-साथ चलते हैं। एक बहन रसोई बना रही थी। बछड़ा खूँटे से बँधा था। वह रस्सी तुड़ाकर

भाग गया। उस बहिन ने सोचा—"रसोई छोडकर जाना उचित नहीं है। मंत्र का प्रयोग क्यों न करूँ ?" उसने मंत्र जपा। देव उपस्थित हुआ। पूछा—"क्या संकट है ?" बहिन ने कहा—"कोई संकट नही है। बछडा भाग गया है। उसे लाकर बाँध दो।" देव ने आज्ञा का पालन किया। फिर देव ने आचार्य के पास जाकर सारी बात कही। आचार्य ने स्तोत्र मे परिवर्तन कर दिया। उसके जाप से संकट दूर होता रहा किन्तु देव की साक्षात् उपस्थिति छूट गई।

'अ' से 'ह' तक प्रत्येक अक्षर का वर्ण होता है। स्वाद होता है। यदि हम उच्चारण की सूक्ष्मता मे जाएँ तो पता चलेगा कि अक्षरो के उच्चारण के साथ-साथ स्वाद मे भी अन्तर आ रहा है। जब यह सूक्ष्म-ज्ञान लुप्त हो गया तो मंत्र की शक्ति भी विस्मृत हो गई, उसकी चावी हमारे हाथ से चली गई। मंत्र-शक्ति शब्द की संयोजना पर निर्भर है। मंत्र-शक्ति का पालन-तत्त्व है—शब्द की सयोजना। किस उद्देश्य से मंत्र का उपयोग करना है, उस आधार पर शब्द की संयोजना की जाती है। जैसे रसायन-शास्त्री जानता है कि किन-किन द्रव्यो के मिलाने से कौन-सा द्रव्य बनता है, वैसे हो मंत्रविद् जानता है कि किन-किन शब्दो की संयोजना से किस प्रकार के तरंग पैदा होंगे ? वे परमाणुओं को कैसे प्रकंपित करेंगे और उनकी परिणति किस प्रकार की होगी ?

एक प्रश्न आया कि मंत्र का आलम्बन भी एक आलम्बन है और एक कल्पना है। हाँ, यह ठीक है। किन्तु क्या कल्पना का कोई उपयोग नहीं है ? क्या आलम्बन का कोई उपयोग नही है ? बहुत बडा उपयोग है कल्पना का और आलम्बन का। कल्पना का दूसरा रूप बनता है संकल्प, और संकल्प का तीसरा रूप बनता है—यथार्थ। पहले कल्पना की। संकल्प किया और कल्पना को दृढ निश्चय मे बदला। तीसरे मे वह यथार्थ बन गया।

अमेरिकी नौ-सैनिको ने संकल्प-शक्ति के कुछ प्रयोग किए। एक सैनिक इलेक्ट्रिक स्विच के सामने जाकर खडा हो जाता है और बिजली के जलने का संकल्प करता है। स्विच दबाने की आवश्यकता नहीं होती। जैसे ही वह संकल्प करता है, स्विच ऑन हो जाता है, बिजली जलने लगती है। संकल्प-शक्ति के सहारे भारी लोहे की अलमारी कमरे के इस छोर से उस छोर तक पहुँच जाती है। पहले कल्पना की, फिर सकल्प किया और तीसरे स्टेज पर वह यथार्थ बन जाता है। इसका कारण भी समझें।

जब हम कल्पना को संकल्प की भूमिका तक लाते है तो सारे परमाणुओ मे प्रकंपन शुरू हो जाता है। जिस दिशा मे संकल्प के परमाणु जाते है, वे सारे आकाश-मण्डल को प्रकंपित कर देते है। वह प्रकंपन इतना तीव्र हो जाता है कि कल्पना यथार्थ मे बदल जाती है। आपने यहाँ बैठे कल्पना की कि आप कलकत्ते मे बैठे अपने पुत्र से बात करना चाहते हैं या अपने मन के भाव उसे बताना चाहते है आप एक आसन मे बैठ जाएँ और संकल्प को दोहराते चले जाएँ। जब संकल्प तीव्र हो जाता है तब कोई आश्चर्य नही कि आप जो बताना चाहते है, उसे आपका पुत्र न जान पाए। आज जो विचार-संप्रेषण के प्रयोग किए जा रहे हैं, वे सारे संकल्प-शक्ति के प्रयोग है। कल्पना को व्यर्थ न समझें उसका बहुत बड़ा उपयोग है। कल्पना व्यर्थ तब होती है जब वह योजना-बद्ध नहीं होती। ऐसी स्थिति मे

संकल्प वनता ही नहीं। व्यक्ति विकल्पों के जाल में फंस जाता है तब कल्पना व्यर्थ बन जाती है। यदि योजनाबद्ध-पद्धति से संकल्प-शक्ति का प्रयोग किया जाय तो हम यथार्थ तक पहुँच जाते है।

मन्त्र, विकल्प से निर्विकल्प तक पहुँचने की प्रक्रिया है। मन्त्र सविचार से निर्विचार तक पहुँचने की पद्धति है। मन्त्र में पहला तत्त्व है—शब्द या ध्वनि। शब्द भाषात्मक होता है और ध्वनि भावात्मक होती है, व्यक्त होती है। शब्द का अर्थ के साथ कोई सीधा सम्बन्ध नहीं होता। शब्द और अर्थ में कुछ दूरी होती है। ध्वनि अर्थ के कुछ निकट चली जाती है। "दूध" एक शब्द है। दूध कहने से पेट नहीं भरता। जहाँ हमारा शब्द होता है वहाँ दूध और दूध नाम के पदार्थ—इन दोनों में दूरी होती है। किन्तु जैसे-जैसे हमारी संकल्प-शक्ति दृढ़ होती है, भावना का प्रयोग होता है, ध्वनि सूक्ष्म होती चली जाती है, तब शब्द और अर्थ की दूरी कम होती चली जाती है। तव ऐसा भी होता है कि "दूध" कहते ही दूध तैयार मिलता है। भारतीय साहित्य में तीन शब्द बहुलता से मिलते है—कल्पवृक्ष, कामधेनु और चिन्तामणिरत्न। ये तीनों इतने शक्तिशाली होते है कि जो मांगा वह तैयार। शब्द और अर्थ की सारी दूरी समाप्त। शब्द के साथ-साथ अर्थ की घटना घट जाती है। ऐसा मन्त्र-शक्ति के द्वारा भी हो सकता है, होता है। हमारी संकल्प-शक्ति ही कल्पवृक्ष है। हमारी संकल्प-शक्ति ही कामधेनु है और हमारी संकल्प-शक्ति ही चिन्ता-मणि-रत्न है। ये तीनों कामनाओं की पूर्ति करते हैं। जो कामना को पूरा करे वह कामधेनु। जो कल्पना को पूरा करे वह कल्पवृक्ष और जो चिंतन को पूरा करे वह चिन्ता-मणि-रत्न। ये सब हमारे संकल्प से भिन्न कुछ नहीं है। सब कुछ संकल्प ही है। संकल्प-मन्त्र का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। जहाँ शब्द, ध्वनि और संकल्प शक्ति—तीनों का योग होता है, वहाँ मन्त्र की शक्ति जागृत हो जाती है, मन्त्र का साक्षात्कार हो जाता है और मन्त्र का देवता प्रकट हो जाता है। संकल्प-शक्ति के द्वारा जब आन्तरिक ज्योति का जागरण होता है, उस ज्योति का नाम ही है—देवता। जव हमारा शब्द, ज्योति में वदल जाता है तब मन्त्र का साक्षात्कार हो जाता है। मन्त्र चैतन्य हो जाता है।

मन्त्र का चौथा महत्त्वपूर्ण तत्त्व है—श्रद्धा। श्रद्धा का अर्थ है—तीव्रतम आकर्षण, यदि मन्त्र के प्रति हमारी कोई श्रद्धा नहीं है, कोई आकर्षण नहीं है, दृढ़ विश्वास नहीं है तो चाहे वर्णों का ठीक समायोजन हो, ठीक उच्चारण हो, तो जो घटना घटित होनी चाहिए, वह घटित नहीं हो सकती। केवल श्रद्धा के बल पर जो घटित हो सकती है, वह श्रद्धा के विना घटित नहीं हो सकती। पानी तरल है। जव वह जम जाता है, सघन हो जाता है, वह वर्फ वन जाता है। जो हमारी कल्पना है, जो हमारा चिन्तन है वह तरल पानी है। जव चिन्तन का पानी जमता है तव वह श्रद्धा वनती है, विश्वास वनता है। तरल पानी में कुछ गिरेगा तो वह पानी को गंदला वना देगा। वर्फ पर जो कुछ गिरेगा, वह नीचे लुढ़क जाएगा, उसमें घुलेगा नहीं। जव हमारा चिन्तन श्रद्धा में वदल जाता है, जव हमारा चिन्तन विश्वास में वदल जाता है, वह इतना घनीभूत हो जाता है कि वाहर का प्रभाव कम-से-कम होता है। उस स्थिति में जो घटना घटित होनी चाहिये वह सहज ही घटित हो जाती है।

हमने नमस्कार-मन्त्र के प्रथम चरण "णमो अरहंताणं" का प्रयोग किया। आप न मानें कि हमने केवल "ण" "मो" आदि अक्षरों का ही प्रयोग किया है। हम इन अक्षरों को वचपन से जानते है, किन्तु इनकी अनन्त शक्ति से

१०. ओम्

आकारं बिन्दुसयुक्तं, नित्य ध्यायन्ति योगिनः
कामदं मोक्षदं चैव, ओंकाराय नमो नमः

हम सब दो प्रकार के जगत् मे जीते है । एक हमारा आध्यात्मिक जगत् है, आन्तरिक जगत् है और दूसरा बाह्य जगत् । अन्तर्जगत् मे हम अकेले होते हैं और बाह्य जगत् म हमारा समाज होता है । हमारा, ज्ञान का जीवन अन्तर-जगत है । वह सदा भीतर रहता है, कभी बाहर नहीं जाता । यदि मनुष्य केवल ज्ञानी ही होता तो वह नितान्त अकेला होता । वह सामाजिक कभी नहीं बनता । हमारा सामाजिक जीवन बनता है भाषा के द्वारा, शब्द के द्वारा । ज्ञान और भाषा का, जब से योग हुआ तब से मनुष्य बाह्य जगत् मे आया और उसने अपना विस्तार किया । शब्द ने मनुष्य को विस्तार दिया, बाह्य जगत् का निर्माण किया और उसे द्वैत पैदा किया । मनुष्य दो जगत् में जीनेवाला प्राणी बन गया ।

ज्ञान अपने आप मे स्वाप्त होता है । उसके द्वारा किसी को भी अभिव्यक्ति नहीं दी जा सकती । केवल जाना जा सकता है, पर अपना जाना हुआ दूसरे तक नहीं पहुँचाया जा सकता। ज्ञान जब दूसरे तक नहीं पहुँचता तब समाज नहीं बनता । समाज का मूल आधार है अभिव्यक्ति, ज्ञान का विनिमय, प्रत्येक के ज्ञान का प्रत्येक तक पहुँचना ।

अभिव्यक्ति के दो साधन हैं । शास्त्रीय शब्दावली मे उन्हें अक्षर-श्रुत और अनक्षर-श्रुत कहा जाता है । हम अपने ज्ञान को दूसरों तक पहुँचाते हैं या तो अक्षर के द्वारा या अनक्षर के द्वारा—संकेत के द्वारा । अंगुली का एक इंगित किया जाता है और दूसरा व्यक्ति मन के भाव को जान लेता है । तर्जनी हिलती है और सामने वाला व्यक्ति तर्जना का अनुभव कर लेता है । अंगूठा हिलता है और सामने वाला व्यक्ति अपने प्रति किए जाने वाले व्यंग्य का अनुभव कर लेता है । हमारे शरीर और अवयवों के इंगित अपना अर्थ समझा देते है । फिर भी यह अनक्षर-श्रुत इतना कम अर्थ समझा पाता है कि उससे हमारा पूरा व्यवहार नहीं चलता, बहुत थोड़ा व्यवहार चलता है । यदि यह अनक्षर-श्रुत ही होता, यदि संकेतों के माध्यम से ही मनुष्य अपने मन की भावनाओं को व्यक्त कर पाता तो वह आज के विकास-बिन्दु तक कभी नहीं पहुँच पाता । विकास का बड़ा स्रोत है—अक्षर-श्रुत । आज इतना भारी विकास हुआ है, उसका माध्यम है अक्षर, शब्द या भाषा । भाषा के द्वारा अपने मन की बात को व्यक्त करने मे सहज सुविधा होती है और मनुष्य अपनी सारी भावना को दूसरों तक पहुँचा देता है, दूसरों को समझा देता है । ज्ञान और विज्ञान का समूचा विकास, संस्कृति का समूचा विकास, मानव-जाति का समूचा विकास भाषा के माध्यम से हुआ है । इसकी दार्शनिक प्रक्रिया को भी समझ लें । हमारे भीतर चेतना है । वह अपने आप मे सक्रिय रहती है । बाह्य वस्तु के लिए निष्क्रिय भी रहती है । चेतना की सत्ता एक लब्धि है, एक उपलब्धि है । वही चेतना जब बाह्य जगत् को जानने के लिए सक्रिय होती है तब उपयोग बन जाती है । ज्ञान की दो अवस्थाएँ है । एक अवस्था है उसका अनावृत्त होना और दूसरी अवस्था है ज्ञेय को जानने मे सक्रिय होना । ये दोनों अवस्थाएँ अन्तर्-

जगत् की अवस्थाएं है। ये बाह्य जगत् मे कभी प्रकट नही होती। ये अमूर्त है। इनका स्वरूप हमारे सामने नही आता। कोई भी व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के ज्ञान को कभी समझ नहीं पाता, कभी पकड नहीं पाता। अन्तर्-जगत् और बाह्य-जगत् के मध्य मे तीन सेतु है—शरीर, वाणी और मन। ये अन्तर्-जगत् के प्रवाह को बाह्य-जगत् तक पहुँचाते है। अमूर्त जब मूर्त के साथ जुडता है, तब वह श्रुत बनता है। शास्त्र, आगम या वाङ्मय बनता है। मन, मन से आगे वाक् और वाक् से आगे काय—इन तीनो के कर्म जुडे हुए है। मन मे कोई विचार पैदा हुआ और वह वाक् मे उतरा, वाङ्मय बना, वाणी मे आया। उसे वाणी मे आने के लिए काया के तन्त्र ने उसका पूरा सहयोग किया। उच्चारण के स्थान, जिनसे शब्द उच्चारित होते है, सक्रिय बने और मन का भाव प्रकट हो गया। जो अगम्य था वह गम्य बन गया, जो अन्तर्-जगत् मे था वह बाह्य-जगत् मे आ गया।

मैंने मन मे सोचा—मुझे वहाँ जाना है। किन्तु जब मैंने भाषा के द्वारा प्रकट कर दिया कि मुझे वहाँ जाना है, तब वह अन्तर्-जगत् की घटना नही रही, वह बाह्य जगत् की घटना हो गई। मन की अगम्य बात दूसरो के लिए गम्य बन गई।

शब्द की शक्ति के द्वारा हमारा ज्ञान बाह्य जगत् मे अवतरित होता है। यदि शब्द का वाहन न मिले तो ज्ञान कभी भी बाह्य जगत् मे अपने अस्तित्व को प्रकट नहीं कर पाता। यह है ज्ञान और शब्द का सम्बन्ध।

शब्द पर शब्द-शास्त्रियो ने काफी विमर्श किया है। दूसरी ओर मंत्र-शास्त्रियो ने भी काफी विमर्श किया है। शब्द पर दो शास्त्र बहुत प्रकाश डालते हैं—शब्द-शास्त्र और मंत्र-शास्त्र। ज्ञान भीतर होता है। वह शब्द के माध्यम से बाहर आता है। ज्ञान भीतर पहुँचता है तब भी शब्द के माध्यम से पहुँचता है। दूसरा व्यक्ति मुझे कुछ बताता है, जिसे मैं नहीं जानता। वह बात मुझे शब्द के माध्यम से उपलब्ध हुई। शब्द ने भीतर की यात्रा शुरू की और वह मेरे ज्ञान के साथ जुड गया। ज्ञान का स्पर्श कर अपने अर्थ को वहाँ तक पहुँचा दिया। यह प्रक्रिया है ज्ञान की बाहर से भीतर तक पहुँचने की। मेरे भीतर का ज्ञान भी इसी प्रक्रिया से दूसरे तक पहुँचता है। मेरा ज्ञान मेरे भीतर रहता है और दूसरे का ज्ञान दूसरे के भीतर रहता है, किन्तु शब्द के माध्यम से हम ज्ञान का विनिमय कर देते है, एक दूसरे के ज्ञान को अपना बना लेते है। यह हमारा ज्ञान मीमासा और शब्दशास्त्रीय मीमासा का पक्ष है। इसका दूसरा पक्ष साधना का है, मंत्र-शास्त्र का है। मंत्र-शास्त्र के अनुसार शब्द की पहली अवस्था है—संजल्प, जो तेज स्वर मे बोला जाता है। यह भाष्यावस्था—बोली जाने वाली अवस्था है। दूसरी अवस्था है—अन्तर्-जल्प। जब शब्द बाहर सुनाई नही देता अथवा उच्चारित नहीं होता तब अन्तर्-जल्प होता है। तीसरी अवस्था ज्ञानात्मक है। जहाँ अन्तर्-जल्प भी समाप्त हो जाता है, भाषा-ज्ञान के रूप मे शेष रह जाती है। मंत्र-शास्त्र मे वाक् की वैखरी, वाक्-प्रयोग (वचन-योग) को मध्यमा और ज्ञानावरण के विलय या ज्ञान के उपयोग को पश्यन्ति कहा जाता है। वह ज्ञान जब लब्धि मे चला जाता है, ज्ञान की सहज क्षमता मे बदल जाता है तब वह परावाक् बन जाता है। ज्ञान की यह सारी यात्रा अक्षर के द्वारा होती है। अक्षर का कभी क्षरण नहीं होता। प्रत्येक मनोविज्ञानी व्यक्ति मे अक्षर का बोध होता है। सोते-जागते वह ज्ञान अव्यक्त या व्यक्त रूप मे उपस्थित रहता है।

अक्षर तीन प्रकार के होते हैं—

१ संज्ञा-अक्षर—अक्षर की आकृति।

२. व्यंजन-अक्षर—अक्षर का उच्चारण।

३. लब्धि-अक्षर—अक्षर का ज्ञान।

ज्ञानात्मक क्षमता वाला अक्षर लब्धि-अक्षर होता है। व्यंजन-अक्षर वाणी के रूप में प्रकट होता है। अपने वाच्य अर्थ को बाह्य जगत में प्रकट करता है। संज्ञा-अक्षर एक निश्चित आकार का होता है। जो लिपि में प्रयुक्त होता है। लिपि का भी बड़ा महत्त्व है। हम जितनी भी रेखाएं खींचते हैं, उन रेखाओं का बड़ा महत्त्व होता है। छोटी-सी रेखा खींचते है और उसमें एक विशेष प्रकार की क्षमता आ जाती है। आकार और मुद्रा का भी मूल्य कम नहीं है। आदमी सिद्धासन की मुद्रा मे बैठता है। एक आकार बनता है और ठीक पिरामिड का आकार बन जाता है। पिरेमिड के आकार मे "कोस्मिक रे" को पकड़ने की क्षमता आ जाती है। हम उन ध्वनियों में जीते हैं जहाँ समूचे सौर-मंडल के विकिरण हम तक पहुँचते है। विभिन्न मुद्राओं और विभिन्न आकृतियों में विभिन्न सौर-विकिरणों को ग्रहण करने की क्षमता होती है। जब हम सिद्धासन की मुद्रा मे होते है तो एक विशिष्ट प्रकार के विकिरणों को ग्रहण करते है और पद्मासन की मुद्रा में होते हैं तो दूसरे प्रकार के विकिरणों को ग्रहण करते हैं। जब हम "अ" का लिपि-विन्यास करते है, "अ" को लिखते हैं तब "अ" अक्षर लिखते ही उसके माध्यम से विशिष्ट प्रकार के विकिरणों को ग्रहण करने लग जाते है। जब "उ" का लिपि-विन्यास करते है तब दूसरे प्रकार के विकिरणों को ग्रहण करने लग जाते है। इस परिस्थिति के सन्दर्भ मे, वाक् और अर्थ के सन्दर्भ मे, ज्ञान और शब्द के सन्दर्भ में जब हम "ओम्" पर विचार करते है तो लगता है कि यह शब्द अपने-आप में बहुत मूल्यवान है। शब्द की मूल्यवत्ता पर हमने दो दृष्टियों से विचार किया है। एक है—शब्द की प्राणशक्ति की समायोजना, प्राणशक्ति के साथ होने वाले शब्द का सम्बन्ध, और दूसरी है—भावनात्मक विशेषता, उसके पीछे हमारी क्या भावना जुड़ी होती है। पहला प्रश्न है प्राणवत्ता का। हम जो कुछ कर रहे है, वह सारा-का-सारा कार्य प्राणशक्ति के द्वारा कर रहे है। तैजस शरीर के माध्यम से प्राण की धारा निःसृत होती है। वह हमारे समूचे जीवन-तन्त्र को सचालित करती है। प्राण की धारा या विद्युत की धारा जितनी बलवती होती है उतनी ही हमारी क्षमताएं बढ़ जाती है। हम निरतर श्वास लेते हैं। श्वास प्राण का ईंधन है। उसके द्वारा प्राण प्रज्ज्वलित होता है। हम निरन्तर श्वास लेते हैं, इसीलिए हमारा तन्त्र निरन्तर गतिशील रहता है। योग-शास्त्रीय गणना के अनुसार एक व्यक्ति एक दिन मे इक्कीस हजार छह सौ श्वास-प्रश्वास लेता है। जब वह श्वास लेता है तब एक प्रकार की ध्वनि होती है। श्वास छोड़ता है तब भी ध्वनि होती है। श्वास छोडते समय "ह" की और लेते समय "स" की ध्वनि होती है। इन सहज दोनों ध्वनियों के आधार पर "सोऽहं" का विकास हुआ। इसे "अजपा जप" कहा जाता है। इसे जपने की जरूरत नहीं। यह बिना जपे जप हो जाता है, इसलिए इसका नाम "अजपा" है। शिव-स्वरोदय में "हकार" को शिवरूप और "सकार" को शक्ति-रूप माना गया है। हठयोग मे "हकार" सूर्य या दक्षिण स्वर का प्रतिनिधित्व करता है और "सकार" चन्द्र बाँएं स्वर का प्रतिनिधित्व करता है। इन दोनों का साम्य होने पर परमात्म-भाव का विकास होता है। तन्त्र-शास्त्र के अनुसार पूर्ण वर्णमाला ओंकार से उत्पन्न होती है। इसीलिए उसे "मातृकाम्" कहा जाता है।

"सोऽहं" का महत्त्व अपनी ध्वनिगत विशेषता के कारण है। प्राणशक्ति के साथ उसका स्वाभाविक संबंध है, इसलिए उसका स्वाभाविक महत्त्व है। उसके साथ भावना का संबध भी जुडा हुआ है। "सोऽहं" का अर्थ होता है—मैं वह हूँ। जो परमात्मा है वह मैं हूँ। इस भावनात्मक संबध के कारण "सोऽहं" एक बहुत शक्तिशाली मंत्र बन गया। ध्वनिगत विशेषता और भावनात्मक सवेदना के कारण इसका स्थान महामंत्रो की कोटि मे प्रस्थापित है।

"सोऽहं" मे थोडा-सा परिवर्तन हुआ। "सकार" को हटाया "हकार" को हटाया और "ओम्" बन गया। "सोऽहं" का परिवर्तित रूप है "ओम्", जो भाषाशास्त्रीय दृष्टि और ध्वनि-विश्लेषण के अनुसार "सोऽहं" के बहुत निकट है। 'स' और 'ह' चले जाते हे और शेष "ओम्" रह जाता है। "ओम्" हमारी प्राणगत ध्वनि है। प्राण के साथ सहज उच्चरित होनेवाली ध्वनि है। इसलिए इसका बहुत मूल्य है। "ओम्" का पर्याय शब्द है "प्रणव"। महर्षि पतंजली ने इसे पुरुष का वाचक बतलाया है। "प्रणव" प्राण को देने वाला होता है। वह हमारी प्राणशक्ति को जागृत करता है। "ओंकार" हमारी प्राणशक्ति को प्रज्ज्वलित करने वाला है, इसलिए उसका बहुत मूल्य है। वैज्ञानिक युग मे जितना ऊर्जा का मूल्य है उतना ही हमारी आन्तरिक शक्ति के विकास मे जीवन-तंत्र के परिचालन मे इसका बहुत बडा मूल्य है। इस प्राकृतिक मूल्य के साथ साधना की परपराओ ने भावनात्मक मूल्य का भी योग किया है। वैदिक परपरा मे "अ, उ, म्"—इन तीनों अक्षरो के योग से "ओम्" शब्द निष्पन्न होता है। 'अ' ब्रह्मा, 'उ' विष्णु और 'म' महेश—ये तीनो शक्तियाँ इसके साथ जुडी हुई है। वैदिक परंपरा का अनुयायी "ओंकार" का जप करते समय अपनी प्राकृतिक प्राणशक्ति का उपयोग करता है और साथ-साथ अपने मे ब्रह्मा, विष्णु और महेश की शक्ति का अनुभव करता है। एक ओर उसकी प्राणशक्ति जागृत होती है तो दूसरी ओर उसकी आन्तरिक शक्तियाँ भी सवेदनशीलता के कारण प्रकट होती है।

जैन-परंपरा मे "ओम्" पंच-परमेष्ठी के पाँच वर्णो से निष्पन्न होता है। अरहंत, अशरीर, आचार्य, उपाध्याय और मुनि—इन पाँच परमेष्ठियो के आदि अक्षरो का योग करने पर "ओम्" बनता है—अ+अ+आ+उ+म् = ओम्। पूरा नमस्कार-महामंत्र ओंकार मे गर्भित है। एक जैन व्यक्ति "ओंकार" का जप करते समय प्राणशक्ति से लाभान्वित होता ही है और साथ-साथ पच-परमेष्ठी से अपनी तन्मयता का अनुभव करता है, अपने शरीर के कण-कण मे परमेष्ठी-पंचक की अवस्थाओ का अनुभव करता है। यह तादात्म्य होता है तब आन्तरिक शक्तियाँ उसी रूप मे विकसित होने लगती है। जहाँ तक प्राणशक्ति का संबंध है, दोनो परपराओ मे कोई अन्तर नहीं आता, क्योंकि वह शरीर के साथ जुडी हुई घटना है। जहाँ भावनात्मक शक्ति का प्रश्न है वहाँ अपनी-अपनी भावना के अनुसार परिवर्तन घटित होने लगता है।

जैन-आचार्यों ने "ओम्" की निष्पत्ति का एक दूसरा रूप भी प्रस्तुत किया है। अ—ज्ञान, उ—दर्शन और म्—चारित्र का प्रतीक है। इन तीन वर्णो से निष्पन्न (अ+उ+म्) ओंकार त्रिरत्न का प्रतीक है। ओंकार की उपासना करने वाला मोक्षमार्ग की उपासना करता है, ज्ञान, दर्शन और चारित्र—तीनो की उपासना करता है। यह भावनात्मक संबंध है। इस प्रकार "ओम्" समूची वर्णमाला और मांत्रिक अक्षरो मे एक मूर्धन्य अक्षर बन गया।

शब्द उच्चारण का एक बहुत बडा विज्ञान है। मंत्र-शास्त्र ने उस पर बहुत प्रकाश डाला है। ओंकार के उच्चारण से जमे हुए मल धुल जाते है। साधना का प्रयोजन होता है मन को निर्मल करना, मन पर प्रतिदिन जमने वाले

मैलों को दूर करना। जब मैल दूर होते हैं तब आन्तरिक व्यक्तित्व बदलता है, नाड़ी-संस्थान निर्मल होता है। यह चेतना की सक्रियता क्या चमड़ी में है ? नहीं। हड्डियों में है ? नहीं। मांस में है ? नहीं। वह नाड़ी-संस्थान में है। जिसका नाड़ी-संस्थान जितना निर्मल होता है वह उतना ही ज्ञानवान् और क्रिया में सक्षम होता है। नाड़ी-संस्थान में प्राणधारा के तीन मुख्य स्थान हैं। योग की भाषा में इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना कहा जाता है। हमारी चेतना के ऊर्ध्वगमन में, अन्तश्चेतना के विकास में सुषुम्ना का बड़ा योग है। हमारी ज्ञान की शक्ति और कर्म की शक्ति उस सुषुम्ना से विकसित होकर बाहर फैलती है। जब प्राण का प्रवाह इड़ा और पिंगला के मार्गों से हटकर सुषुम्ना में प्रवेश करता है तब हमारी अतीन्द्रिय शक्तियां जागृत होती हैं, चेतना का ऊर्ध्वगमन होता है, वासनाएं कम होती हैं, कामनाएं कम होती हैं, रासायनिक परिवर्तन घटित हो जाता है, ग्रन्थियों के स्राव बदल जाते हैं, व्यक्तित्व का रूपान्तरण हो जाता है। जिस व्यक्ति ने कभी आनन्द की आशा नहीं की, वह व्यक्ति सुषुम्ना या मध्य भाग में प्राणधारा प्रवाहित होने पर अपने आप अनूठा आनन्द पाने लग जाता है। किसी उपदेश की जरूरत नहीं, किसी को समझाने की जरूरत नहीं। सुषुम्ना के जागरण द्वारा आचरण की शुद्धि अपने-आप हो जाती है और उसके जागरण में ओंकार के जप का बहुत बड़ा योग हो सकता है। ओंकार का जप तीनों स्थितियों में चलता है—वाक् के रूप में, वाक् से अन्तर-जल्प के रूप में और सुषुम्ना में प्रवेश कर ज्ञान के रूप में। जब हमारी चेतना प्राणधारा के साथ प्रवाहित होने लग जाती है उस स्थिति में व्यक्तित्व में सहज ही परिवर्तन घटित होता है, जिसकी हम पहले कल्पना भी नहीं कर सकते।

शब्द की शक्ति कम नहीं होती। उसकी ध्वनि-तरंगें बंद पड़े दरवाजों को खोल देती हैं, अज्ञात ज्ञात हो जाता है, शक्तिहीनता शक्तिवात में बदल जाती है, दुःख सुख में बदल जाता है। भगवान महावीर ने गौतम गणधर को "उप्पलेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा"—इस त्रिपदी का मंत्र दिया। उसके माध्यम से उनकी अन्तश्चेतना जाग उठी। उन्होंने समूचे श्रुत का अवगाहन कर लिया। ज्ञान के सब द्वार खुल गए। शब्द में उतर सकने वाला ज्ञान उनसे अज्ञात नहीं रहा। वे श्रुत के पारगामी बन गए।

चिलातीपुत्र एक बहुत बड़ा चोर था। उसने एक कन्या की हत्या कर डाली। हाथ में उसका सिर है और तलवार खून से सनी हुई है। जंगल में दौड़ा जा रहा है। पुलिस पीछा कर रही है। उसने देखा एक साधु ध्यान-मुद्रा में खड़ा है। साधु के पास जाकर बोला—कुछ बताओ। साधु ने केवल तीन शब्द उच्चरित किए—उपशम, संवेग, संवर। इन तीन शब्दों का उच्चारण हुआ और चिलातीपुत्र एकदम बदल गया। वह चोर से साधु बन गया। मंत्र-शक्ति के द्वारा उसका सारा रूप ही बदल गया। मंत्र के द्वारा प्रकट होने वाली ऊर्जा से व्यक्ति में जो रूपान्तरण होता है, वह हम जानते हैं और मानते भी हैं। हमारी कठिनाई यह है कि हम मानते ज्यादा हैं, जानते कम हैं। ओंकार का जप करने वाले भी ओंकार को मानते ज्यादा हैं, जानते कम हैं। दूसरे मंत्रों का जप करने वालों की भी यही दशा है। इसीलिए हमें शब्द की शक्ति में, मंत्र-शक्ति में विश्वास कम है। केवल मानने से काम नहीं चलेगा कुछ जानें। एक मंत्र के साथ बहुत बातें जुड़ी हुई होती हैं। उन सबको जानना जरूरी होता है। ओंकार एकाक्षरी मंत्र है। यह कामना की पूर्ति करने वाला और मोक्ष देने वाला—दोनों है। इससे प्राणशक्ति का विकास होता है, इसलिए कामना पूरी होती है। इससे चित्त निर्मल होता है, इसलिए यह मोक्ष देने वाला है। हम किसी मंत्र की

विनीतता से प्रभावित होकर उसका जप शुरू कर देते हैं। किन्तु पूरी जानकारी के अभाव में पूरा लाभ नहीं उठा पाते। मंत्र के जप का पहला तत्त्व है—उच्चारण कैसे करें? जब तक उच्चारण की बात समझ में नहीं आती तब तक उससे जो होना चाहिए वह नहीं होता। शब्द-शास्त्र के अनुसार उच्चारण के आठ स्थान हैं—वक्ष, कंठ, सिर, जिह्वामूल, दांत, नासिका, ओष्ठ और तालु। किन्तु यह बहुत स्थूल जगत् की बात है। इससे पहले वह उच्चारण, न जाने कितनी व्यवस्थाओं को पार कर जाता है। उसका प्रारंभ मूलाधार या शक्ति-केन्द्र से होता है। फिर वह तैजस्-केन्द्र, आनन्द-केन्द्र और विशुद्धि-केन्द्र को पार कर तालु के पास आता है और दर्शन केन्द्र-भृकुटि के मध्य तक पहुँच जाता है। उस स्थिति में उसकी तेजस्विता प्रकट होती है। उच्चारण के बारे में जब सम्यक् ज्ञान नहीं होता तो जप से जिस लाभ की आशा की जाती है वह घटित नहीं होता। मंत्र-शास्त्र बतलाते हैं—भाष्य-जप से जो लाभ होता है उससे हजार गुना लाभ अन्तर-जप से होता है। और अन्तर-जप से जो लाभ होता है उससे हजार गुना लाभ मानसिक जप से होता है। लाभ की दूसरी स्थिति है भावना का नियोजन। जप के साथ हमारा भावनात्मक नियोजन कैसा है? यदि हम स्वयं शब्द के साथ न रहें, अर्थ की भावना न करें, तो जो लाभ मिलना चाहिए वह नहीं मिलता। जप की यात्रा शब्द से शुरू होती है। फिर शब्द छूट जाता है, केवल अर्थ शेष रह जाता है। हम श्रोती-भावना को छोड़कर आर्थी-भावना तक पहुँच जाते हैं—ज्ञानात्मक स्थिति में पहुँच जाते हैं। उस समय मंत्र चैतन्य होता है—मंत्र का जागरण होता है, उसकी तेजस्विता प्रकट होती है।

ओकार के साथ रंगों का समायोजन करने से उनका जप और शक्तिशाली हो जाता है। शान्ति, पुष्टि और मोक्ष के लिए यदि ओकार का जप करना है तो श्वेत रंग के ओकार का जप किया जाता है। विभिन्न चैतन्य-केन्द्रों को जागृत करने के लिए विभिन्न रंगों के ओकार का जप करना होता है। ज्ञान-तन्तुओं को सक्रिय बनाने के लिए पीले रंग के ओकार का जप करना होता है। और ऊर्जा की वृद्धि के लिए लाल रंग के ओकार का जप करना होता है। जप के सारे पहलुओं को समझ कर यदि हम उसका प्रयोग करें तो ओकार एक शक्तिशाली साधन है—आत्माभिव्यक्ति का, मन को निर्मल करने का तथा अनेक लब्धियों और सिद्धियों को प्राप्त करने का।

(महाप्रज्ञ द्वारा १० सितम्बर १९७८ को दिया गया भाषण)

युवाचार्य महाप्रज्ञ का प्रकाशित साहित्य

गद्य-पद्य

५४ अनुभव, चिंतन, मनन
५५ भाव और अनुभाव
५६ बन्दी शब्द मुक्त भाव
५७ फूल और अंगारे
५८ नास्ति का अस्तित्व
५९ गूँजते स्वर : बहरे कान

लघु कथाएँ

६० गागर मे सागर
६१ मैंने कहा

व्याकरण

६२ तुलसी-मञ्जरी [प्राकृत-व्याकरण]
६३ सस्कृत-व्याकरण-रचना भाग १
६४ संस्कृत-व्याकरण-रचना भाग २
६५. सस्कृत-व्याकरण-रचना भाग ३

संस्कृत-गद्य-पद्य

६६ अश्रु-वीणा
६७ मुकुलम्
६८ सम्बोधि
६९ अतुला-तुला
७०. रत्नपालचरितम्
७१ भिक्षुशतकम्
७२ न्यायपञ्चाशती
७३ षोडशकद्वयी
७४ तुलसीस्तोत्रम्
७५ सस्कृत भारतीया संस्कृतिश्च
७६ ममकार

संपादित और विवेचित आगम-ग्रन्थ

७७ अंगसुत्ताणि भाग १
७८ अंगसुत्ताणि भाग २
७९ अगसुत्ताणि भाग ३
८० ठाणं
८१ समवाओ
८२ निमीहज्झयणं
८३ उत्तरज्झयणाणि भाग १
८४ उत्तरज्झयणाणि भाग २
८५. दसवेआलियं
८६. दसवेआलिय तह उत्तरज्झयणाणि
८७ आयारो
८८. आयारो तह आयारचूला
८९ धम प्रज्ञप्ति भाग १
९० धर्म-प्रज्ञप्ति भाग २
९१ उत्तराध्ययन एक समीक्षात्मक अध्ययन
९२ दशवैकालिक . एक समीक्षात्मक अध्ययन

अंग्रेजी में अनूदित साहित्य

93 Peace of Mind
94 March of Victory
95 Shraman Mahavira
96 Wisdom of Mahavira
97 Lord Mahavira
98 Acharya Bhikshu The man and his Philosophy
99 Acharya Tulsi Life and Philosophy
100 Much in Little
101. Gravitation of morality
102 Moral Values
103 Moral Philosophy
104 Ocean in Drops
105. Ramblings of an ascetic
106 Ayaro
107 Anuvrata
108 Life and philosophy

★

प्राप्ति-स्थान :

जैन-विश्वभारती
लाडनूँ (राजस्थान)
(३४१३०६)

आदर्श साहित्य-संघ
१९६/५ महात्मा गाँधी रोड,
कलकत्ता ७००००७

अणुव्रत-विहार
२१०, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग,
नई दिल्ली-११०००१